विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला

स्वास्थ्य-विज्ञान

लेखक

डाक्टर मुकुन्दस्वरूप वर्म्मा, बी० एस-सी०;
एम० बी०, बी० एस०

प्रकाशक

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय

१९३१

प्रथम संस्करण

विषय-सूची

पहला परिच्छेद

वायु

दूसरा परिच्छेद

वायु

तीसरा परिच्छेद

जल

चौथा परिच्छेद

भोजन

पाँचवाँ परिच्छेद

वानस्पतिक भोज्य पदार्थ

छठा परिच्छेद

जान्तव भोज्य पदार्थ

सातवाँ परिच्छेद

भूमि और निवासस्थान

आठवाँ परिच्छेद

मल और कूड़े के निकास का प्रबन्ध

नवाँ परिच्छेद

मलापहरण

दसवाँ परिच्छेद

जल-संवहन विधि

ग्यारहवाँ परिच्छेद

मल का अन्तिम विनाश

बारहवाँ परिच्छेद

शव की अन्तिम क्रिया

तेरहवाँ परिच्छेद

वैयक्तिक स्वास्थ्यवृत्त

चौदहवाँ परिच्छेद

स्कूल-सम्बन्धी स्वास्थ्यवृत्त

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

व्यवसाय-सम्बन्धी स्वास्थ्यवृत्त

सोलहवाँ परिच्छेद

संक्रमण

सत्रहवाँ परिच्छेद

रोग को फैलने से रोकने के उपाय

अट्ठारहवाँ परिच्छेद

संक्रामक रोग

उन्नीसवाँ परिच्छेद

मक्खी

बीसवाँ परिच्छेद

प्लेग—महामारी

इक्कीसवाँ परिच्छेद

बाईसवाँ परिच्छेद

कुप्रसङ्गज-रोग

तेईसवाँ परिच्छेद

चिकित्सालय

चौबीसवाँ परिच्छेद

मातृ और शिशु-संरक्षण

पचीसवाँ परिच्छेद

ग्राम-स्वास्थ्य-सुधार

छब्बीसवाँ परिच्छेद

जलवायु

प्रास्ताविक उपोद्घात

हमारे देश में नवीन शिक्षा की स्थापना हुए एक शताब्दी हो चुकी; पर शोक है कि अद्यापि हमको शिक्षा—विशेषतः उच्च शिक्षा—अँगरेज़ी भाषा द्वारा ही दी जाती है।

ई० स० १८३५ मे कलकत्ता की 'जनरल कमिटी ऑफ़् एड्युकेशन' ने अपना मत प्रकट किया था कि—

" We are deeply sensible of the importance of encouraging the cultivation of Vernacular languages ....We conceive the formation of a Vernacular Literature to be the ultimate object, to which all our efforts must be directed."

अर्थात्, देश का साहित्य बढ़ाना ही हमारी शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है।

सन् १८३८ में सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने "हिन्दुस्तान में शिक्षा" विषयक जो लेख लिखा था उसमें भी उस विद्वान् ने कहा है—

" Our main object is to raise up a class of persons, who will make the learning of Europe intelligible to the people of Asia in their own languages."

अर्थात्, हमारा उद्देश्य ऐसे सुशिक्षित जन तैयार करने का है जो यूरोप की विद्या को एशिया के लोगों की बुद्धि में अपनी भाषा द्वारा उतार दें।

ई० स० १८३९ में लार्ड ऑकलैंड (गवर्नर-जनरल) ने अपनी एक टिप्पणी में लिखा था कि—

"I have not stopped to state that correctness and elegance in Vernacular composition ought to be sedulously attended to in the superior colleges."

अर्थात्, उच्च विद्यालयों में मातृभाषा के निबन्धों में वाणी का यथार्थ रूप और लालित्य लाने पर विशेष ध्यान देने की बात मैं बिना कहे नहीं रह सकता।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने आशा की थी कि अँगरेज़ी शिक्षा पाये हुए लोगों के संसर्ग से साधारण जनता में नवीन विद्या का आप ही आप अवतार होगा। लेकिन यह आशा सफल न हुई। अतएव ईस्ट इंडिया कम्पनी के अन्तिम समय (१८५४) में कम्पनी के 'बोर्ड ऑफ़ कंट्रोल' (निरीक्षण समिति) के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड ने एक चिर-स्मरणीय लेख लिखा, जिसमें उन्होंने प्राथमिक शिक्षा से लेकर यूनिवर्सिटी तक की शिक्षा का प्रबन्ध सूचित किया। पश्चात् कम्पनी से हिन्दुस्तान का राज्याधिकार महारानी विक्टोरिया के हाथ में आया और बड़े समारोह से नवीन शिक्षा की व्यवस्था हुई—तथापि पूर्वोक्त उद्देश्य बहुशः सफल नहीं हुआ। यूनिवर्सिटी के स्थापनानन्तर २५–३० वर्ष बाद भी सर जेम्स् पील (बम्बई के कुछ समय तक शिक्षाधिकारी) निम्न-लिखित रूप में आक्षेप कर सके थे—

"The dislike shown by University graduates to writing in their vernacular can only be attributed to the consciousness of an imperfect command of it. I cannot otherwise explain the fact that graduates do not compete for any of the prizes of greater money value than the Chancellor's or Arnold's Prize at Oxford or Smith's or the Members' Prizes at Cambridge. So curious an apathy, so discouraging a want of patriotism, is inexplicable, if the transfer of English thought to the native idiom were, as it should be, a pleasant exercise, and not, as I fear it is, a tedious and repulsive trial."

हमारे नव शिक्षित बन्धुओं ने देश-भाषा द्वारा देश का साहित्य बढ़ाया है। इससे इनकार करना अकृतज्ञता करना है, तथापि इतना कहना पड़ता है कि वह साहित्य-समृद्धि जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं हुई है।

इसका कारण क्या है ? कई विद्वानों ने इसका कारण देशी भाषा का अज्ञान और विश्वविद्यालयों में देशी भाषा के पठन-पाठन का अभाव माना है। लेकिन वास्तविक कारण इससे भी आगे जाकर देखना चाहिए। मूल में बात यह है कि परभाषा द्वारा विद्यार्थियों को जो विद्या पढ़ाई जाती है वह उनकी बुद्धि और आत्मा से मेल नहीं खाती। परिणाम यह होता है कि सब पाठ उनकी बुद्धि में—भूमि में पत्थर के टुकड़े के समान—पड़े रहते हैं, बीज के समान भूमि में मिलकर अंकुर नहीं उत्पन्न करने पाते।

यह सुसिद्धान्तित और सुविदित है कि बालक मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा में सफलता पा सकते हैं क्योंकि मातृभाषा शिक्षा का स्वाभाविक वाहन है। इसलिए हमारी प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा मातृभाषा द्वारा ही होनी चाहिए। केवल सिद्धान्त रूप में ही हम ऐसा नहीं कहते, बल्कि यह व्यवहार मे भी हिन्दुस्तान की सब प्राथमिक और अनेक माध्यमिक शिक्षणशालाओं मे स्वीकृत हो चुकी है। तथापि उच्च शिक्षा के लिए इस विषय में अभी तक कुछ उपक्रम नहीं हुआ है। विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए जब महाविद्यालय में प्रवेश करता है तब भी मातृभाषा द्वारा ही उच्च शिक्षा ग्रहण करना उसके लिए स्वाभाविक देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान ऐसा विशाल देश है कि इसकी एकता साधने के लिए हर एक प्रान्त की (मातृ) भाषा के अतिरिक्त समस्त देश की एक राष्ट्रभाषा होना आवश्यक है। ऐसी राष्ट्रभाषा होने का जन्मसिद्ध और व्यवहारसिद्ध अधिकार देश की सब भाषाओं मे हिन्दी भाषा को ही है। उचित है कि हिन्द के सब विद्यार्थी जब विश्वविद्यालय में प्रवेश करें तो स्वाभाविक मातृभाषा से आगे बढ़के राष्ट्रभाषा—हिन्दी—द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करें। वस्तुतः प्राचीन काल मे जैसे संस्कृत और पीछे पाली राष्ट्रभाषा थी उसी प्रकार अर्वाचीन काल में हिन्दी है। इस प्रान्त में हिन्दी का ज्ञान मातृभाषा के रूप में होता ही है। लेकिन जिन प्रान्तों की यह मातृभाषा

नहीं है वे भी इसको राष्ट्रभाषा होने के कारण माध्यमिक शिक्षा के क्रम में एक अधिक भाषा के रूप में सीख लें और विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा इसी भाषा में प्राप्त करें; यही उचित है। तामिल देश को छोड़कर हिन्दुस्तान की प्रायः सभी भाषाएँ संस्कृत प्राकृतादि क्रम से एक ही मूलभाषा या भाषामंडल में से उत्पन्न हुई हैं। अतएव उनमें एक कौटुम्बिक साम्य है। इसलिए अन्य प्रान्तीय भी, अपनी मातृभाषा न होने पर भी, हिन्दी सहज ही में सीख सकते हैं। ज्ञान-द्वार की स्वाभाविकता में इससे कुछ न्यूनता ज़रूर आती है तथापि एकराष्ट्र की सिद्धि के लिए इतनी अल्प अस्वाभाविकता सह लेना आवश्यक है। उत्तम शिक्षा की कक्षा में यह दुष्कर भी नही है, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे स्वाभाविकता के पार जाने का सामर्थ्य भी कुछ सीमा तक बढ़ता है।

आधुनिक ज्ञान की उच्च शिक्षा में उपकारक ग्रन्थ हिन्दी में, क्या हिन्दुस्तान की किसी भाषा मे, अद्यापि विद्यमान नहीं हैं—इस प्रकार का आक्षेप करके अँगरेज़ी द्वारा शिक्षा देने की प्रचलित रीति का कितने ही लोग समर्थन करते हैं। किन्तु इस उक्ति का अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है, क्योंकि जब तक देश की भाषा द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती तब तक भाषा के साहित्य का प्रफुल्लित होना असम्भव है और जब तक यथेष्ट साहित्य न मिल सके तब तक देश की भाषा द्वारा शिक्षा देना असम्भव है। इस अन्योन्याश्रय दोषापत्ति का उद्धार तभी हो सकता है जब अपेक्षित साहित्य यथाशक्ति उत्पन्न करके तद्द्वारा शिक्षा का आरम्भ किया जाय। आरम्भ में ज़रूर पुस्तके छोटी छोटी ही होंगी। लेकिन इन पर अध्यापकों के उक्त-अनुक्त-दुरुक्त आदि विवेचन रूप एवं इष्ट पूर्त्तिरूप वार्तिक, तात्पर्य्यविवरण रूप वृत्ति, भाष्य-टीका, खंडनादि ग्रन्थों के होने से यह साहित्य बढ़ता जायगा और बीच में अहरहः प्रकटित अँगरेज़ी पुस्तकों का उपयोग सर्वथा नहीं छूटेगा। प्रत्युत अच्छी तरह से वह भी साथ साथ रहकर काम ही करेगा। इस रीति से अपनी भाषा की समृद्धि भी नवीनता और अधिकता प्राप्त करती जायगी।

इस इष्ट दिशा में काशी विश्वविद्यालय की ओर से जो कार्य करने का आरम्भ किया जाता है वह दानवीर श्रीयुत घनश्यामदासजी बिड़ला के दिये हुए ५०,००० रुपये का प्रथम फल है। आशा की जाती है कि इस प्रकार और धन भी मिला करेगा और उससे अधिक कार्य भी होगा। इति शिवम्।

अहमदाबाद
वैशाख शुक्ल पूर्णिमा
वि० सं० १९८७

आनंदशङ्कर बापूभाई ध्रुव
प्रो-वाइस चांसलर, काशी विश्वविद्यालय,
अध्यक्ष, श्री काशी विश्वविद्यालय हिन्दी-
ग्रन्थमाला समिति

भूमिका

लोकहित की दृष्टि से स्वास्थ्य-विज्ञान अत्यन्त महत्त्व का विषय है। समस्त जाति और देशवासियों का स्वास्थ्य इस विषय के सिद्धान्तों के उचित और उपयुक्त परिशीलन तथा अनुसरण पर निर्भर करता है। इन्हीं के द्वारा पश्चिमी देशों ने स्वास्थ्य-सम्बन्धी असीम उन्नति की है। उन्होंने निरन्तर उद्योग और परिश्रम से अपने देश से कितने ही संक्रामक रोगों का नाम तक मिटा दिया है। चेचक, विशूचिका, प्रवाहिका इत्यादि रोग उन देशों में नष्टप्राय हो गये हैं। इसी प्रकार अन्य रोगों में भी बहुत कमी हुई है। फल-स्वरूप सारी जाति का स्वास्थ्य उन्नत हो गया है और वहाँ के निवासियों का जीवनकाल भी बढ़ गया है।

जनता का स्वास्थ्य केवल व्यक्तिगत स्वास्थ्य की उन्नति पर निर्भर नहीं करता। व्यायाम इत्यादि के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी शारीरिक दशा उन्नत कर सकता है। किन्तु समस्त जनता का स्वास्थ्य उन्नत करने और उसके जीवन को दीर्घ और सुखमय बनाने के लिए उन साधनों की आवश्यकता है जिनसे सारा नगर स्वच्छ रहे, उत्तम जल और भोजन उपयोग के लिए मिले, तथा संक्रामक रोगों की उत्पत्ति बन्द हो। इसके लिए ऐसे उपाय करना आवश्यक है जिनसे प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह धनी हो अथवा निर्धन, उसके जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ स्वच्छ और उत्तम दशा में मिल सकें। स्वास्थ्य के लिए शुद्ध वायु अत्यन्त आवश्यक है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को रहने के लिए इस प्रकार के मकान प्राप्य होने चाहिएँ जिनमें शुद्ध वायु के निरन्तर सञ्चार का पूर्ण प्रबन्ध हो। इसी भाँति जल और भोज्य पदार्थों की पूर्ण शुद्धि भी आवश्यक है। इनके दूषित होने से अनेक रोग उत्पन्न होकर अस्वास्थ्य और मृत्यु का कारण होते हैं। नगर की स्वच्छता का महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। कूड़े के यतस्ततः एकत्र रहने तथा निकृष्ट जल

के निकास का उत्तम प्रबन्ध न होने से न केवल पीने का जल और भोज्य पदार्थ ही दूषित होते हैं, किन्तु रोगोत्पादक कृमि और जीवाणु उत्पन्न होकर फैलाते हैं।

स्वास्थ्य-सम्बन्धी आयोजनों का पूर्ण विधान करना सरकार का धर्म है। अभी तक इस दिशा में जो कुछ भी किया गया है वह सन्तोष-जनक नहीं है। जिन संस्थाओं ने इस कर्म का भार अपने हाथ में लिया है वह भी अपने उत्तरदायित्व के पूर्ण करने में सफल नहीं हुई हैं। इसका परिणाम यह है कि हमारा देश संक्रामक रोगों का घर बन रहा है जिनसे प्रति वर्ष लाखों मनुष्यों की मृत्यु होती है। बालमृत्यु-संख्या का भी यही हाल है। जहाँ इँगलैंड में वह ६६ है वहाँ भारतवर्ष में लगभग २५० है। प्रत्येक १००० उत्पन्न हुए बच्चों में से कलकत्ते में ३८३ और बम्बई में ५५६ अपने जीवन के प्रथम वर्ष ही में मृत्यु का ग्रास बनते हैं। स्वास्थ्य-संस्थाओं पर इससे अधिक और क्या लाञ्छन हो सकता है?

इस ओर प्रत्येक व्यक्ति का उत्तरदायित्व भी कुछ कम नहीं है। चाहे सरकार अथवा किसी विशेष संस्था की ओर से स्वच्छता का कितना ही आयोजन किया जाय, व्यक्तिगत सहयोग के बिना वह कभी सफल नहीं हो सकता। मकान के कूड़े को सड़क या गली में फेंक देना, निकृष्ट वस्तुओं को यतस्ततः डालना तथा इसी प्रकार के अन्य अभ्यास स्वास्थ्य-सम्बन्धी योजनाओं के अवरोधक हैं और अत्यन्त निन्दनीय हैं।

इस पुस्तक में विषय का जनता ही की दृष्टि से विचार किया गया है। व्यक्तिगत स्वास्थ्य के केवल स्थूल नियमों का वर्णन कर दिया गया है। यह पुस्तक विशेषतया आयुर्वेदिक कालेज के छात्रों के लिए लिखी गई है। इस कारण उनकी आवश्यकता और कठिनाइयों का विशेष ध्यान रखा गया है।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे जिन मित्रों से सहायता मिली है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरा परम कर्त्तव्य है। साथ ही मैं उन सज्जनों का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने अपनी पुस्तकों से चित्रों को उद्धृत करने की

अनुमति प्रदान की है। इनमें मेरे पूर्व प्रोफ़ेसर डाक्टर पंड्या और डाक्टर मोदी के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं। बङ्गाल के डाक्टर दास ने भी अनुमति देकर मेरी सहायता की है। अतएव उनका भी मैं कृतज्ञ हूँ।

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय
२ दिसम्बर १९३१

मुकुन्दस्वरूप वर्म्मा

स्वास्थ्य-विज्ञान

पहला परिच्छेद

वायु

जीवन के लिए वायु सबसे आवश्यक वस्तु है। न केवल मनुष्य और जन्तुओं ही को किन्तु वृक्षों को भी वायु की समान रूप से आवश्यकता होती है। हम भोजन के बिना कई दिन तक जीवित रह सकते हैं; जल न मिलने पर कुछ समय तक जीवित रहना सम्भव है। किन्तु वायु के न मिलने पर दो मिनट भी जीवन नहीं रह सकता है। पृथ्वी पर रहनेवाले जन्तु और वृक्ष वायु-मण्डल से वायु ग्रहण करते हैं। समुद्र के भीतर रहनेवाले जन्तु जल में घुली हुई आक्सिजन का, जो वायु का प्रधान अङ्ग है, उपयोग करते हैं।

स्वास्थ्य को उत्तम बनाये रखने के लिए शुद्ध वायु अत्यन्त आवश्यक है। गन्दी वायु को श्वास द्वारा शरीर के भीतर ग्रहण करने से और ऐसे स्थानों में रहने से जहाँ का वायुमण्डल दूषित हो, शरीर की शक्ति का ह्रास होता है। और अनेकों प्रकार के रोगों, विशेषकर राजयक्ष्मा, के उत्पन्न होने की बहुत सम्भावना रहती है। शरीर के दुर्बल और शक्तिहीन हो जाने से अन्य रोग भी सहज ही में दबा लेते हैं।

शरीर के अङ्गों की बहुत सी क्रियाएँ शुद्ध वायु से आक्सिजन मिलने पर ही हो सकती हैं। यदि उनको आवश्यकता से कम आक्सिजन मिलती है तो वह पूर्ण नहीं होतीं। पाचन का पूर्ण होना, शरीर में रसों का बनना,

शरीर में उत्पन्न हुए विषैले पदार्थों का त्याग और अन्य बहुत सी क्रियाएँ आक्सिजन पर निर्भर करती हैं और उसके न मिलने पर अपूर्ण रह जाती हैं जिससे स्वास्थ्य और बल का नाश होता है। अतएव शुद्ध वायु को श्वास के द्वारा ग्रहण करना और शुद्ध वायु में रहना, जिससे रक्त को उसकी आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त आक्सिजन मिल सके, स्वास्थ्य के साधनों का सार है।

वायु का सङ्गठन—हमारी पृथ्वी के चारों ओर लगभग २०० मील तक वायु फैली हुई है। इसको वायुमण्डल कहा जाता है जिससे हम श्वास द्वारा वायु को शरीर के भीतर ग्रहण करते हैं। ज्यों-ज्यों हम पृथ्वी से दूर जाते है त्यों-त्यों वायु भी अधिक पतली होती जाती है। तीन या चार मील की दूरी पर वह इतनी पतली हो जाती है कि उसमें जीवन नहीं रह सकता। इस कारण हिमालय पर्वत पर और अन्य ऐसे ही ऊँचे स्थानों में जानेवालेलोगों को आक्सिजन के सिलिंडरो को अपने पास रखना पड़ता है जिससे वह समय-समय पर आक्सिजन को सूँघते रहते है।

वायु कोई रासायनिक यौगिक पदार्थ नहीं है। वह केवल एक मिश्रण है जिसमें आक्सिजन, नाइट्रोजन, कार्बन-डाई-आक्साइड व कुछ अन्य पदार्थ मिले रहते हैं। इनमें से केवल नाइट्रोजन और आक्सिजन वायु के प्रधान अवयव हैं। दूसरी वस्तुएँ वास्तव में वायु की अशुद्धि हैं जो उसमें पृथ्वी पर से उड़कर मिल जाती हैं। इन अवयवों का अनुपात इस प्रकार है—

आक्सिजन	२० · ९४	भाग
नाइट्रोजन	७९ · ०२	,,
कार्बन-डाई-आक्साइड	० · ०४	,,
	१०० .००	,, वायु

इन वस्तुओं के अतिरिक्त वायु में जलवाष्प, अमोनिया, धूल के कण, जीवाणु या अन्य ऐन्द्रिक पदार्थ और सोडियम इत्यादि के लवण भी पाये जाते हैं। जिस स्थान पर जिस वस्तु का काम होता है या उसका अधिक प्रयोग किया जाता है वहाँ के वायुमण्डल में उस वस्तु का उपस्थित होना स्वाभाविक

है। इस कारण यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न स्थानों की वायु में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मिलेंगी।

नाइट्रोजन—जैसा ऊपर के अङ्कों से विदित है, वायु मे सबसे बड़ा भाग नाइट्रोजन का होता है। इस गैस से जीवन को किसी प्रकार का लाभ नहीं होता और न वह जीवन के लिए आवश्यक है। वायु में उसका मुख्य कर्म आक्सिजन की शक्ति को घटाना प्रतीत होता है। शुद्ध आक्सिजन की क्रिया इतनी प्रबल होती है कि उससे जीवन को लाभ की अपेक्षा हानि होने की अधिक सम्भावना है।

शुद्ध नाइट्रोजन एक गन्ध, स्वाद और रङ्गरहित गैस है। इसमें न कोई वस्तु जल सकती है और न इसमें जीवन ही रह सकता है। अन्य वस्तुओं के साथ इसका रासायनिक संयोग भी कम होता है।

आक्सिजन—आक्सिजन वायु का प्रधान अङ्ग है। यह भी स्वाद और गन्ध व रङ्गरहित गैस है जो जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुओं के जलने के लिए भी इस गैस की आवश्यकता होती है। जिस स्थान मे यह गैस उपस्थित नहीं होती वहाँ कोई वस्तु नहीं जल सकती। जलने के पश्चात् यह गैस कार्बन से मिलकर कार्बन-डाई-आक्साइड बन जाती है।

वायु में आक्सिजन का एक विशेष रूपान्तर भी पाया जाता है जिसको 'ओज़ोन' कहते हैं। इसके और आक्सिजन के रूप मे यह भेद होता है कि आक्सिजन के एक अणु में दो परमाणु होते हैं जिसके कारण उसका सङ्केत O_2 माना गया है। किन्तु ओज़ोन के एक अणु में तीन परमाणु होते हैं। इस कारण इसका सङ्केत O_3 है। अतएव आक्सिजन के तीन अणुओं से ओज़ोन के दो अणु बन सकते हैं। ($3\ O_2 = 2\ O_3$)। नगरों के पास यह गैस बहुत कम पाई जाती है। वायुमण्डल में विद्युत् के द्वारा यह गैस उत्पन्न होती है। जब जल का वाष्पीभवन होता है तो वह भी इस गैस को उत्पन्न करता है। इस कारण समुद्र के पास के वायुमण्डल में इसकी अधिक मात्रा उपस्थित रहती है। कुछ लोगों का कथन है कि चीड़ के जङ्गलों में भी यह गैस अधिक

पाई जाती है। सम्भव है कि राजयक्ष्मा के रोगियों को इसी कारण चीड़ के जङ्गलों में रहने से लाभ होता हो। अन्य स्थानों की अपेक्षा पर्वतों पर इस गैस की मात्रा अधिक होती है।

इस गैस की क्रिया बड़ी प्रबल और शीघ्र होती है। इससे ऐन्द्रिक पदार्थों का नाश होता है; क्योंकि इसके अणु से आक्सिजन का तीसरा परमाणु अत्यन्त सुगमता से विच्छिन्न होकर पदार्थ पर आक्रमण करता है। सड़ते हुए पदार्थों से निकलनेवाली दुर्गन्धि इससे नष्ट होती है। इस गैस में एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है। यदि किसी सोख्ते को पोटाश आयोडाइड और स्टार्च के विलयन में भिगोकर इस गैस के सामने रख दिया जावे तो उसका रङ्ग नीला हो जायगा।

कार्बन-डाई-आक्साइड—जैसा ऊपर लिखित अङ्कों से विदित है, वायु के १०० भागों में इस गैस का ०·०४ भाग रहता है। भिन्न-भिन्न स्थानों में इसकी मात्रा में भिन्नता पाई जाती है। गाँवों या अन्य ऐसे ही स्थान जहाँ अधिक बस्ती नहीं होती वहां की वायु में यह गैस ·०३६ भाग प्रतिशत मिलती है। पर्वतों पर इसकी मात्रा इससे भी कम होती है। नगरों में जहाँ व्यवसाय अधिक होता है और जनसंख्या भी अधिक होती है वहाँ इसकी मात्रा ·०४ व इससे भी अधिक पाई जाती है। यदि एक बन्द कमरे की वायु की, जिसमें कुछ समय तक बहुत से मनुष्य एक साथ रहे हैं, परीक्षा की जाय तो उसमें इस गैस की मात्रा और भी अधिक पाई जायगी। वायु के सौ भागों में इस गैस के ·०४ भाग को वायु की अशुद्धि नहीं माना जाता, क्योंकि इतनी मात्रा सब स्थानों की वायु में उपस्थित मिलती है; और इससे स्वास्थ्य पर कुछ बुरा प्रभाव भी नहीं पड़ता। किन्तु इससे अधिक होने पर वह वायु की अशुद्धि मानी जाती है।

इस गैस की उत्पत्ति विशेषकर जलने की क्रिया से होती है। हमारे श्वास के द्वारा भी बहुत सी कार्बन-डाई-आक्साइड् निकलकर वायुमण्डल में मिल जाती है। हमारे शरीर के भीतर जो रासायनिक क्रियाएँ होती हैं वह

भी एक प्रकार का जलना है जिससे यह गैस उत्पन्न होती है। जब लकड़ी और कोयले को, जो वास्तव में कार्बन के ही रूपान्तर हैं, जलाया जाता है तब उसका वायु की आक्सिजन के साथ संयोग होता है जिससे जलने की क्रिया होती है। उससे ताप और प्रकाश उत्पन्न होते है और साथ में कार्बन-डाई-आक्साइड उत्पन्न होकर वायु में मिल जाती है। इसी प्रकार लम्प के जलने से भी कार्बन-डाई-आक्साइड उत्पन्न होती है। अतएव जिन स्थानों में फैक्टरी और मिलें अधिक हैं, या भट्ठी का काम अधिक होता है, वहाँ की वायु में इस गैस की मात्रा अधिक मिलेगी। ऐन्द्रिक पदार्थों के सड़ने से भी यह गैस उत्पन्न होती है।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि प्रत्येक क्षण कितनी कार्बन-डाई-आक्साइड वायु मे मिलती है। इस कार्बन-डाई-आक्साइड का वृक्ष उपयोग करते हैं। वह सूर्य्यप्रकाश मे कार्बन-डाई-आक्साइड से कार्बन ग्रहण करते हैं और उससे आक्सिजन को मुक्त कर देते हैं। इस प्रकार वायु की अशुद्धि को वह स्वयं ग्रहण करते है और उसके शुद्ध भाग को हमारे लिए छोड़ देते हैं।

जल के वाष्प—वायु मे जल का कुछ भाग सदा और सर्वत्र विद्यमान रहता है जिससे वायु पूर्णतया शुष्क नहीं होने पाती, क्योंकि ऐसी वायु जीवन को नाश करनेवाली होती है। यदि वायु से जल का भाग बिलकुल निकल जावे तो उसमे जन्तु, वृक्ष, मनुष्य इत्यादि कोई भी जीवित नहीं रह सकते। वायुमण्डल में यह वाष्प पृथ्वीतल के जल से आते हैं जहाँ पर जल सदा भाप बनकर उड़ा करता है। यदि हम कुछ जल किसी चौड़े बरतन में भरकर खुले हुए स्थान में रख दें तो वह कुछ समय में भाप बनकर उड़ जायगा। इस प्रकार सारी पृथ्वी पर प्रत्येक समय वाष्पीभवन होता रहता है। समुद्र पर तो यह घटना बहुत ही अधिक होती है। हमारे देश में वर्षा का होना इस वाष्पीभवन ही पर निर्भर करता है। इस प्रकार जल के वाष्प पृथ्वीतल से उड़कर वायुमण्डल में संचरित हो जाते है जिनके कारण

वायु में आर्द्रता उत्पन्न होती है। देश और काल के अनुसार इसकी मात्रा में भिन्नता पाई जाती है। शीतकाल की वायु में गर्मियों की अपेक्षा वाष्प कम रहते है। समुद्र-तट पर स्थित स्थानों का वायुमण्डल वाष्पों से अन्य स्थानों की अपेक्षा कहीं अधिक संचरित होता है। वायु का जितना ताप-क्रम अधिक होता है उसमें उतनी ही जल-वाष्प की मात्रा अधिक हो सकती है।

हमारे शरीर के चर्म और फुस्फुसों से भी प्रत्येक समय कुछ जल वाष्प के रूप में निकला करता है। यह अनुमान लगाया गया है कि चौबीस घंण्टे में फुस्फुस से ९ छटाँक और चर्म से १० छटाँक जल निकलता है। जब एक कमरे में बहुत से मनुष्य कुछ समय तक एकत्रित रहते हैं तो उससे कुछ समय के पश्चात् जो बेचैनी प्रतीत होने लगती है उसका मुख्य कारण यह वाष्प और कुछ अन्य ऐन्द्रिक पदार्थ माने जाते हैं।

वायु के भौतिक गुण—वायु दो गैसों का मिश्रण है। इस कारण उसमे वह सब गुण उपस्थित है जो गैसों में होने चाहिएँ। उसमें भार है। यदि एक कांच के बल्ब (जो एक विशेष प्रकार की छोटी शीशी की भांति होता है) को वायु-सहित तोला जाय और फिर दूसरी बार वायु-निष्कासक यन्त्र द्वारा उससे वायु को निकालने के पश्चात् उसको तोला जाय तो दोनों तोलों मे अन्तर मिलेगा, वायु-सहित बल्ब का वायु-रहित बल्ब से अधिक भार होगा। इससे विदित है कि वायु में भार होता है। इसके अतिरिक्त अन्य गैसों की भांति वायु में व्यापन और प्रसार के गुण भी वर्तमान हैं। मकानों में व्यजन अथवा वायु के प्रवेश और उसके निकलने के लिए जो प्रबन्ध किया जाता है वह वायु के इन दोनों गुणों पर निर्भर करता है, विशेषकर प्रसरण पर। इस गुण के सम्बन्ध में वायु अन्य गैसों की भांति बुआयल और चार्ल्स के सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करती है। बुआयल के सिद्धान्त के अनुसार 'वायु की एक विशेष मात्रा का आयतन, यदि उसका ताप समान रखा जावे तो, उस पर भार के घटाने या बढ़ाने से भार के विरुद्ध बढ़े या घटेगा।' अर्थात् यदि ताप में कोई परिवर्तन न होने दिया जावे और वायु की एक

विशेष मात्रा पर पहिले की अपेक्षा भार बढ़ा दिया जावे तो वायु का आयतन उतना ही कम हो जावेगा जितना उस पर भार बढ़ा है। यदि वायु के एक घन इंच पर ५० इंच बेरोमीटर भार है और उसका ताप ८२ फ़ेरेनहाइट है, तो यदि ताप समान ही रखा जावे और भार ५० से ६० बढ़ा दिया जावे तो वायु की मात्रा का आयतन $\frac{१ \times ५०}{६०}$ = ·८३३ इंच हो जावेगा। जो दस डिगरी भार बढ़ा है उसी के अनुसार वायु के आयतन में कमी हो गई है।

चार्ल्स का सिद्धान्त भार को स्थिर रखकर ताप के घटाने या बढ़ाने पर वायु के आयतन में होनेवाले परिवर्त्तनों का विचार करता है। उसके अनुसार यदि भार समान रखा जावे तो फ़ेरेनहाइट क्रम के अनुसार ३२ फ़े० के ऊपर या नीचे प्रत्येक डिगरी ताप-क्रम के घटने-बढ़ने से वायु का आयतन अपने $\frac{१}{४६१}$ भाग घट या बढ़ जायगा। यदि ताप का क्रम सेंटीग्रेड है तो वायु का आयतन ०° डिगरी से ० के ऊपर या नीचे प्रत्येक डिगरी के बढ़ने या घटने से अपने $\frac{१}{२७३}$ भाग बढ़ या घट जायगा। अर्थात् ४६१ भाग वायु ३३ फ़े० पर ४६२ हो जायगी, ३४ फ़े० पर ४६३ होगी; इसी भाँति बढ़ती या घटती रहेगी।

वायु इन सिद्धान्तों का पूर्ण पालन करती है और उन्हीं के अनुसार घटती और बढ़ती है। वायु के कभी-कभी तीव्र प्रवाहित होने का कारण वायु का इन्हीं सिद्धान्तों का अनुसरण है। जब एक स्थान पर वायु का ताप बढ़ता है तो उसका प्रसार होता है। वह हल्की होकर ऊपर को उठती है और शीत देशों की भारी वायु उसके स्थान में चली आती है। आँधी या तूफ़ान का कारण भी यही ताप और भार की भिन्नता है। वायु में जो प्रत्येक समय धीमी-धीमी गति होती रहती है उसका भी यही कारण समझना चाहिए। वास्तव में वायु कभी निश्चल नहीं रहती। कमरे के भीतर की वायु में भी, जिसमें हम सोते हैं, सदा गति होती रहती है। कमरे के उस भाग की वायु, जिसमें हम सो रहे हैं, हलकी होकर ऊपर को उठती है और दूसरे भाग की भारी शीतल वायु उसके स्थान में आती है। यह आई हुई वायु कुछ समय में गरम होकर हल्की हो जाती है और ऊपर गई हुई

वायु शीतल होकर भारी हो जाती है। अतएव नीचे की वायु फिर ऊपर को उठती है और ऊपरवाली वायु फिर नीचे को आती है।

वायु का व्यापन भी गैसों ही के समान होता है और उसमें वह ग्रेहेम के सिद्धान्त का अनुसरण करती है। महाशय ग्रेहेम के सिद्धान्त के अनुसार, जिसको उन्होंने सन् १८३२ में बनाया था, व्यापन की गति गैसों के घनत्व के वर्गमूल की निष्पत्ति के विरुद्ध होती है। यदि हम एक चैाकोर बर्तन लेकर उसके बीच में एक ऐसी वस्तु का पर्दा लगा दें जिसके द्वारा गैसों की गति हो सके, और इस प्रकार उस बर्तन में दो बराबर के कोष्ठ बनाकर एक में आक्सिजन और दूसरे में हाइड्रोजन भर दें, तो थोड़े समय के पश्चात् परीक्षा करने से मालूम होगा कि व्यापन के द्वारा आक्सिजन हाइड्रोजन के कोष्ठ में और हाइड्रोजन आक्सिजन के कोष्ठ में पहुँच गई हैं। किन्तु जहाँ हाइड्रोजन के चार भाग आक्सिजन के कोष्ठ में पहुँचे हैं वहाँ आक्सिजन का केवल एक भाग हाइड्रोजन के कोष्ठ में पहुँचा है। अर्थात् आक्सिजन की व्यापन की गति हाइड्रोजन की गति के $\frac{1}{4}$ थी। इसका कारण स्पष्ट है। आक्सिजन का घनत्व १६ है जिसका वर्गमूल ४ है; हाइड्रोजन का घनत्व १ है जिसका वर्गमूल भी १ ही है। अतएव दोनों गैसों के घनत्व के वर्गमूल की निष्पत्ति ४ : १ हुई (अर्थात् O_2 = ४ और H_2 = १) अतएव व्यापन १ : ४ हुआ; अर्थात् जहाँ एक भाग आक्सिजन का व्याप्त हुआ वहाँ हाइड्रोजन के ४ भाग हुए।

वायु के सङ्गठन के एक समान रहने का मुख्य कारण उसका यह व्यापन का गुण है। ज्योंही एक स्थान में किसी एक अवयव की अधिकता होती है त्यों ही वह व्यापन द्वारा दूसरे स्थानों में, जहाँ उसकी कमी होती है, फैल जाता है जिससे किसी एक स्थान में उसकी अधिकता नहीं होने पाती। वायु की सबसे बड़ी अशुद्धि कार्बन-डाई-आक्साइड होती है। नगरों में, विशेषकर जहाँ बड़ी-बड़ी मिलें हैं वहाँ, इतनी अधिक कार्बन-डाई-आक्साइड उत्पन्न होती है कि यदि वह सब वहीं रह जावे तो नगर-निवासियों का जीना असम्भव हो जाय। किन्तु इस व्यापन के गुण से यह गैस उन दूरवर्त्ती स्थानों में पहुँच जाती है जहाँ जङ्गल या वनस्पति की अधिकता होती है। और वहाँ सूर्य्य-प्रकाश के

प्रभाव से नष्ट हो जाती है। कार्बन-डाई-आक्साइड से कार्बन को ग्रहण करने का गुण विशेषकर वृक्षों की पत्तियों के भीतर स्थित एक प्रकार के हरे रङ्ग के कणों में होता है, जिसको क्लोरोफ़िल कहते हैं। इसके द्वारा वायु निरन्तर शुद्ध होती रहती है।

वायु की अशुद्धियाँ।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वायु में उपस्थित अशुद्धियों में स्थान और काल के अनुसार भिन्नता पाई जाती है। यदि किसी चमड़े या साबुन के कारख़ाने के पास की वायु की परीक्षा की जाय तो वह कपड़े की मिल के पास की वायु से भिन्न मिलेगी। वायु में जो दूषित पदार्थ पाये जाते है वह निम्न-लिखित कारणों से उत्पन्न होते हैं—

(१) श्वास के द्वारा निकली हुई वस्तुएँ।
(२) जलने से उत्पन्न होनेवाली गैसें और अन्य पदार्थ।
(३) सड़ने से उत्पन्न हुई गैस इत्यादि।
(४) धूल के कण।
(५) रोगोत्पादक या अन्य जीवाणु।

(१) श्वास के द्वारा विशेषकर निम्नलिखित दूषित पदार्थ फुस्फुस से निकलकर वायु में मिलते है—

(अ) कार्बन-डाई-आक्साइड।
(क) जल के वाष्प।
(ब) शरीर की मृत धातुओं के कण।
(ल) जीवाणु।

(२) जब कोयला या लकड़ी जलाई जाती है तो उससे विशेषतया निम्न-लिखित वस्तुएँ उत्पन्न होकर वायु को अशुद्ध करती हैं—

(अ) कार्बन-डाई-आक्साइड
(क) कार्बन-मानो-आक्साइड
(ब) जल के वाष्प।

(ल) गन्धक और कार्बन के यौगिक पदार्थ, जैसे कार्ब्यूरेटेड गन्धक।

(३) मृत जन्तुओं, वृक्षों की पत्तियों या अन्य ऐन्द्रिक पदार्थों के सड़ने से कई प्रकार की विषैली गैसें उत्पन्न होती है। इनमें विशेष अमोनिया और हाइड्रोजन-सल्फ़ाइड नामक गैसें हैं। यह अन्तिम गैस दलदलों में या जहाँ पर कुछ समय से जल भरा हो और उसमें कुछ पत्ती टहनियाँ इत्यादि भी सड़ रही हों, वहाँ बहुतायत से उत्पन्न होती है।

(४) धूल—धूल जो वायु में उड़ती हुई मिलती है उसमें अन्य कई प्रकार के पदार्थ भी मिले रहते हैं जिनके कारण स्वास्थ्य को हानि पहुँच सकती है। साधारण बाज़ारों की वायु में उपस्थित धूल की परीक्षा करने पर उसमें प्रायः निम्नलिखित वस्तुएँ पाई जाती है—

(अ) थूक के कण।
(क) सूखी विष्ठा के कण।
(ग) कीट या कृमियों के शरीरों के टुकड़े।
(च) रुई, ऊन या वस्त्रों के तागों के टुकड़े।
(प) भूसे या सूखी घास के छोटे-छोटे टुकड़े।
(ब) कोयले के सूक्ष्म कण।
(ल) रोगोत्पादक जीवाणु, जो इन सब वस्तुओं पर चिपटे रहते हैं।

जो धूल गलियों से उड़कर कमरों में आती है उसमें ये सब वस्तुएँ मिली रहती हैं। बालों के टुकड़े, लकड़ी की छीलन इत्यादि कमरे में आकर मेज़, कुर्सी या अन्य वस्तुओं पर जम जाती है। जिन कमरों में वायु-प्रवेश और निकास का उत्तम प्रबन्ध नहीं होता वहाँ से इन पदार्थों को निकालना कठिन होता है। इन कणों से नेत्रों को बहुत हानि पहुँचती है। और यदि श्वास के द्वारा इन कणों के साथ रोग के कुछ जीवाणु शरीर के भीतर पहुँच जाते हैं तो उनसे रोग उत्पन्न हो जाता है। हमारे देश में वायु के द्वारा रोगों के संवहन का बहुत भय रहता है। इसलिए धूल से मकान को और स्वयं अपने शरीर को बचाने का पूर्ण उद्योग करना चाहिए। मकान के कमरों को स्वच्छ करने के लिए उनमें केवल झाड़ू लगवा

देना और मेज़, कुर्सी, आलमारी इत्यादि को एक वस्त्र के टुकड़े से पिटवा देना पर्याप्त नहीं है। ऐसा करने से धूल उड़कर सारे कमरे में फैल जाती है और कुछ समय के पश्चात् फिर वस्तुओं पर बैठ जाती है। कमरों के फ़र्श को चौड़े ब्रुश से झाड़ना चाहिए। इससे धूल नहीं उड़ने पाती। उसके पश्चात् कमरे की वस्तुओं को नरम कपड़े के झाड़न से धीरे-धीरे पुछवाना चाहिए।

(५) रोगोत्पादक जीवाणु—वायु में जीवाणुओं की काफ़ी संख्या पाई जाती है जिनमें से कुछ रोगोत्पादक भी होते हैं। यह जीवाणु रोगियों के थूक के द्वारा, जो शुष्क होकर धूल के कणों के साथ मिल जाता है, वायु में पहुँचते हैं। कई बार राजयक्ष्मा, मोतीझरा इत्यादि रोग इस प्रकार फैलते देखे गये हैं। पृथ्वी के ऊपर जीवाणुओं की बहुत बड़ी संख्या रहती है। सूर्य्य का प्रकाश इनका नाश करनेवाला है। इस कारण वायु में उपस्थित बहुत से जीवाणु सूर्य्य की प्रचण्ड किरणों से नष्ट हो जाते हैं।

जो-जो अशुद्धियाँ ऊपर बताई जा चुकी है उनका कुछ अधिक विचार करना आवश्यक है। उनमे मुख्य कार्बन-डाई-आक्साइड, कार्बन-मानो-आक्साइड, अमोनिया, हाइड्रोजन-सल्फ़ाइड, जलवाष्प, अन्य ऐन्द्रिक पदार्थ जो वायु में मिले रहते है, धूल और जीवाणु है।

कार्बन-डाई-आक्साइड—फुस्फुस में रक्त वायु से आक्सिजन को तो ग्रहण कर लेता है और कार्बन-डाई-आक्साइड को लौटा देता है। जो वायु हम ग्रहण करते हैं उसमें आक्सिजन २०'९६, नाइट्रोजन ७९'०० और कार्बन-डाई-आक्साइड ०'०४ भाग प्रतिशत होते हैं। जो वायु हमारे श्वास द्वारा फुस्फुस से निकलती है उसमें आक्सिजन १६'४०, नाइट्रोजन ७९'१९ और कार्बन-डाई-आक्साइड ४'४१ भाग होते हैं। अर्थात् ४'५६ भाग प्रतिशत आक्सिजन भीतर रह जाती है और कार्बन-डाई-आक्साइड ४'३७ भाग प्रति-शत बाहर अधिक निकलती है। यह अनुमान किया जाता है कि एक साधारण शरीरवाला मनुष्य एक घण्टे में अपने श्वास द्वारा आधा घन-फ़ुट कार्बन-डाई-

आक्साइड निकालता है। अथवा १६० ग्रेन (८० रत्ती) कार्बन को वह प्रति घण्टे श्वास द्वारा निकालकर वायु में मिला देता है।

इस प्रकार श्वास के द्वारा निकली हुई यह दूषित गैस अन्य कारणों से उत्पन्न हुई गैस के साथ मिलकर वायुमण्डल को अशुद्ध करती है। किन्तु हम यह देख चुके हैं वायु के सौ भागों में इस गैस के ·०४ भाग सब स्थानों पर उपस्थित रहते हैं। पर्वत या अन्य स्वच्छ स्थानों पर भी यह गैस ·०३ भाग प्रतिशत से कम नहीं होती। प्रयोगों द्वारा यह मालूम हुआ है कि इस गैस की यह मात्रा हानिकारक नहीं है। वास्तव में कुछ विद्वानों के अनुसार ·०२ प्रतिशत भाग के और अधिक बढ़ जाने से भी कुछ हानि नहीं होती। अतएव वह ·०६ भाग प्रतिशत को भी वायु का दोष नहीं मानते हैं। किन्तु इससे अधिक होने पर उसको वायु की अशुद्धि मानकर दूर करना आवश्यक समझते हैं।

शुद्ध कार्बन-डाई-आक्साइड अत्यन्त घातक होती है। यदि वायु के सौ भागों में इस गैस के ७·५ भाग भी उपस्थित हो तो उसमें किसी प्रकार का जीवन नहीं रह सकता। सौ में १·५ भाग के उपस्थित होने से सिर का दर्द, मिचली आना, चित्त का घबराना, श्वास लेने में कष्ट होना इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। जब एक छोटे कमरे में बहुत से मनुष्य एकत्रित होते हैं तो कुछ समय के पश्चात् बेचैनी मालूम होने लगती है। यदि एक मनुष्य खुली हुई वायु में कुछ समय तक रहने के पश्चात् उस कमरे के भीतर जावे तो उसको एक विचित्र प्रकार की गन्ध मालूम होती है। सम्भव है कि जो मनुष्य कमरे के भीतर हैं उनको उस समय वह गन्ध प्रतीत न हो। प्रयोग से यह पाया गया है कि यह गन्ध उस समय मालूम होती है जब वायु में अशुद्धि ०·०२ प्रतिशत से अधिक बढ़ जाती है; अर्थात् कुल गैस की मात्रा ·०६ प्रतिशत से अधिक होती है। इससे कम गैस का गन्ध द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। यह गन्ध केवल कार्बन-डाई-आक्साइड से नहीं उत्पन्न होती, किन्तु वह उन ऐन्द्रिक पदार्थ या उड़नशील वस्तुओं की गन्ध होती है जो श्वास द्वारा फुस्फुस से निकलकर वायु में मिलती हैं।

वायु में उपस्थित '०४ भाग कार्बन-डाई-आक्साइड को वायु की अशुद्धि नहीं माना जाता। इस कारण यदि हमको किसी कमरे की वायु की अशुद्धि मालूम करनी होती है तो समस्त अशुद्धि को मालूम करके उसमें से '०४ घटा दिया जाता है। यदि किसी कमरे की वायु में ०८९ प्रतिशत अशुद्धि मिले तो उसमें ०८९ —'०४ = '०४९ अशुद्धि समझना चाहिए।

बन्द कमरों में कुछ समय तक रहने से जो सिर दर्द या दुर्बलता मालूम होने लगती है उसका प्रधान कारण कार्बन-डाई-आक्साइड नहीं है। प्रयोगों से मालूम हुआ है कि श्वास के द्वारा फुस्फुस से जो ऐन्द्रिक पदार्थ या जल के वाष्प निकलते हैं वह इस घटना का मुख्य कारण है। श्वास के द्वारा निकली हुई वायु से कमरे का ताप भी बढ़ जाता है जिसका शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता है। साथ में कमरे की वायु में आक्सिजन की कमी हो जाती है क्योंकि श्वास द्वारा निकली हुई कार्बन-डाई-आक्साइड उसको बराबर बाहर निकालती रहती है। यह सब कारण—आक्सिजन की न्यूनता, कार्बन-डाई-आक्साइड की अधिकता, ताप, वायु की आर्द्रता और ऐंद्रिक पदार्थ—मिलकर सिर दर्द इत्यादि उत्पन्न कर देते हैं। यदि किसी प्रकार कमरे का ताप कम कर दिया जाय और ठंडी वायु का संचार किया जावे तो उससे कमरे में उपस्थित मनुष्यों की बेचैनी कम हो जायगी। महाशय हिल और फ़्लैक के प्रयोगों से यही परिणाम निकले हैं। इन प्रयोग-कर्त्ताओं ने कुछ मनुष्यों को कुछ समय तक एक छोटे कमरे में बन्द रखा। जब कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा ३ से ४ प्रतिशत हो गई तो उन मनुष्यों को बहुत बेचैनी प्रतीत होने लगी। उस समय इस गैस के साथ ही जलवाष्प से उत्पन्न हुई आर्द्रता ६९ प्रतिशत पहुँच गई थी और आक्सिजन केवल १७ प्रति शत रह गई थी। इसके पश्चात् कमरे में पंखे चलवाये गये जिससे वहाँ पर उपस्थित मनुष्यों को ठंडक मालूम हुई और उनकी बेचैनी घट गई। जब कमरे में जल छिड़कवाया गया और उस पर पंखे चलवाये गये तब उनका चित्त बहुत कुछ स्वस्थ हो गया और बेचैनी बहुत कम हो गई। इस प्रयोग से

यह मालूम होता है कि ताप और आर्द्रता के उत्पन्न होने से कमरे के मनुष्यों को बेचैनी हुई थी।

कार्बन-मानो-आक्साइड—यह गैस कार्बन-डाई-आक्साइड से अधिक प्रबल और हानिकारक होती है। वायु के १००० भाग में इस गैस के ०·५ भाग उपस्थित होने से सिर दर्द, मूर्च्छा, विचार-शक्ति का ह्रास, दुर्बलता इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते है। इससे अधिक मात्रा से पूर्ण मूर्च्छा और मृत्यु हो जाती है। कार्बन-डाई-आक्साइड से विषाक्त रोगी को खुली वायु मे रखने से उसकी दशा सुधर जाती है। किन्तु इस गैस से विषाक्त होने पर रोगी का बचना दुर्लभ है। यह गैस रक्त के कणो से मिलकर एक ऐसा दृढ़ पदार्थ बना देती है जिसको आक्सिजन नहीं तोड़ सकती। और उसके कारण रक्त वायु से आक्सिजन ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है।

यह गैस कोयले को आक्सिजन की कमी अथवा कार्बन-डाई-आक्साइड की अधिकता मे जलाने से उत्पन्न होती है। वह इस बात का एक लक्षण है कि कोयला या अन्य वस्तु, जिसको जलाया गया है, पूर्णतया नहीं जली है। इस कारण कमरे को बन्द करके कोयले को नही जलाना चाहिए और न जलते हुए कोयलो को बन्द कमरे के भीतर रखना चाहिए। बहुत बार इससे भयानक दुर्घटनाएँ होती देखी गई है।

कार्ब्यूरेटेड-हाइड्रोजन या मीथेन—इस गैस को 'मार्श गैस' भी कहते है क्योंकि यह दलदलों में या जहाँ बहुत दिनों से जल पत्तियों इत्यादि के साथ सड़ रहा हो वहाँ उत्पन्न होती है। कोयले को जलाने के समय भी इसकी कुछ उत्पत्ति होती है। कोयले की खानों में भी इसकी कुछ मात्रा पाई जाती है। किन्तु इससे कोई विशेष हानि नहीं होती। जब इसकी मात्रा बहुत अधिक हो जाती है; वायु के १००० भागो में इस गैस के ३०० भाग हो जाते है; तब उससे कुछ बुरा प्रभाव पड़ता है।

हाइड्रोजन-सलफ़ाइड—यह गैस उन कारख़ानो के पास मिलती है जिनमें रासायनिक पदार्थ बनते है, विशेषकर जहाँ गन्धक का प्रयोग होता है।

लोह की फैक्टरियों में लोह को खानों से निकालकर साफ़ किया जाता है या गलाया जाता है। वहाँ भी यह गैस उत्पन्न होती है; क्योंकि लोह अपने सहज रूप में गन्धक के साथ मिला रहता है। रासायनिक क्रियाओं में इसका बहुत प्रयोग होता है। इससे स्वास्थ्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि यह गैस शुद्ध रूप में या बहुत अधिक मात्रा मे कुछ समय तक सूँघी जावे तो उससे विष के लक्षण उत्पन्न हो सकते है।

वायु में मिश्रित घन पदार्थ—धूल का पहिले कुछ विचार किया जा चुका है। यदि बन्द कमरे में किसी छिद्र के द्वारा प्रकाश की किरणें भीतर आती हो तो उसके मार्ग में सहस्रो अत्यन्त सूक्ष्म कण उड़ते हुए दिखाई देंगे। जिन भिन्न-भिन्न वस्तुओं के यह कण होते है उनकी प्रथम ही व्याख्या की जा चुकी है। उनके अतिरिक्त अन्य अनेकों वस्तुओं के कण भी उनमें सम्मिलित होते हैं। यह कण नेत्र और फुस्फुसों को विशेषकर हानि पहुँचाते है। जो कण नोकीले और बड़े होते हैं उनका प्रभाव छोटे कणों की अपेक्षा अधिक हानिकारक होता है। जो लोग टीन या ताँबे के कारखानों में काम करते हैं उनको प्रायः फुस्फुस के रोग हो जाते हैं, क्योंकि वह प्रत्येक समय इन धातुओं के सूक्ष्म कणों को श्वास के द्वारा फुस्फुस में ग्रहण करते रहते हैं। काँच की वस्तुएँ बनानेवाले, पत्थर का काम करनेवाले, सूत या ऊन की मिलों में काम करनेवाले या अन्य इसी प्रकार के उद्योगो को करनेवाले बहुधा श्वास, क्षय इत्यादि रोगों से ग्रस्त रहते हैं।

धूल के कणों के साथ मिलकर विष्ठा के कण, शुष्क मांस के सूक्ष्म टुकड़े, चर्म या उपचर्म के टुकड़े, रोगों के जीवाणु, शुष्क पूय के कण और अनेक दूसरी निकृष्ट वस्तुएँ हमारे कमरों में आती हैं और उनमें से बहुत सी श्वास के द्वारा फुस्फुस के भीतर पहुँचती हैं। जिन पदार्थों को छूना तो क्या हम देखना भी नहीं चाहते वही वायु के द्वारा हमारे शरीर के भीतर पहुँचकर बहुधा रोग का कारण होते है। चेचक, मसूरिका, अरुण ज्वर आदि रोग इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। इन रोगों के विष या जीवाणु वायु के द्वारा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के शरीर तक पहुँचते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं।

प्रयोगों द्वारा यह मालूम हुआ है कि मकानों के भीतर की वायु में बाहर की वायु की अपेक्षा सदा अधिक जीवाणु रहते है। यह अनुमान किया जाता है कि चार कमरेवाले मकानो की वायु के प्रत्येक सेर वायु में बाहर की वायु की अपेक्षा १ से २२ तक अधिक जीवाणु उपस्थित रहते है। छोटे मकानों की वायु में, जिनमें गृह-निवासियों के रहने के लिए केवल एक या दो कमरे है, ६ से २४० तक अधिक जीवाणु पाये गये है। खेतों की वायु में बहुत कम जीवाणु होते है। पर्वत या समुद्र की वायु में भी जीवाणुओं का अभाव रहता है। किन्तु नगर की दशा इससे विरुद्ध होती है। महाशय मिकिल को पेरिस नगर की गलियों की वायु के प्रत्येक सेर में ३६१०, अस्पतालों में ७६००० और एक खुले हुए पार्क में। ४५५ जीवाणु मिले थे। यह सब जीवाणु रोगोत्पादक नहीं होते। अधिक संख्या ऐसे जीवाणुओ की होती है जो कोई हानि नहीं पहुँचाते। यदि सारे जीवाणु रोगोत्पादक हो तो हमारा जीवित रहना असम्भव हो जावे।

शुष्क मरुस्थल की वायु मे आर्द्र स्थानों की वायु की अपेक्षा अधिक जीवाणु होते है। वर्षा, ओस, कोहरा पड़ने के पश्चात् वायु मे जीवाणुओं की संख्या कम हो जाती है। वायुमण्डल की आर्द्रता उनकी संख्या को घटा देती है। यही कारण है कि मोरियों की वायु में जीवाणु बहुत कम मिलते हैं। कभी-कभी कोई भी नहीं मिलता। हमारे श्वास के द्वारा जो वायु निकलती है उसमें यद्यपि कार्बन-डाई-आक्साइड अधिक होती है किन्तु वह जीवाणुओं से पूर्णतया मुक्त होतीं है। थूक या मल से जीवाणु उस समय तक अलग नही होने पाते जिस समय तक वह पूर्णतया शुष्क नहीं हो जाते।

अन्य पदार्थों की भाँति जीवाणुओं पर भी पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का प्रभाव पड़ता है। जो स्थान नीचे हैं उनमें ऊँचे स्थानों की अपेक्षा अधिक जीवाणु उपस्थित होते हैं। लंडन के हाउस-आफ़-पार्लियामेंट के क्लाकटावर के सबसे ऊपर के खण्ड के कमरों की अपेक्षा प्रथम खंड में जीवाणुओं की संख्या तिगुनी मिली थी।

वायु में जीवाणुओं की सबसे अधिक संख्या मई के अंत और जून में मिलती है और शरद् ऋतु के बीच के दिनों में सबसे कम हो जाती है। किन्तु अस्पतालों में इसके विरुद्ध पाया गया है। जाड़े के दिनों में अधिक और गर्मियों के दिनों में जीवाणुओं की संख्या कम हो जाती है। सम्भव है कि गर्मियों की तीव्र प्रवाहित वायु इसका कारण हो, जिससे जीवाणु कमरों या वार्डों से बाहर निकल जाते हों।

यह जीवाणु कमरे की दीवारों, फ़र्श, मेज़, कुर्सी या अन्य वस्तुओं में बहुत समय तक बिना नष्ट हुए जीवित रह सकते हैं। कमरे में जो जीवाणु मिलते हैं वह हमारे श्वास से निकले हुए नहीं होते हैं। वह या तो बाहर से वायु के साथ उड़कर भीतर आते हैं अथवा दीवारों, फ़र्श इत्यादि से वायु में मिलते हैं। कभी-कभी इनके साथ में कुछ फ़ंगस भी मिले रहते हैं। यह सब मकान और उसके चारों ओर के स्थान की स्वच्छता के सूचक हैं।

मकानों के कमरों में जो वायु के प्रवेश और निकास का प्रबंध किया जाता है उसका यही अभिप्राय होता है कि कमरे की अशुद्ध वायु और यह जीवाणु-गण कमरे के भीतर न रहने पावें। जिस कमरे में इसका उचित प्रबंध होता है उसकी वायु के एक सेर में २० से अधिक जीवाणु नहीं मिलने चाहिये। यदि इससे अधिक हों तो प्रबंध में उन्नति करने की आवश्यकता है।

निम्न लिखित व्यवसायों से उत्पन्न होनेवाले पदार्थों द्वारा वायु अशुद्ध होती है—

(१) कार्बन-डाई-आक्साइड कोयले से चलनेवाले एंजिनों के कारख़ानों से।

(२) हाइड्रोजन सल्फ़ाइड, सल्फ़्युरिक अम्ल और सल्फ़र-डाई-आक्साइड ताम्र के कारख़ानों से और रासायनिक फ़ेक्टरियों से।

(३) यशद के वाष्प यशद के कारख़ानों से।

(४) फ़ास्फ़ोरस के वाष्प दीवासलाई के कारख़ानों से।

(५) कारबन-डाई-सल्फ़ाइड रबड़ के कारख़ानों से।

(६) कारबन-मानो-आक्साइड ईंटों के भट्टों से।

(७) ऐन्द्रिक पदार्थ चमड़े इत्यादि के कारख़ानों से।

मोरियों की वायु—मोरियों की वायु को सदा से स्वास्थ्य-नाशक माना जाता था। मोतीझरा, प्रवाहिका, अतिसार इत्यादि रोगों का उसको कारण मानते थे। किंतु आधुनिक प्रयोगकर्त्ताओं की खोज से यह सिद्ध हुआ है कि मोरियों की वायु वास्तव में इतनी अशुद्ध नहीं होती जितनी कि मानी जाती है। रोगों के जीवाणुओं से प्रायः यह वायु मुक्त होती है। इसमें आक्सिजन कम होती है; कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा अधिक होती है; और साथ में ऐन्द्रिक पदार्थों के सड़ने से जो गैस उत्पन्न होती है, जैसे हाइड्रोजन सल्फ़ाइड, वह भी उसमें उपस्थित रहती है। किंतु उसमें रोगों के जीवाणु नहीं होते। इस कारण उससे मोतीझरा इत्यादि रोगों के उत्पन्न होने की संभावना नहीं है। कुछ वैज्ञानिकों के अन्वेषण के अनुसार जीवाणु, कार्बन-डाई-आक्साइड या अन्य दूषित पदार्थ मोरियों की वायु की अपेक्षा स्कूल के कमरों की वायु में अधिक होते हैं।

यद्यपि रासायनिक विश्लेषण और परीक्षा से यह फल निकला है, किंतु हमारा प्रत्येक दिवस का अनुभव बताता है कि इस गैस से सिर का दरद, दुर्बलता और यदि अधिक समय तक उसको सूँघा जाय तो उससे अतिसार, मंदाग्नि इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे स्थानों के पास होकर निकलने से भी, जहाँ से बंद मोरियों से वाष्प निकल रहे हों, जी घबड़ाने लगता है; चक्कर आना आरंभ हो जाता है और यदि अधिक समय तक वहाँ ठहरा जाय तो मूर्च्छा हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि मोरी की वायु में कोई न कोई ऐसे विषैले अवयव अवश्य होते हैं जो स्वास्थ्य के लिए अत्यंत हानिकारक हैं।

मोरियों के भीतर भी वायु के प्रवेश और निकास का प्रबंध करना पड़ता है। जो लोग मोरियों में काम करते हैं उनको यह ध्यान रखना चाहिये कि मोरी में पर्याप्त वायु के प्रवेश कर चुकने के पश्चात् वह मोरी के भीतर जावें। कई बार मोरी में प्रवेश करते ही मज़दूर मूर्च्छित होकर मोरी के जल में गिर पड़े हैं और उनकी मृत्यु हो गई है।

अशुद्ध वायु से उत्पन्न होनेवाले रोग।

अशुद्ध वायु से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। मैलेरिया शब्द का अर्थ वास्तव में दूषित वायु है। जब तक मैलेरिया ज्वर का कारण भली भाँति मालूम नहीं था तब तक उसको वायु से उत्पन्न होनेवाला रोग माना जाता था।

श्वास के द्वारा दूषित हुई वायु का प्रभाव—पहले बताया जा चुका है कि श्वास के द्वारा हम आक्सिजन को वायु से ग्रहण कर लेते है और कार्बन-डाई-आक्साइड को वायु में मिला देते है। इसके अतिरिक्त अन्य ऐन्द्रिक पदार्थ भी फुस्फुस से निकलकर वायु के दोष को बढ़ाते हैं। इस प्रकार दूषित हुई वायु से सिर-दरद, चक्कर आना, जी मिचलाना, मूर्च्छा, वमन और अतिसार तक उत्पन्न हो सकता है।

जो लोग छोटे छोटे कमरो में एक साथ रहते है और रात्रि को कमरे के किवाड़ भी बंद कर लेते हैं उनको एक दूसरे के श्वास से निकली हुई वायु को बार बार श्वास द्वारा ग्रहण करना पड़ता है। इससे उन व्यक्तियों को आक्सिजन की उचित मात्रा नही मिलती जिसका परिणाम यह होता है कि शरीर की क्रियाएँ विकृत हो जाती हैं। ऐसे मनुष्यों के चर्म पाण्डुवर्ण हो जाते हैं, निद्रा का आना कम हो जाता है, शरीर में दुर्बलता प्रतीत होने लगती है और भूख नहीं लगती; भोजन नहीं पचता, मस्तिष्क और पेशियों में अधिक समय तक काम करने की शक्ति नहीं रहती। उनका चित्त सदा उदास रहता है।

न केवल यही किंतु शरीर की रोग-निवारण और प्रतिरोधक शक्ति का भी ह्रास हो जाता है। इससे भिन्न भिन्न प्रकार के रोग उनको सहज में दबा लेते हैं। राजयक्ष्मा, निमोनिया, कास, डिफ्थीरिया, विसर्प, चेचक, मसूरिका, विशूचिका, नेत्रों के रोग, चर्म के रोग इत्यादि विकार सहज में उत्पन्न हो जाते हैं। एक स्थान में बहुत से मनुष्यों के रहने और श्वास द्वारा दूषित वायु में श्वास लेने से बच्चों पर विशेषकर बुरा प्रभाव पड़ता है। न केवल उनकी

वृद्धि ही रुक जाती है, किंतु वह भिन्न भिन्न रोगों के अत्यंत सहज मे ग्रास बन जाते हैं और शरीर के सहन-शक्ति से रहित होने के कारण उनका रोग से बचना दुस्तर होता है।

सर पार्डिस ल्यूकिस ने अपनी पुस्तक मे एक अंग्रेज़ी फ़ौज का हाल लिखा है जिसके सिपाहियों में बहुतों को राजयक्ष्मा हो चुका था। उन सिपाहियो के रहने के लिए जो बारक मिले हुए थे वह छोटे छोटे थे और उनमें वायु के आने जाने का प्रबंध भी उत्तम नहीं था। इस बात का अन्वेषण करने पर जब से उन सिपाहियों को दूसरी उत्तम बारकें दी गई और एक बारक में थोड़े ही सिपाहियों को रखा गया तब से उन लोगों में यह रोग होना बंद हो गया।

वायु में मिश्रित धूल और अन्य घन अवयवों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। उनसे नेत्र के रोग, गले के रोग, कास, क्षय, निमोनिया इत्यादि उत्पन्न होते है।

वायु की शुद्धि।

जहाँ वायु में अनेको कारणों से और बहुमात्रा में दोष उत्पन्न होते हैं वहाँ प्रकृति ने उन दोषों के नाश करने का भी प्रबंध किया है। इन दोषों को नाश करनेवाले विशेषकर

१. वर्षा।
२. सूर्य्य-प्रकाश।
३. तीव्र प्रवाहित वायु और आँधी।
४. वृक्ष और
५. गैसों का व्यापन का गुण हैं।

(१) **वर्षा**—वर्षाकाल मे जब वर्षा की धारायें आकाश से पृथ्वी पर गिरती हैं तो वह वायुमण्डल की अशुद्धियों को दूर कर देती हैं। वायु में जो धूल इत्यादि के कण होते हैं या अन्य वस्तुओं के सूक्ष्म भाग उड़कर वायु में मिल जाते हैं उनको जल की बूँदें अपने साथ पृथ्वी पर खींच लाती हैं और वह सब आर्द्र होकर पृथ्वीतल में मिल जाते है। इनके अतिरिक्त वायु में

जो अमोनिया इत्यादि गैस मिली रहती हैं वह भी जल में घुल जाती हैं और वायुमंडल उनसे मुक्त हो जाता है। वर्षा के समय में जब बादलों में बिजली उत्पन्न होती है तो उसके प्रभाव से वायुमण्डल मे ओज़ोन अधिक मात्रा मे बनती है जो ऐन्द्रिक पदार्थों की प्रबल नाशक है।

(२) सूर्य-प्रकाश—रोगों के जीवाणुओं का नाश करता है। जीवाणुओं का सूर्य्य-प्रकाश से अधिक प्रबल शत्रु कोई दूसरा नहीं है। जो जीवाणु जल में उबलने से भी कई घण्टों तक नहीं मरते वह सूर्य्य-प्रकाश से आध घण्टे से कम में नष्ट हो जाते है। ऐन्द्रिक पदार्थों का भी, जो सड़ रहे हों, सूर्य्य-प्रकाश से नाश होता है। स्वास्थ्य और सूर्य्यप्रकाश का अभिन्न संबंध है जिसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

(३) तीव्र प्रवाहित वायु और आँधी—जब वायु वेग से चलती है तो वह अपने साथ प्रत्येक स्थान की स्थगित अशुद्ध वायु को उड़ाकर ले जाती है। और उसके स्थान में दूसरी नई शुद्ध वायु आ जाती है। कई बार तीव्र वायु और आंधियों के द्वारा रोगों का फैलना रुक गया है। तीव्र वायु से मकान के भीतर की बंद हुई सारी वायु बाहर चली जाती है और उसके स्थान में नवीन वायु कमरे मे प्रवेश करती है। इसलिए मकान मे खिड़कियाँ, दरवाजे या वायु-प्रवेश-मार्ग एक दूसरे के सामने बनाने चाहिये जिससे वायु एक मार्ग के द्वारा भीतर प्रवेश करे और दूसरे से निकल जावे। जब तक वायु को निकलने का मार्ग नहीं मिलेगा तब तक वह भीतर भी प्रवेश नहीं कर सकती। ऐसे समय में दरवाज़ों और खिड़कियों पर जो परदे पड़े हों उनको भी हटा देना चाहिये। जाड़े के दिनों में केवल इतना प्रबंध कर देना उचित है कि वायु का प्रवाह सीधा अपने शरीर पर न लगे। किंतु इसके लिए वायु के प्रवेश को बंद न करना चाहिये।

वायु का तीव्र प्रवाह या आंधी उस समय उत्पन्न होती है जब ताप की भिन्नता से किसी स्थान की वायु तो अधिक तप्त हो जाती है और दूसरे स्थान की वायु ठंढी रहती है। भूमध्य रेखा के पास सूर्य्य की किरणें बड़ी तीव्र

और प्रचंड होती हैं। इस कारण वहाँ की वायु तप्त होकर हलकी हो जाती है। किंतु ठंढे प्रदेशों की ठंढी वायु भारी होती है; अतएव हलकी वायु ऊपर उठती है और भारी वायु उसका स्थान लेने के लिये दौड़ती है जिससे आँधी उत्पन्न हो जाती है। मकानों में जो वायु के प्रवेश और निकास मार्ग बनते हैं वह इसी सिद्धांत पर बनाये जाते है। चूल्हों के ऊपर धुँआ निकलने के लिए चिमनियों के बनाने का भी यही सिद्धांत है। धुँवा गरम और हलका होता है और इस कारण स्वयं ऊपर को उठकर चिमनी के द्वारा निकल जाता है।

(४) वृक्ष—वृक्ष और कार्बन-डाई-आक्साइड के संबंध का कुछ वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। हम श्वास के द्वारा कार्बन-डाई-आक्साइड को, जो वायु की बहुत बड़ी अशुद्धि है, बाहर निकालते हैं और वृक्ष उस को ग्रहण करते है। इस कारण यद्यपि हम प्रतिक्षण श्वास के द्वारा इस गैस की अगणित मात्रा को वायु में मिलाते रहते हैं, और मकानों और कारखानों से भी धुवें के रूप में यह गैस असंख्य टनों की मात्रा में वायु में पहुँचती है, तो भी इसकी अशुद्धि एक सीमा से अधिक नहीं बढ़ने पाती। वृक्ष इस गैस से कार्बन को ग्रहण करके उसको फूल, फल, पत्ती इत्यादि के रूप में परिणत कर देते हैं। इन फलों को हम फिर भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं। इस प्रकार जिस वस्तु का हम श्वास के द्वारा त्याग करते हैं उसी का भोजन के रूप में फिर उपयोग करते हैं। इस प्रकार यह कार्बन-चक्र सदा चलता रहता है। प्रकृति बड़ी कंजूसी के साथ काम करती है। वह किसी वस्तु का व्यर्थ नाश नहीं होने देती। हमारे शरीरों से त्यक्त पदार्थों को भिन्न भिन्न शक्तियों द्वारा वह फिर उपयोगी रूप में परिणत कर देती है।

(५) गैसों का व्यापन—व्यापन के द्वारा भिन्न भिन्न स्थानों में स्थित भिन्न गैसों का मिश्रण होता है। और तापक्रम का अन्तर इस मिश्रण में सहायता देता है; ताप मे अन्तर होने पर एक स्थान से वायु दूसरे स्थान को जाती है। इससे एक स्थान पर गैस की अधिक मात्रा एकत्रित नहीं होने पाती।

जब भिन्न भिन्न स्थान की वायु में ताप-क्रम का अन्तर नहीं होता अथवा बहुत कम होता है तो दोनों स्थानों की गैसों का व्यापन और मिश्रण भी कम होता है। कमरे के भीतर और बाहर की वायु में जितना अधिक तापक्रम का अन्तर होगा उतनी ही शीघ्रता से बाहर की ठंडी वायु कमरे के भीतर आयेगी और कमरे के भीतर की वायु बाहर जावेगी। यदि कहीं सर्दी के दिनों में किसी रात्रि को कमरे के किवाड़ो को कुछ समय तक बन्द रखकर खोल दिया जावे तो बहुत ही थोड़े समय के पश्चात् मुख और शरीर पर ठंडी वायु का स्पर्श प्रतीत होने लगता है, क्योंकि ठंडी वायु बहुत शीघ्रता से कमरे के भीतर आती है। कमरों में वायु प्रवेश का प्रबंध करते समय इस बात को ध्यान में रखना पड़ता है।

तीव्र प्रवाहित वायु के आकर्षण का भी कमरों के भीतर की वायु पर प्रभाव पड़ता है। कमरों की खिड़कियों या चिमनियों के ऊपर होती हुई जो तीव्र वायु चलती है वह चिमनियों और खिड़कियों में से भीतर की वायु को आकर्षित करती है, जिससे उन स्थानों की वायु बाहर निकल जाती है और दूसरी ओर से बाहर की वायु भीतर आती है। कमरे मे यदि कहीं अग्नि जलती है तो उससे वहाँ की वायु तप्त और हलकी होकर ऊपर को उठती है और उसके स्थान में हलकी ठंडी वायु भीतर आकर्षित होती है।

दूसरा परिच्छेद

मकानों में वायु के प्रवेश और निकास का प्रबंध

हम देख चुके है कि श्वास द्वारा निकले हुए कार्बन-डाई-आक्साइड, जल-वाष्प और अन्य ऐन्द्रिक पदार्थों द्वारा कमरों की वायु अशुद्ध होती रहती है। यदि कमरों में शुद्ध वायु के प्रवेश करने और पुरानी दूषित वायु के बाहर निकलने का प्रबंध ठीक-ठीक न हो तो कमरे की वायु के दोष के अधिक बढ़ जाने से वहाँ के रहनेवालों को हानि पहुँचने की संभावना है। इसके अतिरिक्त मकानों में जो लम्प, मोमबत्ती और गैस जलती है उससे भी वायु दूषित होती है। इन कारणों से उत्पन्न हुए दोषों से वायु को मुक्त करने के लिए 'व्यजन' अर्थात् कमरों में वायु के प्रवेश और निकास का उचित प्रबंध करना पड़ता है। कमरों को बनाने के समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि कमरे में रहनेवाले मनुष्यों के हिसाब से वहा का वायु-अवकाश पर्याप्त हो। वायु-अवकाश के पर्याप्त होने से कमरे के व्यजन में बहुत सहायता मिलती है।

व्यजन के प्रबंध का विचार करने से पूर्व एक बार वायु में श्वास और लम्प इत्यादि के प्रकाश द्वारा उत्पन्न हुए दूषित अवयवों की मात्रा का फिर से स्मरण कर लेना उचित होगा। प्रत्येक मनुष्य साधारण परिश्रम करने के समय २९ घन इंच वायु को प्रत्येक श्वास के द्वारा भीतर ग्रहण करता और बाहर निकालता है। अर्थात् एक घंटे में १९'६ घन फुट वायु श्वास द्वारा बाहिर निकलती है। कड़ा परिश्रम करने के समय यह मात्रा

बहुत अधिक बढ़ जाती है, यहाँ तक कि ३८'६ घन फुट तक हो सकती है। हम देख चुके हैं कि श्वास द्वारा बाहर निकली हुई वायु में कार्बन-डाई-आक्साइड ४ भाग प्रतिशत होती है। अतएव प्रत्येक मनुष्य परिश्रम करने की अवस्था में चौबीस घण्टे में लगभग १६ घन फुट कार्बन-डाई-आक्साइड को वायु मे मिलाता है। कठिन परिश्रम द्वारा यह मात्रा ३७ घन फुट तक पहुँच सकती है।

जलवाष्पों की मात्रा में ऋतु, ताप, परिश्रम इत्यादि दशाओं के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। साधारणतया, जैसा पहिले कहा जा चुका है, प्रत्येक व्यक्ति के शरीर से चोबीस घण्टे में श्वास द्वारा ५ छटाँक और चर्म द्वारा १० छटाँक जलवाष्प निकलते हैं जो ६० घन फुट शुद्ध वायु को संतृप्त करने के लिए पर्याप्त है। बन्द कमरों में अधिक मनुष्यों के एक साथ रहने से जो बेचैनी प्रतीत होने लगती है उसका मुख्य कारण यही जलवाष्प होते हैं। प्रयोगों से मालूम हुआ है कि श्वास द्वारा जहाँ कार्बन-डाई-आक्साइड का एक भाग निकलता है वहाँ जलवाष्पों के $\frac{२७}{२}$ भाग निकलते है।

कृत्रिम प्रकाश से उत्पन्न हुई अशुद्धियाँ।

प्रकाश से भी वायु के दोषो में वृद्धि होती है। प्रकाश के लिए हमारे देश में साधारणतया मिट्टी के तेल के लम्प, या मोमबत्ती का उपयोग किया जाता है। बिजली का भी प्रकाश के लिए बहुत उपयोग किया जाने लगा है। बड़े-बड़े नगरों में गैस से भी प्रकाश उत्पन्न किया जाता है। किन्तु अन्य वस्तुओ की अपेक्षा मिट्टी का तेल अधिक उपयोग में आता है क्योंकि यह वस्तु सस्ती है। इसमें ८६ भाग कार्बन और १४ भाग हाइड्रोजन के होते है।

प्रकाश को नापने के लिए 'एक बत्तीबल' को एकाई माना गया है। एक बत्तीबल वह प्रकाश है जो १२० ग्रेन प्रति घण्टा जलनेवाली मोमबत्ती के जलाने से उत्पन्न होता है। इस मोमबत्ती के विश्लेषण करने पर उसमें भिन्न-भिन्न अवयवों की निम्नलिखित मात्रा पाई जाती है।

कार्बन	८०'४	प्रतिशत
हाइड्रोजन	१३'०	,,
आक्सीजन	६ ६	,,

इसको जलाने से कार्बन-डाई-आक्साइड और जलवाष्प प्रत्येक के ०'४१ घन फुट उत्पन्न होते हैं।

जब लम्प में मिट्टी का तेल जलाया जाता है तो एक बत्तीबल के समान प्रकाश उत्पन्न होने पर तेल के ६२ ग्रेन प्रति घण्टा जलते हैं। और उससे ०'२८ घन फुट कार्बन-डाई-आक्साइड और ०'२२ घन फुट जलवाष्प उत्पन्न होते है। यदि लम्प उत्तम नहीं होते और तेल को जलने के लिए पूर्ण वायु नहीं मिलती तो कार्बन-डाई-आक्साइड अधिक बनती है और वायु-मण्डल की अशुद्धि बढ़ जाती है। इसको दूर करने के लिए कार्बन-डाई-आक्साइड के प्रत्येक घन फुट के लिए १००० घन फुट शुद्ध वायु की आवश्यकता होती है।

मिट्टी के तेल की अपेक्षा मोमबत्ती के जलने से कहीं अधिक अशुद्धि उत्पन्न होती है। प्रकाश उत्पन्न करने के लिए उपयोग मे आनेवाली मुख्य वस्तुओं के जलने से वायु पर जो प्रभाव पड़ता है वह निम्नलिखित तालिका में दिखाया गया है।

वस्तु	१ घण्टे में व्यय	वायु में उत्पन्न हुई आक्सिजन की कमी	कार्बन-डाई-आक्साइड की उत्पत्ति
मोमबत्ती	२२०० ग्रेन	१०'७ घन फुट	७ ३ घनफुट
मिट्टी के तेल का लम्प	९०९ ग्रे.	५'९ ,,	४'१ ,,
कोल गैस	५'५ घन फुट	६'५ ,,	२'८ ,,
बिजली का प्रकाश	०'३ पौंड कोयला	०'० ,,	० ० ,,

बङ्गाल के महाशय घोष और दास ने स्वास्थ्य-विज्ञान नामक पुस्तक में इन अङ्कों को प्रकाशित किया है। इससे विदित है कि प्रकाशक वस्तुओं में सबसे अधिक वायु को दूषित करनेवाली वस्तु मोमबत्ती है। मोमबत्ती की अपेक्षा मिट्टी के तेल के लम्प से वायु कम दूषित होती है। कोल गैस, जिसको

कलकत्ता बम्बई इत्यादि बड़े-बड़े नगरों में और कहीं-कहीं रेल के स्टेशनों पर प्रकाश के लिए काम में लाया जाता है, तेल से भी कम अशुद्धि उत्पन्न करती है और बिजली का प्रकाश किसी प्रकार का भी दोष नहीं उत्पन्न करता। इसलिए विद्युत् का प्रकाश सबसे उत्तम है। मकानों में व्यजन का प्रबन्ध करते समय प्रकाश से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिए भी उचित आयोजन करना चाहिए। जैसा ऊपर की तालिका से विदित है, मोमबत्ती मनुष्यों की अपेक्षा १४ गुणा, मिट्टी का तेल ८ गुणा, और गैस ४ गुणा के लगभग वायु को अधिक दूषित करते हैं। अतएव वायु-अवकाश का विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कमरे मे जितने लम्प जलें उनके अनुसार कमरे में अधिक वायु के आने का प्रबन्ध किया जावे। प्रकाश के द्वारा उत्पन्न हुई एक घन फुट कार्बन-डाई-आक्साइड के लिए १००० घन फुट शुद्ध वायु की आवश्यकता होती है।

श्वास और प्रकाश के द्वारा वायु में जो दूषित अवयव मिल जाते हैं वह अनिवार्य्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य विशेष दोष जो स्थान की किसी विशेषता से उत्पन्न होते है उनको मकान के चारों ओर के स्थान को स्वच्छ रखने और साधारण व्यजन का समुचित और पर्याप्त प्रबन्ध करने से दूर किया जा सकता है।

स्वस्थ मनुष्य के लिए कितनी शुद्ध वायु आवश्यक है ?

हम देख चुके है कि प्रत्येक मनुष्य एक घण्टे में ०'६ घन फुट कार्बन-डाई-आक्साइड शरीर से निकालता है। वायु के १००० घन फुट में ०'६ घन फुट गैस को विशेष दोष नहीं माना जाता। प्रयोगों द्वारा यह पाया गया है कि जब तक वायु में गैस की मात्रा ०'६ प्रति १००० से अधिक नहीं होती तब तक उससे कोई विशेष असुविधा नहीं उत्पन्न होती। जब गैस की मात्रा इससे अधिक हो जाती है तब बन्द कमरे में बाहर से आनेवाला मनुष्य उसको प्रतीत कर सकता है। इस कारण इस मात्रा को 'सह्य-दोष' कहा जाता है। स्वच्छ स्थानों की वायु में अथवा शुद्ध वायु में ०'४ घन फुट कार्बन-

डाई-आक्साइड प्रति १००० घन फुट वायु में मिलती है। अथवा प्रत्येक घन फुट वायु में इस गैस के '०००४ घन फुट उपस्थित रहते हैं। अतएव शुद्ध वायु के १००० घन फुट में गैस के ०'२ घन फुट अथवा प्रत्येक घन फुट वायु में '०००२ घन फुट अधिक गैस के मिलने से भी वायु का सम्पूर्ण दोष सह्य दोष से अधिक नहीं होगा। इससे अधिक मात्रा होने पर वायु को अहितकर समझा जावेगा।

प्रोफ़ेसर डी० श्यौमैंट ने इसी आधार पर कमरे के भीतर स्थित प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक शुद्ध वायु की मात्रा का हिसाब लगाया है। एक व्यक्ति के द्वारा एक घण्टे मे उत्पन्न हुई कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा को सह्य-दोष की मात्रा से भाग देने से उस व्यक्ति के लिए एक घण्टे में आवश्यक शुद्ध वायु की मात्रा मालूम की जा सकती है। इसके लिए प्रोफ़ेसर श्यौमैंट के मतानुसार $क = \frac{ग}{प}$ सङ्केत माना गया है जहाँ

ग = एक घंटे में श्वास द्वारा निकली हुई कार्बन-डाई-आक्साइड,
प = सह्य दोष प्रति घण्टा, और
क = आवश्यक वायु की मात्रा है।

इस सङ्केत के अनुसार एक साधारण व्यक्ति के लिए आवश्यक वायु की मात्रा $= \frac{ग}{प} = \frac{०'६}{०'०००२} = ३०००$ घन फुट वायु है जिसकी उसको प्रत्येक घण्टे आवश्यकता होती है।

यह मात्रा साधारण भार के शरीरवाले और साधारण परिश्रम करनेवाले मनुष्य के लिए है। यदि उसको कड़ा परिश्रम करना पड़ रहा है या उसके शरीर का भार अधिक है तो अधिक वायु की आवश्यकता होगी।

निम्न-लिखित तालिका में, नौटर और फ़र्थ के अनुसार, भिन्न-भिन्न अवस्था-वाले पुरुषों और स्त्रियों से श्वास के द्वारा निकाली हुई कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा और उनके लिए आवश्यक शुद्ध वायु की मात्रा दिखाई गई है।

व्यक्ति	एक घण्टे में एक व्यक्ति के श्वास से निकलनेवाली कार्बन-डाई-आक्साइड	प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक घण्टे मे आवश्यक शुद्ध वायु
युवा पुरुष (कठिन परिश्रम के समय)	१ ६६ घन फुट	६६०० घन फुट
,, ,, (साधारण परिश्रम)	० ६५ ,, ,,	४७५० ,, ,,
,, ,, (पूर्ण विश्राम)	० ७२ ,, ,,	३६०० ,, ,,
स्त्री (विश्राम)	० ६० ,, ,,	३००० ,, ,,
बच्चे	० ४० ,, ,,	२००० ,, ,,
मिश्रित	० ६० ,, ,,	३००० ,, ,,

युवा मनुष्यों के लिए ३६०० घन फुट वायु प्रति घण्टा आवश्यक मानी जाती है। अस्पतालों मे, जहाँ रोगी रहते हैं, इससे अधिक वायु की आवश्यकता होती है। वहाँ स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा कम से कम एक-चौथाई वायु प्रति रोगी के हिसाब से अधिक दी जाती है। यदि स्वस्थ युवा मनुष्य के लिए ३६०० घन फुट वायु की आवश्यकता है तो रोगी के लिए ४५०० घन फुट वायु आवश्यक है। चेचक, निमोनिया इत्यादि कठिन रोगो में इससे भी अधिक वायु देनी चाहिए।

पशुओं के लिए वायु का निम्न परिमाण उचित समझा गया है—

ऊँचा घोड़ा	१०,०००	घन फुट या इससे अधिक
छोटा ,,	८०००	,, ,, ,,
गौ	८०००	,, ,, ,,
बछड़े	३०००	,, ,, ,,
कुत्ते	५००	,, ,, ,,
सुअर	३५००	,, ,, ,,

जङ्गली जानवरों को पालतू जानवरों की अपेक्षा अधिक वायु चाहिए। साधारणतया पशुओ को शरीरभार के प्रत्येक पौंड अर्थात् आध सेर के लिए २० से २५ घन फुट के हिसाब से वायु दी जाती है।

खानों मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक घण्टे में ६००० घन फुट वायु आवश्यक समझी गई है।

मकानों मे प्रकाश के होने पर जितनी अधिक वायु देनी चाहिए उसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है।

वायु अवकाश—हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रत्येक मनुष्य के लिए कम से कम ३००० घन फुट वायु प्रति घण्टा आवश्यक है। किन्तु इसके प्रबन्ध करने में कई कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। मकानों के कमरों में प्रत्येक मनुष्य के लिए इतने स्थान का प्रबन्ध करना असम्भव है। इस कारण स्थान को छोटा करके उसकी वायु को घण्टे में कई बार बदलने का प्रबन्ध किया जाता है। अनुभव से यह देखा गया है कि कमरे की वायु को एक घण्टे में केवल तीन बार बदल सकते हैं। वायु को इससे अधिक बार बदलने से जाड़े के मौसम में कमरे के भीतर रहनेवालों को विशेष असुविधा होती है। उनको ठण्ड मालूम होने लगती है और उनके रोगग्रस्त हो जाने का भय रहता है। गर्मी के दिनों में वायु को कई बार बदलने से भी कोई कष्ट नहीं होता है। किन्तु शीतकाल में और शीत-प्रधान देशों में यह आपत्ति उपस्थित होती है। अतएव मकान के कमरों में प्रत्येक व्यक्ति के लिए १००० घन फुट स्थान आवश्यक है। इसमें तीन बार वायु को बदलने से प्रत्येक व्यक्ति को एक घण्टे में ३००० घन फुट शुद्ध वायु मिल सकती है। अतएव कमरों में प्रत्येक व्यक्ति के लिए १० फुट चौड़ा × १० फुट लम्बा × १० फुट ऊँचा स्थान होना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए १००० घन फुट स्थान हो जावेगा। किन्तु यदि इस स्थान का कुछ भाग मेज़ कुर्सी पलँग इत्यादि से घिरा हुआ है तो उसको नहीं गिनना चाहिए। उसके अतिरिक्त १००० घन फुट स्थान होना आवश्यक है।

कमरे की ऊँचाई को १० फुट से अधिक रखने से कमरा ठण्डा रहता है। तो भी ऊँचाई के अधिक होने के कारण १० फुट लम्बाई और १० फुट चौड़ाई में कमी न करनी चाहिए। किन्तु केवल इस स्थान का प्रबन्ध कर देना पर्याप्त नहीं है। **वायु को घण्टे में तीन बार बदलना मुख्य बात है।** साथ में

यह भी देखना चाहिए कि कमरे के भीतर आनेवाली वायु वास्तव में शुद्ध है; वह किसी दूषित गन्दे स्थान में होकर तो नही आती। ऐसे स्थानों के द्वारा आनेवाली वायु अशुद्ध होगी और उसके द्वारा कमरे की वायु को तीन बार बदलने से भी कोई लाभ नहीं होगा।

बड़े नगरों में या बोर्डिंङ्ग हाउस, स्कूल, जेल, थियेटर इत्यादि मे प्रत्येक व्यक्ति के लिए १००० घन फुट स्थान का प्रबन्ध करना असम्भव है। बहुत से ग़रीब लोगों को रहने के लिए २५० या ३०० घन फट से अधिक स्थान नहीं मिलता। कलकत्ते बम्बई आदि नगरो में, जहाँ स्थानाभाव का कड़ा प्रश्न उपस्थित रहता है, इतने भी स्थान की आशा करना कठिन है। न केवल यहीं किन्तु योरुप के देशों में तो मध्यम श्रेणी के मनुष्यों को भी इतने स्थान का मिलना असम्भव है। कदाचित् यह प्रश्न जितना कठिन पश्चिमी देशों में है उतना हमारे देश में नहीं है।

योरुप के कुछ विद्वानों का मत, जिसमें डाक्टर कारनेली प्रधान हैं, यह है कि जब तक १·० घन फुट कार्बन-डाई-आक्साइड प्रति १००० घन फुट वायु में रहती है तब तक उससे कोई हानि नहीं पहुँचती। अर्थात् वह ०·६ घन फुट कार्बन-डाई-आक्साइड के स्थान मे १·० घन फुट गैस को सह्य-दोष मानते है। यदि इस मात्रा को सह्य-दोष मान लिया जाय तो एक घण्टे में आवश्यक वायु की मात्रा भी घट जायगी। वह ३००० से केवल १००० घन फुट रह जायगी। और तब केवल ३५० घन फुट स्थान से भी एक युवा पुरुष का काम चल सकता है। योरुप के नगरों मे ग़रीब मनुष्यों को रहने को इससे अधिक स्थान नहीं मिलता। और हमारे देश के बड़े नगरों मे भी यही दशा है। किन्तु यहाँ जाड़े के दिनों और पार्वतीय स्थानों के अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि कमरे की वायु को तीन बार से अधिक न बदला जावे। अतएव वायु अवकाश की कमी को हम वायु को अधिक बार बदलकर पूरा कर सकते हैं।

इँग्लैंड में सरकारी नियमानुसार भिन्न भिन्न स्थानों में जितने वायु-अवकाश का प्रबन्ध करना पड़ता है वह इस प्रकार है—

सिपाहियों के बारकों में—६०० घन फुट प्रति सिपाही

कङ्गाल मनुष्यों के निवासस्थान (डौर्मिटरी)—३०० घन फुट प्रति व्यक्ति

,, ,, ,,	—	८५० ,,	प्रति व्यक्ति (रोगावस्था)
यात्रियों के ठहरने के स्थान	—	३०० ,,	,, (१० वर्ष से अधिक आयु)
,, ,, ,,	—	१५० ,,	,, (१० ,, ,, कम)
प्रारम्भिक स्कूल	—	१०० से १२०	,, ,,
फ़ैक्टरी इत्यादि	—	२५०	,, ,, दिन में
,, ,,	—	४००	,, ,, रात्रि में
अस्पतालों में	—	१५००	,, ,, प्रति रोगी

वायु अवकाश का आयोजन करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक फ़र्श का क्षेत्र सारे कमरे के घन क्षेत्र के बारहवें भाग से कम न हो।

व्यजन अथवा वायु की शुद्धि का प्रबन्ध।

मकानों के कमरे या दूसरे स्थानों में एकत्रित अशुद्ध वायु को शुद्ध वायु के द्वारा दूर कर देने के अर्थ मे व्यजन शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव कमरो में शुद्ध वायु के प्रवेश और अशुद्ध वायु के निकास के लिए जो भिन्न-भिन्न प्रबन्ध किये जाते हैं वह सब व्यजन के साधन होते हैं। व्यजन दो प्रकार का होता है—एक प्राकृतिक और दूसरा कृत्रिम। जब आकाश में प्रवाहित वायु के मकान में प्रवेश करने के लिए ऐसे द्वार बना दिये जाते हैं जिनके द्वारा वायु स्वयं ही कमरों में प्रवेश करके दूसरे द्वारों से निकल जाती है तो यह प्राकृतिक व्यजन कहलाता है। किन्तु जब किसी विशेष यन्त्र के द्वारा वायु का कमरों के भीतर संचार करना पड़ता है तो वह कृत्रिम व्यजन कहा जाता है। जिन स्थानों में एक ही समय मे बहुत से मनुष्य एकत्रित होते हैं, जैसे सभाभवन और थियेटर इत्यादि में, वहां कृत्रिम व्यजन का प्रबन्ध करना होता है।

कुछ विद्वानों ने व्यजन की दो और श्रेणियाँ भी बताई हैं जिनको वे आन्तरिक और बाह्य व्यजन कहते हैं। मकानों के भीतर की वायु की शुद्धि को वे आन्तरिक व्यजन और मकानों के बाहर के स्थानों, गली, सड़क, अथवा सारे नगर के वायु-मण्डल की शुद्धि को बाह्य व्यजन के नाम से पुकारते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि आन्तरिक व्यजन बाह्य व्यजन पर निर्भर करता है। यदि नगर का वायुमण्डल स्वच्छ न होगा तो मकानों के भीतर आनेवाली वायु भी स्वच्छ नहीं हो सकती।

प्राकृतिक व्यजन—दोनों प्रकार का व्यजन वायु के उन भौतिक गुणों पर निर्भर करता है जिनका पहिले वर्णन किया जा चुका है। नगर के वायु-मण्डल की शुद्धि में प्रकृति वर्षा, आँधी, इत्यादि के द्वारा स्वयं सहायता करती रहती है। किन्तु हमको प्रकृति के इस कर्म में जितनी भी सहायता दी जा सके देनी चाहिए। यदि हम अपने स्वभाव के कारण नगर की गन्दगी बढ़ाते रहेंगे तो प्रकृति अपने कर्म में सफल न होगी।

वायु का कमरे में आना और उसका निकास दो बातों पर निर्भर करता है जिनको व्यजन का सिद्धान्त कहा जा सकता है।

(१) कमरे के भीतर वायु का आना और उसका बाहर निकलना भीतर और बाहर की वायु के भार और ताप के अन्तर पर निर्भर करता है।

(२) यदि एक बार वायु का कमरे के भीतर प्रवेश और वहाँ से निकास प्रारम्भ हो जावे तो वायु कमरे में निरन्तर आती-जाती रहेगी।

कमरे के व्यजन के लिए कमरे की दीवारों में वायु-प्रवेश-द्वार और निकास-द्वार बनाये जाते हैं। प्रवेश-द्वार के द्वारा वायु कमरे में प्रवेश करती है और निकास-द्वार के द्वारा बाहर निकल जाती है। साधारणतया हमारे देश में दरवाज़ो के द्वारा कमरे का व्यजन पूर्ण हो जाता है। किन्तु शीतकाल में दरवाज़े बन्द करने पड़ते है। इसलिए वायु-प्रवेश-द्वार ऐसे बनने चाहिएँ कि उनके द्वारा प्रवेश करनेवाली वायु कमरे में रहनेवाले व्यक्तियों के शरीर पर सीधी न लग सके।

प्रवेश द्वार के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

(१) उनकी स्थिति कमरे में रहनेवालो के शिर से ऊँची होनी चाहिए। इसलिए उनको कमरे के फ़र्श से ८ या ९ फुट ऊँचा बनाना उचित है।

(२) प्रवेश द्वार कमरे में रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से ४८ वर्ग इंच होने चाहिएँ। यदि कमरे में दो मनुष्य रहते हैं तो प्रवेश द्वार का क्षेत्र ९६ वर्ग इंच होना आवश्यक है।

(३) प्रवेश द्वार इस प्रकार स्थित होने चाहिएँ कि उनके द्वारा भीतर आनेवाली वायु कमरे मे ऊपर की ओर को चली जावे। यदि प्रवेश द्वार इस प्रकार ढलवाँ बनाया जायगा जिससे वह कमरे के भीतर की ओर बाहर की ओर की अपेक्षा ऊँचा होगा तो वायु ऊपर की ओर को चली जावेगी।

(४) एक बड़े प्रवेश द्वार की अपेक्षा कई छोटे-छोटे प्रवेश द्वार अधिक उपयोगी होते हैं। उनके द्वारा वायु का सारे कमरे मे समान वितरण हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि वायु ठण्डी होती है तो वह थोड़े ही समय में गरम हो जाती है।

(५) विशेष दशाओं और स्थानों में—जैसे बड़े-बड़े थियेटर या सार्वजनिक सभास्थान इत्यादि में—प्रवेश द्वार कमरे के फ़र्श के पास या उसी में बनाये जाते हैं; किन्तु वायु को इस प्रकार कमरे के भीतर ले जाते हैं कि वह भीतर बैठे हुए व्यक्तियों के शरीर पर सीधी नहीं लगती है।

(६) जब वायु को गरम करने के पश्चात् कमरे में भेजा जाता है तो प्रवेश द्वार के दूसरी ओर एक छोटा कमरा रहता है जिसमें स्थित एक अग्निकुण्ड में कोयलों से उत्पन्न हुई अग्नि के द्वारा गरम होकर वायु बड़े कमरे में प्रवेश करती है। गरम जल के नलों पर होकर भी वायु को निकाला जाता है जिससे वायु गरम हो जाती है। तत्पश्चात् वह कमरे में प्रवेश करती है।

जो भिन्न भिन्न प्रकार के प्रवेश द्वार बनाये जाते हैं उनमे निम्नलिखित मुख्य हैं।

(१) दोहरी पटकेवाली खिड़की—यह विशेष प्रकार की खिड़कियाँ होती हैं जिनका एक भाग ऊपर और दूसरा भाग नीचे रहता है। यह भाग काँच

या लकड़ी दोनों के बनाये जा सकते हैं। ऊपर के भाग के नीचे की ओर और नीचे के भाग के ऊपर की ओर काठ के चौड़े टुकड़े इस प्रकार से लगा दिये जाते है कि जब वह आपस में मिल जावें तो उनके बीच मे तनिक भी स्थान न रहे। ऐसा करने से वायु भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। किन्तु यदि
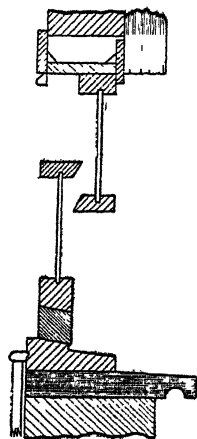
चित्र नं० १—दोहरी पटकेवाली खिड़की

नीचे के भाग के नीचे की ओर एक काठ का टुकड़ा लगा दिया जावे जिससे यह भाग ऊँचा हो सके तो दोनों भागों के काठ के टुकड़े आपस में न मिल सकेंगे; क्योंकि नीचे के भाग का ऊपरी सिरा ऊपरी भाग के निचले सिरे की अपेक्षा अधिक ऊँचा हो जायगा। इस प्रकार उत्पन्न हुए इन दोनों भागों के बीच के स्थान में होकर वायु कमरे के भीतर प्रवेश कर सकेगी। और जैसा चित्र से स्पष्ट है, वायु कमरे की छत की ओर जावेगी। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि प्रवेश द्वार पर दो कांच की प्लेट लगा दी जावें जिनमें से एक भीतर को और दूसरी उसके बाहर की ओर रहे। और ऊपर की प्लेट के निचले सिरे और निचली प्लेट के ऊपरी सिरे के बीच मे स्थान छोड़ दिया जावे जिसके द्वारा वायु कमरे में प्रविष्ट हो सके।

(२) शेरिंघम की खिड़की—यह लोहे का बना हुआ एक बक्स होता है जो दीवार में लगा दिया जाता है। इसमें पतली-पतली सलाखें पास-पास लगी रहती हैं अथवा विशेष प्रकार की बनी हुई ईंटे, जिनमे वायु के भीतर आने के लिए छिद्र रहते हैं, लगा दी जाती है। इनका वह भाग
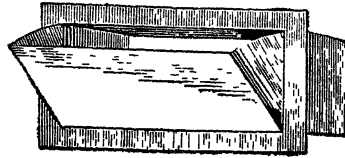
चित्र नं० २—शेरिंघम की खिड़की

जो भीतर की ओर रहता है बाहरी भाग से बड़ा होता है और ऊपर छत की ओर को मुड़ा रहता है। इससे वायु सीधी भीतर न जाकर ऊपर को मुड़ जाती है। इस भीतरी भाग का ऐसा प्रबन्ध किया जाता है कि उसको जब चाहें तब यान्त्रिक साधनों द्वारा बन्द कर सकते हैं। आवश्यकता होने पर इनका, निकास-द्वार की भाँति भी, उपयोग किया जा सकता है।
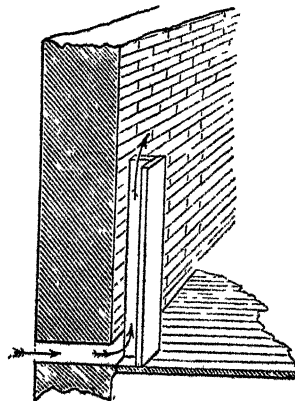
चित्र नं० ३—टौबिन की नली

(३) किन्हीं-किन्हीं स्थानों पर विशेष प्रकार की बनी हुई ईंटो का भी, जिनमें वायु के प्रवेश के लिए छिद्र बने रहते हैं, उपयोग किया जाता है। यह छिद्र ईंट के आर-पार होते हैं और इनका बाहर की ओर का मुख भीतर के मुख की अपेक्षा अधिक चौड़ा होता है। इससे कमरे के भीतर प्रविष्ट होने पर वायु की गति कम हो जाती है।

(४) टौबिन की नली—दीवारों में आर-पार चौड़े छिद्र कर दिये जाते हैं जिनके द्वारा वायु भीतर प्रविष्ट हो सके। जिस स्थान पर यह छिद्र कमरे के भीतर खुलते हैं वहाँ पर लम्बी नलिकाएँ लगा दी जाती है जिनके द्वारा वायु फ़र्श से ६ या १० फुट या इससे भी अधिक ऊँचाई तक पहुँच जाती है। वहाँ से वायु स्वय अपने भार से कमरे में नीचे की ओर को प्रवाहित होती है। थियेटर, सभा इत्यादि में जो लोहे के स्तम्भ लगाये जाते हैं उनका नलिकाओं के स्थान में भली भाँति उपयोग किया जा सकता है।
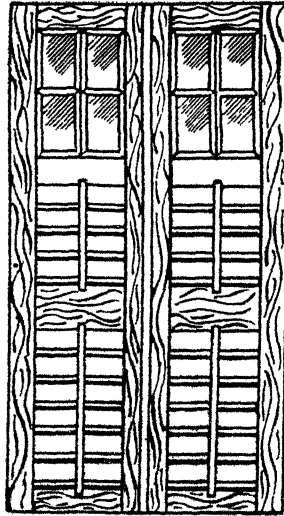
चित्र नं० ४—झिलमिली

ये नलिकाएँ साधारण प्रयोग के लिए उपयुक्त नहीं हैं। इनमें जाले, धूल या अन्य ऐसी ही गन्दगी एकत्रित हो जाती है। इन नलिकाओं को स्वच्छ करना कठिन है।

ऊपर जिन प्रवेश द्वारों का वर्णन किया जा चुका है वे हमारे देश के लिए उपयुक्त नहीं है।

(५) झिलमिली—हमारे देश में इनका बहुत उपयोग किया जाता है। खिड़कियों और दरवाज़ों के किवाड़ों पर झिलमिली लगाई जाती है। जब इनका उपयोग किया गया हो तो दरवाज़ों और खिड़कियों के किवाड़ों को बन्द न करना चाहिए। प्रवेश द्वार पर भी इनका उपयोग सहज में किया जा सकता है।

(६) मेकिनेल के व्यजनक—यह लोहे की दो नलियां होती हैं जिनमें से एक चौड़ी होती है। दूसरी नली चौड़ाई में पहली के लगभग आधी होती है। पतली नली चौड़ी नली के भीतर कमरे के सबसे ऊँचे स्थान पर लगा दी जाती है। नलियों का कुछ भाग छत के द्वारा ऊपर को निकला रहता है। पतली भीतरवाली नली बाहर की नली की अपेक्षा ऊपर
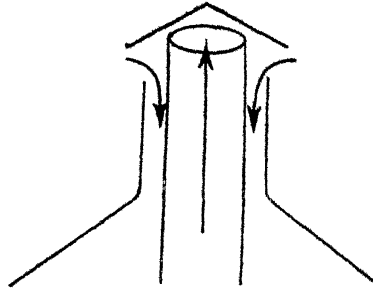
चित्र नं० ५

और नीचे दोनों ओर को अधिक निकली रहती है। भीतर की नली निकास द्वार की भाँति काम करती है और बाहर की नलिका के द्वारा वायु कमरे में प्रवेश करती है। अतएव वह प्रवेश द्वार का काम करती है। भीतर

की नलिका का आकार आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त होना चाहिए। उसके छोटे होने से व्यजन में बाधा उत्पन्न हो सकती है।

निकास द्वार—जिस प्रकार वायु के प्रवेश के लिए प्रबन्ध करना आवश्यक है उसी प्रकार वायु के निकास का प्रबन्ध करना भी आवश्यक है। यदि कमरे में वायु के निकलने के लिए मार्ग नहीं होगा तो शुद्ध वायु कमरे के भीतर प्रवेश भी नहीं करेगी।

निकास द्वारों के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातो को ध्यान में रखना चाहिए—

(१) शुद्ध वायु जो ठण्डी और भारी होती है कमरे के भीतर आकर गरम होने से हलकी हो जाती है और इस कारण वह ऊपर को उठती है। अतएव निकास द्वारों को कमरे की छत के पास बनाना चाहिए।

(२) मकान में जहाँ अग्नि जलाई जावे वहाँ धुँवे के निकलने के लिए चिमनी का होना आवश्यक है। कमरे में अग्नि के जलने से जितनी भी दूषित गैसें उत्पन्न होती हैं वह सब चिमनी के द्वारा बाहर निकल जाती हैं। इसके अतिरिक्त साधारण दूषित वायु के निकास के लिए भी वह निकास द्वार की भाँति काम करती है। किन्तु वायु के प्रवाह का उन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि वायु चिमनी के अनुकूल चल रही है तो वह चिमनी में की सारी वायु को खींच लेगी और कमरे की सारी वायु चिमनी की ओर आकर्षित हो जावेगी। किन्तु यदि वायु के प्रवाह की दिशा चिमनी के प्रतिकूल है तो वह चिमनी के द्वारा कमरे के भीतर प्रवेश करेगी। इस कारण चिमनी के मुख पर एक इस प्रकार का ढक्कन या वाल्व लगा देना चाहिए जो अनुकूल वायु में तो खुला रहे किन्तु प्रतिकूल वायु मे बन्द हो जावे। चिमनी को स्वच्छ रखना भी आवश्यक है।

(३) निकास द्वार के पास साधारण या गैस के लम्प का उपयोग भी किया जा सकता है। इससे वहाँ की वायु गरम और हलकी होकर बाहर जायगी, और कमरे की वायु उस स्थान की ओर आकर्षित होगी। इस प्रकार सारे कमरे में द्वार की ओर एक आकर्षण उत्पन्न हो जावेगा जिससे कमरे का व्यजन उत्तम प्रकार से होता रहेगा।

(४) प्रवेश और निकास द्वार दोनों को स्वच्छ रखना आवश्यक है।

(५) निकास द्वार प्रवेश द्वार के सामने की ओर किन्तु उनसे ऊँचे होने चाहिएँ।

(६) जिन कमरों की छत ढलवाँ होती है उनमें छत और दीवार के मिलने के स्थान पर दोनों के बीच में कुछ स्थान छोड़ा जा सकता है। अथवा उसके स्थान पर समस्त दीवार की लम्बाई में छिद्र बनाये जा सकते है। यह बहुत उत्तम निकास-द्वार होते है।

निकास द्वार का आकार भी प्रवेश द्वार के समान ही रखा जाता है। वह भी प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से २४ से ४८ वर्ग इंच होने चाहिएँ।

कृत्रिम व्यजन—कृत्रिम व्यजन का प्रबन्ध दो प्रकार से किया जाता है; एक संचारण और दूसरा निष्कासन-विधि द्वारा। प्रथम विधि
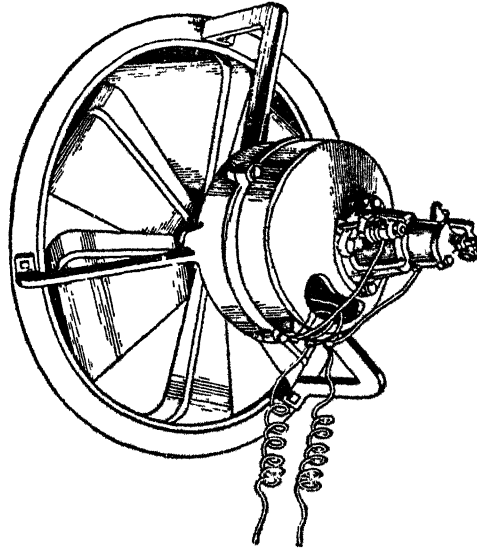
चित्र नं० ६—निष्कासक विधि में उपयोग में आनेवाला पंखा

मे यन्त्रो द्वारा वायु को कमरों के भीतर भेजा जाता है और दूसरी विधि में वायु को कमरे से बाहर निकाला जाता है।

(१) संचारण के द्वारा व्यजन—प्रवेश द्वारों के द्वारा पङ्खो, पम्प या धौंकनियों से वायु कमरे में पहुँचाई जाती है। यह यन्त्र वायु को बाहर से कमरे के भीतर भेजते है और इस प्रकार कमरों के भीतर वायु का संचारण करते हैं। ठण्डे देशों में वायु प्रथम एक ऐसे कमरे में भेजी जाती है जहाँ गरम जल के नल, या वायु को गरम करने के दूसरे साधन, उपस्थित रहते हैं। वहाँ से गरम वायु को नलियों के द्वारा मुख्य कमरों में, जहाँ का व्यजन करना है, भेजा जाता है। यह नलियाँ फ़र्श से आठ या दस फुट की ऊँचाई पर खुलती है। उनसे निकलनेवाली वायु ऊपर छत की ओर जाती है जहाँ से वह स्वयं नीचे की ओर को प्रवाहित होकर सारे कमरे में फैल जाती है। और अन्त मे श्वास इत्यादि के दोष से युक्त होकर वह निकास द्वार के द्वारा कमरे से बाहर निकल जाती है।

व्यजन का इस प्रकार का प्रबन्ध फ़ैक्टरियों में अधिक उपयोगी होता है जहाँ, न केवल बहुत से मनुष्य एक साथ उपस्थित रहते हैं, किन्तु धूल इत्यादि उड़ा देने के लिए भी तीव्र वायु की आवश्यकता होती है।

(२) निष्कासन के द्वारा व्यजन—संचारण की अपेक्षा निष्कासन विधि का अधिक प्रयोग किया जाता है। निकास द्वार पर कोई ऐसा यन्त्र अथवा तीव्र प्रकाशवाला लम्प लगा दिया जाता है जो कमरे के भीतर की वायु को बाहर निकालता रहता है। इस कारण प्रवेश द्वार के द्वारा बाहर की वायु खिंचकर कमरे में आती रहती है। बड़े-बड़े थियेटरों के कमरों में प्रकाश के जो लम्प या चैंडलियर लटके होते हैं या गैस जलती होती है वह प्रायः इस काम में लाये जाते हैं। प्रत्येक के पास एक निकास द्वार होता है। इन सब निकास द्वारों का उचित आकार की एक नली के द्वारा मध्यस्थ नल से सम्बन्ध होता है, जहाँ से भिन्न-भिन्न नलियों द्वारा आई हुई वायु बराबर बाहर निकलती रहती है। खानों का व्यजन भी इसी

सिद्धान्त पर किया जाता है। वायु के आने के लिए एक मार्ग और निकास के लिए दूसरा मार्ग बनाया जाता है। निकास मार्ग के पास एक भट्ठी जला दी जाती है जिससे गरम वायु बाहर को निकलती रहती है। इस कारण बाहर की वायु प्रवेश-मार्ग द्वारा भीतर आकर्षित होती है जिसके वितरण के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता है।

इँग्लैंड की पार्लियामेंट के हाउस-आफ़-कामन्स का व्यजन इसी सिद्धान्त पर किया गया है। उदाहरण की भाँति नौटर और फ़र्थ महाशयों ने अपने स्वास्थ्य-विज्ञान की पुस्तक में इसका उल्लेख किया है। चित्र को देखने से सारा प्रबन्ध सहज में समझा जा सकता है। बाहर से आनेवाली वायु फ़र्श के द्वारा कमरे में प्रवेश करती है। तीन प्रवेश मार्गों द्वारा वायु
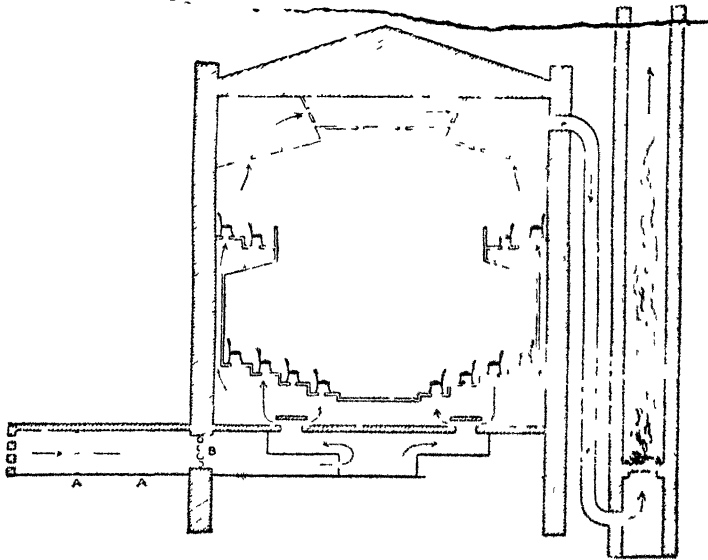
चित्र ७.

हाउस-आफ़-कामन्स में वायु के सञ्चार का प्रबन्ध। (From Notter and Firth)

भीतर प्रविष्ट होती है। यह प्रवेश मार्ग अत्यन्त बारीक तारों की जाली से ढके हुए हैं जिससे वायु के दूषित अवयवों का बहुत सा भाग बाहर ही रह जाता है। इस जाली के आगे जल का एक फुहारा लगा हुआ है जो वायु में सम्मिलित दूषित अवयवों को रोक लेता है। उसके आगे एक रुई का परदा लगा हुआ है जिसके द्वारा पाले या कोहरे के दिनों में वायु को निकाला जाता है। इस प्रकार वायु पूर्णतया शुद्ध हो जाती है। यहाँ से वायु एक नल में होकर, जिसके मुँह पर वायु को खींचने के लिए एक पङ्खा लगा हुआ है, जो प्रति मिनट १०० से १६० चक्कर करता है, एक दूसरे कमरे में जाती है जहाँ जाड़े के दिनों में वायु को गरम किया जाता है। किन्तु गरमी के दिनों में वायु को इस कमरे में न भेजकर सीधे बैठने के कमरों मे भेज दिया जाता है।

वायु कमरे में चारों ओर प्रवाह कर चुकने के पश्चात् ऊपर छत की ओर जाती है और व्यजनकों में होती हुई छत के पास पहुँच जाती है। चित्र में देखने से विदित होगा कि कमरे का एक चौड़े नल के द्वारा पास ही की एक चिमनी से सम्बन्ध है जिसमें प्रत्येक समय अग्नि जला करती है। अग्नि के ऊपर की वायु पतली होकर बाहर निकलती रहती है। अतएव यह अग्नि नल के द्वारा कमरे की वायु को आकर्षित करती है और इससे कमरे की दूषित वायु सदा चिमनी के द्वारा बाहर निकलती रहती है। यह प्रबन्ध इस प्रकार से किया गया है कि आवश्यकतानुसार कमरे के किसी भी भाग का व्यजन बन्द अथवा प्रारम्भ किया जा सकता है।

यद्यपि संचारण विधि का निष्कासन की अपेक्षा कम प्रयोग किया जाता है तो भी उसमें कई ऐसे गुण हैं जो दूसरी विधि में नहीं है। संचारण के द्वारा जिस समय और जितनी वायु आवश्यक हो वही कमरे के भीतर पहुँचाई जा सकती है।

बड़े-बड़े स्थानों के व्यजन का प्रबन्ध कृत्रिम साधनों ही के द्वारा करना होता है। ऐसे स्थानों के लिए प्राकृतिक साधनों पर निर्भर करना उचित नहीं है। उनमें वायु की गति, दिशा इत्यादि के अनुसार सदा परिवर्तन होते रहते हैं।

मकानों को गरम और ठण्डा करने के उपाय।

हमारे देश में मकानों को गरम करने की अपेक्षा ठण्डा करने के लिए अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। केवल पार्वतीय देशों मे और पञ्जाब तथा उससे उत्तर के प्रदेशों में शीत ऋतु में मकानों को गरम करने की आवश्यकता होती है। इस विषय का व्यजन के साथ बहुत कुछ सम्बन्ध है क्योंकि दोनों बाहर और भीतर के ताप के अन्तर पर निर्भर करते हैं।

कमरों को गरम करने के लिए निम्नलिखित भिन्न-भिन्न प्रकार से अग्नि का प्रयोग किया जा सकता है।

(१) खुले हुए अग्नि स्थान, जैसे साधारणतया मकानों में बनाये जाते हैं। इनके ऊपर ही चिमनी होती है। नीचे की ओर लोहे की पतली सलाखें लगी होती हैं जिनके ऊपर कोयले इत्यादि से अग्नि उत्पन्न कर दी जाती है। इन सलाखों और नीचे के फ़र्श के बीच में कुछ अन्तर रहता है।

(२) स्टोव—इनमें अग्नि चारों ओर से बन्द रहती है और ताप का वायु के द्वारा संवहन होता है।

(३) गरम जल या वायु या भाप के नलों के द्वारा भी कमरे गरम किये जाते हैं।

(१) खुले हुए अग्नि स्थान—यह सबसे अधिक काम में लाये जाते हैं। अग्नि के जलने से जो ज्वाला निकलती है या प्रकाश उत्पन्न होता है वह बहुत सुहावना प्रतीत होता है और कमरे में बैठनेवालों को प्रकाश और ताप दोनों से आनन्द मिलता है। यही कारण है कि अन्य साधनों की अपेक्षा इस विधि का अधिक प्रयोग किया जाता है यद्यपि अन्य विधियों की अपेक्षा इससे कमरे में कम ताप उत्पन्न होता है। अग्नि से जो ताप उत्पन्न होता है उसका केवल १३ प्रति शत भाग काम में आता है; ८७ % ताप का वायु में व्यर्थ नाश होता है, अथवा वह बिना जले हुए कार्बन के रूप में चिमनी के द्वारा बाहर निकल जाता है।

नौटर और फ़र्थ ने, टील के मतानुसार इन अग्नि स्थानों को बनाने में निम्नलिखित बातों की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया है—

(१) लोहे का प्रयोग जितना भी कम और अग्नि स्थानों के लिए विशेप ईंटों का जितना भी अधिक उपयोग हो सके, करना चाहिए।

(२) अग्नि स्थान के पीछे और आगे दोनों ओर ऊपर बताई हुई ईंटों को लगाना चाहिए। नीचे और सामने की ओर पतली सलाखों को लगाना उचित है।

(३) अग्नि स्थान के पीछे की दीवार आगे की ओर को झुकी होनी चाहिए। अर्थात् उसको इस प्रकार बनाना चाहिए कि फ़र्श के पास तो वह काफ़ी पीछे रहे किन्तु ऊपर की ओर आगे को झुकती जावे, यहाँ तक कि वह अग्नि स्थान के ऊपर चिमनी की पिछली दीवार से मिल जावे। इससे अग्नि स्थान का तल तो काफ़ी गहरा हो जायगा किन्तु चिमनी का मुख संकुचित होगा जैसा कि होना चाहिए।

(४) अग्नि स्थान के नीचे की ओर लगाई हुई सलाखों के बीच में जितना कम अन्तर रहे उतना ही उत्तम है।

(५) अग्नि स्थान के सामने की ओर प्रयोग की जानेवाली सलाखें अधिक पतली होनी चाहिएँ।

(६) अग्नि स्थान के नीचे की सलाखों और फ़र्श के बीच में जो स्थान रहता है उसके सामने की ओर एक लोहे का ढक्कन लगाना चाहिए जो अग्नि का व्यर्थ नाश न होने दे। इससे कोयले के पूर्णतया जलने मे सहायता मिलेगी।

इन स्थानों में कोयले या लकड़ियों से अग्नि उत्पन्न करते समय कमरे के व्यजन का पूरा ध्यान रखना चाहिए। जितनी अधिक अग्नि जलेगी उतनी ही अधिक वायु भीतर आवेगी। यह पाया गया है कि एक पाउंड कोयले के जलने के लिए ३०० घन फुट वायु की आवश्यकता होती है।

(२) बन्द अग्नि स्थान या स्टोव—यह स्टोव चारों ओर से बन्द होते है। इनमें अग्नि के जलने से उत्पन्न हुए दूषित अवयव एक लोहे या टीन की चादर की चिमनी के द्वारा, जो स्टोव के ऊपरी भाग पर लगी रहती है, कमरे से बाहर निकल जाते हैं। किन्तु स्टोव और चिमनी के तप्त हो जाने के कारण उनके सम्पर्क में आनेवाली वायु गरम हो जाती है। धीरे-

धीरे कुछ समय में सारे कमरे की वायु गरम हो जाती है। स्टोव में अग्नि की उतनी हानि नहीं होती जितनी खुले हुए वायु-स्थानों में होती है। किन्तु वायु गरम और शुष्क हो जाती है और स्टोव से एक विशेष प्रकार की गन्ध आने लगती है, जिसका कारण कार्बन-मानो-आक्साइड या वायु में उपस्थित ऐन्द्रिक पदार्थों का जलना बताया जाता है। इन दोषों को दूर करने के लिए विशेष प्रकार के स्टोव बनाये गये हैं जिनसे किसी भी प्रकार की गैस नहीं उत्पन्न होती है।

(३) गरम जल के नल या भाप या गरम वायु—इनके द्वारा इँग्लैंड इत्यादि देशों में कमरों को गरम किया जाता है। यह विधि बहुत उत्तम है; क्योंकि इससे किसी प्रकार के दूषित अवयव नहीं उत्पन्न होते और साथ में कमरे का व्यजन भी उत्तम होता है। हाउस-आफ़-कामंस के कमरो में गरम वायु को पहुँचाने के लिए जो प्रबन्ध किये गये हैं उनको व्यजन के सम्बन्ध में संक्षेपतया बताया जा चुका है। कमरे गरम करने की यह सबसे उत्तम विधि है। किन्तु हमारे देश में अभी तक साधारणतया इसका प्रयोग नहीं किया जाता है।

कमरों को ठण्डा करना—हमारे देश के अधिक भाग में कमरों को गरम करने की कभी आवश्यकता नहीं होती। किन्तु उनको ठण्डा करने की वर्ष में कम से कम छः महीने आवश्यकता रहती है। किन्तु तो भी जिन साधनों द्वारा हम कमरों को ठण्डा करते हैं वह सन्तोषजनक नहीं हैं।

गरमियों के दिनों में कमरों को ठण्डा करने के लिए ख़स की टट्टियों का बहुत उपयोग किया जाता है। इससे कमरे का वायु-मण्डल जल के कणों से संचरित होने के कारण ठण्डा हो जाता है और साथ में कमरे में पङ्खा चलने से उसका ताप और भी कम हो जाता है।

गरमियों में थर्मैंटीडोटों का भी प्रयोग किया जाता है। यह एक प्रकार का यन्त्र होता है जिसमें आगे की ओर ख़स का परदा या टट्टी रहती है। उसके पीछे एक पङ्खा लगा रहता है। एक हैंडिल के द्वारा घुमाने से पङ्खा चक्कर करता है और वायु को आगे की ओर फेंकता है जो ख़स की टट्टी में

होती हुई कमरे में जाती है। यह विधि बहुत उत्तम है क्योंकि कमरे में सदा नवीन शुद्ध वायु पहुँचा करती है।

गरमी के दिनों में कमरे के दरवाज़ों को दिन भर बन्द रखना चाहिए जिससे बाहर की तप्त वायु कमरे के भीतर न जा सके। व्यजन के लिए प्रवेश मार्ग पर्याप्त हैं। इससे कमरों के भीतर की वायु ठण्डी रहेगी।

कमरे के चारों ओर के बरामदों में परदे डाल देने चाहिएँ।

गरमी के मौसम में मांस, दूध या अन्न के बने हुए भोज्य पदार्थ भी शीघ्र ही बिगड़ जाते हैं। अतएव जहाज़ों या अन्य ऐसे स्थानो में, जहाँ भोज्य पदार्थों को अधिक समय तक एकत्रित करने की आवश्यकता होती है वहाँ, बरफ़ या ऐमोनिया के द्वारा भोजन की रक्षा की जाती है। इन वस्तुओं से उस स्थान के तापक्रम के कम होने से वायु-मण्डल ठण्डा हो जाता है जिससे भोजन नहीं बिगड़ने पाता। किन्तु वह सब साधन साधारणतया मकानों को ठण्डा करने के लिए काम में नहीं लाये जा सकते।

वायु और स्वास्थ्य का सम्बन्ध।

वायु के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(१) शुद्ध वायु स्वास्थ्य प्रदान करनेवाली होती है, इस कारण उसको प्राण वायु कहा जाता है। शुद्ध वायु से शरीर की सब क्रियाएँ पूर्ण रूप से होती हैं। अङ्गो मे शक्ति आती है। रोगों का नाश होता है और आयु की वृद्धि होती है। विशेषकर बच्चो पर शुद्ध वायु का बहुत प्रभाव पड़ता है, और उसके न मिलने से उनको हानि भी बहुत पहुँचती है। उनकी शारीरिक क्षमता और सहन शक्ति का नाश होता है और वृद्धि रुक जाती है, जिससे सारे जीवन के लिए वह दुर्बल और शक्तिहीन हो जाते हैं।

(२) दूषित वायु-मण्डल में रहने से जो रोग उत्पन्न हो सकते हैं वह प्रथम बताये जा चुके हैं। रक्त को आक्सिजन की पर्याप्त मात्रा न मिलने के कारण वह अशुद्ध हो जाता है। अङ्ग अपनी-अपनी क्रिया पूर्ण रूप से नहीं करते, उनमें बल नहीं आता, शरीर दुर्बल हो जाता है, रोग

के आक्रमण को सहने की शक्ति नष्ट हो जाती है और रोग सहज में उत्पन्न हो जाता है जिससे रोगी का बचना भी कठिन होता है।

(३) जिस प्रकार केवल शुद्ध जल में स्नान करने से देह पर लगे हुए मैल, धूल या स्वेद दूर होते हैं, वैसे ही शुद्ध वायु मे रक्त या भीतरी अङ्गों के स्नान करने से उनके दोष दूर होते है। जिस जल से कोई मनुष्य प्रथम स्नान कर चुका हो उसी जल से दूसरा मनुष्य कभी स्नान न करेगा, क्योकि उस जल मे प्रथम मनुष्य के शरीर से त्यक्त मैल मिला हुआ है। इसी भाँति जिस वायु में बहुत से मनुष्यों के शरीर से श्वास द्वारा निकले हुए दूषित अवयव सम्मिलित हों उसको श्वास द्वारा फिर भीतर ग्रहण न करना चाहिए। इससे बल की हानि होती है और रोग उत्पन्न होते हैं।

(४) स्वस्थ दशा की अपेक्षा रुग्णावस्था में अधिक वायु की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में रोगी के श्वास और देह के चर्म द्वारा निकलनेवाले दूषित अवयवों और विष की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। इस कारण उन दोषों को दूर करने के लिए वायु भी अधिक चाहिए। अतएव रोगी को मकान के सबसे बड़े कमरे मे रखना चाहिए जिसमें वायु के प्रवेश के लिए काफ़ी खिड़कियाँ हों और जहाँ सूर्य का प्रकाश भी पूर्णतया आता हो। कमरे की खिड़कियों, व्यजनकों और दरवाज़ों को प्रत्येक समय खुला रखना चाहिए जिससे कमरे में वायु पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ आ सके। किसी भी काल और देश में खिड़कियों या दरवाज़ों को बन्द करना पाप समझना चाहिए। ऐसा करना रोगी के जीवन के नाश का एक साधन है और इस कर्म में सहायता देनेवाले अपराधी हैं। रोगी के पास एक या दो उपचारकों के अतिरिक्त किसी को भी न रहना चाहिए। क्योंकि कमरे मे जितने मनुष्य अधिक होंगे उतना ही वहाँ की वायु का दोष बढ़ेगा।

रोगी की शय्या को ऐसे स्थान पर रखना चाहिए जहां बाहर से आनेवाली वायु उसके शरीर पर सीधी न लग सके। साथ में उसको पर्याप्त कम्बलों इत्यादि से ढक देना चाहिए जिससे उसको ठण्ड न मालूम

होने पावे। इसके अतिरिक्त कमरे के किसी भी वायु-प्रवेश के मार्ग को रोकना उचित नहीं है।

(५) फुस्फुस के रोगों में, जैसे राजयक्ष्मा निमोनिया इत्यादि मे, साधारण रोगों की अपेक्षा शुद्ध वायु की अधिक आवश्यकता होती है। फुस्फुसों के विकृत हो जाने के कारण उनमें स्वस्थ दशा में जितनी वायु जा सकती थी उतनी रोगग्रस्त होने पर नहीं जा सकती। इस कारण रक्त को आक्सिजन की पर्याप्त मात्रा नहीं मिलती। ऐसी अवस्था में प्रकृति ने यह प्रबन्ध किया है कि रोगी अधिक बार श्वास लेकर वायु की कमी को पूरा कर ले, जिससे प्रत्येक मिनट में रक्त को मिलनेवाली आक्सिजन की मात्रा पूर्ण हो जाय। निमोनिया आदि रोगों में रोगी की श्वास-गति बढ़ जाती है। ऐसी अवस्था मे रोगी को बिल्कुल खुले हुए स्थान में या कम से कम बरामदे में अवश्य रखना चाहिए। बन्द कमरे की अपेक्षा बरामदे की वायु अधिक स्वच्छ होती है।

(६) रात्रि को सोते समय कमरे के सब वायु-मार्गों, दरवाज़ों, खिड़कियों इत्यादि को खोलकर रखना चाहिए। यदि शीत अधिक हो तो दरवाज़े बन्द किये जा सकते हैं। किन्तु खिड़कियो और व्यजनकों को कभी बन्द न करना चाहिए। हाँ, शीत को दूर करने के लिए पर्याप्त वस्त्रों का प्रयोग करना उचित है। ठंढी वायु से कभी भी हानि नहीं होती। हानि उस वायु से होती है जो कमरों की खिड़कियों या दरवाज़ों को बन्द करने के पश्चात् हमारे श्वास द्वारा दूषित होकर कमरों के भीतर रहती है, और जिसको हम रात्रि भर श्वास के द्वारा बार-बार ग्रहण करते और निकालते रहते हैं। इस वायु को घोर शत्रु समझना चाहिए।

(७) यदि हम कुछ समय तक बिल्कुल बन्द कमरे के भीतर रहें और फिर अकस्मात् बाहर निकल आवें, जैसा कि लघुशङ्का इत्यादि के लिए करना पड़ता है, तो उस समय ताप के अकस्मात् परिवर्त्तन से हम को हानि पहुँच सकती है और शीत लग सकता है। जब तक कमरे में बाहर की वायु का, चाहे वह कैसी भी ठण्डी क्यों न हो, स्वतन्त्रता से प्रवाह होता रहेगा तब तक

किसी प्रकार भी शीत लगने का भय नहीं है। बरामदे में सोनेवाले को कभी शीत नहीं लग सकता।

(८) कमरे की वायु, चाहे उसमें व्यजन का कितना भी उत्तम प्रबन्ध हो, खुले हुए स्थान की वायु के समान स्वास्थ्य-प्रदायक नहीं होती है। वहाँ पर प्रकाश और शुद्ध वायु दोनों स्वास्थ्य को उन्नत करते हैं। जब वायु का तीव्र प्रवाह होता है और हमको शीत मालूम होता है तो हम जल्दी-जल्दी चलते हैं जिससे हमारे अङ्गों का व्यायाम होता है। इससे वायु तीव्र गति से श्वास के द्वारा भीतर जाने और बाहर निकलने लगती है।

योरुप मे आज-कल ऐसे स्कूल बनाये जाते है जहाँ विशेषकर ऐसे बच्चों के लिए—जिनका स्वास्थ्य उत्तम नहीं होता है—पाठ खुले हुए स्थान में होता है। उनके सारे खेल-कूद, भोजन इत्यादि भी खुले में होते हैं। संक्षेपतः बच्चे सारे दिन खुले स्थानों में रहते हैं। इनको Open air Schools कहा जाता है। इनसे बहुत उत्तम परिणाम निकले हैं।

(९) शुद्ध वायु और सूर्यप्रकाश दोनों ही रोगों के जीवाणुओं के शत्रु हैं। इस कारण जो मनुष्य खुले हुए स्थान में शुद्ध वायु और सूर्यप्रकाश का सेवन करता है वह रोगों से दूर रहता है। किन्तु जो मनुष्य इन दैविक पदार्थों से दूर रहता है वह रोगों का आह्वान करता है और दुखी रहता है।

सूर्यप्रकाश का स्वास्थ्य पर प्रभाव।

सूर्य को सदा से शक्ति का दाता माना जाता है। संसार के नाना पदार्थ, वृक्ष, फल, फूल, जन्तु, कोयला, लकड़ी सब सूर्य की शक्ति के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। वास्तव में हमारे शरीर के बल का कारण सूर्य ही है; क्योंकि जिस भोजन को हम शाक, फल, अन्न इत्यादि के द्वारा ग्रहण करते हैं जिससे शरीर में बल उत्पन्न होता है उसका आदि कारण सूर्य ही है जो वृक्षों को स्टार्च या शर्करा आदि कारबोहाइड्रेट उत्पन्न करने की शक्ति देता है।

सूर्य से यह शक्ति हम तक किरणों के द्वारा आती है और इन्हीं के द्वारा पृथ्वी पर प्रकाश फैलता है। यह प्रकाश की किरणें, जिनको हम श्वेत

रङ्ग को देखते है, वास्तव में सात प्रकार के रङ्ग की किरणों के मिलने से बनती है। यदि हम प्रकाश की किरणों को एक कांच के त्रिपार्श्व मे होकर निकालें और त्रिपार्श्व के दूसरी ओर किसी काग़ज़ या प्लेट या ऐसी ही वस्तु को रख दें तो उस पर हमको सात रङ्गो के धब्बे दिखाई देंगे। वास्तव में यह सातों भिन्न-भिन्न रङ्ग श्वेत वर्ण की किरण के अवयव है जो त्रिपार्श्व के द्वारा निकाले जाने से अपने अवयवो में विभक्त हो गई हैं। इन सात रङ्गों के नाम बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारङ्गी और लाल है। इन सात रङ्गो के योग से श्वेत रङ्ग बनता है।

बैंगनी रङ्ग की किरणो से ऊपर भी एक प्रकार की रश्मि होती है जिनको हम देख नहीं सकते, किन्तु जिनका स्वास्थ्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यह किरणें बैंगनी किरणों से छोटी होती है और अल्ट्रावायेलेट कहलाती है। सूर्य्य की किरणों का जो स्वास्थ्य पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है उसका मुख्य कारण यही किरणें है, यद्यपि बैंगनी किरणें भी उनकी सहायता करती है।

(१) सूर्य्यप्रकाश मे रोगों के जीवाणुओं का नाश करने की बड़ी प्रबल शक्ति है। जो जीवाणु अँधेरे में या कमरे के भीतर वर्षों तक जीवित रह सकते है और जल में उबालने से भी शीघ्र नहीं मरते उनका सूर्य्य की किरणो में थोड़े ही समय मे नाश हो जाता है। सूर्य्यप्रकाश मे राजयक्ष्मा के जीवाणुओं के नाश करने की अत्यन्त प्रबल शक्ति है। किरणो में कुछ ही मिनटो में उनका नाश हो जाता है। यह जीवाणु शुद्ध वायु और सूर्य्य की किरणों को सहन नहीं कर सकते।

(२) सूर्य्यप्रकाश का शरीर पर बहुत लाभदायक प्रभाव होता है। न केवल शरीर ही किन्तु मस्तिष्क की शक्ति भी प्रकाश के द्वारा उन्नत होती है। हंगरी देश में १८४८ की राज्य-क्रान्ति मे १५७ मनुष्यों को ब्रून के क़ैदख़ाने में बन्द कर दिया गया था। यह स्थान बिलकुल अँधेरा था। वहाँ की कोठरियों मे दिन में भी सूर्य्यप्रकाश नहीं पहुँचता था। कुछ वर्षों के पश्चात् जब उनको मुक्त किया गया तो उनमें से १५ मनुष्य तो बिल्कुल पागल हो गये थे और शेष की भी विषण्णोन्माद की सी दशा हो गई थी। जब उनको उस कारा-

गार से निकालकर खुले हुए स्थानों में रखा गया जहां प्रकाश और वायु दोनों का पर्याप्त प्रवेश था, तब उनकी दशा कुछ सुधरी। प्रकाश रोग का नाशक और स्वास्थ्य प्रदान करनेवाला है। इस कारण रहने के लिए सदा ऐसे स्थान चुनने चाहिएँ जहाँ सूर्य्य की किरणें भली भाँति आती हो, और वायु का प्रवेश भी होता हो।

(३) प्रयोग और अन्वेषण के द्वारा सिद्ध हो चुका है कि स्वास्थ्य को उन्नत करनेवाला सूर्य्य की किरणों का वह भाग है जो अल्ट्रावायलेट किरणें कहलाता है। आजकल इन किरणों का उपयोग, चिकित्सा और नष्ट हुए स्वास्थ्य की पुनः प्राप्ति करने के लिए, किया जाता है। यदि पारद के वाष्पों के द्वारा विद्युत् की धारा को प्रवाहित किया जाय तो वाष्पों में एक नीले और हरे मिश्रित रङ्ग का प्रकाश उत्पन्न हो जायगा। यह अल्ट्रावायोलेट किरणें होती है जिनका इस प्रकार का प्रकाश उत्पन्न होता है। चिकित्सा के लिए स्फटिक के बने हुए लम्प मे पारद के वाष्पो को भरकर उसमें विद्युत्धारा का संचार करके यह किरणे उत्पन्न की जाती है और उनको रोगी के शरीर पर डाला जाता है। उससे चर्म की बहुत सी बीमारियाँ, अङ्गों के रोग, शारीरिक शक्ति की क्षीणता इत्यादि दूर होते हैं।

सूर्य्यप्रकाश की इन किरणों का भी उपयोग किया जाता है। योरुप अमरीका इत्यादि में सूर्य्य-स्नान की चिकित्सा की विधि बहुत प्रचलित है। रोगी के शरीर पर से अत्यन्तावश्यक वस्त्रो के अतिरिक्त अन्य सब वस्त्रों को हटाकर उसको नियत समय तक सूर्य्य के प्रकाश में बैठाया जाता है जिससे सूर्य्य की किरणें उसके नग्न चर्म पर पड़ती है। प्रतिदिन किरणों में बैठने के समय को बढ़ाते जाते हैं जब तक कि चिकित्सा पूर्ण नहीं हो जाती।

इन किरणों का प्रयोग करने की, ऊपर कही हुई, दो विधियाँ हैं। एक प्राकृतिक है और दूसरी कृत्रिम है। प्राकृतिक विधि उन स्थानों में काम में लाई जाती है जो समुद्र या झील के किनारों पर स्थित है। वहां पर के प्रकाश में अल्ट्रावायोलेट किरणें अधिक होती हैं और उष्णता उत्पन्न करनेवाली किरणें कम होती हैं। उष्णतोत्पादक किरणों से हानि होने की अधिक

सम्भावना रहती है। पर्वतों पर भी प्रकाश में इन किरणों का अधिक भाग होता है।

जिन स्थानों में प्राकृतिक चिकित्सा का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता वहाँ पारद-वाष्प-युक्त स्फटिक के लैम्पों के द्वारा इन किरणों को उत्पन्न करके उनसे चिकित्सा की जाती है।

यह चिकित्सा-पद्धति इतनी लोकप्रिय और लाभदायक प्रमाणित हुई है कि प्रति दिवस सहस्रों स्त्री, पुरुष, बाल, युवा, वृद्ध सब इससे लाभ उठा रहे हैं।

किरणों का चर्म पर यह प्रभाव देखा गया है कि जब वह कुछ मिनटों तक शरीर के चर्म पर पड़ती रहती हैं तो चर्म लाल हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि चर्म में रक्त का संचालन बढ़ जाता है और आन्तरिक अङ्गों में रक्त की मात्रा कम हो जाती है। अतएव ऐसे रोगों में, जिनमे अङ्गों में रक्त जमा हो जाता है, या रक्तावरोध उत्पन्न हो जाता है, यह चिकित्सा विशेष हितकर हो सकती है।

किरणों के प्रभाव से श्वास की गति बढ़ जाती है और शरीर के भीतर आक्सिजन की अधिक मात्रा पहुँचने लगती है। प्रयोगो द्वारा मालूम हुआ है कि किरणों के प्रभाव से अङ्गों के भीतर होनेवाली रासायनिक क्रियाएँ शीघ्रता से होने लगती है। किंके और बेरिंग नामक विद्वानों ने लिखा है कि किरणों से रक्त के भीतर लाल कण और रक्त-रञ्जक पदार्थ (हीमोग्लोबिन) की मात्रा बढ़ जाती है। अमरीका के डाक्टर लोरेंड के कथनानुसार पेशियों की क्रिया भी शीघ्रता से होने लगती है, और उनकी शक्ति बढ़ती है। उनका कथन है कि इस विधि से उन्होंने जितने भी रोगियों की चिकित्सा की है उन सबों को उससे बहुत लाभ हुआ है। वह कहते हैं कि जो रोगी पांडुवर्ण, कृशशरीर, सुस्त, शक्तिरहित, चर्म में झुर्रियां पड़ी हुई और वृद्ध दीखते थे उनमें तीन या चार सप्ताह की चिकित्सा के पश्चात् प्रायः अद्भुत परिवर्तन पाया गया। सब हृष्ट-पुष्ट, चैतन्य और फुर्तीले हो गये; उनका रङ्ग लाल हो गया और शरीर का भार पाँच सेर बढ़ गया। विचार-शक्ति भी उन्नत हो गई।

हमारा प्रति दिवस का अनुभव है कि जो मनुष्य अँधेरे और प्रकाश-रहित स्थानों में रहते हैं उनका स्वास्थ्य उत्तम नहीं होता। ऐसे स्थानों में सूर्य्य का प्रकाश न पहुँचने से सील रहती है जिससे वहां की वायु भी पूर्णतया शुद्ध नहीं होने पाती। न केवल मनुष्य ही किन्तु जिन वृक्षों को प्रकाश नहीं मिलता, वह भी नहीं बढ़ते और न उनका रङ्ग ही वैसा हरा होता है जैसा कि होना चाहिए। मनुष्य, वृक्ष, जन्तु इत्यादि सब के स्वास्थ्य के लिए सूर्य्य-प्रकाश अत्यन्त आवश्यक है।

पार्वतीय वायु का स्वास्थ्य पर प्रभाव।

रोगियों को रोग-मुक्त होने के पश्चात् दौर्बल्यावस्था में प्रायः पर्वत पर चले जाने का आदेश किया जाता है। राजयक्ष्मा के रोगियों को तो अवश्य ही पर्वत पर भेजा जाता है। जहाँ तनिक भी इस रोग का सन्देह हुआ उसी समय रोगी को पर्वत पर चले जाने को कह दिया जाता है।

पर्वतों की वायु में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

(१) पर्वतों पर वायु का भार कम होता है। १६००० फुट की ऊँचाई पर वायु का भार पृथ्वी की अपेक्षा आधा हो जाता है।

(२) वायु पतली हो जाती है।

(३) वायु-मण्डल का तापक्रम कम हो जाता है। प्रत्येक ५१२—५१६ फुट की ऊँचाई पर वायु का ताप १ शतांश कम होता है।

(४) पर्वतों पर वायु में जल का भाग भी कम होता है जिससे उसकी आर्द्रता कम हो जाती है। यह जल-वाष्प समुद्र की वायु में सबसे अधिक होते हैं।

(५) सूर्य्य का प्रकाश पर्वतों पर अधिक तीव्र होता है, किन्तु वहां तापक्रम कम होता है। इस कारण वहां पर अल्ट्रावायोलेट किरणों का अधिक प्रभाव होता है।

(६) पर्वतों की वायु में ओज़ोन की मात्रा भी अधिक होती है जिससे वायुमण्डल शुद्ध होता है और रोगियों पर भी उत्तम प्रभाव पड़ता है।

(७) पर्वत की वायु में धूल के कण बहुत कम होते हैं। इस कारण धूल से उत्पन्न होनेवाले रोगों से, जिनका पहिले उल्लेख किया जा चुका है, पर्वत पर रहनेवाले व्यक्ति मुक्त रहते है। किन्तु जिन छोटे-छोटे स्थानों में बहुत से व्यक्ति एक साथ रहते हैं वहाँ का वायु-मण्डल दूसरे स्थानों की अपेक्षा, जहाँ थोड़े मनुष्य रहते हैं, अधिक दूषित होता है।

(८) पर्वतों की वायु अन्य ऐन्द्रिक पदार्थ, जैसे रुई के टुकड़े, तागे, शुष्क विष्ठा या थूक के कण, जन्तुओं के चर्म या बालों के कण इत्यादि से भी मुक्त होती है।

(९) पर्वतों पर वायु का प्रवाह सदा तीव्र होता है। इससे शरीर को अधिक आक्सिजन मिलती है और चित्त भी प्रसन्न होता है।

(१०) इन सब बातों के अतिरिक्त वहाँ का दृश्य सुन्दर और मनोहर होता है। इस कारण एक स्थान पर पड़े रहने की इच्छा नहीं होती। सदा घूमने-फिरने को तबीयत चाहती है जिससे व्यायाम का भी लाभ होता है।

वायु मे इन गुणो के उपस्थित होने के कारण उसका शरीर पर निम्न-लिखित प्रभाव पड़ता है—

(१) वायु-भार के कम और प्रकाश के अधिक होने से चर्म की रक्त-नलिकाएँ फैल जाती हैं और इस कारण उनमें अधिक रक्त आता है। इससे सारे शरीर का रक्त संचालन उन्नत हो जाता है। ठण्ड लगने का तनिक भी भय नहीं रहता।

(२) हृदय की गति भी कुछ बढ़ जाती है। प्रथम तो गति मे अधिक वृद्धि होती है, किन्तु कुछ समय के पश्चात् उसकी दशा पूर्ववत् हो जाती है, यद्यपि हृदय का संकोच अधिक प्रबल होता है।

(३) कुछ विद्वानों की सम्मति है कि श्वास-गति भी बढ़ जाती है क्योंकि वायु पतली होती है। इस कारण फुस्फुस को अधिक वायु को भीतर ग्रहण करना पड़ता है।

(४) डाक्टर पारसेट का विचार है कि पर्वतों पर श्वास द्वारा निकली हुई वायु में कार्बन-डाई-आक्साइड और जल-वाष्पों की अधिक मात्रा रहती है।

अतएव जल और गैस के शरीर से अधिक बाहर निकलने के कारण फुस्फुसों मे अधिक रक्त का संचालन होता है जिससे उनमे उपस्थित रोग का नाश होता है और अङ्ग पुष्ट होते है। सम्भव है कि वायु-भार का कम होना भी रक्त संचालन में सहायता देता हो।

(५) पहाड़ों पर व्यायाम होने के कारण अधिक भूख लगती है और भोजन भी अधिक पचता है। यह प्रभाव सब व्यक्तियों पर एक सा नहीं होता। इससे शरीर का भार बढ़ता है। पेशियों मे वृद्धि होती है, स्फूर्त्ति आती है, और नाड़ी-मण्डल भी पुष्ट होता है जिससे विचार शक्ति की उन्नति होती है।

अतएव संक्षेपतया यह कहा जा सकता है कि पर्वतों पर वहाँ के जल-वायु से शरीर की सब क्रियाएँ उत्तेजित होती है जिससे स्वास्थ्य उन्नत होता है। वहाँ की वायु एक पौष्टिक औषधि की भाँति क्रिया करती है। किन्तु उसको सहन करने के लिए स्वयं शरीर में भी कुछ शक्ति चाहिए। अनुभव से यह पाया गया है कि पार्वतीय वायु से उन लोगों को सबसे अधिक लाभ होता है जिनका बहुत अधिक काम करने से स्वास्थ्य ख़राब हो गया है, अङ्ग दुर्बल हो गये हैं या किसी तीव्र रोग के पश्चात् दौर्बल्य शेष है। जिनकी देह का चर्म दुर्बल होने से स्वेद अधिक आता हो; जिनके गले में क्षोभ हो या जो गले के रोगों से पीड़ित रहते हों, जिनके फुस्फुस दुर्बल हों, सदा श्लेष्मा निकलता रहता हो, जो पुरानी खाँसी या राजयक्ष्मा से पीड़ित हों, उन लोगों को पर्वत की वायु बहुत लाभ पहुँचाती है; किन्तु जिनको हृदय का कोई रोग हो उनको पर्वत पर न जाना चाहिए।

तीसरा परिच्छेद

जल

हमारे जीवन के लिए जल एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। हमारे शरीर में $\frac{2}{3}$ भाग जल उपस्थित है। वह रक्त में ७९%, पेशियों में ८०% और अस्थियों में १०% पाया जाता है। जो भोजन हम करते है उसमें भी जल का बहुत बड़ा भाग होता है।

प्रकृति में सब स्थानों में जल पाया जाता है, यहाँ तक कि स्वयं वायु-मण्डल में भी वह, वाष्पों के स्वरूप में, विद्यमान रहता है। जल ठोस, तरल, और गैस तीनों दशाओं में मिलता है। ठोस दशा में वह बर्फ़ होकर पर्वतों पर जमा रहता है; तरल रूप मे, समुद्र, नदी, नाले, कुँवों इत्यादि में पाया जाता है; और जब हम जल को उबालते हैं तो वह गैस के रूप में वाष्प बनकर वायु-मण्डल में मिल जाता है। हमारे शरीर से भी जल, वाष्प के रूप में, श्वास के द्वारा निकलता रहता है।

वायु की भाँति जल दो गैसों के संयोग से बनता है। वायु दो गैसों का केवल मिश्रण है। किन्तु जल दोनों गैसों के, जिनको हाइड्रोजन और आक्सि-जन कहते हैं, रासायनिक संयोग से बनता है। जल का प्रत्येक अणु हाइ-ड्रोजन के दो और आक्सिजन के एक परमाणु के मिलने से बना हुआ है। इसलिए उसका संकेत H_2O माना जाता है। जब हम हाइड्रोजन को वायु-मण्डल में जलाते हैं, जिसमें आक्सिजन उपस्थित होती है, तो उसके जलने से जल बन जाता है; जलने में आक्सिजन हाइड्रोजन के साथ संयुक्त हो जाती है।

शुद्ध जल बिल्कुल पारदर्शी होता है। न तो उसमे किसी प्रकार की गन्ध होती है और न उसमें रङ्ग और स्वाद ही होते हैं। वायु की अपेक्षा जल ७७० गुणा अधिक घना होता है। इसके घनत्व को एक या एक सहस्र माना जाता है। और इसी के अनुसार अन्य पदार्थों का घनत्व बताया जाता है। जल का घनत्व वास्तव में ४ डिगरी सेंटीग्रेड पर सबसे अधिक होता है। तापक्रम के इससे अधिक या कम होने से जल का आयतन बढ़ जाता है। यदि जल पर भार बढ़ा दिया जावे तो उससे जल का आयतन कुछ कम हो जायगा। प्रयोगों द्वारा यह पाया गया है कि यदि जल पर २०० वायु-मण्डल का भार डाला जावे तो उसका आयतन $\frac{१}{१२}$ इंच कम हो जायगा। जब जल को गरम किया जाता है तो प्रथम उसका नीचे का भाग, जिस पर अग्नि का ताप प्रथम लगता है, ऊपर के भाग से पूर्व गरम हो जाता है। गरम होने के कारण वह फैलता है जिससे उसका घनत्व भी घट जाता है। इस कारण यह गरम जल ऊपर को जाने और ऊपर का ठण्डा जल नीचे को आने लगता है। इस प्रकार कुछ समय में सारे जल का ताप समान हो जाता है।

जल ३२ डिगरी फ़ारेनहीट या शून्य डिगरी सेंटीग्रेड पर जमकर बरफ़ बन जाता है। जमने पर इसका आयतन फैलता है। इस कारण बरफ़ जल से हलका होता और जल पर तैरता रहता है। जल का घनत्व सबसे अधिक उस समय होता है जब उसका तापक्रम ३२ डिगरी फ़ारेनहीट के समीप होता है और वह अत्यंत शीतल होकर जमने लगता है। किन्तु उसके जमते ही उसका घनत्व कम हो जाता है। इस कारण जो जल जमने-वाला होता है वह सबसे नीचे रहता है और जमा हुआ जल या बरफ़ सबसे ऊपर रहता है।

जल १००° सेंटीग्रेड या २१२° फ़ारेनहीट पर उबलता है। प्रयोगों से यह पाया गया है कि यदि जल पर वायु का भार कम कर दिया जावे तो जल इस तापक्रम से पूर्व ही उबलने लगेगा। जितना भार कम किया जावेगा उतना ही उसका उबलना शीघ्र आरम्भ होगा। वह शून्य भार पर ३२° फ़ारेनहीट या 0° सेंटीग्रेड पर उबलने लगेगा। यदि भार बढ़ाया जावेगा

तो जल को उबलने के लिए भी अधिक ताप की आवश्यकता होगी। ४० वायु-मण्डल के भार पर जल ५१०·६° फ़ारेनहीट पर उबलेगा। १ भाग जल के उबलने से १६९ भाग भाप उत्पन्न होती है।

जल में वस्तुओं को घोलने की अद्भुत शक्ति है। कुछ ही ऐसे पदार्थ हैं जो जल में नहीं घुलते। जल की यह शक्ति उसके ताप के बढ़ने से अधिक हो जाती है। कुछ पदार्थ जो ठण्डे जल मे नहीं घुलते वह जल के गरम करने पर घुल जाते है। इन पदार्थों के घुल जाने पर जल को उबलने के लिए अधिक ताप और जमने के लिए अधिक शीत की आवश्यकता होती है।

कितना जल आवश्यक है ?

हम प्रति दिन जल का न केवल भोजन मे, किन्तु अन्य अनेकों प्रकार से उपयोग करते है। शरीर की स्वच्छता और भोजन बनाने के अतिरिक्त मकानों और अन्य स्थानों को स्वच्छ करने, वस्त्र धोने, व्यवसायों के लिए, गली, सड़कों, मोरियों इत्यादि की स्वच्छता के लिए, अस्पतालों में, पशुओं के लिए और अन्य कई प्रकार से जल का बहुत उपयोग किया जाता है। अतएव हमको जल के संबंध में दो बातों का विचार करना है—

(१) आवश्यक जल की प्राप्ति और

(२) शुद्ध जल की प्राप्ति अथवा जल की शुद्धि।

भिन्न-भिन्न नगरो और देशो में प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से जल की भिन्न भिन्न मात्रा का म्युनिसिपेलिटी की ओर से प्रबन्ध किया जाता है। लंदन में ३५ गैलन, एडिनबरा ३८, मांचेस्टर २९, लिवरपूल ३१, डब्लिन ३५, ग्लासगो ५०, बर्लिन १५½, वीयेना २२ और पेरिस में ४४ गैलन जल प्रत्येक व्यक्ति के हिसाब से दिया जाता है। महाशय पार्क्स और केनवुड ने २७ गैलन जल को पर्याप्त बताया है।

हमारे देश में निम्नलिखित भिन्न-भिन्न नगरों में जितना जल दिया जाता है वह उनके सामने अंकित है—

आगरा	२४'०६ गैलन
अलाहाबाद	२१'८२ ,,
कलकत्ता	३५'०० ,,
कानपुर	२६'०० ,,
बनारस	२६'७१ ,,
बम्बई	४०'०० ,,
मद्रास	१५'७१ ,,
लखनऊ	१८'०० ,,

हमारे देश में जल की मात्रा कम से कम ३० गैलन होनी चाहिए। गर्मियों के दिनों में तो इससे कम से कम दूनी मात्रा आवश्यक है। अस्पतालों में ४० से ५० गैलन तक जल मिलना चाहिए।

नौटर और फ़र्थ ने पशुओं के लिए जल की निम्नलिखित मात्रा आवश्यक बताई है,—

बैल (बड़ा)	६ गैलन
बैल (छोटा) व गौ	५ ,,
घोड़ा	८ ,,
खच्चर व छोटे घोड़े	६ ,,
बकरी, भेड़ या कुत्ते	१ ,,

देश और काल के अनुसार इनमें भी घटा-बढ़ी करनी पड़ती है। फ़ौज में प्रत्येक घोड़े के हिसाब से २० गैलन जल मिलता है। किन्तु इससे घोड़े को बहलाना, गाड़ियों को स्वच्छ करना इत्यादि सब काम किये जाते हैं।

भिन्न-भिन्न प्रकार के जल।

जितना जल हमको भिन्न-भिन्न स्थानों से—जैसे नदी, तालाब, कुँवा इत्यादि से—मिलता है उस सबका वास्तव में आदि कारण समुद्र है जहाँ से सूर्य्य की किरणों द्वारा जल सदा वाष्प बनकर उड़ा करता है। यह अनुमान किया
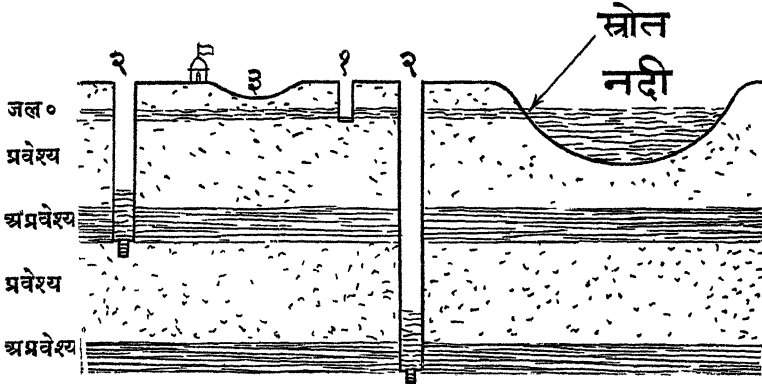
चित्र नं० ८

१ उथला कुँवा, २, २, गहरा कुँवा, ३ पृथ्वी के पृष्ठ पर स्थित गढ़ा या तालाब जिसमें जल एकत्र हो सकता है।

जाता है कि समुद्र-तल के प्रत्येक वर्ग इंच से एक मिनट में ७०० गैलन जल वाष्प बनकर उड़ जाता है। वाष्पों के रूप में यही आकाश में एकत्रित हुआ जल समय पाकर वर्षा बनकर बरसता है और वर्षाजल, बरफ़, ओले, पाला इत्यादि के रूप में पृथ्वी पर लौट आता है। इस प्रकार पृथ्वी पर जितना जल है वह आकाश से वर्षा या अन्य प्रकार से जमे हुए वाष्पों के रूप में आता है। हमको अपने प्रयोग के लिए प्राय: निम्नलिखित स्थानों से जल मिलता है,—

(१) वर्षा का जल।
(२) स्रोत।
(३) नदियां।
(४) जमा हुआ बरफ़।
(५) स्रोतों के उद्गम स्थान पर एकत्रित हुआ जल।
(६) कुँवे।
(७) तालाब।

(१) **वर्षा का जल**—वर्षा का जल जिस समय आकाश से गिरता है तो वह अत्यन्त शुद्ध होता है, उसमें किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं होती। किन्तु जब वह वायुमण्डल में होता हुआ पृथ्वी तक आता है तो वायुमण्डल में उपस्थित अशुद्धियाँ उनमें मिल जाती है। जैसा वायु के सम्बन्ध में बताया जा चुका है, वायुमण्डल में कई प्रकार की गैस, धूल-कण या अन्य ठोस पदार्थ मिले रहते हैं। यह ठोस पदार्थ वर्षा की धाराओं के साथ पृथ्वी-तल पर चले आते है। उनमें से जो घुलनशील होते हैं वह जल में घुल जाते हैं और शेष अवशेष के रूप में पृथ्वी पर एकत्रित हो जाते हैं। किन्तु वायु में जो गैस उपस्थित होती है वह सब जल में घुल जाती है। इस कारण पृथ्वी तक आने में जल में कुछ दोष मिल जाता है। यह अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक ५ सेर वर्षाजल आकाश से पृथ्वी तक आने में २५ घन सेंटीमीटर गैसों को सोख लेता है जिसमें ३४% आक्सिजन, ६४% नाइट्रोजन, और २% कार्बन-डाई-आक्साइड होती हैं। अन्य गैसों की भी कुछ मात्रा रहती है। अमोनिया कुछ न कुछ अवश्य ही पाया जाता है। इँगलैंड में वर्षाजल में सम्मिलित घन अवयवों की मात्रा साधारणतया १ गैलन जल में २.४ ग्रेन पाई जाती है। जिन स्थानों में कारखानें या मिलें होती हैं वहाँ पर वर्षा के जल में अधिक अशुद्धियाँ सम्मिलित हो जाती है। खेतों या मकान की ऊँची छतों से, जिनके पास कोई कारखाने नहीं है, एकत्रित किये हुए जल में इन अवयवों की मात्रा थोड़ी होती है।

जब वर्षाजल को एकत्र करना हो तो उसको ऐसे स्थान से लेना चाहिए जहाँ पर सीमेंट का पक्का फ़र्श बना हो। वर्षा के पहिले भाग के जल को एकत्रित न करना चाहिए। उसमें उस स्थान पर या छत पर पड़ी हुई चिड़ियों की बीटें या अन्य दूषित पदार्थ मिले रहते हैं। हमारे देश के कुछ भागों में, जैसे राजपूताना इत्यादि, जहाँ जल की कमी रहती है, वर्षा के जल को बड़े-बड़े कुण्डों और तालाबों में एकत्र कर लिया जाता है। यह

कुण्ड गहरे होते है और इनका मुख एक ढक्कन से बन्द रहता है। जब जल को इन कुण्डों या संग्रह स्थान मे एकत्रित करना हो तो जिस नल या मोरी के द्वारा जल आता हो उसके मुख पर एक विशेष यन्त्र, जिसको वर्षा-जल-विभाजक कहते है, लगाना चाहिए। यह यन्त्र वर्षा के जल के प्रथम भाग को कुण्ड में नहीं जाने देता है। किन्तु कुछ समय के पश्चात् वह उलट जाता है और उसके द्वारा जल संग्रह-स्थान में जाने लगता है। यह Rain water Separator के नाम से बाजार में बिकता है।

वर्षा का जल अत्यन्त स्वादिष्ट और वायुयुक्त होता है। उसमें तनिक भी कठोरता नहीं होती। इस कारण उसका प्रयोग पीने, स्नान करने, भोजन पकाने इत्यादि कामों में किया जा सकता है। वर्षाजल रोगों के जीवाणु और चूने तथा मेगनेशियम के लवणो से मुक्त होता है। किन्तु बड़े-बड़े व्यवसायी नगरो का वर्षा का जल प्रयोग करने योग्य नहीं होता।

हमारे देश में वर्षा के जल पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता; क्योंकि वर्षा केवल वर्षा ऋतु ही में होती है, सदा नहीं होती। इँगलैंड इत्यादि देशों मे, जहाँ वर्षा सदा होती रहती है, इस विधि का प्रयोग किया जा सकता है।

वर्षा से जितना जल उपयोग के लिए संग्रह किया जा सकता है उसका अनुमान करने के लिए उस स्थान की वार्षिक वर्षा का औसत, जिस वर्ष में सबसे कम वर्षा हुई है और जिस वर्ष मे सबसे अधिक वर्षा हुई है उनका औसत, और साथ में जितने स्थान पर से जल को एकत्रित करना है, उसकी लम्बाई चौड़ाई सब बातों का ज्ञान होना चाहिए। पृथ्वी पर वर्षा के द्वारा जितना जल आता है उसमें से बहुत सा भाग नदी, स्रोत इत्यादि में चला जाता है। कुछ भाग वाष्प बनकर उड़ जाता है। यह अनुमान किया जाता है कि वर्षा के जल का आधा भाग हमारे उपयोग में आ सकता है।

वर्षा-जल के नापने के लिए एक विशेष यन्त्र होता है जिसको रेन-गेज अथवा वर्षा-मापक कहा जाता है। एक वर्ग फुट स्थान पर एक इंच वर्षा से ४$\frac{३}{४}$ गैलन या २० सेर के लगभग जल अथवा एक एकड़ भूमि पर एक इंच वर्षा से

२२६१७ गैलन जल मिलता है। यदि इसको १४$\frac{1}{2}$ से गुणा कर दिया जाय तो मालूम हो जायगा कि एक मील क्षेत्र की भूमि से कितना वर्षाजल प्राप्त हो सकता है। साधारणतया यह संकेत प्रयुक्त होता है—

$$\frac{\text{क} \times १४४ \times \text{व}}{१७२८} = \text{घन फुट जल।}$$

क = भूमि का क्षेत्रफल वर्ग फुटों में।

व = वर्षा इंचों में।

(२) **स्रोत**—वर्षा के जल से स्रोत उत्पन्न होते हैं। जब आकाश से जल पृथ्वी पर गिरता है तो वह पृथ्वी के ऊपरी प्रवेश्य भाग में होता हुआ पृथ्वी के भीतर समा जाता है और नीचे किसी अप्रवेश्य भाग के ऊपर जाकर एकत्रित हो जाता है। जब यह जल पृथ्वी के द्वारा नीचे को जाता है तो उसमें पृथ्वी मे उपस्थित कार्बन-डाई-ऑक्साइड का बहुत कुछ भाग मिल जाता है। साथ में जल का ताप भी बढ़ जाता है और उस पर भार भी अधिक हो जाता है। इन सब कारणों से जल में वस्तुओं को घोलने की शक्ति बढ़ जाती है और वह चूना या अन्य पदार्थों को, जो जल में घुल सकते हैं, घोल लेता है। जिन स्थानों में खेती होती है या जहाँ मनुष्य रहते हैं वहाँ के जल में ऐन्द्रिक पदार्थ मिले रहते हैं। कुछ अम्ल भी इसमें मिल जाते हैं जिससे जल की घोलने की शक्ति और भी बढ़ जाती है।

यह पृथ्वी के तल के नीचे एकत्रित जल **अधःस्थल जल** कहलाता है। वर्षा के अधिक या कम होने के अनुसार उसमे सदा घटा-बढ़ी हुआ करती है। यह पाया गया है कि हमारे देश में इसका तल जुलाई और अगस्त में सबसे ऊँचा होता है। इस जल के नीचे पृथ्वी का अप्रवेश्य भाग होता है जिसके ऊपर यह स्थित होता है। किन्तु इस भाग का तल ढलवाँ होता है और किसी स्थान पर पहुँचकर यह पृथ्वी के ऊपरी तल से मिल जाता है। इस स्थान से अन्तस्थल जल, जो अप्रवेश्य भाग के ऊपर स्थित था, पृथ्वी से स्रोत के रूप में निकलने लगता है।

यह स्रोत कई प्रकार के होते है जिनमें निम्न-लिखित मुख्य हैं;—

(१) **भूमि स्रोत**—बालू के द्वारा पृथ्वी के भीतर समाये हुए अप्रवेश्य तल पर स्थित जल के संग्रह से यह स्रोत उत्पन्न होते हैं। यह प्रायः सदा बहते रहनेवाले नहीं होते। गर्मियों में इनका बहना बन्द हो जाता है और वर्षा में फिर आरम्भ हो जाता है।

(२) **निरन्तर स्रोत**—यह स्रोत सदा बहते रहते हैं और पृथ्वी के भीतर अधिक गहराई से निकलते हैं।

(३) **उष्ण स्रोत**—किसी किसी स्थान में उष्ण जल के स्रोत पाये जाते हैं। सीताकुण्ड का स्रोत विख्यात है। इँगलैंड में इसी प्रकार के स्रोत बाथ और बक्सटन में हैं। इनका जल पृथ्वी मे से ऐसे स्थान से आता है जहाँ का ताप अधिक होता है। यह प्रायः ऐसे स्थान पर होते है जहा किसी समय कोई ज्वालामुखी पर्वत था किन्तु कुछ समय से उसका धधकना बन्द हो गया है।

हमारे देश में बहुत से स्थानों मे वहाँ के निवासी जल के लिए स्रोत ही पर निर्भर करते हैं। छोटे-छोटे जन-समुदाय, जैसे गाँव इत्यादि, के लिए इन स्रोतों से पर्याप्त जल मिल जाता है। पर्वतों मे रहनेवालो के लिए तो जल का कोई दूसरा प्रबन्ध सम्भव ही नहीं है। यह जल साधारणतया स्वादिष्ठ, स्वच्छ और ठण्डा होता है। इसमे कार्बन-डाई-आक्साइड बहुत होती है जिससे जल की घोलने की शक्ति बढ़ जाती है और चूने, मेगनेशियम या अन्य पदार्थों के मिल जाने के कारण वह कठोर हो जाता है। इस कारण वह भोजन पकाने या वस्त्रो को स्वच्छ करने के लिए अधिक उपयोगी नहीं होता। भिन्न-भिन्न स्रोतों के जल के ताप में भिन्नता पाई जाती है। जो स्रोत जितनी अधिक गहराई से आता है उसके जल का ताप-क्रम उतना ही अधिक होता है।

स्रोत के जल में स्वाभाविक दोषों के अतिरिक्त अन्य अशुद्ध वस्तुएँ भी मिल सकती हैं। इसलिए स्रोत के मुख के चारों ओर दीवार बना दी जाती है और वहाँ से जल का नलों के द्वारा वितरण किया जाता है।

यह जानने के लिए कि स्रोत से कितना जल निकलता है एक विशेष माप के बर्त्तन को स्रोत के सामने रख दिया जाता है। जितने समय में बर्त्तन

भरता है उसको मालूम कर लिया जाता है। इस प्रकार घंटे भर में या एक दिन में स्रोत द्वारा निकलनेवाले जल की मात्रा मालूम हो जाती है। इससे यह हिसाब सहज में लगाया जा सकता है कि उस स्थान में रहनेवाली जन संख्या के लिए स्रोत से पर्याप्त जल मिल सकता है या नहीं।

(३) **नदियाँ** जिस स्थान से निकलती हैं वहाँ पर उनका जल शुद्ध होता है। किन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे चलती हैं, त्यों-त्यों उनका जल दूषित होता जाता है। नदी का जल विशेषतया नगरों के मैले, भिन्न-भिन्न व्यवसायों के कारखानों से निकले हुए निकृष्ट पदार्थों और किनारों के पास के खेतों से, जिनमें खाद का प्रयोग किया जाता है, दूषित होता है। प्रायः शवों को भी नदियों के किनारे ही जलाया जाता है। बड़ी नदियों में जल अधिक होने के कारण यह दूषित पदार्थ कुछ सीमा तक नष्ट हो जाते हैं। इस कारण उनका जल बहुत कुछ शुद्ध हो जाता है। नदियों का जल, विशेषकर किनारों के पास, अधिक दूषित होता है, क्योंकि चारों ओर के स्थान से आये हुए दूषित पदार्थ किनारों ही के पास रह जाते हैं; वह बीच में नहीं पहुँच पाते। इस कारण जब पीने के लिए जल लेना हो तो वह सदा नदी के बीच से लेना चाहिए। ऊपर के जल की अपेक्षा गहरा जल अधिक शुद्ध होता है। अतएव जनता के प्रयोग के लिए जब नदी से जल लिया जावे तो किनारे के पास एक उचित स्थान पर पम्प या जल को खींचनेवाला एंजिन लगाना चाहिए। वहाँ से एक चौड़ा नल नदी के बीच में ले जाकर उसको नीचे की ओर को मोड़कर दस-बारह फुट गहराई तक ले जाना उचित है। वहाँ से नल के द्वारा जो जल खिंचकर आवेगा वह दूषित वस्तुओं से बहुत कुछ मुक्त होगा। इस जल को निस्यंदकों के द्वारा फिर शुद्ध करना चाहिए।

जिस स्थान से जल लिया जाय वह किनारों से कम से कम २० या ३० फुट की दूरी पर होना चाहिए। उस स्थान की सब प्रकार से दूषित होने से रक्षा करना उचित है।

हमारे देश में शवों का दाह प्रायः नदियों के तट ही पर होता है और नगर का मैला भी वहीं गिरता है। इस कारण जल ऐसे स्थान से लेना

चाहिए जिसके ऊपर कम से कम दो मील तक किसी स्थान का मैला न गिरता हो। मैला गिरने ही के कारण नदियों के जल में हैज़े और मोतीझरे के जीवाणु पाये जाते है।

नदियों में जल की अशुद्धियों का नाश करने की बहुत शक्ति होती है। जो बड़ी नदियाँ हैं और जिनका प्रवाह तीव्र है या जो पथरीली भूमि पर होकर बहती है उनमें मिश्रित ऐन्द्रिक पदार्थ सूर्य की किरणों और वायु की आक्सिजन से बहुत कुछ नष्ट हो जाते है।

नदियों से जल लेने में निम्न बातो का विशेष ध्यान रखना चाहिए—

(१) नदी से जल लेने के स्थान से १० मील ऊपर तक कोई गाँव नहीं होना चाहिए।

(२) जल लेने के स्थान के पास नाव को ठहरने, मछली पकड़ने, स्नान करने इत्यादि की बिल्कुल मनाही होनी चाहिए।

(३) नदी में जहाँ नगर का मैला जल गिरता हो वहाँ से नीचे की ओर कम से कम दो मील से जल न लेना चाहिए।

(४) जमा हुआ बरफ़— पर्वतो मे ऊँचे स्थानो मे जमा हुआ बरफ़ शुद्ध होता है। उसका प्रायः जल की भाँति प्रयोग किया जाता है। किसी-किसी स्थान में इस बरफ़ को एकत्र करने के लिए विशेष संग्रह स्थान बनाये जाते है। जब ऐसा करना हो तो यह संग्रह स्थान, जो गहरे गढ़े होते हैं, इस प्रकार स्थित होने चाहिएँ कि उनके चारों ओर कुछ दूर तक उनको दूषित करनेवाली कोई वस्तु न हो।

(५) स्रोत के उद्गम-स्थान पर एकत्र किया हुआ जल— पार्वतीय प्रान्तों मे स्रोतों के उद्गम स्थान पर एक बाँध बनाकर स्रोत के जल को एकत्र कर लिया जाता है। किसी-किसी स्रोत पर स्वाभाविक बाँध या झील बनी होती है, जैसे लौक कैटराइन, जिससे ग्लासगो नगर को जल दिया जाता है। बम्बई, लिवरपूल इत्यादि स्थानों में जल को रोकने के लिए इस

प्रकार के बाँध बनाये गये है। यहाँ से नलों के द्वारा जनता में जल वितरण किया जाता है।

यह जल शुद्ध, स्वादिष्ट और बहुत कुछ वर्षा के जल के समान होता है। इसमे अमोनिया, नाइट्राइट या नाइट्रेट इत्यादि वस्तुएँ नहीं होतीं। यह मृदु होता है और इस कारण भोजन पकाने या वस्त्रों को स्वच्छ करने इत्यादि कामो मे इसका प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु जो ऐन्द्रिक पदार्थ उसमे मिल जाते है उनके सड़ने से दोष उत्पन्न हो सकता है। यदि जल मे पर्वतो पर जमी हुई कुछ काई घुल जाती है तो जल का रङ्ग हलका भूरा हो जाता है। और उसमें एक प्रकार का अम्ल उत्पन्न हो जाता है जिससे जल की सीस को घोलने की शक्ति बढ़ जाती है। इस कारण ऐसे जल के प्रयोग से सीस-विष के लक्षण उत्पन्न हो सकते है। अतएव यदि इसका सन्देह हो तो जल को प्रयोग करने के पूर्व बालू के द्वारा छान लेना चाहिए।

जल के संग्रह स्थान को सब प्रकार के दोषों से बचाना उचित है।

(६) कुँवे—कुँवे दो प्रकार के होते है; एक उथले और दूसरे गहरे। तीस फ़ुट गहराई तक के उथले कुँवे कहलाते हैं। इनको पृथ्वी के ऊपरी चूने इत्यादि के प्रवेश्य भाग के नीचे तक खोद दिया जाता है जहाँ पर अप्रवेश्य भाग के ऊपर स्थित जल कुँवे मे होकर निकलने लगता है। यह अधःस्थल जल होता है।

गहरे कुँवे १०० फ़ुट या इससे अधिक गहरे होते है। उनमें अप्रवेश्य भाग के नीचे स्थित जलराशि से जल आता है। इस कारण इन कुँवों के जल के दूषित होने की उथले कुँवों के अपेक्षा बहुत कम सम्भावना है। यह गहरे कुँवे कभी-कभी बहुत गहरे बनाये जाते है जो आरटीज़ियन कुँवे कहलाते हैं। वह प्रथम फ़्रांस के आरटोयज़ प्रान्त में बनाये गये थे। यद्यपि इन कुँवों का जल प्रायः दोषरहित होता है, तो भी कभी-कभी उसमें अमोनिया और साधारण नमक की मात्रा अधिक होती है। इनका जल वायु-युक्त न होने से स्वादिष्ट नहीं होता। गहरे कुँवों का जल कठोर होता है। उसमें चूने या

मेगनेशियम के लवण मिले रहते हैं। यदि जल में उक्त लवणों की मात्रा अधिक होती है तो उसके प्रयोग से कष्ट हो सकता है।

उथले कुँवों में अशुद्धियाँ सहज मे पहुँच जाती हैं। इन कुँवों में जिस जल-राशि से जल आता है उसके ऊपर भूमि का केवल प्रवेश्य स्तर रहता है। इस स्तर के द्वारा दूषित अवयव जल के साथ जल-राशि तक पहुँचकर उसको अशुद्ध कर सकते है। प्रायः कुॅवो के पास नालियाँ, कच्चे गढ्ढे, शौचस्थान इत्यादि होते है जिनसे अशुद्ध वस्तुएँ जल के साथ कुँवे के जल मे पहुँच जाती हैं। न केवल यही किन्तु दूरवर्त्ती स्थानों से भी इन कुँवो में अशुद्धियाँ पहुँच सकती है। जो जल इन कुँवो मे आता है वह वास्तव में पृथ्वी के नीचे वर्षा के समय एकत्रित हुआ जल है जो वर्षा के जल से सदा घटा-बढ़ा करता है। इस जल का प्रवाह सदा ऊँचे स्थान से नीचे स्थान को होता है। इस कारण जहां इसको कुँवे के भीतर जाने का मार्ग या उसकी दीवारों में छिद्र मिल जाते है तो वह उनमें होकर कुँवे में पहुँच जाता है। वर्षा से जब इस जल का ऊपरी तल बढ़ता है तो कुँवे से कम गहरे गढ्ढो इत्यादि में भी यह जल पहुँच जाता है। और वहां से अशुद्ध पदार्थ जल मे घुलकर कुँवों में पहुँच जाते है।

कुॅवे के चारो ओर के जितने स्थान से कुॅवे में अशुद्धियां पहुॅच सकती है उसको 'निस्यंदन शंकु' कहते है। इसका ठीक-ठीक मालूम करना कठिन है। यह अनुमान किया जाता है कि कुँवे की जितनी गहराई होती है उसके चारों ओर की उतनी ही भूमि से कुॅवे में अशुद्धियाँ पहुँच सकती हैं। यदि कुँवा ३० फुट गहरा है तो कुॅवे के चारों ओर की ३० फुट भूमि से दूषित पदार्थ कुँवे में पहुँच सकते हैं। किन्तु अनुभव से यह पाया गया है कि इससे कहीं अधिक स्थान से कुॅवे में अशुद्धियों का शोषण हो सकता है।

कुँवे पर चारों ओर की भूमि, अधस्थल जल के प्रवाह की दिशा और जितना जल कुँवे से निकाला जाता है उन सब का प्रभाव पड़ता है। प्रवेश्य नरम भूमि के द्वारा दूषित अवयव कुॅवे के जल में पहुॅच सकते है। किन्तु कठिन अप्रवेश्य भूमि के द्वारा उनका पहुँचना असम्भव है। यदि अधः-

स्थल जल का प्रवाह किसी दूषित स्थान से कुँवे की ओर है तो उसके द्वारा कुँवे का जल अशुद्ध हो जायगा। इसी प्रकार जब कुँवे से बहुत अधिक जल निकाला जाता है तो आसपास के गढ़े, तालाब इत्यादि से उसमें जल खिंच आता है।

इन कुँवों के जल को अशुद्ध होने से बचाने के लिए कुँवे की दीवारों को पक्की ईंटो और सीमेंट, अथवा चीनी मिट्टी के खुले हुए नलों या लोहे के नलों का बनाना चाहिए जिससे उसमें दीवारों के द्वारा कोई वस्तु न पहुँच सके। साथ ही कुँवा पास की भूमि से कम से कम दो या तीन फुट ऊँचा होना चाहिए जिससे कुँवे के पास गिरा हुआ जल उसके भीतर न जाने पावे। कुँवे के चारों ओर एक पक्का प्लेटफ़ार्म बनाना आवश्यक है जिसके चारों ओर एक उत्तम पक्की मोरी हो। इस मोरी का सम्बन्ध एक दूसरी बड़ी पक्की मोरी से होना चाहिए जिसके द्वारा कुँवे के प्लेटफ़ार्म पर गिरा हुआ जल बहकर कुँवे से दूर चला जावे। कुँवे के मुँह पर एक ढक्कन होना चाहिए, जिसमें बड़े-बड़े छेद बने हों। इन छिद्रों के द्वारा जल खींचा जा सकता है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि कुँवे पर एक पूरा ढक्कन लगाकर अथवा पक्का प्लेटफ़ार्म बनाकर कुँवे का मुँह बन्द कर देना उचित है। इस ढक्कन या प्लेटफ़ार्म के द्वारा एक पर्याप्त चौड़ाई का नल कुँवे में लगाना चाहिए। नल का जो सिरा ढक्कन के ऊपर निकला रहे उसमें एक पम्प लगाकर कुँवे से जल खींचा जा सकता है।

जहाँ तक हो सके उथले कुँवे न बनाना चाहिए। किन्तु यदि उनको बनाना ही पड़े तो ऊपर कहे अनुसार बनाया जा सकता है। वह निवास-स्थानों से दूर होने चाहिएँ। उनसे ५० फुट की दूरी तक कोई ऐसे जलसंग्रह, मोरी इत्यादि न होना चाहिए जिनसे कुँवे में अशुद्धि पहुँच सके।

जिन स्थानों में थोड़े समय के लिए जल का प्रबन्ध करना होता है वहाँ लोहे के चौड़े नलों से कुँवे बनाये जाते है। इनको नार्टन के **एबीसिनियन ट्यूब वैल** कहते हैं। प्रथम भूमि में पाँच फुट का गहरा एक गढ़ा खोदा जाता है। उसमें लोहे के नल के एक टुकड़े को, जिसके आगे के भाग पर तीव्र नोक होती है, गाड़ देते है। तत्पश्चात् उसके ऊपरी सिरे पर उसी

प्रकार का दूसरा नल लगाकर उसको भी पृथ्वी के भीतर गाड़ दिया जाता है। इस प्रकार बीस या पच्चीस फुट गहरा नल पृथ्वी के भीतर गाड़ा जाता है। जिस समय नल का प्रथम भाग अधःस्थल जल में पहुँचता है तो उससे पम्प द्वारा जल निकलने लगता है। जो जल प्रथम निकलता है वह गन्दा होता है। इस कारण वह फेंक दिया जाता है। उसके पश्चात् जो जल निकलता है वह स्वच्छ होता है।

जिन स्थानों की भूमि कठिन नहीं होती वहाँ के लिए यह कुँवे उपयुक्त होते है। मेलों इत्यादि में इनका बहुत प्रयोग किया जाता है। जहाँ जल का पक्का प्रबन्ध करना हो वहाँ ऐसे कुँवे बनाना उचित नहीं है।

गहरे कुँवे की दीवारों को भी कम से कम पच्चीस या तीस फुट की गहराई तक पक्की बनाना चाहिए जिससे कुँवे के भीतर जानेवाला जल कम से कम २५ फुट भूमि के द्वारा छनकर कुँवे में पहुँचे।

इस बात का पता लगाने के लिए कि अमुक गढ़े या नाली इत्यादि से कुँवे में अशुद्धियाँ तो नहीं पहुँचती हैं, गढ़े या मोरी के जल में साधारण नमक का विलयन, लिथियम के लवण, फ्लोरिसीन का विलयन (जिससे जल में तीव्र हरा रङ्ग उत्पन्न हो जाता है), मिट्टी का तेल या साधारण पेराफ़िन तेल अथवा बेसिलस प्रोडीजियोसस के एमल्शन को गढ़े या मोरी के जल में मिला देते हैं। यदि गढ़े से कुँवे में अशुद्धि पहुँच सकती है तो यह वस्तुएँ भी वहाँ पहुँच जायँगी और रासायनिक परीक्षा या सूक्ष्म दर्शक यन्त्र के द्वारा कुँवे के जल की परीक्षा करने से उनका पता चल जायगा। यदि कुँवे के जल में वह न मिलें तो समझना चाहिए कि उस विशेष गढ़े से कुँवे तक जल के जाने का कोई मार्ग नहीं है।

जल के स्वच्छ और स्वादिष्ट होने से उसको शुद्ध मान लेना भूल है। भूमि के द्वारा निकलने से जल में मिश्रित ऐन्द्रिक पदार्थ या वन वस्तुओं के कण जल से भिन्न हो जाते हैं किन्तु जल मे घुले हुए पदार्थों की मात्रा कम नहीं होती। केवल कार्बन-डाई-आक्सइड की अधिकता से वह स्वच्छ और स्वादिष्ट हो जाता है

आदर्श कुँवा—महाशय दास के अनुसार उत्तम कुँवे में निम्न लिखित बातें होनी चाहिएँ—

(१) भूमि की परीक्षा करके उत्तम भूमि मे कुँवा बनाना चाहिए।

(२) कुँवा सदा पक्का होना चाहिए। भीतर की ओर कम से कम एक इंच मोटा सीमेंट का प्लस्तर होना चाहिए। प्लस्तर के बाहिर की ओर
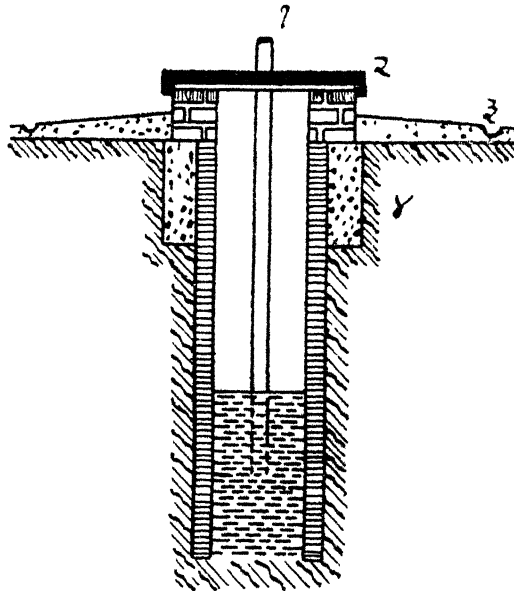
चित्र नं० ६—आदर्श कुँवा

१, पम्प के लिए। २, ढक्कन। ३, ढलवाँ प्लेटफ़ार्म के चारों ओर की नाली। ४, चिकनी मिट्टी और ईंट

उत्तम ईंटों का काफ़ी मोटा स्तर लगाना उचित है। ईंटों के जोड़ों को सीमेंट से भली भाँति बन्द कर देना चाहिए, जिससे उनके द्वारा कोई वस्तु कुँवे के

भीतर न पहुँच सके। इन ईंटों के बाहर चिकनी मिट्टी या क्रे का एक और स्तर होना चाहिए।

(३) कुँवे के मुख के किनारे भूमि से दो या तीन फुट ऊँचे और बाहर की ओर को ढलवाँ होने चाहिएँ जिससे उन पर कोई वस्तु न रखी जा सके।

(४) किनारों के दोनों ओर लोहे के मोटे दो खम्भे लगा देने चाहिएँ जिनके ऊपरी सिरों पर एक आड़ा खम्भा या सलाख़ लगी हो। यह सलाख़ कुँवे के मुख के ऊपर रहेगी। इसके बीच में एक घिर्री या पुली लगाकर उसमें एक ज़ञ्जीर, जिसके दूसरे सिरे पर एक बालटी लगी हो, डाल देनी चाहिए। यदि जल खींचकर देने के लिए एक व्यक्ति नियुक्त किया जा सके तो बहुत उत्तम है। किन्तु यदि यह न हो सके तो कम से कम कुँवे के जल में अपने बर्त्तन को डुबोकर जल भरने की आज्ञा न होनी चाहिए। केवल ज़ञ्जीर द्वारा बाल्टी से भरकर जल लिया जा सकता है। कुँवे पर पम्प लगा देना और भी उत्तम है।

(५) कुंवे के चारों ओर कम से कम ६ फुट का एक पक्का ढलवाँ प्लेटफ़ार्म होना चाहिए जिस पर वस्त्रों को धोने, बर्त्तन माँजने, मुँह-हाथ धोने, कुल्ला करने इत्यादि की मनाही होनी चाहिए। इस पक्के प्लेटफ़ार्म के चारों ओर एक पक्की खुली हुई मोरी होनी चाहिए जिसके द्वारा प्लेटफ़ार्म पर गिरा हुआ जल बहकर एक दूसरी पक्की मोरी में चला जाय। यह मोरी कुँवे से पर्याप्त दूरी पर जाकर समाप्त होनी चाहिए जिससे जल कुंवे के पास की भूमि पर न गिरने पावे।

(६) कुँवे के चारों ओर की भूमि में जो गढ़े या चूहों के बिल हों उनको भरवाकर बन्द कर देना चाहिए; समीप के वृक्षों को भी कटवा देना उचित है।

(७) कुँवे के ऊपर एक ढक्कन होना चाहिए जिसमें कुंवे में वायु के प्रवेश करने के लिए छिद्र होने आवश्यक हैं। कुँवों में, उनको स्वच्छ करने के लिए उतरने के वास्ते, लोहे की सीढ़ी लगाना उचित है।
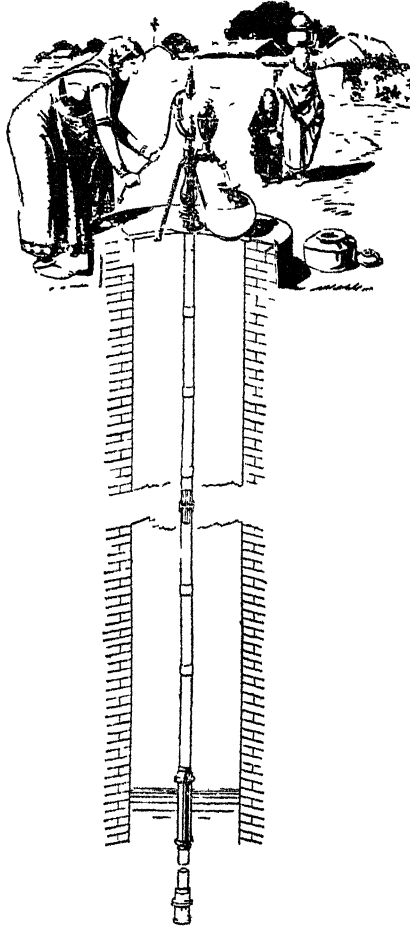
चित्र नं० १०—उत्तम पक्का कुँवा

(From Messrs Jessop & Co., Calcutta.)

(८) कुँवे को बस्ती से कम से कम २५० फुट की दूरी पर बनाना चाहिए। मुर्दों के जलाने का स्थान, मैला डालने के स्थान, अथवा मोरी इत्यादि कुँवे के पास न होनी चाहिए।

कुँवे की परीक्षा—कुँवे की परीक्षा करते समय ऊपर की सब बातों को देखना चाहिए। कुँवे की गहराई और जल की गहराई की जांच करना भी आवश्यक है। यह देखना चाहिए कि कुँवे से कितना जल निकलता है और वहाँ के निवासी किस प्रकार और कितने जल का उपयोग करते है। वहाँ पर रहने-वाले व्यक्तियों के रहन सहन को भी मालूम करना चाहिए, वह कोई ऐसा काम तो नहीं करते है जिससे कुँवे का जल अशुद्ध होता हो। विशेष कर गाँवो में रहनेवालों का साधारण स्वभाव होता है कि वह प्रातःकाल जङ्गल में शौच करने के पश्चात् कुँवे के ऊपर बैठकर हाथ धोते है और कुल्ला दाँतून करते हैं। यदि वह ऐसा करते पाये जायँ तो उनको रोकना चाहिए।

कुँवे को स्वच्छ करना—वर्ष भर में कम से कम एक बार कुँवे को ज़रूर स्वच्छ करवाना चाहिए। इसके लिए गरमी के अन्त का समय सबसे उत्तम है। उस समय जल बहुत कम होता है। कुँवे मे मज़दूरो के उतरने के पूर्व एक जलती हुई मोमबत्ती को लटकाना चाहिए। यदि मोमबत्ती बुझ जाय तो समझना चाहिए कि कुँवे में उपस्थित कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा बहुत अधिक है जिसके कारण कुँवे में उतरनेवाले मनुष्य की मृत्यु हो सकती है। यदि बत्ती न बुझे तो इसका भय नहीं है।

कार्बन-डाई-आक्साइड के अधिक होने पर शुद्ध वायु के सञ्चार से उसको कुँवे से निकाल देना चाहिए। उसके पश्चात् कुँवा स्वच्छ करनेवाले मज़दूर कुँवे में उतर सकते हैं। कुँवे से सारी कीचड़ को निकाल-कर चारों ओर की दीवारों को खुरचना चाहिए जिससे कुँवे के नीचे और चारों ओर के स्रोत भली भाँति खुल जावें। इसके पश्चात् कुँवे की तल-हटी पर चूने का एक परत बिछा देना चाहिए। दीवारों पर भी चूना पोत देना उचित है।

(७) तालाब—बहुत से गांवों में, विशेषकर बङ्गाल में, एक या दो तालाबों पर सारे गांववालों को निर्वाह करना पड़ता है। यदि तालाब के जल को स्वच्छ रखा जावे और नाना प्रकार की अशुद्ध वस्तुओं से, जो उसमें प्राय. पहुँच जाती हैं, रक्षा की जावे, तो तालाबों से उत्तम जल मिल सकता है। प्रयोग करने के पूर्व तालाब के जल की परीक्षा कर लेनी चाहिए। जिस जल में नाइट्राइट, नाइट्रेट, क्लोराइड अथवा अमोनिया उपस्थित हों, वह पीने योग्य नहीं है।

गांवों मे साधारणतया जो तालाब होते है उनका जल पीने योग्य नहीं होता, क्योकि उनमे प्रायः मनुष्य स्नान करते है और जानवरों को भी स्नान करवाते है। वहाँ वस्त्र भी धोये जाते है। प्रायः प्रातःकाल शौच के लिए भी लोग तालाब के पास ही जाते है और वृक्षों की पत्तियाँ अथवा अन्य ऐन्द्रिक पदार्थ भी उड़कर तालाब के जल मे मिल जाते है। इन कारणों से तालाब का जल अशुद्ध हो जाता है।

जब किसी तालाब के जल का पीने के लिए उपयोग करना हो तो उसके जल को स्वच्छ रखने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। स्नान करना, वस्त्र धोना, जानवरो को स्नान कराना इत्यादि बातों की बिलकुल मनाही होनी चाहिए। तालाब को एक उत्तम स्थान पर, चौकोर आकार का, और गहरा बनवाना चाहिए। और उसके चारों ओर का कुछ स्थान ऊँचा, समतल और पक्का होना चाहिए। इस स्थान का ढाल इस प्रकार का होना चाहिए कि इस पर पड़नेवाला वर्षा का जल तालाब ही मे जावे। इस पक्के स्थान के चारों ओर के किनारे, पास की भूमि से, ऊँचे होने चाहिएँ जिससे भूमि पर का जल तालाब में न जा सके। तालाब के चारों ओर लोहे की सलाखों या दीवार का बाड़ा बनवा देना चाहिए जिससे जन्तु तालाब से जल न पी सकें। जल भरने के लिए भी एक मनुष्य होना चाहिए जो दूसरों को अपनी बाल्टी से जल भरकर दे। तालाब में पम्प लगा देना उत्तम है। तालाब के जल में छोटी-छोटी मछलियां भी छुड़वा देना चाहिए। वह

मच्छर के लार्वों को खा जाती है। तालाब मे कुछ थोड़े जलवृक्षों का रहना भी उत्तम है; उनसे जल स्वच्छ होता है। किन्तु यदि तृणादिक अधिक हो जावें तो उनको तुरन्त निकलवाकर दूर फिकवा देना चाहिए।

प्रायः जहाज़ों मे या कहीं-कहीं फ़ौज में भी स्रवित जल का प्रयोग किया जाता है। इसको सामुद्रिक जल से तैयार करना पड़ता है। जिन स्थानों पर खारी और अशुद्ध जल मिलता है वहाँ पर जल को स्रवित किये बिना प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस जल का स्वाद उत्तम नहीं होता, क्योंकि यह वायु-रहित हो जाता है। इसलिए पीने से पूर्व इसको वायु-युक्त कर देना चाहिए। जिस प्रकार एक बर्त्तन से दूसरे बर्त्तन मे दूध को डालकर ठण्डा किया जाता है उसी प्रकार जल को भी एक बर्त्तन से दूसरे बर्त्तन में बार-बार डालने से वायुयुक्त किया जा सकता है। दूसरी विधि यह है कि बोतल मे आधा जल भरकर उसको खूब ज़ोर से हिलाना चाहिए। इससे जल वायु-युक्त हो जायगा। स्रवित जल को सीस, जस्ता और ताम्र के बर्त्तनों मे नहीं रखना चाहिए।

जिन भिन्न-भिन्न प्रकार के जलों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है उन सबका स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे Rivers Pollution Commissioners' report में निम्न-लिखित वर्गीकरण किया गया है:—

हितकर	१ स्रोत का जल	अत्यन्त स्वादिष्ट
	२ गहरे कुँवे का जल	
	३ पर्वतों पर एकत्र किया हुआ जल	सामान्यतया स्वादिष्ट
संदिग्ध	४ वर्षा का संगृहीत जल	
	५ जुती हुई भूमि पर एकत्रित जल	कुछ स्वादिष्ट
हानिकारक	६ नदी का जल जिसमें मैला गिरता है	
	७ उथले कुँवे का जल	

कोमलता के अनुसार रिपोर्ट में जल का यह क्रम रखा गया है।

१ वर्षा का जल।

२ स्रोत के उद्गम पर एकत्रित जल।

३ जुती हुई भूमि पर का जल ।
४ दूषित नदी का जल ।
५ स्रोत का जल (जो उद्गम से दूरी पर से लिया गया है) ।
६ गहरे कुँवे का जल ।
७ उथले कुँवे का जल ।
नं० १ सबसे कोमल और नं० ७ सबसे कठोर जल है ।

जल का संग्रह और वितरण—नगर-निवासियों के लिए जब जल का प्रबन्ध करना होता है तो जल को बड़ी-बड़ी टंकियों में एकत्र किया जाता है। वहां से नलों के द्वारा जल सारे नगर में वितरण किया जाता है। इन टंकियों को नगर के किसी भाग अथवा उसके समीप, जहां तक हो सकता है, काफ़ी ऊँचे स्थान पर रखा जाता है, जिससे जल केवल भार की अधिकता से नगर के अत्यन्त दूरवर्ती भागों में भी पहुँच सके। टंकियों का आकार इतना बड़ा होना चाहिए कि उसमें नगर-वासियों के कई दिनों के उपयोग के लिए पर्याप्त जल एकत्र किया जा सके। यदि टङ्की को भरने के लिए जल सहज में मिल सकता है, तो बहुत बड़ी टङ्की बनाना आवश्यक नहीं है। कलकत्ते की जो जल की मुख्य टङ्की है उसमें केवल आठ घण्टे के लिए पर्याप्त जल आता है, किन्तु वह इतनी ऊँची है कि उससे नगर के ऊँचे से ऊँचे मकान में जल पहुँच जाता है। इस टङ्की का क्षेत्रफल ३२० वर्ग फुट है और वह १६ फुट गहरी है। यह टङ्की ६० फुट ऊँचे लोहे के मोटे-मोटे स्तम्भों के एक जाल के ऊपर रक्खी हुई है और उसमें ५२००० टन जल आता है।

यह टङ्कियां ऐसी वस्तु की बनाई जाती हैं जिस पर जल की कोई रासायनिक क्रिया नहीं होती। इसके लिए सबसे उत्तम पदार्थ पत्थर है। किन्तु भार की अधिकता के कारण उसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसलिए टङ्की के बनाने में जस्तेदार लोहे की चादरों का प्रयोग किया जाता है जिनको ऊपर से सीमेंट से ढक देते है। यह टङ्की ऊपर से ढकी रहनी चाहिए और उसमें वायु के आने-जाने के लिए मार्ग होना चाहिए।

बड़े नगरो मे प्रायः दो प्रकार के जलों का प्रबन्ध होता है। पीने के लिए निस्यन्दकों द्वारा शोधित शुद्ध जल दिया जाता है और वस्त्र इत्यादि धोने या दूसरे कामों के लिए अशोधित जल का प्रबन्ध होता है जिसको नदी इत्यादि से लेकर बिना निस्यन्दकों के द्वारा निकाले हुए सीधे नगर मे भेज देते हैं। जो जल पीने के लिए दिया जाता है उसको निस्यन्दकों द्वारा शुद्ध हो जाने पर टङ्की में भरा जाता है और ऐन्द्रिक पदार्थ या जीवाणुओं से उसकी रक्षा की जाती है।

कुँवों का जल प्राय. इन ऐन्द्रिक पदार्थों या जलवृक्षो से, जो टङ्कियों मे कभी-कभी उत्पन्न हो जाते हैं, मुक्त रहता है।

जल के वितरण का प्रबन्ध।

टङ्कियों से जल बड़े चौड़े नलों में होकर मकानों को जाता है। इन नलों को **मुख्य नल** कहते हैं। इनका आकार उनमें होकर बहनेवाले जल की मात्रा पर निर्भर करता है। बड़े नगरों में यह नल ६ फुट या इससे भी अधिक चौड़े होते हैं। यह नल जहाँ एक दूसरे से जुड़े रहते है उन स्थानों पर विशेषकर ऐसा प्रबन्ध किया जाता है कि जोड़ों के द्वारा न तो भीतर से जल बाहर आ सके और न बाहर से कोई वस्तु भीतर जा सके। यह नल प्राय. ढले हुए लोहे के बने होते हैं। किन्तु इस लोहे पर जल की क्रिया सहज मे हो जाती है। इस कारण इन नलों के भीतर की ओर एक विशेष पदार्थ का, जिसको ऐंगस-स्मिथ घोल कहते हैं, एक परत चढ़ा दिया जाता है जिससे लोहे पर जल की क्रिया न हो पावे। कुछ लोग इस पदार्थ की अपेक्षा चीनी मिट्टी चढ़े हुए लोहे के नलों को उत्तम समझते हैं।

इन मुख्य बड़े नलों से छोटे नलों के द्वारा मकानों में जल जाता है। यह छोटे नल सीस, पिटवाँ लोहे या जस्तेदार लोहे के बने होते हैं। मकानों में सीस का प्रयोग करने में सुगमता रहती है; क्योंकि उसको सहज में जहाँ आवश्यकता होती है, मोड़ा जा सकता है। किन्तु उस पर जल की, विशेष कर कोमल जल की, क्रिया बहुत सहज में हो जाती है। सीस जल में घुल

जाता है। कुछ समय तक ऐसे जल का प्रयोग करने से विष के लक्षण उत्पन्न हो सकते है। अतएव यदि जल कोमल हो तो उसके लिए सीस के नल का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उसके स्थान में सीस और टीन के मिश्रण के बने हुए नलों का प्रयोग किया जा सकता है। लोहे के नल, जिनके भीतर की ओर चीनी मिट्टी चढ़ी रहती है, सबसे उत्तम होते है, क्योंकि उन पर जल की किसी प्रकार की भी क्रिया नहीं होती। किन्तु उनका मूल्य अधिक होता है। इसलिए आजकल प्रायः जस्तेदार लोहे के नलों का प्रयोग किया जाता है। ऐंगस-स्मिथ-सोल्यूशन से भीतर की ओर से सुरक्षित लोहे के नलों का भी सन्तोषपूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

नगरो में जल के वितरण करने की दो पद्धतियाँ हैं, एक निरन्तर, जिसमें जल नलों मे प्रत्येक समय प्रवाहित होता रहता है। दूसरी पद्धति में केवल समय-समय पर, प्रात और सायकाल, जल दिया जाता है। इन दोनों में प्रथम पद्धति उत्तम है। उसमें जल के द्वारा रोग फैलने की सम्भावना बहुत कम होती है। नलों के प्रत्येक समय जल से भरे रहने के कारण उनके भीतर शून्य स्थान नहीं उत्पन्न होता, जैसा दूसरी पद्धति में हो जाता है। इस कारण बाहर से कोई भी वस्तु, गैस इत्यादि भी, नलों के भीतर नहीं पहुँच सकती। नलों के खाली रहने के समय कभी कभी ऐसा हो जाता है। यदि नलों के जोड़ तनिक भी ढीले हुए, जैसे कि वह कुछ समय पश्चात् हो जाते हैं, तो अशुद्धि बाहर से नलों के भीतर पहुँच जाती है। इसके अतिरिक्त निरन्तर पद्धति में मकानों में जल को एकत्र करने के लिए किसी विशेष बर्तन की आवश्यकता नहीं होती।

निरन्तर पद्धति में यह दोष बताया जाता है कि उससे जल की व्यर्थ हानि होती है। नलों से बहुत सा जल व्यर्थ बहा करता है। किन्तु अनुभव से यह मालूम हुआ है कि यदि देख-रेख उचित रहे तो यह हानि नहीं होने पाती।

सीस पर जल की क्रिया—कोमल जल और पर्वत के जल में सीस को घोलने की विशेष शक्ति होती है। स्रवित जल भी सीस पर क्रिया करता है।

मकानों के भीतर प्रायः सीस के नल लगे होते हैं। इस कारण उन नलों मे ऐसे जल के जाने से स्वास्थ्य को हानि पहुँचने की आशङ्का रहती है। नलों के जल का प्रयोग करनेवाले कई बार इस प्रकार विषाक्त हो चुके हैं। अतएव जल के वितरण के पूर्व यह परीक्षा कर लेनी चाहिए कि जल में सीस को घोलने की शक्ति है या नहीं, और यदि है तो कितनी।

जल की सीस पर दो प्रकार से क्रिया होती है। एक तो जल में स्वयं सीस को गला लेने या खुरचने की शक्ति होती है, जिससे नलों से सीस का बारीक चूर्ण सा अलग हो जाता है; वह जल में नहीं घुलता और प्रायः नीचे बैठ जाता है। किन्तु यह पाया गया है कि जल की यह सीस को खुरचने की क्रिया उस समय होती है जब सीस का बना हुआ नल या बर्त्तन चिकना और चमकदार होता है। यदि उसको कुछ खुरदरा और चमक रहित या मन्द कर दिया जाय तो यह क्रिया न होगी अथवा बहुत कम होगी।

जल की सीस को घोल लेने की शक्ति वास्तव में एक अम्ल पर निर्भर करती है। यह अम्ल काई में उपस्थित एक प्रकार के जीवाणुओं से जल में उत्पन्न होता है। इस अम्ल द्वारा जो सीस घुलता है वह जल मे मिला रहता है और चूर्ण की भांति जल से पृथक् नहीं होता।

यदि एक गैलन जल मे $\frac{१}{१०}$ ग्रेन सीस हो तो वह जल प्रयोग करने के योग्य नहीं है। $\frac{१}{२०}$ ग्रेन सीस को भी सन्दिग्ध माना जाता है। महाशय दास के अनुसार निम्नलिखित प्रकार के जलों की सीस पर सब से अधिक क्रिया होती है,—

(१) अत्यन्त शुद्ध और आक्सिजन युक्त जल, जैसे वर्षा का अथवा पार्वतीय जल।

(२) जिस जल में नाइट्राइट, नाइट्रेट और क्लोराइड लवण अधिक होते हैं।

(३) काई से आच्छादित भूमि पर का जल जिसमें अम्ल (ह्यूमिक अम्ल) उत्पन्न हो जाता है।

(४) स्त्रवित जल।

(५) कीचड़ मिला हुआ नदी का जल।

(६) जब कठोर जल में कार्बन-डाई-आक्साइड अधिक होती है तो वह सीस को घोल लेता है।

निम्नलिखित प्रकार के जलों की क्रिया सीस पर बहुत कम होती है—

(१) जिस जल में कारबोनेट, सल्फ़ेट और फ़ास्फ़ेट लवण अधिक होते है। इससे सीस के ऊपर सीस-कारबोनेट का एक परत जम जाता है जिसके कारण जल की अधिक क्रिया नहीं होने पाती।

(२) जिस जल में सिलिका रहता है।

कोमल और कठोर जल—ऊपर जल के साथ कोमल और कठोर शब्दों का कई बार प्रयोग किया जा चुका है। यदि जल के साथ साबुन मलने या साबुन को जल में घोलने से झाग भली भाँति उठने लगें तो जल को कोमल और यदि न उठें तो उसको कठिन कहा जाता है। इस जल मे चूने या मेगनेशियम के लवण होते हैं। जब तक यह लवण कारबोनेट के रूप में रहते हैं तब तक इनसे हानि नहीं होती; प्रायः जल अधिक स्वादिष्ठ हो जाता है। इस प्रकार की कठोरता केवल उबालने और छानने से भी दूर हो सकती है। किन्तु यदि वह मेगनेशियम सल्फ़ेट या फ़ास्फ़ेट के रूप में होती है तो जल मे भोजन पकना कठिन होता है; स्नान करने या वस्त्रों को स्वच्छ करने में भी कठिनता होती है। जो शाक इत्यादि इस प्रकार के जल मे उबाले जाते हैं वह अपच्य हो जाते है। इस प्रकार की कठोरता केवल उबालने से दूर नहीं होती।

जल की अशुद्धियाँ।

जल में अशुद्धियां चार प्रकार अथवा स्थानों से मिल सकती हैं,—

(१) जल के आदिस्थान पर।

(२) जल के आदिस्थान से संग्रहस्थान या टङ्की तक आने में।

(३) संग्रहस्थान मे।

(४) संग्रहस्थान से नगर के भिन्न-भिन्न भागों तक जाने में।

(१) जिस स्थान से जल आता है उस स्थान की प्रकृति के अनुसार जल में दोष उपस्थित होते हैं। यदि स्रोत से जल लिया गया है तो जिन भिन्न भिन्न प्रकार की भूमियों के द्वारा जल का प्रवाह हुआ है उनमें उपस्थित लवण जल में मिल जायँगे। इस प्रकार चूने या लोहे या मेगनेशियम के लवणों से जल में कठोरता उत्पन्न हो सकती है। यदि स्रोत में किसी रोगी के वस्त्र धोये गये हैं तो उससे रोग फैल सकता है। कई बार मोतीझरा और हैज़ा इस प्रकार फैले हैं। इस कारण जिस स्थान से जल लिया जाय उसको शुद्ध रखना आवश्यक है। तालाब, स्रोत इत्यादि—जिनसे पीने के लिए प्राय. जल लिया जाता है—स्नान करने, वस्त्रों के धोने इत्यादि से दूषित होकर रोगोत्पत्ति के कारण बनते हैं। इसी भाँति कुँवें का जल पास की मोरियों इत्यादि से दूषित हो सकता है।

(२) आदिस्थान से नदियों या नहरों के द्वारा जाने से जल में अनेकों प्रकार के दूषित अवयव मिल जाते हैं जिनका पहिले उल्लेख किया जा चुका है। इस कारण जल को निस्यन्दकों के द्वारा शुद्ध किये बिना पीने के लिए वितरित न करना चाहिए।

(३) उपयोग के लिए जल को घड़े, सुराही, टङ्की या किसी धातु के बर्तन में रखा जाता है। इन सब मे धातु का बर्तन सबसे उत्तम है, उसमें बाहर से किसी प्रकार की अशुद्धि प्रवेश नहीं कर सकती। सुराही और घड़ों की दीवारें सच्छिद्र होती हैं; इस कारण उनमें अशुद्धियाँ प्रविष्ट हो सकती हैं। किन्तु गरमी के दिनो में इन बर्त्तनो मे जल ठण्डा रहता है, धातु के बर्त्तनो मे गरम हो जाता है। चीनी के बर्त्तन सबसे उत्तम बताये जाते हैं। यद्यपि उनमें घड़े या सुराही के बराबर जल ठण्डा नहीं होता; किन्तु धातु के बर्त्तनों के बराबर गरम भी नहीं होता। इन बर्त्तनों को भीतर से पूर्णतया स्वच्छ करके और उनको ऊपर से ढककर सुरक्षित ठण्डे और स्वच्छ स्थान में रखना चाहिए।

(४) वितरण में नल की धातु पानी में घुलकर उसको दूषित करती है। सीस पर जल की क्रिया शीघ्र होती है, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है। इसके अतिरिक्त जल के मुख्य नलों में, जब वह खाली होते हैं तो, पास

के मैले जल के नलों से दूषित वायु या पदार्थ उनके जोड़ों में होकर भीतर आ सकते है। गैस के नलो द्वारा गैस को जल के नलो में कई बार प्रवेश करते पाया गया है। इसलिए इन नलों को जल के नलो से दूर बनाना चाहिए।

जिन बर्तनों मे कुँवें या टोटियों से जल भरा जावे उनकी ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। मशक मे भरा हुआ जल कदापि पीने योग्य नहीं है। मशक को भीतर से स्वच्छ करने का कोई उपाय ही नहीं है। इस कारण उसके प्रयोग को जहाँ तक हो सके बन्द करना चाहिए। यदि एक बार उसके भीतर किसी प्रकार की अशुद्धि पहुँच जाती है तो फिर वह वहाँ से नहीं निकल सकती जिससे रोग फैल सकते है।

अशुद्ध जल का स्वास्थ्य पर प्रभाव।

अशुद्ध जल सदा से स्वास्थ्यनाशक और रोगोत्पादक माना गया है। मोतीझरा अथवा हैज़े का रोग जब किसी नगर में अकस्मात् फैलता है तो उसका कारण प्रायः जल का इन रोगों के जीवाणुओं द्वारा दूषित होना पाया जाता है। प्रवाहिका, अतिसार, पराश्रयी कृमिज रोग, मन्दाग्नि इत्यादि रोग दूषित जल ही से उत्पन्न होते हैं। जो जल लवणो की अधिकता से कठोर होता है उससे प्राय: अतिसार होते देखा गया है। यदि यह नहीं होता तो इस जल के कुछ समय तक प्रयोग करने से मन्दाग्नि, अरुचि इत्यादि उत्पन्न हो जाते है।

यद्यपि स्वास्थ्य के लिए दूषित जल हानिकारक है किन्तु पूर्णतया रासायनिक शुद्ध जल भी हितकर नहीं है। वह स्वादिष्ट नहीं होता, क्योंकि वायु-रहित होता है। **स्वास्थ्य के लिए वही जल हितकर है जो रङ्ग, गन्ध और स्वाद से रहित हो, जो स्वच्छ और पारदर्शी हो, जिसमें घन पदार्थों की अधिकता न हो और जो वायुयुक्त हो।**

जल में जो अशुद्धियाँ मिली रहती हैं वह तीन श्रेणियों—(१) वानस्पतिक, (२) धातवीय और (३) पाशविक—में विभक्त की जा सकती है।

(१) जिस जल में वानस्पतिक ऐन्द्रिक पदार्थ सड़ रहे हों उसका उपयोग करने से अतिसार, प्रवाहिका या अन्य विषैले रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

(२) जिन नलों के द्वारा ज़ल जाता है उनकी धातु के कण जल मे मिल जाते है। ताम्र, जस्ता, सीस, सङ्खिया और लोह जल में पाये जा सकते है। यह वस्तुएँ या तो नदी या स्रोत के उद्गम-स्थान से जल में मिलती हैं या जिस भूमि में होकर वह बहते है वहाँ से। इन धातुओं के कारखानों से भी यह वस्तुएँ जल में मिल जाती है।

अतिसार—मेगनेशियम सल्फ़ेट से उत्पन्न हो सकता है।

स्प्रू—अभ्रक के स्थूल कणों के कारण उत्पन्न होता है।

घेंघा—इसका कारण जल में उपस्थित कुछ विशेष लवण बताये जाते है। यह रोग काश्मीर और चित्राल में बहुत अधिक होता है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि इस रोग के उत्पादक विशेष कृमि होते हैं जो जल के द्वारा शरीर में प्रवेश करते है।

मन्दाग्नि—विशेषकर जल में सम्मिलित लोह से उत्पन्न होती है।

सीस विष—जल में मिश्रित सीस कणों से उत्पन्न होता है।

कोष्ठबद्धता—यशद युक्त जल से कोष्ठबद्धता उत्पन्न होती है।

(३) जल में उपस्थित पाशविक पदार्थों मे रोगों के जीवाणुओं या कृमियों की गणना की जाती है जिनमें निम्न-लिखित मुख्य है—

हैज़े अथवा विशूचिका के जीवाणु—रोगियों के मल से किसी न किसी भांति यह जीवाणु नदी, तालाब अथवा कुँवें के जल मे पहुँच जाते हैं जहाँ से अनेकों व्यक्ति पीने के लिए जल लेते हैं। इस प्रकार उनको भी रोग उत्पन्न होता है। इसी कारण मेलों में रोग अधिक फैलता है। जितना जल आवश्यक होता है उतना नहीं मिलता। इस कारण एक ही स्थान पर लोग नहाते है, वस्त्र धोते हैं और वहीं से पीने के लिए जल भी लेते हैं।

जो व्यक्ति रोग से ग्रस्त हो चुका हो उसको कुँवें में अपने बर्त्तनों को न डालने देना चाहिए। किसी दूसरे स्वस्थ मनुष्य को कुँवें से जल निकालकर उसको दे देना चाहिए। रोगी के वस्त्रों को कभी किसी नहर या नदी में नहीं धोना चाहिए।

मोतीझरा या टाइफ़ाइड—यह हैज़े ही की भाँति जीवाणुओं द्वारा फैलता है।

प्रवाहिका—यह भी इसी प्रकार उत्पन्न होती है।

मैलेरिया—यद्यपि जल इस रोग का तत्काल कारण नहीं होता किन्तु उसका विशिष्ट सहायक अवश्य होता है; क्योंकि उसमें मच्छरों के लावों का पालन होता है।

कृमिज रोग—अन्त्रियों में जो कई प्रकार के कृमि उत्पन्न हो जाते हैं उनके अण्डे अथवा लार्वा जल के द्वारा शरीर के भीतर पहुँचते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं। इनमें टीनिया सोलियम[१], ऐस्केरिस लंब्रीकाइडीज़[२], फ़ायलेरिया सग्यूनिस[३], ऑक्सीयूरिस वर्मीक्यूलेरिस[४], एंकिलैास्टोमा डयूडीनेल[५], फ़ायलेरिया मैडिनेन्सिस[६] और डायस्टोमा हिपेटिकम[७] मुख्य हैं।

बड़े नगरों में, जहाँ शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार के जल के वितरण का प्रबन्ध किया जाता है, इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि अशुद्ध जल के नलों से जल शुद्ध जल के नलों में न चला जाय। प्रायः दोनों नल पास ही पास होते हैं और इस कारण शुद्ध जल के दूषित होने की सम्भावना अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त अशुद्ध जल को भी लोग पीने के काम में ले आते हैं जिससे रोगों के फैलने की सम्भावना बढ़ जाती है। इन कारणों से, जहां तक हो सके, केवल संशोधित जल ही के वितरण की आयोजना करनी चाहिए। केवल सड़कों के धोने के लिए या बाग़ों में सींचने के लिए अशुद्ध जल दिया जा सकता है। किन्तु अशुद्ध जल के नलों को शुद्ध जल के नलों से दूर रखना चाहिए।

जल की शुद्धि।

ऊपर बताये हुए कारणों से नदी इत्यादि से लेकर जनता के प्रयोग के लिए जो जल दिया जाता है उसको वितरण के पूर्व शुद्ध करना आवश्यक है।

---

१. Taenia Solium. २ Ascaris Lumbricoides. ३ Filaria Sanguinis Hominis ४ Oxyuris vermicularis. ५ Ankylostoma Duodenale. ६. Filaria Medenensis. ७. Distoma Hepaticum

कुँवें या तालाब से पीने के लिए जो जल लिया जाय उसको भी शुद्ध करके उपयोग में लाना उत्तम है।

जल की शुद्धि तीन प्रकार से की जाती है—

(१) भौतिक क्रियाओं द्वारा,

(२) रासायनिक क्रियाओं द्वारा, और

(३) यांत्रिक साधनों द्वारा।

प्रकृति स्वयं भी जल की शुद्धि करती रहती है जिससे किसी विशेष स्थान में जल में सम्मिलित हुई दूषित वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं। जिन नदियों या नहरों में अधिक जल होता है उनमें यह क्रिया अधिक होती है। ऐन्द्रिक पदार्थ, नगर का मैला या अन्य गन्दी वस्तुएँ ज्योंही नदी में पड़ती है त्योंही सारे जल में फैल जाती है। किसी एक स्थान पर उनकी मात्रा अधिक नहीं होने पाती। जल में मिली हुई आक्सिजन इन ऐन्द्रिक वस्तुओं पर आक्रमण करके उनको नष्ट करती है। जल में उपस्थित बहुत से जीवाणु, जो रोगोत्पादक नहीं होते, इस क्रिया मे सहायता देते हैं। जल में उपस्थित जल-वृक्षों से आक्सिजन निकलती है और वह भी ऐन्द्रिक पदार्थों के नाश में सहायता देती है। जो नदियां पहाड़ी चट्टानों से होकर बहती है उनका जल वायु के साथ भली भांति सम्पर्क में आता है जिससे जीवाणुओं के नाश मे सहायता मिलती है। सूर्य का प्रकाश भी ऐन्द्रिक पदार्थों और जीवाणुओं का नाशक है। अतएव सूर्य-किरणों द्वारा भी जल की शुद्धि होती है। नदी के जल में मिश्रित वस्तुएँ जल-प्रवाह का वेग कम होने पर तल में बैठ जाती है। वर्षा काल में नदियों का जल रेत और धूल के कारण मैला हो जाता है, किन्तु वर्षा के पश्चात् फिर स्वच्छ हो जाता है। इससे भी जल की बहुत शुद्धि होती है।

प्रयोगों से यह पाया गया है कि विशूचिका, मोतीझरा, प्रवाहिका इत्यादि रोगों के जीवाणु नदी के जल में अधिक प्रबल नहीं रहते। उनकी शक्ति का नाश हो जाता है। जल की आक्सिजन, सूर्य्य प्रकाश, और अरोगोत्पादक जीवाणुओं का उन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(१) भौतिक क्रियाएँ—जिनके द्वारा जल शुद्ध किया जाता है, दो है—

(१) जल का स्रवन और

(२) जल को उबालना ।

(१) **स्रवन**—इस विधि के द्वारा केवल जहाज़ों पर जल का संशोधन किया जाता है। अदन में स्थित फ़ौजों को भी स्रवित जल उपयोग के लिए दिया जाता है; क्योंकि वहां का जल बहुत खारी और सन्दिग्ध है।

(२) **उबालना**—उबालने से जल मे जो चूने के लवण होते हैं वह नीचे बैठ जाते हैं और कठिन जल कोमल हो जाता है। जीवाणुओं का भी नाश होता है। किन्तु जल को पर्याप्त समय तक उबालना चाहिए। इससे अमोनिया, हाइड्रोजन सल्फ़ाइड इत्यादि गैसें भी निकल जाती हैं। किन्तु जल के वायु-रहित हो जाने से उसका स्वाद नष्ट हो जाता है। अतएव पीने के पूर्व उसको वायुयुक्त कर लेना चाहिए। इसकी विधि पहिले बताई जा चुकी है।

(२) रासायनिक क्रियाएँ—(१) अवक्षेपक और (२) जीवाणुनाशक वस्तुओं के प्रयोग से जल को शुद्ध किया जाता है। इन वस्तुओं की क्रिया रासायनिक होती है।

अवक्षेपक वस्तुओं मे चूना, फिटकरी, निर्मली और परक्लोराइड-आफ़-आयरन का विशेष प्रयोग होता है। इनकी जल में सम्मिलित ऐन्द्रिक या अनैन्द्रिक पदार्थों पर कोई विशेष क्रिया नहीं होती। वह केवल एक अवक्षेप बना देते हैं जो जल में उपस्थित ठोस पदार्थों को लेकर जल के नीचे बैठ जाती है। ऊपर के स्वच्छ जल को नितार लिया जाता है।

इन वस्तुओं का निम्न-लिखित प्रकार से प्रयोग किया जाता है।

(१) अवक्षेपक—१. चूना—इसका प्रयोग विशेषतया जल की कठोरता को दूर करने के लिए किया जाता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कठोरता दो प्रकार की होती है। जो कठोरता कार्बोनेट लवणों के कारण होती है वह

उबालने से दूर हो जाती है। जल से कार्बन-डाई-आक्साइड निकल जाती है और जल में जो चूना या मैगनेशिया घुला रहता है, नीचे बैठ जाता है। यह 'अस्थायी' कठोरता कहलाती है। किन्तु जो कठोरता कार्बोनेट लवणों के कारण नहीं होती और उबालने से भी दूर नहीं होती है वह 'स्थायी' कठोरता कही जाती है। उसका कारण सल्फ़ेट या फ़ास्फ़ेट लवण होते हैं। इसको दूर करने के लिए चूना और कास्टिक सोडा या सोडियम कारबोनेट जल में मिलाना होता है। यह क्षार कारबोनिक एसिड के साथ मिलकर कारबोनेट और सल्फ़ेट के रूप मे निम्नलिखित क्रिया के अनुसार अवक्षिप्त हो जाता है।

$$CaSO_4 + CaCO_3CO_2 + 2NaOH = 2CaCO_3 + Na_2SO_2 + H_2O.$$
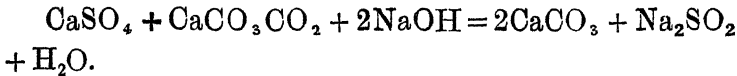
सोडियम कारबोनेट स्थायी कठोरता को दूर करने में कास्टिक पोटाश की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है—

$$MCaSO_4 + Na_2CO_3 = MCaCO_3 + Na_2SO_4.$$
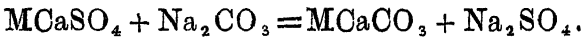
अस्थायी कठोरता दूर करने के लिए चूने के पानी (CaH_2O_2) का प्रयोग किया जाता है।

$$CaCO_3 + CO_2 + CaH_2O_2 = 2CaCO_3 + H_2O.$$
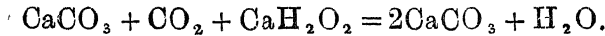
इस कारण जल की कठोरता की मात्रा का पहिले से उचित ज्ञान होना चाहिए। किन्तु केवल इतने ही चूने के पानी का प्रयोग करना चाहिए जिससे जल की कठोरता दूर हो जावे। यदि अधिक चूना प्रयोग किया जायगा तो वह जल के ——ओं मे प्रवाहित होने लगेगा जिसकी सिल्वर नाइट्रेट सोल्यूशन के द्वारा परीक्षा की जा सकती है। यदि जल में केलशियम की अधिकता है तो इस वस्तु के एक या दो बूँद मिलाने से गाढ़े पीले रङ्ग का अवक्षेप बन जायगा। साधारणतया एक डिगरी कठोरता को दूर करने के लिए १०० गैलन जल में एक औंस चूना मिलाया जाता है।

जल में प्रायः अस्थायी और स्थायी दोनों प्रकार की कठोरताएँ एक साथ उपस्थित रहती हैं। अस्थायी कठोरता को दूर करने पर भी स्थायी कठोरता बनी रहती है जिसको दूर करने के लिए अन्य वस्तुओं के साथ चूने को

जल मे मिलाने की आवश्यकता होती है। इस सम्बन्ध में नोटर और फ़र्थ ने निम्नलिखित नियमों के पालन का प्रस्ताव किया है—

(१) यदि अस्थायी कठोरता, स्थायी कठोरता की अपेक्षा, अधिक हो तो जल में स्थायी कठोरता के समान कास्टिक सोडा मिला दो। साथ में जितनी अस्थायी कठोरता स्थायी कठोरता से अधिक हो उसके बराबर चूने का जल मिलाओ।

(२) यदि स्थायी कठोरता, अस्थायी की अपेक्षा, अधिक हो तो सोडियम कारबोनेट स्थायी कठोरता के समान और तब यदि आवश्यक हो तो चूना अस्थायी कठोरता के समान मिलाओ।

प्रयोगों से यह पाया गया है कि स्थायी कठोरता की प्रत्येक डिगरी केलशियम कारबोनेट के रूप में ०.८ भाग कास्टिक सोडा, ०.५६ भाग केलशियम आक्साइड, ०.७४ भाग चूने का पानी, और १.०६ भाग सोडियम कारबोनेट के बराबर है।

२. फिटकरी—यदि जल मे केलशियम कारबोनेट उपस्थित होता है तो फिटकरी के मिलाने से केलशियम सलफ़ेट और एल्यूमिनियम हाइड्रेट का गाढ़ा अवक्षेप बन जाता है जो अन्य दूषित पदार्थों के साथ बर्त्तन की तली मे बैठ जाता है। यदि फिटकरी के पश्चात् ५ ग्रेन चूना और मिला दिया जावे तो जल अत्यन्त स्वच्छ हो जायगा। एक गैलन जल में ६ ग्रेन फिटकरी मिलाई जाती है।

प्रयोगों से पता लगा है कि फिटकरी से जल के जीवाणुओं की संख्या बहुत घट जाती है। एक गैलन जल मे $\frac{1}{2}$ ग्रेन फिटकरी मिलाने से ८००० जीवाणु केवल ८० रह गये। किन्तु इससे अधिक मात्रा में भी उसका विशूचिका और मोतीझरे के जीवाणुओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

×**३. निर्मली**—यह स्ट्रिकनौस पोटेटोरम नामक वृक्ष का फल है। इससे गदला जल स्वच्छ हो जाता है। सारी गाद नीचे बैठ जाती है। जिस बर्त्तन में जल स्वच्छ करना होता है उसमें भीतर की ओर एक बीज को भली

भांति रगड़ देते है और उसमें जल भरकर रख देते है। कुछ ही समय में सारा जल स्वच्छ हो जाता है; गाद नीचे बैठ जाती है। इस स्वच्छ जल को नितारकर उबाल लेने से पीने के लिए सन्तोषजनक जल मिल सकता है। फ़ौजों में यह वस्तु किसी समय बहुत प्रयोग की जाती थी।

४. **परक्लोराइड-आफ़-आयरन**—एक गैलन जल मे २½ ग्रेन परक्लोराइड-आफ़-आयरन मिलाने से जल स्वच्छ हो जाता है।

पोटास-परमैंगनेट, कौपरसल्फ़ेट, आयोडीन, ओज़ोन और अल्ट्रा-वायोलेट किरणों की जीवाणुओं पर विशेष क्रिया होती है। इन वस्तुओं का, जल-शुद्धि के लिए, प्रयोग किया जाता है।

(१) **पोटास-परमैंगनेट**—इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। कुँवें इत्यादि के जल को स्वच्छ करने के लिए यह बहुत उत्तम वस्तु है। यह आक्सिजन की क्रिया के द्वारा ऐन्द्रिक पदार्थों का नाश करती है और इस प्रकार जीवाणुओं की वृद्धि को रोकती है। विशूचिका के जीवाणु पर इसका विशेषकर घातक प्रभाव होता ह। हैज़ा फैलने के दिनों में इस वस्तु का बहुत प्रयोग किया जाता है। छोटे कुँवें मे एक या दो और बड़े कुँवें मे चार से छ औंस तक पोटासपरमैंगनेट डाला जाता है। इसको जल में घोलकर कैनवास के एक डोल मे भर देते है और उसको कुँवे में नीचे तक डालते है और फिर ऊपर को खींचते हैं। इस प्रकार तीन-चार बार करते है जिससे कुँवें का जल चक्कर खाने लगता है और यह पदार्थ सारे जल मे फैल जाता है। पोटास-परमैंगनेट की इतनी मात्रा कुँवे में डालनी चाहिए कि उसका सारा जल हलके गुलाबी रङ्ग का हो जाय।

(२) **कौपर सल्फ़ेट**—जल में उगे हुए पतले-पतले वृक्ष एल्गी इत्यादि को दूर करने और तालाब कुँवें इत्यादि के जल को स्वच्छ करने के लिए यह वस्तु विशेषतया काम में आती है। २००००० में १ शक्ति (१ भाग कौपरसल्फ़ेट और २००,००० भाग जल) का इस वस्तु का घोल ऐल्गी इत्यादि को नष्ट कर देता है। इसको भी परमैंगनेट की भांति डोल में भरकर जल में चारो ओर को खींचते हैं। यह वस्तु तूतिये के नाम से बिकती है।

(३) **आयोडीन**—आयोडाइड-आयोडेट-आफ़-सोडा की २ ग्रेन की टिकी को साइट्रिक एसिड की समान मात्रा के साथ चार गैलन जल में मिला देते हैं। इससे हैजे और मोतीझरे के जीवाणुओं का थोड़े ही समय में नाश हो जाता है। यह टिकिया Nesfield's Tablets के नाम से बिकती है।

(४) **ओज़ोन और अल्ट्रावायोलेट किरणों** का आजकल योरुप, अमरीका आदि देशों में जल के शुद्ध करने के काम में प्रयोग किया जाता है। जल पर जो सूर्य्य-प्रकाश का उत्तम प्रभाव पड़ता है उसका कारण अल्ट्रावायोलेट किरणें ही मानी जाती हैं। बहुत बड़े बर्त्तनों अथवा टङ्कियों में जल को भरकर
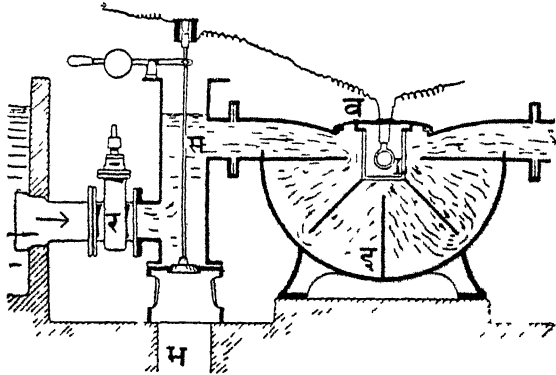
चित्र नं० ११—पारद-वाष्प यंत्र जिसके द्वारा जल शुद्ध किया जाता है।

जल-कोष्ठ में, जिसके बीच में लम्प है, शुद्धि के लिए एक ओर से जल आ रहा है। शुद्ध जल दूसरी ओर से निकल रहा है।

उसमें क्वार्ज़ के बने हुए लम्प को, जिसमें पारद-वाष्प के द्वारा विद्युत् को भेजने से यह किरणें उत्पन्न होती हैं, डुबो दिया जाता है। इससे B. Coli ३० सेकिंड में नष्ट हो जाते हैं। इन किरणों को उत्पन्न करने के लिए कई प्रकार के यन्त्र बनाये गये हैं। यह विधि बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है।

ओज़ोन से ऐन्द्रिक पदार्थ थोड़े ही समय में नष्ट हो जाते हैं और इसके द्वारा जल की शुद्धि करने में व्यय भी बहुत कम होता है। इस विधि का उपयोग भी विशेष यन्त्रों द्वारा किया जाता है।

(३) यांत्रिक साधनों द्वारा जलशुद्धि—जनता के उपयोग के लिए वितरित किये जानेवाले जल की शुद्धि निस्यन्दकों के द्वारा की जाती है। इन निस्यन्दकों में होकर जल को निकालने से जल में मिश्रित घन् अवयव और रोगों के जीवाणु जल से पृथक् हो जाते हैं और जल कोमल हो जाता है। यह निस्यन्दक दो प्रकार के होते हैं; एक वह, जिनमें होकर जल धीरे धीरे बहता है और जल के शुद्ध होने में अधिक समय लगता है; और दूसरे वह, जिनमें किसी प्रकार भार के बढ़ा देने से या अन्य साधनों द्वारा जल की गति बढ़ जाती है और थोड़े ही समय में अधिक जल शुद्ध हो जाता है। नगरों की म्युनिसिपैलिटी इत्यादि में पहिली भाँति ही के निस्यन्दकों का उपयोग किया जाता है।

जल को प्रथम नदी या कुँवें से पम्प के द्वारा खींचकर संग्रहस्थानों या टङ्कियों में भर दिया जाता है। यहाँ पर कुछ समय तक जल को रहने दिया जाता है जिससे जल में मिश्रित मिट्टी या अन्य ऐसे ही पदार्थ नीचे बैठ जाते हैं, और जल बहुत से अशुद्ध पदार्थों से मुक्त हो जाता है। किन्तु रोगोत्पादक जीवाणु जल में मिले रहते हैं।

इन संग्रहस्थानों से जल को निस्यन्दकों में पहुँचाया जाता है जो चौकोर तालाब होते हैं। इनकी दीवारें किसी अप्रवेश्य पदार्थ की बनी होती है जिनके द्वारा उनमें किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं पहुँच सकती। इन निस्यन्दकों में सबसे नीचे (१) ईंटें रहती हैं। इन ईंटों के बीच में जल के बहने के लिए स्थान होता है। इन ईंटों के ऊपर जो ईंटें रखी जाती हैं उनको भी इस प्रकार जमाया जाता है कि उनके बीच में जल के नीचे जाने के लिए कुछ मार्ग रह जावे। चित्र देखने से यह स्पष्ट हो जायगा। ईंटों की केवल दो तहें दी जाती हैं जैसा चित्र में दिखाया गया है।
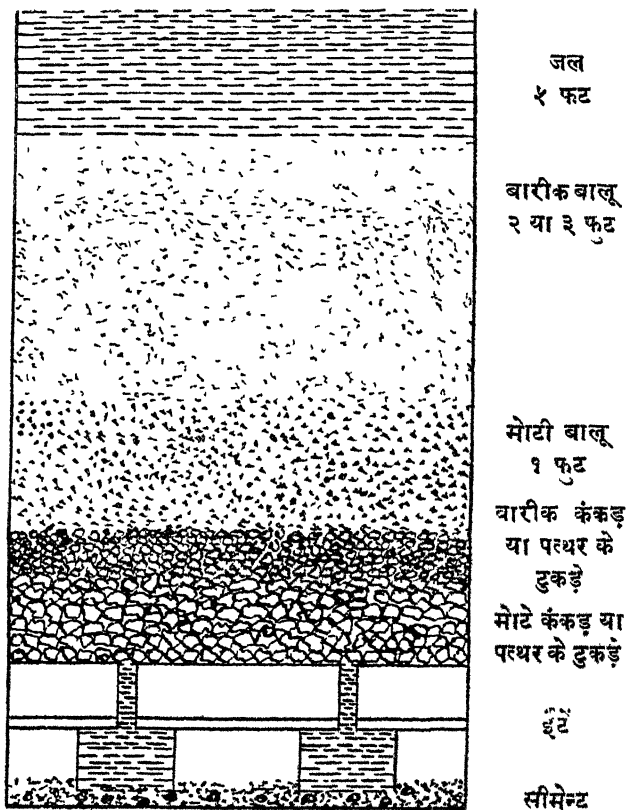
चित्र नं० १२
बालू के निस्यन्दक का कल्पित चित्र

(२) ईंटों के ऊपर पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों का लगभग २ फुट मोटा परत रहता है। नीचे की ओर सबसे बड़े टुकड़े रहते हैं। उनके ऊपर उनसे छोटे टुकड़े रखे जाते हैं। इसी प्रकार ज्यों ज्यों ऊपर बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों पत्थर के टुकड़ों का आकार छोटा होता जाता है।

(३) पत्थर के टुकड़ों के परत के ऊपर मोटा बालू एक फुट और बारीक बालू का दो या तीन फुट मोटा परत रहता है। निस्यन्दक का यही विशेष भाग होता है जिसके द्वारा जल की शुद्धि होती है। पत्थर के टुकड़ों का परत केवल इस बालू को आश्रय देने के लिए रहता है।

(४) बालू के ऊपर पाँच फुट जल रहता है। यह जल अपने भार से नीचे के बालू और पत्थर के टुकड़ों के द्वारा प्रवाहित होता है जिनके द्वारा उसमें मिश्रित दूषित अवयव दूर हो जाते है। इन भिन्न-भिन्न भागो की क्रिया केवल उन दूषित अवयवों को जो जल में मिले रहते है, घुले नहीं होते, रोक लेने की होती है, उनकी जल के रासायनिक अवयवों पर किसी भाँति की विशेष क्रिया नहीं होती।

जल की शुद्धि विशेषकर काई के उस पतले स्तर के द्वारा होती है जो बालू के ऊपर या उसके कणों के बीच में बन जाता है। इस काई के स्तर में रोगोत्पादक जीवाणुओं को रोक लेने की शक्ति होती है। इस में एल्गी अथवा फंगस होते हैं और साथ में बहुत से अरोगोत्पादक जीवाणु भी उत्पन्न हो जाते हैं जो जीवाणुओं को रोकने में विशेष सहायता देते है। यह जीवाणु बालू में कुछ गहराई तक पहुँच जाते है। यह न केवल जीवाणुओं ही को रोकते हैं किन्तु ऐन्द्रिक पदार्थों का नाश भी करते हैं। यह काई का स्तर, जिसमें जीवाणु रहते है, निस्यन्दक को बनाकर उसमे जल भर देने के तीन दिन के पश्चात् उत्पन्न होता है। इस कारण प्रथम तीन दिन तक निस्यन्दक की क्रिया ठीक नहीं होती। जब उसमे काई और जीवाणु उत्पन्न हो जाते है तब जल की उचित शुद्धि होनी आरम्भ होती है। कौक ने प्रयोगों द्वारा यह दिखाया है कि यदि इस काई को कहीं से खुरच दिया जावे या वह कहीं पर भङ्ग हो जावे तो निस्यन्दक द्वारा शुद्ध हुए जल मे जीवाणुओं की मात्रा बहुत बढ़ जाती है।

अनुभव से यह पाया गया है कि ऐन्द्रिक अशुद्धियों से जल को मुक्त करने के लिए सबसे उत्तम पदार्थ बालुका है। किन्तु इन निस्यन्दकों के द्वारा सन्तोषजनक परिणाम पाने के लिए दो बातों की आवश्यकता है; (१)

बालू का स्तर कम से कम १६ इंच मोटा होना चाहिए। (२) एक वर्ग फुट बालू के द्वारा जल के प्रवाह की गति एक घण्टे में चार इंच से अधिक नहीं होनी चाहिए। इससे हिसाब लगाया जा सकता है कि निस्यन्दक से एक घण्टे में कितना जल निकलना चाहिए। यदि प्रति घण्टा प्रति वर्ग फुट चार इंच से अधिक जल बालुका के द्वारा प्रवाहित होगा तो जल पूर्णतया शुद्ध नहीं होगा।
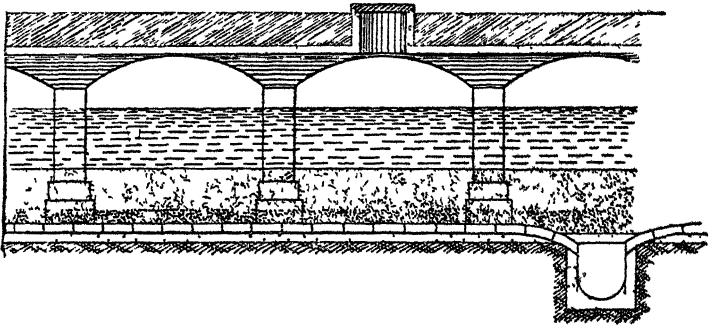
चित्र नं० १२

ढका हुआ बालू का निस्यन्दक

(From Das' Manual of Hygiene)

जब काई का स्तर बहुत मोटा हो जाता है तब भी जल की शुद्धि में बाधा पड़ने लगती है। इसलिए कुछ समय के पश्चात् बालुका का ऊपरी परत $\frac{1}{2}$ इंच से $\frac{1}{2}$ इंच तक खुरच देना पड़ता है। बार बार ऐसा करने से कुछ समय में बालू का स्तर बहुत पतला हो जाता है। यदि वह १६ इंच से कम मोटा रह जावे तो निस्यन्दक का उपयोग करना बन्द कर देना चाहिए और उसके सब भागों को खोदकर फिर नये सिरे से बनाना चाहिए। जब बालू खुरची जावे या निस्यन्दक नये सिरे से बनाया जावे तो प्रथम तीन दिवस तक उनके द्वारा निकले हुए पानी को शुद्ध जल की टङ्की में एकत्र न करना चाहिए। इस जल पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता। अनुभव से यह पाया गया

है कि गरमी की ऋतु मे निस्यन्दकों को प्रति तीन या चार सप्ताह और जाड़ों मे प्रति छः या आठ सप्ताह पर स्वच्छ करना आवश्यक है। किन्तु प्रत्येक निस्यन्दक को स्वच्छ करने या न करने की आवश्यकता का निर्णय उसकी दशा के अनुसार करना चाहिए।

नदी या नहर इत्यादि से शुद्ध करने के लिए जो जल लिया जावे वह, जहाँ तक हो सके, शुद्ध होना चाहिए। जो जल पूर्णतया दूषित है वह, निस्यन्दकों के द्वारा शुद्ध करने पर भी, पीने के योग्य नहीं हो सकता। इस कारण जितना भी शुद्ध जल मिल सके उतना ही उत्तम है। यह समझना कि निस्यन्दकों में जल तो स्वच्छ हो ही जावेगा, चाहे जैसा ले सकते है, ठीक नहीं है।

दूसरे प्रकार के निस्यन्दकों में जल की गति का वेग अधिक होता है। ऊपर बताये हुए निस्यन्दकों की अपेक्षा उनमें जल पचास या साठ गुणा अधिक वेग से प्रवाहित होता है। यह निस्यन्दक स्टील आदि के बने होते है और सात या आठ फुट चौड़े होते हैं। इनके एक भाग में बालू भरी रहती है और दूसरे भाग में जल रहता है जिसमें $\frac{1}{10}$ मे १ ग्रेन तक फिटकरी मिला दी जाती है। इससे बालू के ऊपर एक प्रकार की झिल्ली भी जम जाती है। जब बालू मे होकर जल निकलता है तो उसमे उपस्थित जीवाणु झिल्ली के द्वारा रुक जाते हैं और जल बालू के द्वारा शुद्ध होकर नीचे की ओर एक नल से निकल जाता है। इन यन्त्रों में जल का भार अधिक होता है और इस कारण थोड़े समय में जल की बहुत अधिक मात्रा शुद्ध हो जाती है। चौबीस घण्टे में १५०,००० गैलन जल शुद्ध हो सकता है। कुछ निस्यन्दकों मे बालू और सिलिका दोनों का उपयोग होता है। ज्यूवेल[१] और पेटर्सन[२] निस्यन्दक इसी प्रकार के है। कैंडी[३] निस्यन्दक में फिटकरी का उपयोग नहीं किया जाता। उसमें भरने से पूर्व जल को पूर्णतया वायु-युक्त कर देते है। तत्पश्चात् जल को भरकर, उस पर भार बढ़ाकर, बालू के द्वारा निकालते हैं। यह कहा जाता है कि इस प्रकार शुद्ध किये हुए जल में ९२% जीवाणु कम हो जाते हैं।

---

१. Jewell. २. Peterson. ३. Candy.

चित्र नं० १४—ड्यूवेल निस्यंदक
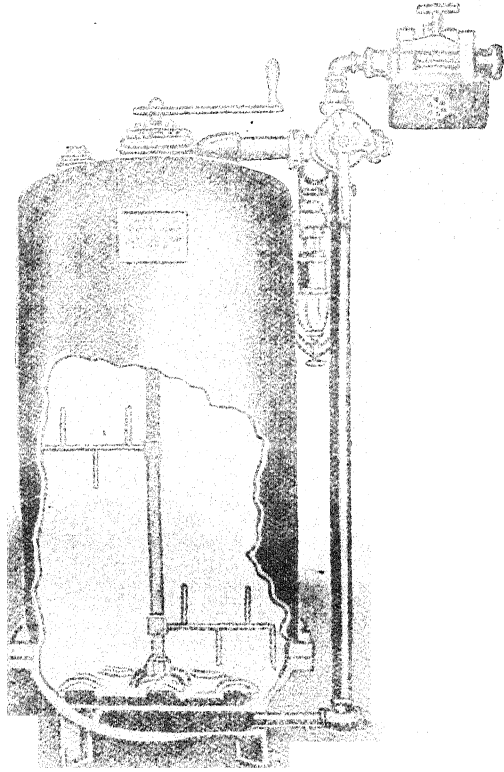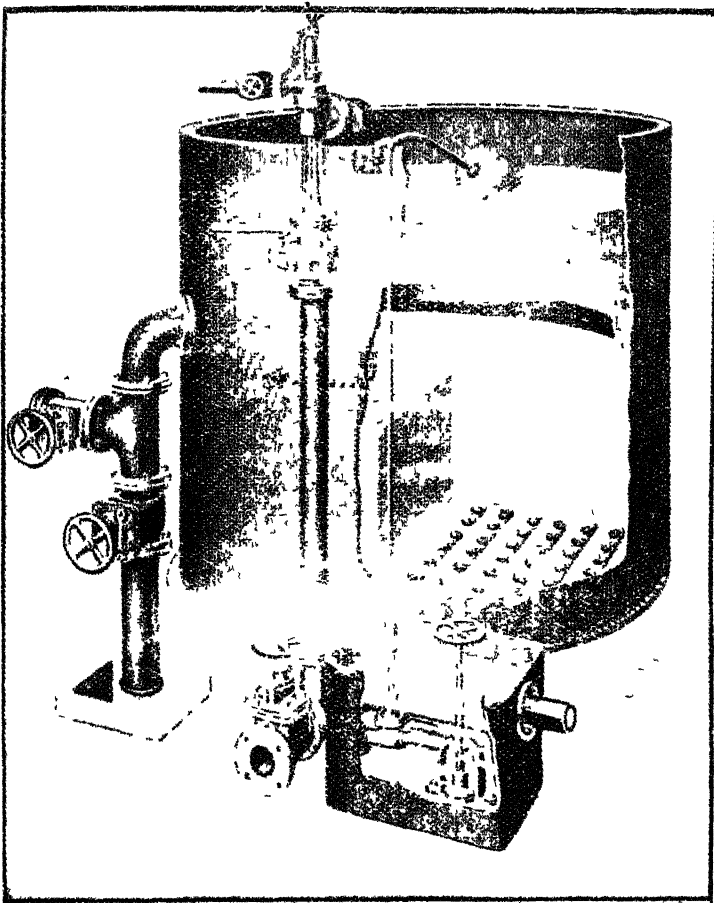
चित्र नं० १९—पेटर्सन का दाब निस्यंदक

इन निस्यन्दकों को स्वच्छ करने के लिए नीचे से उनमें जल पहुँचाया जाता है। उनके भीतर एक ऐसा यन्त्र रहता है जो जल को चारों ओर चलाता है। कुछ निस्यन्दकों मे यह भाग, बाहर लगे हुए, हैंडिल को घुमाने से चलता है। इसके साथ और भी ऐसा प्रबन्ध रखा जाता है जिससे निस्यन्दक के भीतर की सब गाद इत्यादि बाहर आ जाती है।

चित्र नं० १६
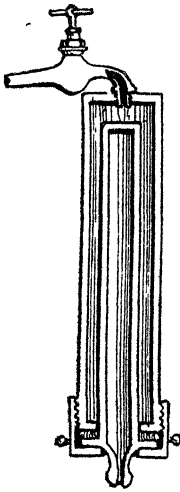
इन निस्यन्दकों में जल थोड़े समय में स्वच्छ हो जाता है और उनके भागों को बार बार बदलना भी नहीं पड़ता। उनमें व्यय कम होता है और जहा आवश्यकता हो, थोड़े ही स्थान मे लगाये जा सकते हैं। अपने उपयोग के लिए थोड़ी मात्रा मे जल को स्वच्छ करने के वास्ते पैस्चयोर चेंबर्लैंड और बर्कफ़ील्ड निस्यन्दकों का प्रयोग किया जाता है। इन्हीं के समान आजकल अन्य भी बहुत से निस्यन्दक बाज़ार मे मिलते हैं। यह पोर्सलेन, क्लेमिट्टी, सिलिकायुक्त कार्बन, स्पंज, ऊन, सच्छिद्र लोह इत्यादि के बने होते है; यह वस्तुएँ जीवाणु या ऐन्द्रिक पदार्थों को रोकने के लिए बहुत उत्तम होती है। इनमें से अधिकतर निस्यंदक पोर्सलेन और क्ले को मिलाकर बनाये जाते है। सच्छिद्र लोह भी बहुत उत्तम वस्तु है।

यह निस्यन्दक इन मिट्टियों की लम्बी लम्बी नलिकाओं के बने होते है जो दोनों ओर से बन्द होती हैं। ये नलिकाएँ एक चौड़े मुँह के बर्त्तन के भीतर रहती है जिसमे इन नलिकाओं को रखकर जल भर देते हैं। ये नलिकाएँ आपस मे प्रायः, किसी न किसी प्रकार, जुड़ी रहती है और बाहर के बर्त्तन में भरे हुए जल में डूबी रहती है। यह जल इन नलिकाओं की दीवारों में होता हुआ उनके भीतर पहुँचता है। किन्तु दीवारों के द्वारा होकर निकलने में जल में उपस्थित ऐन्द्रिक पदार्थ बाहर ही रह जाते हैं। वह जल के साथ नलिकाओं के भीतर नहीं जाने पाते। इस प्रकार इन नलिकाओं के भीतर शुद्ध हुआ जल एक नल के द्वारा बर्त्तन से बाहिर निकल आता है।

कुछ निस्यन्दक ऐसे होते है कि उनको साधारण जल के नल के साथ जोड़ दिया जाता है जिससे नल का जल उनके भीतर पहुँचता रहता है और शुद्ध होकर नीचे से बाहर निकलता है। चित्र मे ऐसा ही निस्यन्दक (चित्र नं० १७) दिखाया गया है। इनके भीतर जल का भार २० से ४० पौंड प्रति वर्ग इंच रहता है। चित्र नं० १६ में भी एक ऐसा ही निस्यन्दक दिखाया गया है किन्तु उसका प्रबन्ध भिन्न है।
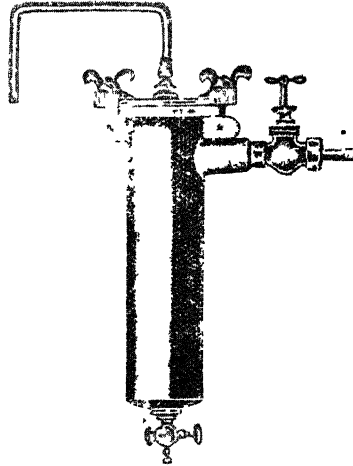
चित्र नं० १७

पैस्च्योर-चैम्बलैंड-निस्यन्दक—जैसा चित्र मे दिखाया गया है, यह क्ले और पोर्सलेन की नलिकाओं का बना होता है जो एक बर्त्तन के भीतर रहती है। जल की शुद्धि ऊपर कहे अनुसार होती है। इन नलिकाओं को समय समय पर ब्रुश से भली भांति स्वच्छ करके जल मे उबालना चाहिए।

यदि जल सन्दिग्ध हो और उसमे धूल या अन्य गन्दी वस्तुओं के मिले होने का भय हो तो निस्यन्दक की नलिकाओ को सप्ताह मे दो बार शुद्ध करना आवश्यक है।

बर्कफ़ील्ड निस्यन्दक भी इसी सिद्धान्त पर बना होता है किन्तु कई छोटी नलिकाओं के स्थान में इसमे एक बड़ा सिलिण्डर रहता है जिसके द्वारा जल की शुद्धि होती रहती है। किन्तु यह वैसा सन्तोष-जनक नहीं होता जैसा कि पैस्च्योर निस्यन्दक होता है। लगातार उपयोग करते रहने से यह शीघ्र ही घिस जाता है और इसके द्वारा जल मे जीवाणु आने लगते है। पैस्च्योर में ऐसा नहीं होता। किन्तु उसमे जल धीरे धीरे निकलता है।

महाशय वुडहैड और वुड की सम्मति है कि पैस्च्योर-चैम्बर्लैंड, बर्कफ़ील्ड और पोर्सलेन—डी आमीन्टे (Porcelain D'Amiante) के निस्यन्दकों के अतिरिक्त अन्य निस्यन्दकों का उपयोग नहीं करना चाहिए।
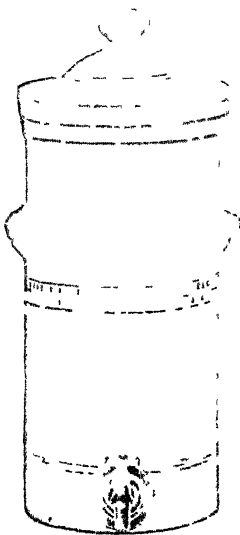
चित्र नं० १८
पैस्च्योर चैम्बर्लैंड निस्यन्दक
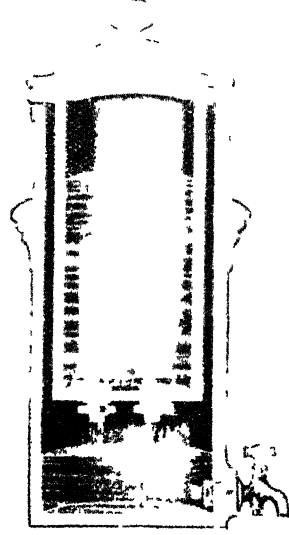
चित्र नं० १९
पैस्च्योर चैम्बर्लैंड निस्यन्दक की भीतरी रचना

गदले जल को निस्यन्दकों में भरने से पूर्व बारीक मलमल के द्वारा छानकर स्वच्छ कर लेना चाहिए।

हमारे देश मे घड़ों में कोयले और बालुका इत्यादि भरकर उनके द्वारा जल को शुद्ध करने की रीति प्रचलित है। एक लकड़ी की टिकटी पर चार घड़ों को एक दूसरे के ऊपर रखा जाता है। ऊपर के तीन घड़ों की तलहटी में कई छोटे छोटे छिद्र कर दिये जाते हैं; सब से ऊपर के घड़े के मुँह पर एक मलमल का छन्ना बँधा रहता है जिसके द्वारा जल छानकर घड़े में भर

दिया जाता है। दूसरा घड़ा आधा पिसे हुए कोयले से भर दिया जाता है। तीसरे घड़े में ऊपर बालू और उसके नीचे पत्थर के छोटे छोटे टुकड़े अथवा
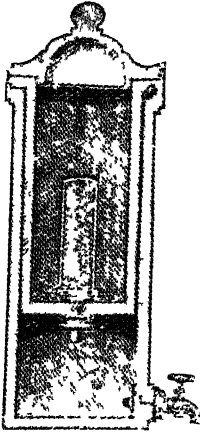
चित्र नं० २०
बर्कफ़ील्ड निस्यंदक
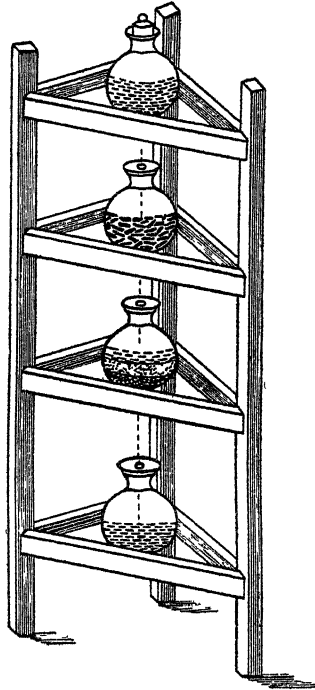
चित्र नं० २१

कङ्कड़ रहते हैं। इन तीनों घड़ों के तल के छिद्रों मे रुई या वस्त्र लगा दिया जाता है जिसके द्वारा जल ऊपर के घड़े में से निचले घड़े के मुँह मे टपका करता है। चौथा घड़ा केवल जल के संग्रह करने के लिए होता है। इस प्रबन्ध से जल की सन्तोषजनक शुद्धि हो जाती है।

घड़ो को समय समय पर स्वच्छ करते रहना चाहिए। कोयले, बालू और पत्थरों के टुकड़ों को समय समय पर बदलते रहना आवश्यक है। कोयलो

को प्रत्येक सप्ताह में एक बार अवश्य बदलना चाहिए। बालुका और कङ्कड़ों को महीने में एक बार बदला जा सकता है।

जल की परीक्षा।

जल की परीक्षा की विधि का यहां, बहुत संक्षेप में, उल्लेख कर दिया जाता है। इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों को किसी अँगरेज़ी भाषा की स्वास्थ्य-विज्ञान की बड़ी पुस्तक अथवा केवल जलपरीक्षा ही की पुस्तकों का अवलोकन करना चाहिए।

जल की परीक्षा चार प्रकार से की जाती है:—

(१) भौतिक परीक्षा।

(२) रासायनिक परीक्षा।

(३) सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षा।

(४) जल मे उपस्थित जीवाणुओं की परीक्षा।

परीक्षा के लिए जल को एकत्र करना—परीक्षार्थ जल को एकत्र करने के लिए एक काँच की बोतल को, जिसमें काँच की डाट लगी हो, भली भाँति स्वच्छ करके और उबले हुए जल से धोकर प्रयोग करना चाहिए। जिस स्थान के जल की परीक्षा करनी हो वहां बन्द बोतल को ले जाकर, जल के नीचे डुबोकर, डाट खोलनी चाहिए। जब बोतल में कुछ जल भर जावे तो उसको बाहिर निकालकर उससे जल निकाल दे। तत्पश्चात् फिर डाट लगाकर बोतल को जल के नीचे डुबोकर जल भर लें। जब जल भर जावे तो फिर उसको डाट से बन्द कर देना चाहिए। यदि जीवाणुओं की परीक्षा के लिए जल भरना है तो बोतल को उबालकर प्रयोग करना चाहिए।

१. भौतिक परीक्षा—निम्नलिखित बातों को देखना चाहिए—

(१) रङ्ग—पतली लम्बी काँच की नलिका में भरकर, श्वेत दीवार पर रखकर, रङ्ग को देखना चाहिए। शुद्ध जल में कुछ हलके नीले रङ्ग की झलक दिखाई देती है। ऐन्द्रिक पदार्थों द्वारा दूषित जल का रङ्ग कुछ भूरा हो जाता है।

(२) **स्वच्छता**—शुद्ध ज़ल बिलकुल निर्मल और स्वच्छ होता है।

(३) **चमक**—शुद्ध चमकदार जल कार्बन डाई-आक्साइड युक्त होता है।

(४) **स्वाद**—जल वास्तव में स्वाद-रहित होता है; किन्तु हमको जल में एक विशेष प्रकार का स्वाद अनुभव करने की आदत हो गई है। जिस जल का स्वाद बुरा हो वह सन्दिग्ध है।

(५) गन्ध से जल में मिली हुई गैस का अनुमान किया जा सकता है।

२. रासायनिक परीक्षा—(१) **प्रतिक्रिया**—लिटमस कागज़ और फ़िनोफ्थलीन की एक बूँद डालने से मालूम हो सकती है। शुद्ध जल की प्रतिक्रिया उदासीन होती है।

(२) **कठोरता**—उबालने से पूर्व जो कठोरता उपस्थित होती है वह जल की सम्पूर्ण कठोरता है। उबालने के पश्चात् केवल स्थायी कठोरता रह जाती है। कठोरता मालूम करने के लिए ४ भाग मेथिलेटेड स्पिरिट और ६ भाग साधारण जल के मिश्रण में साबुन का घोल तैयार किया जाता है। इस घोल को एक ब्यूरेट में भरकर उसके नीचे रखी हुई १०० सी० सी० जलयुक्त बोतल में बूँद-बूँद करके डालते हैं। बोतल को बराबर हिलाते रहते है। जब जल में झाग उठने लगते है तो ब्यूरेट से प्रयोग किये हुए साबुन के घोल की मात्रा देख ली जाती है। इसमें से १ के घटा देने से जो संख्या निकलती है वह जल के १००,००० भाग की कठोरता है।

एक गैलन जल में मिला हुआ एक ग्रेन केलशियम कारबोनेट जितने साबुन के घोल को नष्ट कर सकता है वह जल की एक डिगरी कठोरता कही जाती है। १० डिगरी से कम कठोरतावाला कोमल जल कहलाता है; १० से १५ डिगरी की कठोरतावाला साधारणतया कठोर जल, १५ से २० डिगरीवाला कठोर जल और २० डिगरी से अधिक कठोरतावाला अत्यन्त कठोर जल कहा जाता है।

(३) **क्लोराइड**—साधारणतया शुद्ध जल में कुछ मात्रा में पाये जाते हैं। इनका सिल्वर नाइट्रेट के साथ श्वेत अवक्षेप बनता है।

(४) **नाइट्रेट**—जल के वाष्पीभवन के पश्चात् जो घन भाग बच जावे उसमें तनिक सा सल्फ्यूरिक अम्ल और ब्रूसीन की एक बूँद मिलाने से लाल रङ्ग हो जायगा। नाइट्रेट से बहुत काल से उत्पन्न हुई अशुद्धि का पता चलता है।

(५) **नाइट्राइट** की उपस्थिति इस बात की सूचक है कि जल मल के द्वारा दूषित हो रहा है। १०० सी० सी० जल में सल्फ्यूरिक अम्ल और मेटा-फ़िनाइल-इन-ऐडियामीन[1] की कुछ बूँद मिलाने से जल का रङ्ग पीला हो जाता है।

(६) **अमोनिया**—नेसलर घोल के मिलाने से जल में पीला या भूरा रङ्ग उत्पन्न हो जायगा। मल या खेतों मे पड़ी हुई खाद के मिलने से जल में अमोनिया उत्पन्न होता है। जल मे कुछ न कुछ अमोनिया अवश्य मिलता है; विशेष कर वर्षा-जल में अधिक होता है। धातु के बर्त्तनों में बहुत समय तक रखने से भी जल में अमोनिया उत्पन्न हो जाता है।

(७) **ताम्र, सीस और लोह,** उनकी विशिष्ट परीक्षाओं के द्वारा मालूम किये जा सकते हैं।

३. सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा परीक्षा करने से जल में मिश्रित ऐन्द्रिक या अन्य पदार्थों के कण पहिचाने जा सकते हैं। इसलिए केन्द्रापसारक यन्त्र के द्वारा जल में मिश्रित पदार्थों को एकत्र करके काँच के स्लाइड पर रखकर दर्शक यन्त्र के द्वारा देखना चाहिए। धातुओं के या धूल के कण उनके आकार से पहिचाने जा सकते है। रुई के तागे, फ़ंगस, शाक के पत्तों के टुकड़े, बाल इत्यादि सहज में मालूम हो सकते हैं। मांस के कोषाणु या अन्य ऐसी ही वस्तुओं के मिलने से यह अनुमान किया जाता है कि जल कहीं पर विष्ठा के द्वारा दूषित हुआ है; क्योंकि यह अवयव मल में सदा उपस्थित रहते है। शुद्ध जल में इस प्रकार की वस्तुएँ न मिलनी चाहिएँ।

४. जीवाणुओं के लिए जल की परीक्षा करना आवश्यक है। मोतीझरा, विशूचिका, अतिसार, प्रवाहिका, कृमियों के डिम्ब, या अन्य बहुत

---

१. Meta phenyl-inadiamine.

से जीवाणु जल में उपस्थित रहते हैं जिनसे समय-समय पर देश में रोग के भयङ्कर मरक[1] फैलते है।

जल में तीन प्रकार के जीवाणु पाये जाते हैं। (१) जल के जीवाणु—यह शुद्ध जल मे भी पाये जाते है। इनकी उपस्थिति से जल में किसी प्रकार का दोष नहीं उत्पन्न होता।

(२) पृथ्वी के जीवाणु—पृथ्वी से जो जल बहकर नदियों में पहुँचता है उसके साथ यह जीवाणु भी जल मे पहुँच जाते है।

(३) मल के जीवाणु—यह सबसे भयङ्कर होते है। पृथ्वी पर का जल प्रायः मल के द्वारा दूषित होता रहता है। इनको मालूम करने के अभिप्राय ही से यह परीक्षा की जाती है। यह जीवाणु भी दो प्रकार के होते हैं। (१) मोतीझरा इत्यादि रोगों के जीवाणु और (२) वह जीवाणु जो साधारणतया अन्त्रियों में पाये जाते हैं जैसे B. Coli.। कभी कभी यह जीवाणु भी रोगोत्पादक रूप धारण कर लेते हैं।

परीक्षा करने के लिए जो जल होता है उसमें से १ सी० सी० जल को १० सी० सी० आगर[2] माध्यम के साथ मिलाकर ३७° शतांश पर तीन या चार दिन तक पोषक[3] यन्त्र में रखा जाता है। इसके पश्चात् नलिका में जितनी वृद्धियाँ होती हैं वह गिन ली जाती हैं। इनसे साधारणतया यह पता चल जाता है कि जल में कितने जीवाणु उपस्थित है। इससे निस्यन्दक के उत्तम या निकृष्ट होने का भी पता चलता है। निस्यन्दक द्वारा शुद्ध किये हुए जल के प्रति सी० सी० (१६ बूँद) में १०० से अधिक जीवाणु नहीं होने चाहिएँ।

---

१. मरक शब्द को कौटिल्य ने Epidemics के अर्थ मे प्रयोग किया है। देखो पृष्ठ २०८, माईसोर ऐडीशन, सन् १९०९। २ Agar. ३. Incubator.

चौथा परिच्छेद

भोजन

भोजन वह वस्तु है जिसके द्वारा हमारे शरीर की क्षति पूर्ण होती है और काम करने की शक्ति उत्पन्न होती है। हम रात-दिन जो काम करते हैं उसमें शक्ति का व्यय होता है। साथ मे शरीर के अंगो मे भी कुछ न कुछ टूट-फूट होती रहती है। इन दोनों कारणों से हमको भोजन की आवश्यकता होती है।

जल को हम भोजन नहीं कह सकते; क्योंकि उसके द्वारा शक्ति नहीं उत्पन्न होती। किन्तु वह भोजन के पाचन में बहुत सहायता देता है और शरीर से मूत्र, स्वेद इत्यादि द्वारा निकले हुए जल की कमी को पूर्ण करता है। इसलिए जल भोजन का प्रधान सहायक है। भोजन के साथ हम जो मसालों का प्रयोग करते है उनको भी ऐसा ही समझना चाहिए। उनसे भी भोजन के पाचन में सहायता मिलती है।

भोजन के लिए जितने भी पदार्थों का प्रयोग किया जाता है वह कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन, फ़ास्फ़ोरस, गन्धक, लोह इत्यादि के संयोग से बने हुए हैं। कुछ पदार्थों में नाइट्रोजन की प्रधानता होती है, और कुछ पदार्थ नाइट्रोजन से रहित होते हैं। इस प्रकार भोज्य पदार्थ, नाइट्रोजनयुक्त और नाइट्रोजनरहित दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते है। नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ प्रोटीन कहलाते हैं। नाइट्रोजनरहित पदार्थ—जो मुख्यतया कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन के संयोग से बने हैं—

फिर दो श्रेणियों में विभक्त किये गये है जिनको कारबोहाइड्रेट और बसा कहा जाता है। इनके अतिरिक्त भोजन में जो लवण इत्यादि सम्मिलित होते हैं उनकी अनैन्द्रिक पदार्थों में गणना है। इस प्रकार यह भोजन के विशिष्ट अवयव—क्योंकि प्रत्येक भोजन की वस्तु इन्हीं पदार्थों की बनी होती है—निम्न लिखित प्रकार सामूहित किये जा सकते हैः—

ऐन्द्रिक
- नाइट्रोजनयुक्त—प्रोटीन
- नाइट्रोजनरहित—
  1. कारबोहाइड्रेट—शकर, मैदा इत्यादि।
  2. बसा या चर्बी–घृत, तैल, मक्खन इत्यादि।
  3. वानस्पतिक अम्ल।

अनैन्द्रिक
1. जल।
2. लवण।

यह अवयव भोजन के सब पदार्थों में पाये जाते हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न पदार्थ में भिन्न-भिन्न अवयवों की प्रधानता होती है। मांस, अण्डा, दूध इत्यादि मे प्रोटीन का भाग विशेषकर अधिक होता है; चावल, जौ, गेहूँ, इत्यादि में कारबोहाइड्रेट का अधिक भाग पाया जाता है। और घी या तेल में बसा प्रधान होती है।

यद्यपि प्रोटीन, कारबोहाइड्रेट और बसा भोजन के तीन प्रधान अङ्ग माने जाते है किन्तु लवण और जल की भी शरीर को कुछ कम आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक भोज्य पदार्थ में लवण और जल दोनों पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसी वस्तुएँ होती हैं जो शरीर की वृद्धि के लिए आवश्यक हैं। प्रयोगों द्वारा यह पाया गया है कि यदि किसी जन्तु को शुद्ध प्रोटीन, बसा और कारबोहाइड्रेट भोजन को दिये जावें तो कुछ समय के पश्चात् उसके शरीर की वृद्धि बन्द हो जावेगी। किन्तु यदि किसी ताज़ा वस्तु, जैसे ताज़ा दूध या फलों का रस उनमे मिला दिया जावे तो जन्तु की वृद्धि फिर पूर्ववत् होने लगेगी। ताज़ा पदार्थों मे कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जो वृद्धि के लिए आवश्यक है। इनको जीवनीयगण या विटेमीन कहा जाता है।

प्रोटीन—यह कार्बन हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन, गन्धक, और फ़ास्फ़ोरस के संयोग से बनती है। फ़ास्फ़ोरस और गन्धक सब प्रोटीनों में उपस्थित नहीं होते। रासायनिक विश्लेषण से पाया गया है कि प्रोटीनों में कार्बन ५४ भाग, हाइड्रोजन ७ भाग, आक्सिजन २२ भाग, नाइट्रोजन १६ भाग और गन्धक १ भाग होती है।

हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों में प्रोटीनों का बहुत भाग रहता है। यह वस्तु शरीर से यूरिया, यूरिकाम्ल इत्यादि के रूप मे सदा निकलती रहती है। प्रोटीन हमारे शरीर मे मुख्यतया निम्न-लिखित कर्म करती है—

(१) शरीर के अङ्गों की क्षति को पूर्ण करना और उनको बनाना।

(२) शरीर के पाचक रस या अन्य रस मुख्यतया प्रोटीनों की सहायता से बनते है।

(३) शरीर द्वारा आक्सिजन के प्रयोग किये जाने में प्रोटीन बहुत सहायता देती है।

(४) कभी-कभी वह कारबोहाइड्रेट या वसा का शक्तिउत्पादन का कर्म भी करती है।

(५) कुछ विद्वानों की सम्मति है कि अवसर पड़ने पर वह कारबोहाइड्रेट और बसा के रूप में परिणत हो जाती हैं।

प्रोटीनों को, उनकी पोषक शक्ति के अनुसार, दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है। एक को **वास्तविक प्रोटीन** और दूसरे को, जिसमें पोषक शक्ति कम होती है, **एल्ब्यूमिनाइड** कहा जाता है।

वास्तविक प्रोटीनों में एल्ब्यूमिन (जैसे अण्डे की सफ़ेदी), मायोसीन (पेशी से), ल्यूटीन, फ़ाइब्रिन, लेग्यूमिन (दालों, मटर और सेम से), केसीन इत्यादि वस्तुओं की गणना की जाती है।

जिलैटिन (पेशियों की कण्डरा से), कौंड्रिन (कार्टिलेज से), ओस्सीन (अस्थि से) और किरेटीन (सींगों से) दूसरे समूह में सम्मिलित हैं।

कारबोहाइड्रेट—यह कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन के संयोग से बनते हैं। हाइड्रोजन और आक्सिजन कारबोहाइड्रेट में ऐसे अनुपात में

उपस्थित होती है कि उनके संयोग से जल बन जाता है। अर्थात् उनमें आक्सिजन एक भाग और हाइड्रोजन के दो भाग रहते हैं। स्टार्च, सब प्रकार की शर्कराएँ, गोंद इत्यादि की इसी श्रेणी में गणना है।

कारबोहाइड्रेट शरीर में शक्ति उत्पन्न करते हैं। इस कारण जिनको शारीरिक परिश्रम अधिक करना पड़ता है उनके लिए वह बहुत आवश्यक हैं। यही कारण है कि मज़दूर लोग इतना अधिक कारबोहाइड्रेटयुक्त भोजन करते हैं। इस वस्तु से शरीर मे स्थूलता भी आती है।

हमको कारबोहाइड्रेट मुख्यतया वनस्पति से मिलते हैं। जितने प्रकार के अन्नों के आटे हैं उनमें कारबोहाइड्रेट का भाग अधिक रहता है। इसको स्टार्च या निशास्ता कहते है।

स्टार्च या निशास्ता—भिन्न-भिन्न भाँति के अन्नों में स्टार्च छोटे-छोटे कणों के रूप में उपस्थित रहता है। प्रत्येक अन्न के स्टार्च के दाने दूसरे अन्न के दानों से आकार मे भिन्न होते हैं। इन दानों के ऊपर एक आवरण चढ़ा रहता है। जब इन दानों को जल के साथ उबाला जाता है तो वह कण फूलकर फट जाते हैं और भीतर का स्टार्च बाहर निकल आता है। ताप और अम्ल की क्रिया से स्टार्च डेक्सट्रिन के रूप मे परिणत होता है, जो गोंद के समान एक गाढ़ी और चिकनी वस्तु होती है। ताप और अम्ल की क्रिया अधिक होने से यह डेक्सट्रिन भी द्राक्ष शर्करा के रूप में परिणत हो जाती है जिसका शरीर उपयोग करता है। जब हम स्टार्च को भोजन द्वारा ग्रहण करते हैं तो थूक (लाला) और अग्न्याशयरस की भी यही क्रिया होती है। इससे जो द्राक्ष शर्करा उत्पन्न होती है उसको रक्त यकृत में ले जाकर ग्लाइकोजिन के रूप में संग्रह कर देता है। इसका बहुत कुछ भाग तुरन्त ही पेशियों में व्यय हो जाता है।

शर्करा—यह प्रायः इक्षु शर्करा (गन्ने की शकर) या द्राक्षशर्करा (अंगूर की शकर) के रूप मे मिलती है। साधारणतया बाज़ार में जो शकर बिकती है वह गन्ने के रस से बनी हुई शर्करा होती है। इसका रासायनिक संकेत $C_6H_{12}O_{22}$ है जो इसके प्रत्येक अणु की रचना को बताता है।

माल्ट और दुग्धशर्करा भी इसी समूह में गिनी जाती है। माल्ट शर्करा स्टार्च से बनती है और दुग्ध शर्करा केवल स्तनधारी जन्तुओं के दूध में पाई जाती है, जिससे कुछ विशेष दशाओं में लेक्टिक अम्ल बन जाता है। इक्षु शर्करा से अम्ल और पाचक रसों की क्रिया द्वारा द्राक्ष शर्करा बनती है।

द्राक्ष शर्करा अंगूरों और बहुत से अन्य फलों में उपस्थित रहती है। इसका संकेत $C_6H_{12}O_6$ है। इक्षु शर्करा को जब अम्लों के साथ मिलाकर गरम किया जाता है तो उससे दो प्रकार की द्राक्ष शर्करा बन जाती है जिनको डेक्सट्रोज़ और लैव्यूलोज़ कहते हैं:—

$$C_6H_{22}O_{11} + H_2O = C_6H_{12}O_6 + C_6H_{12}O_6$$
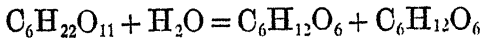
इन शर्कराओं में इस कारण भेद किया जाता है कि यदि ध्रुवित प्रकाश की किरण के मार्ग में इन शर्कराओं के घोल को रखा जाय तो एक शर्करा किरण को दाहिनी ओर और दूसरी बाईं ओर को घुमावेंगी। लैव्यूलोज़ में डेक्सट्रोज की अपेक्षा किरण को घुमाने की बहुत अधिक शक्ति होती है। इस कारण द्राक्ष शर्करा भी, जो इन दोनों प्रकार की शर्कराओं के योग से बनती है, किरण को बाईं ओर ही को घुमाती है।

कारबोहाइड्रेट शक्ति उत्पन्न करनेवाली विशेष वस्तु है। इससे ताप और बल दोनों की उत्पत्ति होती है। इनका अंत्रियों द्वारा शोषण भी पूर्ण होता है। इनका पाचन मुख ही में आरम्भ होता है और आमाशयरस की क्रियाओं से पूर्ण हो जाता है। जब भोजन में बसा की कमी होती है तो कारबोहाइड्रेट बसा के रूप में परिणत हो सकते हैं। इसी प्रकार कारबो-हाइड्रेट की कमी होने पर बसा कारबोहाइड्रेट मे परिणत हो जाती है। अधिकतर विद्वानों की सम्मति यह है कि यह क्रिया परिमित होती है।

बसा—कारबोहाइड्रेट की भांति यह पदार्थ भी कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन के संयोग से बनते हैं, किन्तु इनमें हाइड्रोजन और आक्सिजन का अनुपात भिन्न होता है। उनके योग से जल के अणु नहीं बन सकते। बसा के पदार्थ ग्लिसरिन और बसाम्ल, जैसे पामटिक, स्टीयरिक, ओलिक अम्ल

इत्यादि के संयोग से बनते हैं। साधारण तेल, चर्बी, घी, मक्खन, इत्यादि शुद्ध बसा के उदाहरण हैं।

हमारे शरीर में बसा पाई जाती है। किसी-किसी अङ्ग में उसकी मात्रा अधिक है। प्रायः प्रत्येक भोज्य पदार्थ में उसका कुछ न कुछ भाग रहता है। कारबोहाइड्रेट की भाँति बसा भी शक्तिवर्द्धक और तापोत्पादक है। किन्तु बसा में कारबोहाइड्रेट की अपेक्षा यह शक्ति कई गुना अधिक है। इसके अतिरिक्त बसा में अङ्गों की धातुओं को बनाने की भी शक्ति है। इसकी सहायता से शरीर को इतने अधिक प्रोटीन की आवश्यकता नहीं होती जितनी बसा के प्रयोग न करने पर होती है।

कारबोहाइड्रेट और बसा दोनों शरीर में प्रयोग किये जाने पर अन्त में कार्बन-डाई-आक्साइड और जल के रूप में परिणत हो जाते हैं। बसा को शरीर की रक्षितशक्ति माना जाता है जिसका प्रयोग कारबोहाइड्रेट की कमी के समय पर होता है। इसका कुछ भाग भोजन में अवश्य रहना चाहिए। विचार-सम्बन्धी कार्य करनेवालों के लिए बसा का अधिक उपयोग करना उचित नहीं है, यद्यपि थोड़ा बहुत अवश्य करना चाहिए।

वानस्पतिक अम्ल—यद्यपि यह भोजन नहीं है, किन्तु भोजन को पचाने और स्वास्थ्य को ठीक रखने में इनका बहुत बड़ा भाग रहता है। इनमें सायट्रिक, टारटरिक, मैलिक, आक्जेलिक और ऐसटिक अम्ल मुख्य हैं। सायट्रिक अम्ल विशेषतया नारङ्गी, नीबू इत्यादि में मिलता है। इसका संकेत $C_6H_8O_7$ है। टारटरिक अम्ल विशेषकर अंगूरो में पोटाशियम के साथ संयुक्त एसिड-पोटाशियम-टारटरेट के रूप में रहता है। मैलिक अम्ल नाशपाती और सेवों में पाया जाता है। ऐसटिक अम्ल सिरके का विशेष भाग है। यह अम्ल शरीर में अन्य वस्तुओं के साथ मिलकर कार्बोनेट बनाते हैं जिससे रक्त की क्षारीयता ठीक रहती है। यह कुछ शक्ति और ताप भी उत्पन्न करते हैं।

इन अम्लों को कुछ समय तक प्रयोग न करने से रक्त की शक्ति का क्षय होने लगता है जिससे स्कर्वी आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

लवण—न केवल भोजन के प्रत्येक पदार्थ में लवण रहते हैं किन्तु वह हमारे शरीर के प्रत्येक भाग में भी पाये जाते हैं। यह प्रायः सोडियम क्लोराइड (साधारण नमक), सोडा फ़ास्फ़ेट, मेगनेशियम, पुटाशियम, और लोह इत्यादि के लवण होते है जो सल्फ़ेट या फ़ास्फ़ेट के रूप मे उपस्थित रहते है। सोडियम क्लोराइड शरीर की एक विशेष वस्तु है। इसके द्वारा रक्त मे ग्लौब्युलिन (एक प्रकार के प्रोटीन) घुले रहते हैं। इस वस्तु को भोजन से निकाल देने से शरीर को बहुत हानि हो सकती है। आमाशय रस में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और पित्त के लवणो को उत्पन्न करने में यह लवण विशेष भाग लेता है। केलशियम, पोटाशियम और मेगनिशियम के फ़ास्फ़ेट अस्थि के लिए विशेष महत्त्व की वस्तुएँ हैं। उनके कम होने से बच्चों के शरीर की अस्थियाँ विकृत हो जाती हैं; उनकी वृद्धि नहीं होती। लोह के लवण रक्त के लिए आवश्यक हैं। सोडियम कार्बोनेट प्लाज़मा में पाया जाता ह। रक्त की क्षारीयता को बनाये रखने के लिए सोडियम या पोटाशियम के लवणों की आवश्यकता होती है।

यह लवण हमको भोज्य पदार्थों से मिलते है। सोडियम क्लोराइड प्रायः प्रत्येक शाक, मांस इत्यादि में रहता है। केलशियम फ़ास्फ़ेट विशेष-कर दूध से मिलता है। अण्डे में भी इसका कुछ भाग पाया जाता है। लोह शाकों में अधिक होता है।

जल—हमारे शरीर में ६४ प्रतिशत भाग जल है। प्रत्येक दिवस हमारे शरीर से ५० छटाँक के लगभग जल बाहर निकलता है, जिससे शरीर के द्रव्यों में जल की कमी हो जाती है। उस कमी को पूरा करने के लिए हमको जल पीना आवश्यक होता है। जो भोजन हम खाते हैं उसको गलाने, और पाचन तथा शोषण के योग्य बनाने के लिए भी जल आवश्यक है। किसी-किसी भोज्य पदार्थ के खाने के पश्चात् अधिक जल की आवश्यकता होती है जिसको हम प्यास के रूप में अनुभव करते हैं। जल के द्वारा भोज्य पदार्थों के पोषक अवयव रक्त में मिलकर शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में पहुँचते हैं। और इसी के द्वारा शरीर के बहुत से निकृष्ट और हानिकारक पदार्थों का शरीर से त्याग होता है।

विटेमीन या जीवनीयगण—यह भी हमारे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं। यह एक विशेष रासायनिक सङ्गठन की वस्तुएँ होती है जो ताज़ा फलों या दूध में पाई जाती है। इन पदार्थों को गरम करने से विटेमीन नष्ट हो जाती है जिससे स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए भोजन में कुछ ताज़ा फल अवश्य रहने चाहिएँ। इसमें यह एक विशेषता है कि थोड़ी या अधिक मात्रा से कुछ भेद नहीं उत्पन्न होता। तनिक से ताज़ा भोजन से, जैसे एक चम्मच ताज़ा दूध से, विटेमीनों की सारी कमी पूरी हो सकती है।

प्रयोगो द्वारा यह पाया गया है कि यदि किसी जन्तु को रासायनिक विशुद्ध भोजन खाने को दिया जावे तो उसके शरीर की वृद्धि नहीं होगी। कुछ चूहों को कृत्रिम दूध दिया गया। यह दूध प्रोटीन, वसा, शर्करा इत्यादि अवयवों को उचित परिमाण में मिलाकर बनाया गया था। इस प्रकार इस कृत्रिम दूध में भी विशिष्ट अवयवों की उतनी ही मात्रा उपस्थित थी जितनी साधारण दूध में होती है। कुछ समय तक चूहों को इस दूध के अतिरिक्त अन्य कोई भी भोज्य पदार्थ नहीं दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि चूहों के बाल गिरने लगे, उनके चर्म का चमकीलापन जाता रहा, शक्ति क्षीण हो गई, वृद्ध से दीखने लगे और उनकी वृद्धि बन्द हो गई। तत्पश्चात् इसी दूध मे थोड़ा सा ताज़ा, बिना उबाला हुआ, दूध मिलाकर चूहों को खाने के लिए दिया गया। कुछ समय के प्रयोग के पश्चात् उनकी दशा सुधरने लगी और अन्त को वह पहिले के समान हृष्ट-पुष्ट हो गये। इन प्रयोगों से यह परिणाम निकलता है कि यह विटेमीन या जीवनीयगण भोज्य पदार्थों में केवल प्राकृतिक अवस्था मे रहते है। भोजन के पदार्थों को उबालने या गरम करने से वह नष्ट हो जाते हैं। रासायनिक विशुद्ध अवस्था में वह नहीं पाये जाते। इन जीवनीयगणों से रहित भोजन स्वास्थ्य के लिए बहुत अहितकर है।

शरीर पर इन द्रव्यों की किस प्रकार क्रिया होती है इसका अभी तक पूरा पता नहीं लगा है। सम्भव है कि उनकी क्रिया ह[illegible]ोन की भाँति होती हो। कुछ द्रव्य अन्य द्रव्यों की अपेक्षा अधिक ताप-क्रम को सहन कर सकते हैं।

अन्वेषण द्वारा अभी तक पांच प्रकार के जीवनीयगण पाये गये हैं। सम्भव है कि धीरे-धीरे अन्य प्रकार के गणों का भी पता लगे। वह निम्नलिखित है—

(१) जीवनीयगण—'ए' अथवा बसा विद्रवनीय 'ए'।

(२) जीवनीयगण—'बी' अथवा जल विद्रवनीय 'बी'।

(३) जीवनीयगण—'सी' अथवा जल विद्रवनीय 'सी'।

(४) जीवनीयगण—'डी' अथवा बसा विद्रवनीय 'डी'।

(५) जीवनीयगण—'ई' अथवा बसा विद्रवनीय 'ई'।

(१) **जीवनीयगण 'ए' अथवा** विटेमीन 'ए'—शरीर की वृद्धि के लिए बहुत आवश्यक है। इस कारण बच्चों के भोजन में यह वस्तु अवश्य रहनी चाहिए। इसकी कमी से बच्चों की वृद्धि रुक जाती है। न केवल यही किन्तु उनमें शरीर की रोगचमता शक्ति के ह्रास के कारण रोगों, विशेषकर नेत्रों के रोगों, से ग्रस्त होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। बाल्यावस्था के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में भी इस विटेमीन की कमी से शरीर की धातुओं में दुर्बलता आ जाती है। यह माना जाता है कि राजयक्ष्मा, वृक्क की अश्मरी, रिकेटस इत्यादि रोगों की उत्पत्ति में इस विटेमीन की कमी से बहुत सहायता मिलती है। इसका सन्तानोत्पत्ति शक्ति पर भी बहुत प्रभाव पड़ता है। इसकी न्यूनता से यह शक्ति घट जाती है और स्तनों में दूध की उत्पत्ति भी कम हो जाती है।

यह विटेमीन ताज़ा दूध से निकाले हुए मक्खन, अण्डे के पीले भाग, ताज़ा दूध, मछली के तेल और कुछ ताज़ा फलों में पाई जाती है। जितनी भी पाशविक बसा हैं उन सबों में इस विटेमीन का कुछ न कुछ भाग पाया जाता है। किन्तु वानस्पतिक बसा में यह विटेमीन नहीं मिलती।

यह विटेमीन बसा में घुलनशील है। पशुओं के शरीरों में यह सदा बसा में घुली हुई मिलती है। अलकोहल में यह घुल जाती है। ईथर के सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय नहीं है। कुछ विद्वानों की सम्मति के अनुसार वह ईथर में घुलती है। किन्तु अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। वह जल में भी कुछ घुल जाती है।

यह विटेमीन 'बी' और 'सी' से बिलकुल भिन्न है; क्योंकि वह बेरीबेरी को रोकने में 'बी' और स्कर्वी को रोकने में 'सी' विटेमीन का स्थान नहीं ले सकती।

यद्यपि शरीर इस विटेमीन का संश्लेषण नहीं कर सकता, किन्तु उसकी बहुत अधिक मात्रा को संग्रह कर सकता है।

शरीर पर इस विटेमीन का विशेष प्रभाव देखते हुए यह आवश्यक है कि भोजन में दूध, हरे शाक या फल अथवा अण्डा, ताज़ा मक्खन इत्यादि पदार्थों का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया जावे। इस वस्तु से शरीर में रोग-क्षमता और सहनशक्ति का पूर्ण विकास होता है। किन्तु इसकी कमी से इन शक्तियों का ह्रास होकर शरीर रोगग्रस्त हो जाता है।

जीवनीयगण 'बी' अथवा विटेमीन 'बी'—इसमें दो प्रकार के पदार्थ सम्मिलित माने जाते हैं—(१) प्रान्तिक नाड़ीशोथ[१] को रोकनेवाले पदार्थ—जिनकी खोज ऐकमान[२] ने चावल में, ग्रिजिन्स[३] ने सेम में, फ़ंक[४] और अन्य अन्वेषणकर्त्ताओं ने पीस्ट या ख़मीर में की थी। इनके पश्चात् दूसरे विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में अनेकों प्रयोग किये। इन प्रयोगों के द्वारा यह मालूम हुआ है कि यह वस्तु अनेक फलों और हरे शाकों में मिलती है। भोजन में इस विटेमीन की कमी से बेरीबेरी, नाड़ीशोथ इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। (२) शरीर की वृद्धि करनेवाले पदार्थ—जिनका पता मैकेलम,[५] आस्बोर्न[६] और मैडल[७] इत्यादि विद्वानों ने दूध, गेहूँ के दाने के भीतरी भाग, जिसको भ्रूण[८] कहते हैं, और यीस्ट या ख़मीर मे लगाया था। यह विटेमीन चावल के बाहरी भाग में, जिसको चावलों को पालिश करते समय निकाल दिया जाता है, पाई जाती है।

इस प्रकार के चावल बेरीबेरी के रोग का बहुत बड़ा कारण माने जाते हैं। कबूतरो पर प्रयोग करते समय उनको कुछ समय तक इन चावलों को खिलाने से नाड़ीशोथ के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। उनके शरीर का

---

१. Neuritis. २. Ejkmann. ३. Grijins. ४. Funk. ५. MCcallum. ६. Osborne. ७. Mendel. ८. embryo.

भार भी घट जाता है। स्तनधारी जन्तुओं में भी इस विटेमीन की अनुपस्थिति से क्षुधा न लगना, शरीरभार का कम हो जाना, पेशियों का क्षय, हृदय का दुर्बल होना, अथवा बेरीबेरी के समान अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। भोजन में इस वस्तु की न्यूनता से शरीर की वृद्धि रुक जाती है और शरीर के बल और शक्ति का ह्रास होने लगता है, किन्तु विटेमीन की पूर्ण अनुपस्थिति के समान लक्षण नहीं उत्पन्न होते। इस कारण स्वास्थ्य को उत्तम दशा में रखने के लिए यह वस्तु वृद्ध, बालक, युवा सबों के लिए आवश्यक है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि शरीर की वृद्धि को बढ़ानेवाले पदार्थ नाड़ीशोथ को रोकनेवाले पदार्थों ही में सम्मिलित होते हैं, उनसे भिन्न नहीं होते। यह विटेमीन हरे शाक, फलों या वृक्ष के भिन्न-भिन्न भागों—जैसे, जड़, पत्ती, तना इत्यादि—में पाई जाती है।

यह जल में घुलनशील होती है। वह जलयुक्त अलकोहल में भी घुल जाती है; किन्तु शुद्ध अलकोहल में नहीं घुलती। यह १०० डिगरी शतांश के तापक्रम से भी नष्ट नहीं होती। इस कारण साधारणतया शाक या तरकारी को पकाने से जो विटेमीन की हानि होती है उसका कारण ताप नहीं है, किन्तु उसका जल में घुलनशील होने का गुण है। जिस जल में शाकों को उबाला जाता है उसको यदि न फेंका जावे तो इस विटेमीन की हानि न होगी। इस पर क्षार का प्रभाव होता है किन्तु अम्ल का नहीं होता।

जीवनीयगण 'सी'—यह विटेमीन स्कर्वी रोग की प्रतिषेधक है। नीबू, नारङ्गी, टमाटर और हरे शाक जैसे गोभी इत्यादि में यह बहुतायत से पाई जाती है। यह विटेमीन प्रायः सब अन्नों के दानों में भी, जिस समय उनसे अंकुर निकलने लगते हैं, उत्पन्न हो जाती है। बहुत से कन्दों में भी—जैसे आलू, गाजर, चुकन्दर, प्याज़ इत्यादि में—यह उपस्थित रहती है।

यह 'ए' और 'बी' विटेमीन की अपेक्षा ताप को कम सहन कर सकती है। टमाटर के रस को आधे घण्टे तक ८० डिगरी पर गरम करने से २७ प्रतिशत और १०० डिगरी पर गरम करने से ३० प्रतिशत विटेमीन नष्ट हो

जाती है। किन्तु यदि इन्हीं तापक्रमों पर रस को चार घण्टे तक गरम किया जावे तो ८० डिगरी के तापक्रम से ५३ प्रतिशत और १०० डिगरी तापक्रम से ६८ प्रतिशत विटेमीन का नाश होता है। इस कारण भोज्य पदार्थों को अधिक तापक्रम पर थोड़े समय तक गरम करने की अपेक्षा थोड़े तापक्रम पर अधिक समय तक गरम करना उत्तम है। इसी कारण जो फल बरफ़ के द्वारा बहुत समय तक रक्षित किये जाते है उनमें विटेमीन का उतना नाश नहीं होता जितना कि अन्य रासायनिक वस्तुओं द्वारा साधारण तापक्रम पर रक्षित किये जाने से होता है।

यह विटेमीन जल में पूर्णतया घुलनशील है; अलकोहल में भी घुलती है। क्षार से इसका नाश होता है। अम्ल में यह विटेमीन अधिक समय तक रह सकती है। कुछ विद्वानों का कथन है कि यदि वस्तु को वायु की अनुपस्थिति में गरम किया जावे तो १०० डिगरी सेंटीग्रेड से अधिक ताप से भी इस विटेमीन का नाश नहीं होता।

जीवनीयगण 'डी'—इस विटेमीन को रिकेट्स या अस्थिवक्रता रोग को रोकनेवाला माना जाता है। यह उन सब वस्तुओं में उपस्थित रहती है जिसमें 'ए' विटेमीन पाई जाती है। अतएव दूध, मक्खन, अण्डे और मछली के तेल में यह उपस्थित रहती है। किन्तु यह विटेमीन 'ए' से अधिक स्थायी होती है। यह ताप को अधिक सहन कर सकती है। जिन रासायनिक क्रियाओं से जिस सीमा पर विटेमीन 'ए' का नाश हो जाता है उस पर यह विटेमीन सुरक्षित रहती है। इस कारण विटेमीन 'डी' को "ए" से पृथक् निकाल लेना सम्भव है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि यदि उन वानस्पतिक तैलों पर, जिनमें विटेमीन 'डी' नहीं होती, अल्ट्रा-वायलेट किरणों को पर्याप्त समय तक डाला जावे तो उनमें विटेमीन 'डी' उत्पन्न हो जावेगी।

जीवनीयगण 'ई'—यह विटेमीन सन्तानोत्पत्ति की शक्ति बढ़ाती है। यह बहुतसे अन्नों के दानों के भीतर भ्रूण में रहती है। गेहूँ के दानों के

तेल में यह बहुतायत से होती है। मटर, पातगोभी और इसी प्रकार अन्य हरे शाकों या वृक्षों की पत्तिओं में यह वस्तु पाई जाती है। वानस्पतिक तैलों मे इसकी मात्रा कम होती है। दूध, मक्खन या अन्य पाशविक बसा में इसकी अधिकता पाई जाती है।

यह विटेमीन 'डी' की भाँति बसा में घुलनशील है। किन्तु वह बसा मे घुलनेवाली विटेमीनों—'ए' और 'डी' दोनों—की अपेक्षा अधिक स्थायी है। यह २०० डिगरी सेंटीग्रेड के ताप को भी सहन कर सकती है।

निम्नलिखित तालिका से विदित होगा कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं में कौन सी विटेमीन कितनी मात्रा में उपस्थित है। जिन वस्तुओं में विटेमीन 'ए' है उन सबों में विटेमीन डी को भी उपस्थित समझना चाहिए।

भोज्य पदार्थ.	विटेमीन 'ए',	विटेमीन 'बी',	विटेमीन 'सी'
सेव	+	+	+
केला	?.	?.	+
अंगूर का रस	?.	+	+
नीबू	?.	+ +	+ + +
आम	?.	?.	+
नारङ्गी	+	+ +	+ + +
टमाटर ताजा	+ ×	+ + +	+ + +
,, शुष्क	+ +	+ + +	+ +
गोभी बन्द	+	+ + +	+ + +
,, (पकी हुई तरकारी)	+	+ +	+ +
,, (पात)	+	+ +	+
गाजर	+ +	+ +	+ +
प्याज	?.	+ +	+ +
मटर	+ +	+ +	+ ?.
आलू	+	+ +	+ +
,, १५मिनट उबला हुआ—		+ +	+ +

भोज्य पदार्थ.	विटेमीन 'ए',	विटेमीन 'बी',	विटेमीन 'सी'
पालक	+ + +	+ + +	?.
दूध	+ + +	+ +	+
मक्खन	+ + +	—	—
मठा	+	+ +	+
मलाई (क्रीम)	+ + +	+ +	+
अण्डा	+ +	+	?.
अण्डे की सफ़ेदी	?.	?	?.
,, ,, ज़र्दी	+ + +	+	?.
मधु	—	+	—
मछली का तेल	+ + +	—	—
चावल (पालिश किया हुआ)	—	—	—
,, (बिना ,, ,, ,,)	+	+ +	—
मांस	—	+	+
यकृत	+ +	+ +	
वृक्क	+ +	+ +	

के रूप में प्रकट होती है। ताप की गणना केलोरियों के रूप में की जाती है[1]। केलोरी को ताप की एकाई माना गया है। एक केलोरी ताप वह शक्ति है जो एक पौंड (आध सेर) जल के ताप को ४ डिगरी फ़ारेनहीट या एक लिटर जल के ताप को एक डिगरी शतांश बढा दे। प्रयोगों से पाया जाता है कि एक केलोरी ताप काम करने की शक्ति की ४२५५०० एकाइयों के बराबर है जिनको ग्राममीटर कहा जाता है। अर्थात् यदि ४२५५०० ग्राम या ४२५'५ किलोग्राम भार को एक मीटर की ऊँचाई से पृथ्वी पर पटक दिया जावे तो उसके सङ्घर्षण से एक डिगरी शतांश ताप उत्पन्न होगा। इँलैंगड में इनकी गणना फुट-पौंड के रूप मे की जाती है और वहा पर एक केलोरी ताप वह शक्ति मानी जाती है जो एक पौंड जल के ताप को एक डिगरी फ़ारेनहीट बढ़ा दे[2]। इसके अनुसार एक केलोरी ताप ७७२ फुट-पौंड के बराबर है; अर्थात् एक केलोरी ताप के समान शक्ति ७७२ पौंड बोझ को पृथ्वी से एक फुट ऊपर उठा सकती है—अथवा एक पौड भार को ७७२ फुट ऊँचा उठा सकती है।

इस प्रकार शक्ति को ताप के रूप में नापा जाता है; क्योंकि दोनों एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। अतएव जिस वस्तु के जलने से अधिक

---

१ साधारणतया वैज्ञानिक पुस्तकों में दो प्रकार की केलोरी व्यवहृत होती हैं। एक छोटी और दूसरी बड़ी। छोटी केलोरी उस ताप के परिमाण को कहा जाता है जो १ सी. सी. (१५ बूँद) जल के ताप को १° शतांश बढ़ा दे। जो १००० सी. सी. या १ लिटर जल का ताप १ शतांश बढ़ावे उसको बड़ी केलोरी कहा जाता है। यहाँ पर केलोरी शब्द का प्रयोग बड़ी केलोरी के अर्थ में किया गया है।

२ वैज्ञानिक पुस्तकों में केलोरी का यह अर्थ नहीं लिया जाता है। विज्ञानवेत्ता ऊपर कहे हुए अर्थ ही में केलोरी शब्द का प्रयोग करते हैं अर्थात् जो शक्ति १ लिटर जल के ताप को १°शतांश बढ़ावे। इंगलैंड में भी केवल व्यावहारिक विज्ञानों में, जैसे इंजीनियरिंग इत्यादि में, केलोरी शब्द का इस अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

ताप उत्पन्न होगा वह शक्ति भी अधिक उत्पन्न करेगी; अर्थात् उस वस्तु में उपपन्न शक्ति अधिक होगी। यह शक्ति भोजन के भिन्न-भिन्न विशिष्ट अवयवों में भिन्न-भिन्न मात्रा में उपस्थित रहती है। न केवल यही, किन्तु भिन्न पदार्थों में उपस्थित अवयवों की शक्ति में भी भिन्नता होती है।

निम्नलिखित वस्तुओं के एक ग्राम को पूरा जलाने से जितनी शक्ति उत्पन्न होती है वह उनके सामने लिखी हुई है:—

अरारोट	३.९० केलोरी
अण्डे	१.६० ,,
आलू	०.९८ ,,
गोभी	०.३४ ,,
गाजर	०.५७ ,,
चावल	३.५ ,,
मकई का आटा	३.६० ,,
बिस्कुट	३.१० ,,
मटर	३.३१ ,,
मांस	८.८६ ,,
मक्खन	८.६० ,,
रोटी (डबल)	३.१० ,,
दूध	०.७५ ,,
शर्करा	३.३४ ,,

प्रयोगशालाओं में किये हुए प्रयोगों द्वारा यह परिणाम निकले हैं। सम्भव है कि शरीर में इन पदार्थों से इतनी शक्ति न उत्पन्न होती हो; क्योंकि यह पदार्थ रासायनिक प्रयोगों मे जितने पूर्ण रूप से जलते हैं उतने शरीर में काम में नहीं आते। प्रोटीनों का कुछ भाग अवश्य नष्ट होता है। रयूबनर महाशय ने यह अनुमान किया है कि प्रोटीन, बसा और कारबोहाइड्रेट के एक ग्राम (१५$\frac{1}{2}$ ग्रेन या ७$\frac{3}{4}$ रत्ती) के जलने से निम्नलिखित शक्ति की मात्रा उत्पन्न होती है:—

प्रोटीन — ४.१ केलोरी ।
बसा — ९.३ ,,
कारबोहाइड्रेट — ४.१ ,, अथवा एक औंस या आधे छटाँक प्रोटीन या कारबोहाइड्रेट के जलने से ११६ केलोरी और बसा के एक औंस से २६३.४ केलोरी के समान शक्ति उत्पन्न होती है ।

अब यदि हमको यह मालूम हो कि किस मनुष्य के लिए कितनी शक्ति की आवश्यकता है और किस भोज्य पदार्थ में यह विशिष्ट अवयव कितनी मात्रा में उपस्थित है तो हम सहज में प्रत्येक व्यक्ति को उसके आवश्यकतानुसार शक्ति के देनेवाले भोजन का पता लगा सकते है । यह अनुमान किया गया है कि मनुष्य काम करने में शरीर की पूर्ण शक्ति के केवल $\frac{१}{६}$ भाग का प्रयोग करता है । शेष शक्ति का शरीर से ताप इत्यादि के रूप में नाश हो जाता है । साधारण अवस्था में मनुष्य जो काम करता है वह ४१० केलोरी के बराबर माना जाता है । अतएव उसके लिए लगभग २५०० केलोरी ताप उत्पन्न करनेवाले भोजन की आवश्यकता है । जैसा पूर्व मे कहा जा चुका है परिश्रम, आयु, देश, काल के अनुसार इस मात्रा मे भिन्नता करनी पड़ती है । किन्तु सामान्यतया नौटर और फूर्थ ने निम्नलिखित केलोरी के मूल्य के भोजन को भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करनेवालों के लिए आवश्यक माना है,—

विश्राम—(दफ़्तरों में काम करनेवाले क्लर्कों के लिए) २५०० केलोरी ।
विचार-सम्बन्धी और शारीरिक दोनों प्रकार के सामान्य काम करनेवाले, जैसे—डाक्टर वकील इत्यादि के लिए २६५० केलोरी ।
सामान्य शारीरिक परिश्रम करनेवाले के लिए —३१०० केलोरी
कड़ा शारीरिक ,, ,, ,, ,, ,, ३६०० ,,
अत्यन्त कड़ा ,, ,, ,, ,, जैसे नौका विभाग के मल्लाह के लिए ५०००,,

भोजन में भिन्न भिन्न अवयवों की कितनी मात्रा होनी चाहिए ?

प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि मिश्रित भोजन सबसे उत्तम है । किसी एक अवयव का बहुत समय तक प्रयोग करने से स्वास्थ्य बिगड़ जाता

है। अतएव भोजन में ऐसे पदार्थ सम्मिलित होने चाहिएँ जिनसे हमको तीनों अवयव—प्रोटीन, बसा और कारबोहाइड्रेट—पर्याप्त मात्रा में मिल सकें। भोजन में प्रोटीनों का होना अत्यंतावश्यक है। हमारे शरीर के प्रोटोप्लाज़्म में प्रोटीनों का विशेष भाग रहता है। उनके बिना शरीर की मुख्य क्रियाओं के होने में भी बाधा पड़ती है। किन्तु जीवन के लिए बसा और कारबोहाइड्रेट की भी आवश्यकता है। यह तीनों अवयव भोजन में उचित मात्रा में उपस्थित होने चाहिएँ। यदि इनकी मात्रा आवश्यकता से अधिक हो जाती है तो उससे भी हानि होती है। प्रोटीन अधिक होने से शरीर की बसा का क्षय होने लगता है। बसा और कारबोहाइड्रेट के अधिक होने से शरीर की आक्सिजन को ग्रहण करने की शक्ति कम हो जाती है।

प्रयोगशालाओं में किये गये प्रयोगों से यह परिणाम निकला है कि १ मन ३५ सेर भारवाला मनुष्य चौबीस घण्टे मे अपने शरीर से २० ग्राम नाइट्रोजन और ३०० ग्राम कार्बन निकालता है। यदि यह मान लिया जाय कि प्रोटीनो में १६ % नाइट्रोजन होती है तो उसको १२५ ग्राम प्रोटीन प्रति दिन मिलना चाहिए जिससे वह प्रोटीन की क्षति को पूरा कर सके। विद्वानों की सम्मति में यह मात्रा अधिक है। उनके मतानुसार १०५ या १०० ग्राम प्रोटीन, जिससे लगभग १६ ग्राम नाइट्रोजन मिल सकता है, पर्याप्त है। कुछ विद्वान् तो इसको भी अधिक समझते हैं। हम प्रति दिन देखते भी हैं कि शाकाहारियों के भोजन मे प्रोटीन प्रायः इससे कहीं कम होती है। किन्तु उनके स्वास्थ्य पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता; यद्यपि उनके शरीर की वृद्धि आमिष-भोजियों के समान उत्तम नहीं होती, जिनके भोजन मे प्रोटीन की अधिक मात्रा सम्मिलित रहती है। अतएव १ मन ३५ सेर के भारवाले मनुष्य के लिए १०० ग्राम प्रोटीन आवश्यक समझी गई है।

काम करने की शक्ति विशेषकर कारबोहाइड्रेट और बसा से उत्पन्न होती है। प्रत्येक व्यक्ति प्रति दिन अपने शरीर से ३०० ग्राम कार्बन निकालता है। इस क्षति के लिए उसको भोजन के द्वारा ३०० ग्राम कार्बन मिलना आवश्यक है। यदि वह १०० ग्राम प्रोटीन खाता है तो उससे उसको

३६ ग्राम कार्बन मिलता है। शेष २६४ ग्राम कार्बन बसा और कारबोहाइड्रेट के रूप में पहुँचना चाहिए। बसा के एक भाग से कारबोहाइड्रेट के एक भाग की अपेक्षा २$\frac{1}{4}$ गुना अधिक शक्ति उत्पन्न होती है, अर्थात् जितनी शक्ति बसा के १ ग्राम से उत्पन्न होती है उतनी कारबोहाइड्रेट के २$\frac{1}{4}$ ग्राम से उत्पन्न होगी। किन्तु इससे यह अर्थ न लगाना चाहिए कि हम सारी शक्ति के लिए केवल बसा ही का उपयोग कर सकते हैं। बसा का पचना कारबोहाइड्रेट की अपेक्षा कठिन होता है और उसका मूल्य भी अधिक होता है। इस कारण, विद्वानों की सम्मति है कि २६४ ग्राम का केवल $\frac{1}{5}$ भाग बसा से और शेष $\frac{4}{5}$ भाग कारबोहाइड्रेट से ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् ४६ ग्राम कार्बन बसा और २१८ ग्राम कारबोहाइड्रेट से प्राप्त करना उचित है, जिसके लिए ६० ग्राम बसा और ५४० ग्राम कारबोहाइड्रेट की आवश्यकता है। कुछ लोगों के मतानुसार भोजन में कारबोहाइड्रेट की $\frac{1}{6}$ या $\frac{1}{8}$ भाग बसा होनी चाहिए।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति को उसके आवश्यकतानुसार इन विशिष्ट अवयवों की निम्न लिखित मात्राएँ मिलनी चाहिएँ,—

परिश्रम	प्रोटीन	बसा	कारबोहाइड्रेट	शक्ति
साधारण	१०० ग्राम	६० ग्रा.	५४० ग्रा.	३१८२
कठिन	१६१ ,,	६८ ,,	५२० ,,	३७०३

कठिन परिश्रम करते समय भोजन के अवयवों की मात्रा में इन अङ्कों के अनुसार परिवर्त्तन करना आवश्यक है; किन्तु उनको वैयक्तिक आवश्यकता और रुचि के अनुसार घटाना या बढ़ाना चाहिए। इनके अतिरिक्त जल भी आवश्यक है। यह अनुमान किया गया है कि मनुष्य जितना शुष्क भोजन करता है उससे तिगुने जल का प्रयोग करता है।

भोजन से पूर्ण शक्ति प्राप्त करने के लिए केवल आवश्यक कैलोरिक मूल्य के भोजन को ग्रहण करना पर्याप्त नहीं है। भोज्य पदार्थों से पूर्ण शक्ति तो तब प्राप्त हो सकती है जब वह इस दशा में हों कि उनका (१) पाचन और (२) अन्त्रियों द्वारा शोषण पूर्ण हो।

भोजन का पाचन दो बातों पर निर्भर करता है।

१. भोजन ऐसी दशा में हो कि उस पर पाचक रसों की क्रिया सहज और पूर्ण हो सके।

२. शरीर की भौतिक और रासायनिक क्रियाएँ उत्तम दशा में हों जिससे शरीर पोषण को उत्तम प्रकार से ग्रहण कर सके।

पाचन—बहुत से पदार्थ केवल पकाये जाने पर पचते है। मिश्रित भोजन सदा अधिक पच्य होता है। मसाले पाचन में सहायता देते हैं। पाचन के लिए भोजन का स्वादिष्ठ होना भी अत्यंतावश्यक है। उससे न केवल भोजन में रुचि ही उत्पन्न होती है किन्तु पाचक रस भी अधिक बनते हैं। स्वादिष्ठ भोजन का ध्यान करते ही मुँह में पानी आने लगता है। अर्थात् मौखिक रस या लाला अधिक बनता है, जिसके कारण आमाशय रस की उत्पत्ति भी अधिक होती है; और वह अग्न्याशयरस और आंत्ररस की उत्पत्ति में सहायता देता है। इन रसों की क्रिया से भोजन का पाचन उत्तम होता है।

महाशय दास ने कुछ साधारण भोज्य पदार्थों के पचने के समय का इस प्रकार उल्लेख किया है;—

१ से २ घण्टे में पाचन

३½ छटाँक या ७ औंस साधारण चाय, काफ़ी, या कोको।
३½ " " " गरम किया हुआ दूध।
३½ " " " मांस की चाय।

२ से ३ घण्टे में पाचन

८ छटाँक बीयर (शराब)।
२ बिना पकाये हुए अण्डे।
१ प्याला चाय दूध, मलाई या कोको के साथ।

२½ छटाँक उबली हुई मछली।
३½ " गोभी।
२½ " आलू।
२½ " डबल रोटी।
१ " बिस्कुट।

३ से ४ घण्टे में पाचन

४ छटाँक भूना हुआ मुर्ग़ का मांस । २$\frac{३}{४}$ छटाँक चावल, सेम या गाजर ।
२$\frac{३}{४}$ छटाँक बिस्कुट या रोटी । ४$\frac{१}{२}$ " उबला हुआ मांस ।

शोषण—भोजन का पाचन के पश्चात् शोषण होता है जो अन्त्रियों का कर्म है। प्रथम पाचक रसों द्वारा भोज्य पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म कणों में विभक्त हो जाते हैं। उसके पश्चात् अन्त्रियों के अंकुर उनका शोषण करते हैं, जहाँ से वह रक्त के द्वारा शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों में पहुँचते हैं। प्रोटीन की अपेक्षा कारबोहाइड्रेट और बसा का, और वनस्पति प्रोटीनों की अपेक्षा मांस या अण्डे की प्रोटीनों का शोषण शीघ्र और सहज होता है।

अतएव उत्तम भोजन वह है जिसमें विशिष्ट अवयवों की आवश्यक मात्रा उपस्थित हो और जिसका पाचन और शोषण सहज में हो सके।

निम्नलिखित तालिका में भिन्न-भिन्न वस्तुओं में उपस्थित विशिष्ट अवयवों, जल और लवण की मात्रा दिखाई गई है। इनसे प्रत्येक व्यक्ति अपने आवश्यकतानुसार पोषक मूल्य का भोजन चुन सकता है।

		प्रोटीन	बसा	कारबोहाइड्रेट.	जल.	लवण.
मांस वर्ग	हिरन का मांस	१७.११	५ ७७	×	७५.६६	१.३३
	मुर्ग़ का मांस—					
	(चर्बी रहित)	१६ ७२	१ ४२	×	७६.२२	१.३७
	गोमांस	२० ६६	५.४१	×	७२.०३	१.१७
	मछली (सामन)	१५.००	७.००	×	७६.००	२.००
	मछली (हैरिङ्ग)	१३.००	१ ५०	×	८०.००	२.००
	अंडा (सफ़ेदी)	१२.६	०.२५	×	८५.७	०.५६
	,, (पीला भाग)	१६ २	३१.७५	०.१२	५०.६	१.०६

वर्ग		प्रोटीन.	बसा.	कारबोहाइड्रेट	जल.	लवण.
शुष्क वर्ग	गेहूँ का आटा	१२.२४	२.१८	७०.९२	११ ८३	२.२७
	जौ ,, ,,	१०.०	२ २	७३.३	११.१३	१.३७
	मकई,, ,,	८ ७	५.४	७० ९	१२.५	१ ५
	ज्वार ,, ,,	१४ २	७ ३	६९.४	७ २	१ ९
	बाजरा ,,	१० ४	३.९	७१.२	१२ ३	२.२
	चावल ,,	६.८६	० ८	७८ ८	११.०५	१.२३
शिम्बी वर्ग	अरहर की दाल	२७.६७	३ ३१	५७.२७	१० ०८	५ ५०
	मूँग ,, ,,	२३.६२	२.६९	५३.४५	१०.८७	३ ५७
	मसूर ,, ,,	२५.४७	३.००	५५.०३	१०.२३	३.३३
	मटर हरे	४.००	०.५	१६.५	७८.१	०,९
	,, शुष्क	२१.००	१.८	६१.४	१३,०	२.६०
	माष (उरद)	२५.५	१.७	५६.४	१३.१	३.३
शाक वर्ग	गोभी बन्द	१.८	०.४	६.८	८९ १	१.३
	,, खुली हुई	८२.२	०.४	५ ९०	९ ७	० ८
	टमाटर	० ९	० ४	३.९	९४.३	०.५
	भिंडी	१.९६	१ १	५ ७२	९०.४	०.८
	बैगन	०,८९	०.९४	३.४८	९३.९८	०.२६
	कद्दू	० ८	०.२	३.१	९५.४	०.५
कन्द वर्ग	आलू	१.२	०.१	२१.४	७४.०	०.९
	,, (उबले हुए छिलका उतारकर)	×	×	२१.४	७६.०	×
	गाजर	०.५	०.३	१०.१	८५.७	१.०
	मूली	१.७	०.१	४.६	९०.९	०.७
	चुकन्दर	०.५	०.१	१४ ०	८३.९	१.०
	शलजम	०.९	०.१५	६.८	९२.४	०.८

		प्रोटीन.	बसा	कारबोहाइड्रेट.	जल.	लवण.
दुग्ध वर्ग	स्त्री का दूध	२.४९७	२ ९०	५.८७	८८.०	०.१६
	गौ ,, ,,	४ ८	३.७	४ ८	८६ ०	०.७
	भैंस ,, ,,	४ ४	९.०	४.८	८८	०.८
	बकरी ,, ,,	३ ६२	४.२	४.०	८७.५४	०.५६
	गधी ,, ,,	१.७९	१.०२	५.५०	८७.५४	०.४२

घृतवर्ग--मक्खन, घृत, तैल इत्यादि में ९० से १०० प्रतिशत तक बसा पाई जाती है। उसमे कारबोहाइड्रेट बिलकुल नहीं होते। मक्खन में प्रोटीन १ या २ प्रतिशत पाई जाती हैं। लवणों की भी कुछ मात्रा होती है।

ऊपर की तालिका की सहायता से यह सहज मे मालूम किया जा सकता है कि किस-किस पदार्थ का कितना भाग भोजन में सम्मिलित रहना चाहिए जिससे भोजन करनेवाले व्यक्ति को आवश्यकतानुसार पर्याप्त पोषण मिल सके।

भोजन को पकाना--मनुष्य की व्याख्या 'Cooking animal' भी की गई है। केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है जो अग्नि की सहायता से भोजन को पकाकर खाता है। पकाने से भोजन अधिक पच्य हो जाता है, उसका स्वाद भी उत्तम हो जाता है, और यदि उसमें कोई रोगोत्पादक जीवाणु या विषजनक वस्तुएँ मिली होती हैं तो उनका नाश हो जाता है। भोजन के स्वादिष्ठ होने का प्रभाव पहिले ही बताया जा चुका है। यदि मांस को कच्चा खाया जावे तो दाँतों द्वारा उसका कटना और सूक्ष्म कणों में विभक्त होना भी कठिन है। पकने से उसके सूत्र कुछ कड़े हो जाते हैं और सूत्रों के बीच की सौत्रिक धातु गल जाती है, जिससे वह सहज ही में चबाया जा सकता है।

भोजन को सदा इस प्रकार पकाना चाहिए कि भोज्य पदार्थों के लवण या अन्य अवयवों का नाश न होने पावे। प्रायः शाकों को ठण्डे पानी में उबलने के लिए अग्नि पर रख दिया जाता है और उबल चुकने पर जल फेंक दिया जाता है। ऐसा करने से उस पदार्थ के लवण, प्रोटीन इत्यादि

जल के द्वारा घुलकर निकल जाते हैं। जब आलुओं को शुष्क भूनना हो तो उनको ऊपर का छिलका उतारकर उबलते हुए जल में छोड़ देना चाहिए। इससे लवण बाहर नहीं निकलेंगे। छिलकों के सहित उबालने से भी लवण इत्यादि का नाश कम होता है। यदि शाक को रसेदार बनाना है तो यह लवण रसे में सम्मिलित रहेंगे।

इसी प्रकार जब मांस को रसेदार बनाना हो तो उसको ठण्डे पानी में पहिले कुछ समय तक भिगोकर जल के सहित अग्नि के ऊपर चढ़ाना चाहिए। किन्तु यदि केवल गलाने ही का प्रयोजन हो तो उसको उबलते हुए जल में डालना उचित है। इससे मांस के ऊपर का अलब्यूमिन जम जावेगा और लवण जल में नहीं जाने पावेंगे। गल जाने के पश्चात् उसको जल से बाहर निकालकर भूना जा सकता है।

शाक और मांस को पकाने का सबसे उत्तम उपाय उनको भाप के द्वारा गलाना है। आजकल जो बहुत से कुकर आते है उनमें भोजन भाप ही के द्वारा पकाया जाता है। इससे लवणों के नष्ट होने का भय नहीं रहता।

यद्यपि पकाने से जो लाभ हैं वह ऊपर कहे जा चुके है, किन्तु कुछ वस्तुओं को पकाने से हानि भी होती है। दूध भी इन्हीं में से एक है। इसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

भोजन करने का समय—भोजन सदा नियत समय पर करना चाहिए। अनियमित समय पर किये हुए भोजन से प्रायः विकार उत्पन्न हो जाता है। एक बार स्वभाव बना लेने से नियत समय पर स्वयं भूख लगती है। उस समय अवश्य भोजन करना चाहिए। भूख के अतृप्त रह जाने से भूख मारी जाती है और फिर भोजन का पाचन उत्तम नहीं होता।

जो भोजन किया जाता है वह प्रायः चार या पाँच घण्टे में पच जाता है; उसके पश्चात् आमाशय ख़ाली हो जाता है। यदि भोजन गरिष्ठ होता है तो पचने में सात या आठ घण्टे लग जाते हैं। इसके पश्चात् कुछ समय तक आमाशय को विश्राम देना चाहिए। तत्पश्चात् आमाशय को फिर कुछ भोजन की आवश्यकता होती है, जिसके न मिलने से शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

हमारे देश में प्रायः दो समय भोजन किया जाता है। जो मध्यम और उच्च श्रेणी के व्यक्ति हैं वह प्रातःकाल अवश्य कुछ नाश्ता करते हैं, और सायङ्काल को भी फल इत्यादि का उपयोग करते हैं। यह भोजन के समय का ठीक वितरण है। चौबीस घण्टे में केवल दो बार भोजन करना हितकर नहीं है। रात्रि के भोजन के पश्चात् दूसरे दिवस के प्रातःकाल के भोजन के बीच में बहुत अन्तर है। इतने समय तक आमाशय को खाली रखना उचित नहीं है, यद्यपि रात्रि के समय पाचन क्रिया कम होती है।

भोजन का समय व्यक्तिगत सुविधाओं और आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। जो लोग किसी प्रकार का व्यापार करते हैं उनको दोपहर के समय में भोजन की सुविधा रहती है। दफ़्तरों के क्लर्क अथवा विद्यार्थियों को प्रातःकाल दस बजे के लगभग भोजन करना पड़ता है। रात्रि को भोजन का समय सात और आठ बजे के बीच होना चाहिए।

प्रातःकाल काम पर जाने से पूर्व कुछ थोड़ा भोजन अवश्य करना चाहिए। यदि चाय पीने का अभ्यास हो तो उसके साथ बिस्कुट टोस्ट इत्यादि कुछ भोजन लेना चाहिए। रात्रि को ऐसे समय पर भोजन करना उचित है कि भोजन और सोने के समय मे काफ़ी अन्तर रहे। पेट भरकर भोजन करने के पश्चात् तुरन्त ही सोना हानिकारक है। रात्रि का भोजन प्रातः-काल के भोजन की अपेक्षा हलका होना चाहिए। भोजन करने के तुरन्त पूर्व या उसके पश्चात् किसी प्रकार का व्यायाम या परिश्रम करना उचित नहीं है। इससे भोजन का पाचन उत्तम नहीं होता।

भोजन के पश्चात् तुरन्त ही काम पर चले जाना, या मस्तिष्क सम्बन्धी काम आरम्भ कर देना ठीक नहीं है। उस समय पाचन के लिए आमाशय और अन्त्रियों को अधिक रक्त की आवश्यकता होती है। इस कारण थोड़े समय तक विश्राम करना आवश्यक है। आजकल स्कूल, कालेजों और दफ़्तरों में जो काम करने का समय नियत है वह स्वास्थ्य की दृष्टि से हानि-कारक है।

भोजन के द्वारा उत्पन्न होनेवाल रोग—जो भोज्य पदार्थ खोलकर रख दिये जाते है उनमें मक्खियों द्वारा मोतीझरे, हैज़े इत्यादि रोगों के जीवाणु पहुँच जाते है जो भोजन के साथ शरीर के भीतर पहुँचकर रोग उत्पन्न करते है। इस कारण दुकान या मकान में भोजन को जाली से सुरचित अलमारियों मे रखना चाहिए, जिनके भीतर मक्खियाँ न जा सके।

कभी-कभी भोज्य पदार्थ में स्वयं ऐसे परिवर्त्तन हो जाते है कि उसके खाने से विष के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं। जो भोज्य पदार्थ बहुत समय से बन्द टीन के डिब्बों में रखा रहता है; जैसे कि कुछ फल, मांस या मछली जो योरुप के देशो से टीन के डिब्बो मे बन्द होकर आती है, उसके खाने से इस प्रकार के लक्षण उत्पन्न हो सकते है। यह माना जाता है कि उस भोज्य पदार्थ मे किसी प्रकार के जीवाणु प्रविष्ट होकर विष उत्पन्न कर देते है। इसको **भोजन-जन्य** विष कहा जाता है। कुछ भोजन, जैसे कुछ विशेष मछलियाँ, स्वभाव ही से विषैले होते है।

भोजन की अधिकता और कमी दोनों से रोग उत्पन्न हो सकते है। भोजन की मात्रा के अधिक होने से पाचक इन्द्रियों को अधिक काम करना पड़ता है। पाचन पूर्ण नहीं होता और कुछ समय के पश्चात् मन्दाग्नि, प्रवाहिका, कोष्ठबद्धता इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते है। कोष्ठ-बद्धता से सिर-दर्द, हलका ज्वर, अरुचि इत्यादि लक्षण प्रगट हो सकते हैं। भोजन मे कारबोहाइड्रेट और बसा की अधिकता से भी यही लक्षण उत्पन्न हो जाते है। यदि भोजन मे प्रोटीन का आवश्यकता से अधिक भाग होता है तो उससे यकृत् का बढ़ना, मन्दाग्नि, प्रवाहिका और गठिया इत्यादि उत्पन्न हो जाते है। मूत्र मे यूरिया अधिक आने लगती है; कभी-कभी अलब्यू-मिन भी आता है।

बसा और कारबोहाइड्रेट की अधिकता से शरीर में स्थूलता आती है। बच्चो मे भोजन के इन अवयवों की अधिकता और प्रोटीन और विटेमीन की कमी से 'रिकेट्स' नामक रोग उत्पन्न हो जाता है।

भोजन की न्यूनता से, यदि बहुत समय तक पर्याप्त भोजन न मिले तो, शरीर कृश होने लगता है, पेशियाँ सूख जाती हैं, मुख की कान्ति जाती रहती है और शरीर के बल का नाश होने लगता है। शरीर का भार भी घटना आरम्भ हो जाता है। यदि वह ४० प्रतिशत कम हो जावे तो अन्त को मृत्यु हो जाती है। भोजन की कमी से शरीर में कुछ विष बनने लगते है जिनसे ज्वर, सिर-दर्द, मुँह मे एक विचित्र प्रकार का स्वाद और दुर्बलता इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते है। ऐसी दशा के कुछ समय तक रहने पर यदि पीड़ित लोगों को फिर पूर्ण और उचित भोजन दिया भी जाता है तो पाचक अङ्ग, अत्यन्त दुर्बल हो जाने के कारण, भोजन से पोषण को नहीं ग्रहण कर सकते। इस कारण उनकी दशा नहीं सुधरती और अन्त को मृत्यु हो जाती है।

भोजन में प्रोटीन की कमी होने से पेशियों के बल और मस्तिष्क की विचार शक्ति का क्षय होता है, ज्वर उत्पन्न हो जाता है और दुर्बलता प्रतिदिन बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि अन्त को मृत्यु हो जाती है। बसा की कमी से शरीर सूखने लगता है और स्वास्थ्य गिर जाता है। यदि बसा को पूर्ण मात्रा में प्रयोग कराया जावे तो कारबोहाइड्रेट की न्यूनता को बहुत समय तक सहन किया जा सकता है। किन्तु कारबोहाइड्रेट और बसा दोनों को बन्द कर देने से, चाहे कितनी ही प्रोटीन दी जावे, स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है।

स्वास्थ्य के लिए जल की कमी भी बहुत हानिकारक है। शरीर की धातुएँ जल-रहित होने से शक्तिहीन हो जाती हैं और शरीर सहज में रोग-ग्रस्त हो जाता है।

रिकेट्स और स्कर्वी यह दो ऐसे रोग हैं जिनका भोजन से विशेष सम्बन्ध है। रिकेट्स बच्चों को होता है। इस रोग में अस्थियों की दृढ़ता कम हो जाती है और वह मुड़ जाती हैं। यह विकार सबसे प्रथम टाँगों की अस्थियो में प्रगट होता है। कुछ ही समय में सारे शरीर की अस्थियों का आकार विकृत हो जाता है। इसका कारण भोजन में चूने, फ़ास्फ़ेट या अन्य लवणों की न्यूनता मानी जाती थी। किन्तु आजकल बहुत से विद्वानों की

सम्मति है कि यह रोग बच्चों को उचित समय से पूर्व कारबोहाइड्रेट के अधिक प्रयोग से उत्पन्न होता है।

स्कर्वी रोग में रोगी को अत्यन्त दुर्बलता मालूम होती है; चर्म के नीचे अथवा बालों की जड़ों में रक्तस्राव होकर रक्त एकत्र हो जाता है। दाँत गिरने लगते हैं। मसूड़ों से भी रक्तस्राव होता है। यह पाया गया है कि रक्त की क्षारीयता कम हो जाती है जिसका कारण शरीर को मैलिक, टारटरिक, सायट्रिक इत्यादि अम्लों का न मिलना है। कुछ लोगों की सम्मति है कि रोग का कारण दूषित भोजन होता है। कई बार देखा गया है कि कुछ समय से रखे हुए भोजन का उपयोग करने से यह रोग उत्पन्न हो गया है।

पाँचवाँ परिच्छेद

वानस्पतिक भोज्य पदार्थ

भोजन के साधारण सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त कर चुकने के पश्चात् हमको कुछ विशेष भोज्य पदार्थों का, जो साधारणतः प्रयोग किये जाते हैं, अधिक विचार करना उचित है।

भोज्य पदार्थ दो बड़े भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। एक पाशविक और दूसरे वानस्पतिक। मांस, मछली, अण्डा इत्यादि पाशविक भोज्य पदार्थ हैं। यद्यपि शाकाहारी दूध को पाशविक नहीं मानते, किन्तु वह पशु के शरीर से उत्पन्न होने के कारण वास्तव में पाशविक ही है, और उससे घृत मक्खन इत्यादि जो वस्तुएँ बनाई जाती हैं वह भी पाशविक है।

अन्नवर्ग, शाकवर्ग, और शूकवर्ग—जैसे गेहूँ, जौ, चावल, शाक, फल इत्यादि वनस्पति माने जाते हैं।

इन दोनों समूहों में सबसे बड़ा भेद यह है कि पाशविक भोज्य पदार्थों में नाइट्रोजन अथवा प्रोटीन अधिक होती है। वनस्पति-समूह के वर्गों में कारबोहाइड्रेट की अधिकता होती है जो स्टार्च या शर्करा के रूप में पाया जाता है। वानस्पतिक अम्ल भी, जो शरीर के लिए विशेष महत्त्व के होते हैं, इसी समूह से मिलते हैं।

वनस्पति वर्ग में जो प्रोटीन पाई जाती है वह ग्लोब्यूलिन और ऐल-ब्यूमोज़ के रूप मे रहती है। ग्ल्यूटिन, जो गेहूँ के आटे मे अधिक होती है, इनमें से मुख्य है। कहा जाता है कि यह वस्तु स्वभावतः ग्ल्यूटिन के रूप में नहीं रहती, किन्तु ग्लोब्यूलिन और अलब्यूमोज़ों पर जल की क्रिया

से उत्पन्न हो जाती है। लेग्यूमिन नाम की इसी प्रकार की प्रोटीन मटर, सेम इत्यादि में अधिक पाई जाती है। दालो में प्रोटीन की मात्रा बहुत अधिक होती है। यह कहा जाता है कि दालो की प्रोटीन का पाचन और शोषण पाशविक प्रोटीन के समान पूर्ण नहीं होता। किन्तु यह अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि जो लोग सदा से दाल ही का उपयोग करते रहे हों वह दाल से प्रोटीन को ग्रहण न कर सकें।

बहुत से फलो में बसा का भाग अधिक होता है जैसे अख़रोट, गोला, बादाम, काजू अथवा चिलगोज़ा इत्यादि। अन्न, शाक और हरे फलो मे बसा की मात्रा कम होती है।

प्रयोगों से यह पाया गया है कि पाशविक और वानस्पतिक बसा के सङ्गठन में अधिक भेद नहीं है। गोले के तेल का बङ्गाल आदि प्रान्तो मे खाने में प्रयोग किया जाता है। देश के अन्य प्रान्तों में अन्य तेल खाये जाते हैं। जो बसा उच्च श्रेणी के बसाम्ल और ग्लिसरिन के मिलने से बनती है वह गाढ़ी होती है और जम जाती है। किन्तु अधःश्रेणी के बसाम्ल और ग्लिसरिन के संयोग से उत्पन्न हुई बसा पतली होती है। साधारण तेल इसका उदाहरण है।

वनस्पति वर्ग मे कारबोहाइड्रेट स्टार्च और शर्करा के रूप मे पाये जाते हैं। अन्न वर्गों में कारबोहाइड्रेट स्टार्च के रूप में एकत्र रहता है। गेहूँ अथवा अन्य अन्नों के आटे में स्टार्च विशेषतया अधिक होता है। गन्ने या पौंडों में कारबोहाइड्रेट शर्करा के रूप में रहता है; यह इक्षुशर्करा होती है। अंगूरों अथवा अन्य पके हुए फलो मे कारबोहाइड्रेट द्राक्ष शर्करा के रूप में पाया जाता है। वृक्षों मे शर्करा की अपेक्षा स्टार्च अधिक होता है; वह जल में जल्दी नहीं घुलता। शर्करा जल में घुलकर सारे वृक्ष में प्रवाहित होती रहती है।

अन्नों के दानों में स्टार्च कणों के रूप में रहता है। भिन्न-भिन्न अन्नों—गेहूँ, जौ, मकई, बाजरा, मटर, इत्यादि—के दानों से निकले हुए

स्टार्च के कणो के आकार में भिन्नता होती है। इन कणों को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखने से अन्न का पता लगाया जा सकता है।

स्टार्च ठण्डे जल में नहीं घुलता; इसके कणों के ऊपर सेल्यूलोज़ का एक आवरण चढ़ा रहता है। जब उसको गरम जल के साथ मिलाया या उबाला जाता है, अथवा उस पर भाप की क्रिया होती है, तब कणों के फूलने से बाहर का आवरण फट जाता है और भीतर के स्टार्च के कण बाहर निकल आते है। इन कणों पर लाला या मौखिक रस की क्रिया होती है। साधारणतया जिस प्रकार रोटी बनाई जाती है उसमें भी यही क्रिया होती है। आलुओं को यदि कच्चा खाया जावे तो उस पर मौखिक रस की कोई क्रिया न होगी और वह अत्यन्त अस्वादिष्ट प्रतीत होंगे। किन्तु आलू को उबालकर खाने से उस पर मौखिक रस की क्रिया भी खूब होगी और वह स्वादिष्ट भी हो जावेंगे।

वनस्पति पदार्थ पकाये जाने के पश्चात् सहज मे पच जाते है। किन्तु पाशविक पदार्थ पकाने पर देर से पचते है।

वनस्पति पदार्थों से हमको फ़ास्फ़ेट, पोटाश और लोह अधिक मिलते हैं। क्लोराइड और सोडा पाशविक वस्तुओं में अधिक होता है।

वनस्पति पदार्थों को पाँच विभागों में बाँटा गया है।

(१) अन्नवर्ग—गेहूँ, जौ, चावल, बाजरा इत्यादि।

(२) शिम्बी वर्ग—उरद, अरहर, मूँग, इत्यादि।

(३) कन्द और मूल—आलू, चुकन्दर, शलजम।

(४) हरे शाक—गोभी, पालक, तुरई इत्यादि।

(५) फल—हरे और शुष्क।

(१) **अन्नवर्ग**—जिन अन्नों के दानों का हम उपयोग करते हैं वह वास्तव में उन अन्नो के वृक्षों के बीज होते हैं। उनमे कारबोहाइड्रेट की प्रधानता होती है; प्रोटीन और वसा भी थोड़ी मात्रा में उपस्थित रहते हैं। भिन्न-भिन्न

अवयवों की मात्रा पूर्व मे दी गई तालिका से मालूम की जा सकती है। उससे पता लगेगा कि गेहूँ मे कारबोहाइड्रेट और प्रोटीन दोनों काफ़ी मात्रा मे उपस्थित है। इसी कारण गेहूँ का संसार भर में इतना अधिक उपयोग किया जाता है। चावल में कारबोहाइड्रेट की अधिकता है; किन्तु अन्य सब अवयवों की कमी है। इसका प्रयोग हमारे देश मे दक्षिण और पूर्वी प्रान्तो में और चीन तथा जापान आदि देशों मे अधिक होता है।

इन अन्नों के दानो से हमको न केवल पोषण ही किन्तु लवणों की भी पर्याप्त मात्रा मिलती है। पोटाश, सोडा, केलशियम, लोह, मेगनेशियम इत्यादि लवणो के रूप में मिलते है। बसा की प्रायः सब अन्नों में कमी होती है; प्रोटीन का भाग भी थोड़ा ही रहता है। इसलिए इनके साथ प्रोटीन और बसामय पदार्थ मिलाकर खाने चाहिए।

गेहूँ—हमारे देश के बहुत से भागों मे गेहूँ की उपज होती है। किन्तु वह पञ्जाब में अधिकता से होता है, और वहाँ से अन्य प्रान्तों को भेजा जाता है।

गेहूँ के दानों के ऊपर चार स्तर चढ़े रहते हैं। उनके भीतर दाने का मुख्य पोषक पदार्थ रहता है। यही पर प्रोटीन, बसा और कारबोहाइड्रेट लवणों के सहित उपस्थित रहते है। बाहर जो आवरण के स्तर होते हैं वह सेल्यूलोज़ के बने होते है। जब दानों को पीसा जाता है तो सेल्यूलोज़ भीतर के कणों से अलग हो जाता है। प्राय: आटे को छानकर उसको निकाल दिया जाता है। किन्तु इस छिलके में भी कुछ पोषक शक्ति होती है और उसमें कुछ लवण भी उपस्थित रहते हैं। आटे को बारीक चलनी में छानकर जो सबसे महीन भाग निकलता है वह मैदा कहलाता है। यह बहुत श्वेत और बारीक होता है। इसमें पोषक शक्ति अधिक नहीं होती। मैदा से मोटा भाग आटा होता है, और उससे भी मोटा भाग सूजी कहलाता है। इस भाग में सबसे अधिक पोषक-शक्ति होती है।

गेहूँ के आटे की विशेष प्रोटीन ग्ल्यूटिन होती है जो ग्लोब्यूलिन और अलब्यूमोज़ों के ऊपर जल की क्रिया से बनती है। उत्तम आटे में ८%

से १० % तक ग्ल्यूटिन होनी चाहिए। किन्तु जल १६ % से अधिक न होना चाहिए। उत्तम आटा श्वेत और गन्ध-रहित होता है। गेहूँ में कई प्रकार के कृमि लग जाते है और वानस्पतिक पराश्रयी भी उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें कई प्रकार के फ़ङ्गस होते हैं। इन पराश्रयी अथवा कृमि-युक्त दानों का आटा खाने योग्य नहीं होता।

गेहूँ के बाहर के छिलके में, जिसको प्रायः फेंक दिया जाता है, १५ % प्रोटीन, ३.५ % वसा और ५ ७ % लवण होते हैं। यह विशेषकर उन लोगों के लिए, जिनको कोष्ठबद्धता रहती है, हितकर होता है। आजकल ऐसा आटा जिसमें यह भाग मिला रहता है बाज़ार में बिकता है।

गेहूँ के आटे के प्रयोग—हमारे देश में गेहूँ का आटा चपाती, पूरी, हलवा, बिस्कुट, रोटी, इत्यादि, जिसको डबल रोटी भी कहा जाता है, बनाने के काम में आता है।

रोटी या डबल रोटी—आटे मे जल को मिलाकर उसको मींड़ा जाता है। भली भाँति मींड़ने के पश्चात् उसमें कुछ ऐसी वस्तु मिलाई जाती है जिससे आटा फूल जाता है और भीतर से सुषिर होकर हलका हो जाता है। इससे उसका पाचन सहज और पूर्ण होता है। इसके लिए उसमें प्रायः यीस्ट या ख़मीर के दाने मिलाये जाते हैं। इनकी क्रिया से स्टार्च शर्करा के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। अन्त में शर्करा भी अलकोहल और कार्बन-डाई-आक्साइड के रूप में परिणत हो जाती है। कार्बन-डाई-आक्साइड आटे के भीतर मिलकर उसको फुला देती है जिससे वह हलका, आयतन में अधिक और सुषिर हो जाता है। इसके पश्चात् इस कार्बन-डाई-आक्साइड-युक्त आटे को साचों में भरकर भट्ठियों में रख दिया जाता है। ताप से अलकोहल तो निकल जाता है और रोटी पक जाती है।

कुछ लोग यीस्ट का प्रयोग न करके ऐसी रासायनिक वस्तुओं का उपयोग करते है जिनसे कार्बन-डाई-आक्साइड उत्पन्न होती है। यह बेकिङ्ग पाउडर के नाम से बाज़ार में बिकते हैं। प्रायः यह टारट्रिक या सायट्रिक अम्ल और

किसी क्षारीय कार्बोनेट के बने होते हैं। इन चूर्णों को मिलाने से जल की सहायता से कार्बन-डाई-आक्साइड उत्पन्न होकर आटे मे मिल जाती है। यद्यपि कुछ लोग इस विधि को काम मे लाते हैं, किन्तु रासायनिक वस्तुओं का प्रयोग उत्तम नहीं समझा जाता।

कार्बन-डाई-आक्साइड को आटे से भिन्न तैयार करके फिर आटे में मिलाने की विधि भी प्रचलित है। इसको 'डौग्लिश बिधि' कहते है। प्रायः चूने या सङ्गमरमर के छोटे-छोटे टुकड़ों पर सल्फुरिक अम्ल की क्रिया से कार्बन-डाई-आक्साइड गैस उत्पन्न की जाती है। इस गैस को आटे के भीतर पहुँचाया जाता है। उस पर भार अधिक डालने से गैस आटे में समा जाती है। इन सब विधियों में यीस्ट के द्वारा रोटी बनाना उत्तम समझा जाता है; उससे पाचन मे भी सहायता मिलती है।

उत्तम डबल रोटी ऊपर से कुछ भूरी, भीतर से श्वेत, फूली हुई, सुषिर, भीतरी बनावट समान, और हलकी होनी चाहिए। उसके पतले-पतले टुकड़े काटकर और अग्नि पर सेंककर, जिनको टोस्ट कहते हैं, मक्खन के साथ खाये जाते हैं। इनका पाचन शीघ्र होता है।

चपाती—साधारणतया हमारे देश में गेहूँ के आटे की चपातियाँ बनाकर खाई जाती हैं। प्रथम आटे को जल के साथ मींड़ा जाता है जिससे आटे मे ग्ल्यूटिन उत्पन्न हो जाती है। जिन आटों में ग्ल्यूटिन कम होती है, जैसे बाजरे का आटा, उनकी रोटी बनाना कठिन होता है। ग्ल्यूटिन की कमी से आटे में चिपकने की शक्ति नहीं उत्पन्न होती। इसके पश्चात् इच्छानुसार आटे की लोई को लेकर बेला जाता है और अग्नि के ऊपर रखे हुए तवे पर उनको फैला दिया जाता है। जब वह वहाँ पर पक जाती है तो उनको अङ्गारों पर डाल दिया जाता है जिससे रोटी के भीतर वायु या भाप भर जाती है, और रोटी के दोनों परत फूल जाते हैं। स्टार्च के कण जल और अग्नि दोनों के प्रभाव से फूलकर पाचन के योग्य हो जाते हैं। रोटी पर घी चुपड़ देने से वसा की कमी पूर्ण हो जाती है और दाल के साथ खाने से प्रोटीनों की क्षति की भी पूर्ति हो जाती है।

गेहूँ का सबसे पौष्टिक योग हलवा है। वह सूजी का बनाया जाता है जो गेहूँ के आटे का सबसे अधिक पोषक भाग होता है। सूजी को शक्कर और घी के साथ भूना जाता है जिससे उसकी पोषक शक्ति और भी बढ़ जाती है। किन्तु दुर्बल पाचनवालों को उसका पचाना कठिन है।

बिस्कुट—यह भी गेहूँ के आटे की बनाई जाती है। इसको साधारण रोटी के समान समझना चाहिए। कुछ बिस्कुटों में दूध, मक्खन या अण्डे भी मिलाये जाते हैं जिनसे उनकी पोषक शक्ति बढ़ जाती है। यह डबल रोटी की अपेक्षा अपच्य होती है।
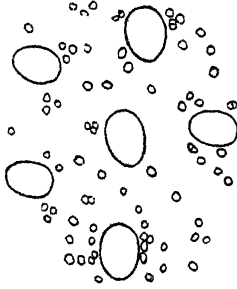
चित्र नं० २२
गेहूँ के स्टार्च के कण

जौ—जो निर्धन व्यक्ति गेहूँ को मोल नहीं ले सकते वह अपना निर्वाह जौ पर करते है। हमारे देश में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो केवल एक ही समय जौ खाकर अपने प्राणों की रक्षा करते हैं।

जौ का सङ्गठन गेहूँ के बहुत कुछ समान है। किन्तु उसके प्रोटीनों की प्रकृति गेहूँ से भिन्न होती है। उसके आटे मे ग्ल्यूटिन नहीं बनती। ऐलब्यूमिन, ग्लोब्यूलिन और अलब्यूमोज़ स्वतन्त्र रहते हैं। इस कारण उसकी रोटी बनाने में कठिनाई होती है।

जौ के स्टार्च के दाने भी गेहूँ के स्टार्च के दानों के बहुत कुछ समान होते हैं। उन पर की रेखाएँ अधिक स्पष्ट होती हैं। जौ को कई प्रकार से बनाकर बाज़ार में भेजा जाता है। स्कौच बार्ले, पोर्ट बार्ले, पर्ल बार्ले इत्यादि नामो से भी जौ बाज़ार में बिकते है। पर्ल बार्ले, जिसका बच्चों या रोगियों को प्रयोग करवाया जाता है, जौ के दानो पर से छिलकों को उतारकर, उनको घिसकर और पालिश करके तैयार किया जाता है। पेटैन्ट बार्ले इस पर्ल बार्ले को पीसकर बनाया जाता है।

जौ से माल्ट बनाया जाता है जिसका रोगों में बहुत उपयोग होता है। माल्ट मे पर्याप्त शक्ति होती है; उसका पाचन भी जल्दी होता है। जौ

को पानी में मिलाकर रख दिया जाता है। जब उसमे अङ्कुर फूटने लगते है तो दानो को एक विशेष प्रकार की भट्टी में रखा जाता है जिससे अंकुरों का निकलना बन्द हो जाता है। ऐसा करने से दानों के भीतर एक विशेष वस्तु उत्पन्न हो जाती है जिसको डायस्टेज़ कहते है। उसकी क्रिया से स्टार्च शर्करा के रूप मे परिणत होकर माल्ट बन जाता है जिससे बीयर आदि शराब बनाई जाती है।

चावल—चावलो का यद्यपि सारे संसार मे उपयोग किया जाता है किन्तु पूर्वीय देशों का यही मुख्य भोज्य पदार्थ है। हमारे देश में बङ्गाल, आसाम, बिहार, बर्मा तथा दक्षिण प्रान्त में इसका बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है, पञ्जाब आदि प्रान्तों मे गेहूँ अधिक काम में आता है। बाज़ार में कई प्रकार के चावल मिलते हैं जो भिन्न-भिन्न नामों से बेचे जाते है। जो चावल 'बर्मा के चावल' के नाम से बिकता है वह खेतों से धान के रूप मे तोड़ने के पश्चात् मशीनो में डालकर कूटा जाता है, जिससे ऊपर का छिलका और उसके साथ दाने का ऊपरी स्तर भी उतर जाता है। तत्पश्चात् चिकना करके उस पर हलकी सी पालिश कर दी जाती है। इस कारण बर्मा का चावल साधारण देशी चावल से छोटा होता है। चावल के ऊपरी परत के उतर जाने से चावल से कुछ प्रोटीन और लवण निकल जाते है। कहा जाता है कि इस बाहरी परत में फ़ास्फ़ोरस रहता है।

साधारणतया बङ्गाल आदि प्रान्तों में जो चावल तैयार किया जाता है उस पर से ऊपरी परत नहीं उतारा जाता। धानों को खेत से काटकर ३ दिन तक जल में रखा जाता है। उसके पश्चात् उनको दूसरे बर्त्तनों में भरकर ९ या १० मिनट तक गरम करते हैं अथवा उसके भीतर भाप को पहुँचाते है। तत्पश्चात् इन बर्त्तनों से निकालकर अन्न को धूप मे सुखा दिया जाता है। दानों के शुष्क हो जाने पर उनको इस प्रकार कूटा जाता है कि उनका छिलका उतर जाता है। इस प्रकार से तैयार करने में दानों के ऊपरी परत का नाश नहीं होता। इस कारण देशी चावल बर्मा के चावल से अधिक पोषकशक्ति-युक्त होता है।

चावल के अवयवों की मात्रा को देखने से पता लगेगा कि चावल में कारबोहाइड्रेट तो अधिक है किन्तु प्रोटीन और बसा बहुत कम हैं। यह कारबोहाइड्रेट स्टार्च के रूप में रहता है जिसके दाने छोटे और एक दूसरे के साथ मिले होते है। इनका आकार गोल नहीं होता। दानों के प्रायः एक दूसरे से मिले रहने के कारण उन पर चपटे चिह्न बन जाते हैं।
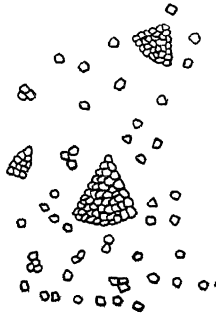
चित्र नं० २३
चावल के स्टार्च के कण

चावलों के स्टार्च का पाचन और शोषण अन्त्रियों द्वारा पूर्ण होता है। १½ छटाँक उबले हुए चावल ३½ घण्टे मे आमाशय से अन्त्रियों में चले जाते हैं। प्रोटीन और बसा की कमी के कारण चावलों को दाल और घी के साथ खाना चाहिए जैसा कि साधारणतया किया जाता है। बङ्गाल में चावलों के साथ मछली का भी प्रयोग किया जाता है। अन्य देशो में चावल मांस इत्यादि के साथ भी खाये जाते हैं। सहज में पच जाने के कारण रोगी को चावल की खिचड़ी खाने को दी जाती है। किन्तु जहाँ तक हो सके पुराने चावलों का प्रयोग करना चाहिए। नये चावलों से अतिसार या पाचनसम्बन्धी अन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

पकाते समय चावलो को भली भाँति धोकर कुछ समय तक पर्याप्त जल में भिगोना चाहिए। तत्पश्चात् उनमे अनुमान से आवश्यक जल की मात्रा मिलाकर उबलने को चढ़ा देना चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकार के चावलों के लिए जल की भी भिन्न-भिन्न मात्रा की आवश्यकता होती है। जल के कम रहने पर चावल उत्तम नहीं पकते। चावलों को उबालकर माँड़ को फेंक देने की रीति अनुचित है। चावलों के बहुत से लवण उसमें घुलकर निकल जाते है और उनका व्यर्थ नाश होता है जिससे चावल का गुण कम हो जाता है। अतएव चावलों में इतना जल मिलाना चाहिए कि माँड़ को फेंकने की आवश्यकता ही न हो। चावलों को पकाने की सबसे उत्तम विधि भाप के द्वारा पकाना है।

उत्तम चावल पककर खिल जाते हैं, प्रत्येक दाना एक दूसरे से भिन्न रहता है और वह मोटा और लम्बा हो जाता है। जितना उत्तम चावल होगा, उतना ही परिमाण में बढ़ेगा। ऐसे चावलों का, जो पककर नहीं बढ़ते और खिलते भी नहीं, उपयोग न करना चाहिए।

जिस स्थान में चावलो के बोरे रखे जावे वह पक्का होना चाहिए। नीचे का फ़र्श बिलकुल पक्का और सील से मुक्त होना चाहिए। उस कमरे में वायु के प्रवेश के लिए भी पूर्ण प्रबन्ध करना आवश्यक है। ठण्डे बन्द कमरों में रखने से, जहाँ सील रहती है, चावलों में ख़मीर उठने लगता है जिसके कारण उनसे दुर्गन्धि आने लगती है और उनमे विष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि ऐसे चावलों के बोरे में हाथ डाला जावे तो चावल गरम प्रतीत होंगे।

बेरी-बेरी नामक रोग बर्मा के पालिश किये हुए चावलो से, जिनका ऊपरी छिलका बिलकुल उतार दिया जाता है, उत्पन्न होता है। यह उन्हीं व्यक्तियों को होता है जो केवल इसी प्रकार के चावल का प्रयोग करते हैं, अथवा जिनका मुख्य भोजन इस प्रकार का चावल है। विचार सम्बन्धी अधिक काम करने-वालों को चावल का बहुत प्रयोग न करना चाहिए।

जई—जई मे पोषक शक्ति बहुत होती है। अवयवों की मात्रा को देखने से मालूम होगा कि उसमें प्रोटीन का भाग गेहूँ से भी अधिक है। किन्तु उसकी प्रोटीन दूसरे प्रकार की होती है। उसमे ग्ल्यूटिन न होने के कारण वह गेहूँ के प्रोटीन के बराबर उत्तम नही होती; इस कारण इसकी रोटी नहीं बनाई जा सकती; अतएव केवल छोटी छोटी टिकियाँ बनाई जाती हैं। जो जई के प्रयोग के अभ्यस्त नहीं हैं उनको जई पचाना कठिन होता है। उसमे सेल्यूलोज़ का भाग अधिक रहता है। इसका दलिया बनाकर प्रयोग किया जा सकता है। जो लोग गठिया रोग से ग्रस्त रहते हैं उनके लिए यह हानि-कारक वस्तु है।

जई के स्टार्च के कण चावल के स्टार्च के कणों के बहुत कुछ समान होते हैं।

मकई—इसका प्रयोग हमारे देश के कुछ भागों में किया जाता है, यद्यपि यह बहुत प्रचलित नहीं है। योरुप में इटली और अमरीका में भी इसका प्रयोग होता है। इसमें बसा और प्रोटीन दोनों की पर्याप्त मात्रा होती है, किन्तु ग्ल्यूटिन की कमी के कारण रोटी बनाना कठिन होता है। इसलिए मकई के आटे में प्रायः गेहूँ का आटा या दूध इत्यादि मिलाकर रोटी बनाई जाती है। जो इन वस्तुओं को मोल नहीं ले सकते वह मकई की टिकियाँ बना लेते हैं।

चित्र नं० २४
मकई के स्टार्च के कण

मकई के स्टार्च के कण जई और चावलों के कणों के बहुत कुछ समान होते हैं। किन्तु वह बहुत बड़े होते हैं और उनके बीच में एक नाभि होती है।

मकई के दानों पर अन्य अन्नों की भाँति कई प्रकार के फ़ङ्गस लग जाते हैं। स्पोरिज़ोरियम[१] मेडिस नामक एक विशेष फ़ङ्गस इसके दानों पर अधिक लगता है। इस फ़ङ्गस-युक्त दाने का प्रयोग करने से पेलाग्रा[२] रोग उत्पन्न हो जाता है।

मकई का आटा कार्नफ़्लोर के नाम से डिब्बों में बन्द बाज़ार में बिकता है। मकई के दानों को पीसकर उससे आटा बनाया जाता है। उस पर कास्टिक पोटाश की रासायनिक क्रिया से आटे की विशेष गन्ध जाती रहती है।

मकई में पर्याप्त पोषक शक्ति होती है। प्रयोगों द्वारा पाया गया है कि मकई के प्रोटीनों का अन्त्रियों द्वारा शोषण उत्तम भी होता है।

(२) शिम्बी वर्ग—वानस्पतिक पदार्थों में अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा दालों मे अधिक प्रोटीन होती है। इस कारण उनको "निर्धन मनुष्यों के लिए मांस" कहा जाता है। कुछ दालों में प्रोटीन और कारबोहाइड्रेट का अनुपात

१. Sporisoriums Madis. २. Pellagra.

१: २ या १: ४ होता है। उरद, मसूर, अरहर, मूँग, मटर, चने इत्यादि का अधिक प्रयोग किया जाता है। इनमें से उरद का उपयोग पञ्जाब, राजपूताना और संयुक्तप्रान्त के पश्चिमी भाग में अधिक किया जाता है। पूर्वी प्रान्तों में अरहर, मसूर, खिसारी इत्यादि का प्रयोग अधिक होता है। ग़रीब लोग कराई, खिसारी और मसूर का अधिक प्रयोग करते हैं, वह सस्ती मिलती हैं।

दालों को बसा की कमी के कारण घृत इत्यादि के साथ खाना चाहिए। चावल और घी-युक्त दाल में भोजन के सब विशिष्ट अवयव उपस्थित हैं। अनुभव से यह पाया गया है कि इस भोजन पर शरीर की उत्तम वृद्धि नही होती। उसके लिए गेहूँ का आटा अत्यन्त उपयोगी माना जाता है।

दालों में लवणों का भी काफ़ी भाग रहता है। मटर और सेम में गन्धक रहती है। मसूर, मोठ और अरहर में लोह पाया जाता है, किन्तु गन्धक कम होती है।

खिसारी दाल को कुछ समय तक कच्चा खाने से एक रोग उत्पन्न हो जाता है जिसको 'लैथीरियेसिस[1]' कहते हैं। नीचे के अङ्गों का स्तम्भ और दुर्बलता इस रोग के विशेष लक्षण हैं। किन्तु दाल को उबालकर खाने से यह दशा उत्पन्न नहीं होती।

दालों को पकाने से पूर्व भली भाँति स्वच्छ कर लेना चाहिए। जो लोग गठिया के रोग से ग्रस्त रहते हैं उनके लिए दालें हानिकारक हैं। वह यूरिक अम्ल को उत्पन्न करती हैं। कुछ अँगरेज़ लोग मांस के साथ दाल का प्रयोग करते हैं। यह उचित नहीं है; क्योंकि उससे दालों के अवयवो की कमी दूर नहीं होती।

(३) कन्द और मूल—पृथ्वी के नीचे उत्पन्न होनेवाले पदार्थों की गणना कन्द और मूलों में की जाती है। वृक्ष का ऊपरी भाग तना और पत्तियाँ

---

१. Lathyriasis.

पृथ्वी से ऊपर वायु मे निकले रहते है; मूल और कन्द पृथ्वी के भीतर रहते हैं। इनमें वृक्ष स्वयं अपने प्रयोग के लिए पोषक पदार्थों को, जो विशेषकर स्टार्च के रूप मे होते है, एकत्र कर लेता है। इस कारण कन्द और मूलों मे प्रोटीन और बसा बहुत कम होते हैं। अतएव वह भोजन का प्रधान अङ्ग नहीं बन सकते। हाँ, भोजन के साथ खाने से पोषण में सहायता अवश्य देते हैं। कारबोहाइड्रेट के अतिरिक्त कन्द और मूलों में लवण भी उपस्थित रहते है जिनमें पोटाश के लवण विशेष हैं। इन लवणों के कारण कन्द तथा मूलो की उपयोगिता बढ़ जाती है। भिन्न-भिन्न कन्द और मूलों में उपस्थित भिन्न-भिन्न अवयवों की मात्रा पूर्व-लिखित तालिका से मालूम की जा सकती है।

आलू—इस वर्ग मे सबसे विशेष पदार्थ आलू है जिसका सारे संसार में प्रयोग किया जाता है। आयरलैंड में आलू का विशेषतया अधिक प्रचार है। योरुप में सबसे प्रथम आलू सन् १५६५ में कप्तान हाकिन्स और सर फ्रेंसिस ड्रेक के द्वारा उत्तरी अमरीका से लाया गया था। किन्तु सर वाल्टर रेले ने इसके प्रचार को बहुत बढ़ाया। सन् १७१६ तक की कृषि की पुस्तकों में इसका अधिक उल्लेख नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक आलू का अधिक प्रचार नहीं हुआ था। सन् १८४५ मे आयरलैंड के बहुत से भागों में आलू की खेती बिगड़ गई जिससे वहाँ के निवासियों को बहुत असुविधा हुई थी। तभी से आलू की कृषि की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा और इसका प्रचार भी अधिक हुआ।

चित्र नं० २५

आलू के स्टार्च के कण

आलू के रासायनिक सङ्गठन की ओर ध्यान देने से मालूम होगा कि इसमें स्टार्च या कारबोहाइड्रेट की मात्रा तो अधिक है किन्तु प्रोटीन और बसा बहुत कम है। इस कारण केवल आलू पर बहुत समय तक जीवन नहीं रह सकता। उसके साथ बसा और प्रोटीन-युक्त

पदार्थों को मिला देने से उत्तम भोजन बन सकता है। बसा की कमी के कारण उसका प्रयोग घृत या तेल में भूनकर किया जाता है। मांस, अण्डा, दूध अथवा दाल के साथ खाने से आलू शारीरिक परिश्रम करनेवाले मज़दूरों के लिए पर्याप्त शक्तिप्रद भोजन होता है।

आलू कई भाँति के होते हैं। उनमे उपस्थित स्टार्च की मात्रा में भी भिन्नता पाई जाती है। जैसा चित्र में दिखाया गया है, आलू के स्टार्च के कण विचित्र प्रकार के होते है। यह आकार मे बड़े होते हैं और प्रत्येक के ऊपर एककेन्द्री गोल वृत्त के आकार की रेखाएँ स्थित होती हैं। उनके एक सिरे पर एक नाभि होती है। आलू के रस में कुछ सायट्रिक अम्ल, और सोडियम, पोटाशियम और केलशियम के सायट्रिक लवण पाये जाते हैं।

यद्यपि आलू एक उत्तम खाद्य वस्तु है, किन्तु दुर्बल पाचन-शक्तिवाले उसको नहीं पचा सकते। इस कारण रोगियों को आलू खाने की मनाई कर दी जाती है।

आलू का गुण बहुत कुछ उसको पकाने पर निर्भर करता है। उसको पकाने की सबसे उत्तम विधि भाप के द्वारा गलाना है। यदि जल में उबालना हो तो उसको छिलके समेत उबालना चाहिए, अथवा छिलका उतारकर उसको उबलते हुए जल में छोड़ा जा सकता है। उबालने से आलू के भीतर के रस, जिनमें अलबूमिन होता है, जम जाते है और स्टार्च के दाने जल को सोखकर फूल जाते हैं। उनके ऊपर का आवरण फट जाता है और भीतर का भाग जो शुद्ध स्टार्च होता है बाहर निकल आता है। इससे आलू भुरभुरा और स्वादिष्ट हो जाता है। किन्तु जो आलू सड़ गया है या जिसमे किसी प्रकार का दोष उत्पन्न हो गया है उसमें, उबालने से भी, यह परिवर्त्तन नहीं होता। वह कड़ा और अस्वादिष्ट रहता है। ऐसे आलू को न खाना चाहिए। जो आलू छिलके के साथ उबाले जाते हैं वह छिलका उतारकर उबाले हुए आलुओं की अपेक्षा एक घण्टे कम समय में पचते हैं।

अन्य शाक या अन्नों की भांति आलू में भी फ़ङ्गस के लगने से कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें से फ़ायटोफ़ेरा इनैफ़स्टैन्स[१] एक विशेष फ़ङ्गस है जो आलू पर अधिक लगता है।

शकरकन्दी—इसको Sweet Potato कहा जाता है। इसमें स्टार्च और शर्करा दोनों उपस्थित रहते है। इसको प्रायः उबालकर या भूनकर खाते है। इनको आलुओं ही की भाँति उबालना चाहिए।

अरारोट—यह वास्तव में Arrow root शब्द का अपभ्रंश है। यह स्टार्च कई प्रकार के वृक्षों की जड़ों से बनाया जाता है। कुछ समय पूर्व यह वस्तु केवल 'मारांटा ऑरंडिनेसी'[२] नामक वृक्ष की जड़ से बनाई जाती थी, किन्तु अब कुछ दूसरे वृक्षों से भी बनाई जाती है। वृक्ष के पौदे की जड़ को भली भाँति पीसकर उसको कई मोटी चलनियों में धोकर छाना जाता है। इससे केवल स्टार्च चलनी के छिद्रों में होकर निकलता है और जड़ के अन्य भाग इसके भीतर रह जाते हैं। चलनी से निकले हुए जल

चित्र नं० २६—अरारोट के स्टार्च के कण

१. Phytophera Infestans. २. Maranta Aurundinacae.

में मिश्रित स्टार्च कुछ समय मे नीचे बैठ जाता है। उसको अलग करके फिर धोया जाता और अन्न को सुखा लिया जाता है। तैयार होने पर यह गन्ध और स्वाद रहित श्वेत रङ्ग की वस्तु होती है।

अरारोट शुद्ध स्टार्च होता है और उसी की भाँति प्रयुक्त होता है। इसके बिस्कुट इत्यादि बनाये जाते हैं। अथवा यह रोगियों को रोग के पश्चात् दौर्बल्यावस्था मे दिया जाता है।

साबूदाना—यह सैगस फ़ेरिनिफ़रा[१] अथवा सेगो पाम[२] नामक वृक्षों से, जो सुमात्रा में पाये जाते हैं, बनता है। इसके स्टार्च के कण बड़े और एक सिरे पर कटे हुए से दीखते हैं।

गाजर, चुकन्दर, इत्यादि की इसी वर्ग में गणना है। चुकन्दर और गाजर दोनों में स्टार्च शर्करा के रूप मे पाया जाता है। इनका प्रयोग तरकारी की भाँति होता है।

चित्र नं० २७
साबूदाने के स्टार्च के कण

(४) शाक वर्ग—शाकों का प्रयोग भोजन के साथ किया जाता है। वह हमारे भोजन का एक अभिन्न अङ्ग हैं। उनमें पोषक शक्ति अधिक नहीं होती; जो होती है वह पकाने से और भी कम हो जाती है। उनका प्रयोग भोजन की भाँति नहीं किया जाता। वह भोजन को स्वादिष्ठ बना देते हैं और इस प्रकार उनसे पाचन में सहायता मिलती है। इन शाकों में लवण काफ़ी मात्रा में रहते हैं। उनमें से बहुत से लवणों का हमारे शरीर से कार्बोनेट के रूप में परित्याग होता है।

शाकों में जल का बहुत अधिक भाग रहता है। उनमे कुछ नाइट्रोजन-युक्त पदार्थ भी होते हैं; किन्तु बसा नहीं पाई जाती। इस कारण उनको सदा घृत, तैल इत्यादि में भूनकर या उनकी रसेदार तरकारी बनाकर खाई जाती है। शाकों में सेल्यूलोज़ का बहुत अधिक भाग रहता है। यह एक प्रकार का

१. Sagus Ferinifera. २. Sago Palm.

कारबोहाइड्रेट है जिस पर पाचक रसों की बिलकुल क्रिया नहीं होती। इस कारण इसका न तो पाचन होता है और न शोषण ही। अतएव वह बिना पचा हुआ ज्यों का त्यों मल के साथ निकल जाता है। अन्त्रियों पर इसका प्रभाव यह होता है कि उनकी क्रिया वेग से होने लगती है। अतएव जिनको कोष्ठबद्धता रहती है उनको शाकों से लाभ होता है।

इक्षुमेह के रोगियों को शाक बहुतायत से दिये जा सकते हैं। उनके द्वारा इन रोगियों के शरीर में कारबोहाइड्रेट और बसा नहीं पहुँचने पाते; और रोगी को सन्तोष हो जाता है कि उसको कुछ भोजन मिल गया है।

शाक स्कर्वी के समान दशा के प्रतिरोधक हैं। इस कारण उनका प्रयोग करना आवश्यक है।

शाकों से अन्नो तथा फलो की भाँति रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इस कारण उनको पकाने से पूर्व भली भाँति देख लेना चाहिए।

(५) फल—हरे और शुष्क—फलो का प्रयोग विशेषकर उनके स्वाद, सुगन्ध और लवणो के कारण किया जाता है। उनमें जल की मात्रा बहुत अधिक होती है। विशिष्ट अवयवों की भी कुछ मात्रा पाई जाती है। कारबोहाइड्रेट शर्करा के रूप में उपस्थित रहता है। यह प्रायः द्राक्ष शर्करा होती है। कुछ फलों में बसा और प्रोटीन भी पाई जाती है। केले में प्रोटीन ४% और बसा ०.५% होती है किन्तु कारबोहाइड्रेट २०% होता है।

कच्चे फलो में अम्ल अधिक होता है। इस कारण कच्चे फलों को खाने से पाचन विकृत हो जाता है। विरेचन होने लगता है। इस कारण कच्चे और अत्यन्त पके हुए फल, जो सड़ने लगे हों, दोनों का खाना वर्जनीय है। पकने पर अम्ल कम हो जाते हैं और स्टार्च शर्करा के रूप में परिणत हो जाता है। उनमें कार्बन की मात्रा भी बढ़ जाती है।

फलों में विटेमीन अधिक होती है। उनमें स्कर्वी को नाश करने की उत्तम शक्ति होती है, विशेषकर नींबू और नारङ्गी में। शाक में जो विटेमीन होती है वह पकाने से बहुत कुछ नष्ट हो जाती है। किन्तु फलों

को बिना पकाये हुए खाने के कारण उनकी विटेमीन का हमको पूरा लाभ होता है। फल अंत्रियों के पाचक कर्म में सहायता देते हैं और रक्त में क्षारीयता उत्पन्न करते हैं। भोजन की त्रुटि से जो रोग उत्पन्न होते हैं, जैसे बेरी-बेरी इत्यादि, उनमें इन फलों से बहुत लाभ होता है।

फलों में अंगूर, केला, सेब, आम, अनार इत्यादि मुख्य हैं जिनका अधिक प्रयोग किया जाता है।

अंगूर में शर्करा की मात्रा अधिक होती है; वह १४ से २० प्रतिशत तक पाई जाती है। इसके रस में पोटाश, टारटरिक और मैलिक अम्ल तथा चूने के लवण उपस्थित रहते हैं। जो खट्टे अंगूर होते है उनमें अम्लों की मात्रा अधिक पाई जाती है। शर्करा और इन अम्लों के अधिक होने के कारण बहुत से व्यक्तियों पर अंगूरों का विरेचक प्रभाव होता है।

अंगूरों के बीजों को कभी न खाना चाहिए। वह कभी-कभी बहुत समय तक अन्त्रियों में पड़े रहते हैं और शूल उत्पन्न कर देते है।

अंगूरों को सुखाकर मुनक्का या द्राक्ष बना लेते हैं। इनको दूध के साथ खिलाने से मृदु विरेचन होता है।

केला—यह बङ्गाल में बहुत होता है। दक्षिण में भी होता है। कारबोहाइड्रेट की मात्रा अधिक होने से इसमें पोषक शक्ति बहुत होती है। यह खाने में स्वादिष्ट होता है। किन्तु दुर्बल पाचनवालों को सहज में नहीं पचता। कुछ लोगो को उससे कोष्ठबद्धता हो जाती है। केले के ऊपर का छिलका बिलकुल सेल्यूलोज़ का बना होता है। इसलिए उसको उतारकर फेंक देना चाहिए।

केले को सुखाकर उसका आटा पीस लिया जाता है और वह भोजन की भाँति काम मे लाया जाता है।

आम—आम हमारे देश का एक विशेष फल है। यह अत्यन्त मधुर, सुगन्धियुक्त और स्वादिष्ट होता है और बालक, युवा, वृद्ध सबको अत्यन्त प्रिय होता है। इसमें शर्करा और अम्लों की अधिकता होती है। इस कारण कभी-

कभी उससे दस्त आने लगते हैं। आम का रस अत्यन्त पुष्टिकर होता है; और उसको खाने के पश्चात् दूध का प्रयोग करना बहुत हितकर समझा जाता है। किन्तु दुर्बल आमाशयवाले इसको नहीं पचा पाते।

नींबू—इसका बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। प्रायः इसके रस को दाल में मिलाते हैं। उसका चटनी में भी प्रयोग किया जाता है। कुछ लोग भोजन के साथ उसको चूसते हैं। गरमियों के दिनों में नींबू के रस को निचोड़कर, जल और शक्कर के साथ मिलाकर, शर्बत बनाकर पिया जाता है जो बहुत गुणकारी और चित्त प्रसन्न करनेवाला होता है। इसका प्रयोग करने से जापानी नौका विभाग के सिपाहियों में स्कर्वी रोग का फैलना प्रायः बन्द हो गया है।

नींबू के रस में सायट्रिक अम्ल का विशेष भाग होता है और कुछ मैलिक अम्ल भी रहता है। साथ में शर्करा और प्रोटीन का भी कुछ भाग पाया जाता है। जिन देशों में नींबू कम होता है या जिस ऋतु में वह नहीं पाया जाता उस समय के प्रयोग के लिए नींबू के रस को सुरक्षित करके रखा जाता है। इसको बहुत दिनों तक रखने के लिए ९ छटाँक रस में आधी छटाँक ब्रांडी या व्हिस्की मिलाई जाती है और साथ में कुछ शकर भी मिला दी जाती है। सेना में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। यह विटेमीन की कमी को पूरी करता है।

नारङ्गी अत्यन्त लाभदायक, स्वादिष्ठ, सुगन्धित और रोगनाशक वस्तु है। इसका रस रोगी लोगों को दिया जाता है। उसमें शर्करा, लवण और सायट्रिक, मैलिक इत्यादि अम्ल रहते है। इस फल में विटे-मीन भी पर्याप्त मात्रा में होती है। इसका रस पीने से चित्त प्रसन्न होता है और स्वास्थ्य उन्नत होता है। यह रोगियों के लिए विशेषतया हितकर है।

शुष्क फल—इनका जाड़े के दिनों में बहुत प्रयोग किया जाता है, क्योंकि उनमें बसा का भाग अधिक रहता है। (निम्न-लिखित अङ्कों से कुछ फलों में उपस्थित अवयवों की मात्रा का ज्ञान होगा—

	प्रोटीन.	वसा.	कारबोहाइड्रेट.	लवण.	जल.
बादाम	२४.०	५४.०	१०.०	३.०	६ ०
पिस्ता	२१.०	५१.०	१४.०	३.३	४.४
अखरोट	१५.६	६२.६	७.७	१.०	४.६
नारियल	५.०	३५.१	५ ४	×	४६.६
मूँगफली	३१.०	५६.०	×	४.०	१२.०

जैसा इन अङ्कों से विदित है, इन फलों में पोषण की बहुत शक्ति होती है। कारबोहाइड्रेट की कमी है किन्तु प्रोटीन और वसा की अधिकता है। इसलिए इनको मांस के बराबर शक्तिदायक समझना चाहिए। किन्तु इनका पाचन मांस की अपेक्षा अधिक कठिन है।

कारबोहाइड्रेट की कमी के कारण इक्षुमेह के रोगियों को यह फल दिये जा सकते हैं। बहुत से फल डिब्बों में बन्द होकर विदेशों से आते हैं और विदेशों को भेजे भी जाते हैं। इसके लिए कुछ ऐसी वस्तुएँ प्रयोग करनी पड़ती हैं जिनसे फल सड़ने नहीं पाते। इसके लिए शर्करा का शर्बत अथवा अन्य कई रासायनिक वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है।

शर्करा—कारबोहाइड्रेट के सम्बन्ध मे शर्करा का उल्लेख किया जा चुका है। हम देख चुके हैं कि फलों मे कारबोहाइड्रेट शर्करा के रूप में रहता है। अन्य कई पदार्थों में जैसे चुकन्दर में भी शर्करा पाई जाती है; साधारणतया शर्करा गन्ने, चुकन्दर, खजूर इत्यादि से बनाई जाती है। उसमे ६४ प्रतिशत सैक्रोज़ और २ प्रतिशत जल रहता है।

शर्करा हृदय को शक्ति देनेवाली होती है। इसका शोषण अन्त्रियों द्वारा अत्यन्त पूर्ण होता है जहाँ से वह रक्त के द्वारा शोषित होकर पेशियों और यकृत् के पास पहुँचाई जाती है और भविष्य मे पेशियों के प्रयोग के लिए ग्लाइकोजिन के रूप में एकत्र कर ली जाती है।

मधु—यह फूलों के निचले भाग से मक्खियों के द्वारा एकत्र किया जाता है। उसमें सैक्रोज़ कम होता है किन्तु डैक्सट्रोज़ और लेव्यूलोज़ अधिक होते हैं। इसमें बहुत प्रकार की मिलावट की जाती है।

छठा परिच्छेद

जान्तव भोज्य पदार्थ

मांस, मछली, अण्डा, दूध, मक्खन और घृत इत्यादि वस्तुओं की गणना जान्तव भोज्य पदार्थों में की जाती है। इन वस्तुओं का प्रधान अवयव नाइट्रोजन है जो शरीर की वृद्धि और उसकी भिन्न-भिन्न क्रियाओ के उचित रूप से होने के लिए आवश्यक है। नाइट्रोजन के कर्म, प्रोटीन के सम्बन्ध में, प्रथम ही बताये जा चुके है।

मांस—संसार के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न पशुओं के मांस का प्रयोग किया जाता है। जो पशु जहाँ सुगमता से मिलता है उसी का मांस वहाँ भोजन के काम में लाया जाता है। हमारे देश में साधारणतया भेड़, बकरी, मुर्गा, हरिन और सुअर के मांस का प्रयोग किया जाता है। बङ्गाल में मछली बहुत खाई जाती है।

मांस में प्रोटीन का विशेषतया अधिक भाग होता है। उसके साथ कुछ बसा भी होती है। भिन्न-भिन्न मांसों में इन अवयवों की मात्रा भिन्न होती है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि मांस के सौ भाग में ७५ भाग जल, २० भाग प्रोटीन और ५ भाग बसा होती है।

जिसको हम साधारणतया मांस कहते हैं वह पशु की मांसपेशियों के टुकड़े होते हैं। अतएव उनमें पेशियों के सूत्र होते हैं जो संयोजक धातु द्वारा आपस में जुड़े रहते हैं। इनमे अस्थि और कण्डरा का भी कुछ भाग पाया जाता है जो खाने के काम में नहीं आता।

प्रोटीन—मांस में जो विशेष प्रोटीन पाई जाती है उसको **मायोसीन** कहते हैं। यह एक ग्लोब्यूलिन पदार्थ है जो हलके अम्लों, क्षार या नमक के द्रव में घुल जाता है। जब पशु की मृत्यु होती है तो उसके शरीर की पेशियां प्रथम कड़ी पड़ जाती हैं। यह मृत्यूत्तर सङ्कोच अथवा गात्रस्तम्भन कहलाता है। इसका कारण सारकोलेक्टिक अम्ल के द्वारा मायोसीन का जमना होता है। कुछ समय के पश्चात् गात्रस्तम्भन की अवस्था जाती रहती है और सारी पेशियां ढीली हो जाती हैं। अतएव इस समय मांस, जो गात्रस्तम्भन से कड़ा हो गया था, फिर नरम हो जाता है। और उसमें एक विशेष प्रकार की गन्ध उत्पन्न हो जाती है जो मांसाहारियों को रुचिकर होती है।

मायोसीन के अतिरिक्त मांस में कुछ ऐलब्यूमिन और एक दूसरे प्रकार के ग्लोब्यूलिन भी पाये जाते है।

कहा जाता है कि शिकार में मारे हुए पशुओं का मांस अधिक स्वादिष्ठ होता है। सम्भव है, इसका कारण वह अम्ल हों जो पशु के भागने से उसकी पेशियों मे बन जाते ह। साधारणतया भी मृत्यु के पश्चात् पेशियों में इन अम्लों की कुछ मात्रा उत्पन्न हो जाती है।

भिन्न-भिन्न पशुओ के मांस में बसा की मात्रा में भिन्नता पाई जाती है। सुअर के मांस में बसा ५० प्रतिशत होती है; बछड़ो मे १६ प्रतिशत पाई जाती है। तीतर, कबूतर और अन्य पक्षियों के मांस में बसा कम होती है। जो बलवान् पुष्ट पशु होते है उनमें दुबले कृशतनु पशुओ की अपेक्षा अधिक बसा पाई जाती है। जो मांस अधिक बसायुक्त होता है उसका पाचन कठिन होता है। इस कारण सुअर का मांस कम प्रयोग किया जाता है। प्रायः बसा मांस के सूत्रों के बीच में श्वेत रेखाओं की भाँति रहती है। इस कारण बसा-युक्त मांस के ऊपर लाल और श्वेत रंग की रेखाएँ दिखाई देती हैं।

मांस में लवण भी पाये जाते है जिनमें पोटाशियम फ़ास्फ़ेट विशेषकर अधिक होता है। मेगनेशियम और केलशियम के लवण और साधारण नमक या सोडियम क्लोराइड भी उपस्थित रहते हैं। मांस में जो रस होता है उसमें मांस के कुछ नाइट्रोजन-युक्त अवयव, जो पेशियों की प्रोटीन से

उत्पन्न होते है, घुले हुए रहते हैं। इनमें पोषक शक्ति तनिक भी नहीं होती, किन्तु वह शरीर में उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। इनमे किरेटीन, ज़ैन्थीन और यूरिया मुख्य है।

मांस का निरीक्षण—मांस का इतना अधिक प्रयोग होने के कारण म्यूनिसिपेलिटी आदि संस्थाओ को अपने स्वास्थ्य-निरीक्षक के द्वारा मांस का निरीक्षण करवाना पड़ता है। हमारे देश में मांस अधिक समय तक उत्तम दशा में नहीं रह सकता। विशेषकर गरमी और वर्षा की ऋतु में वह थोड़े ही समय मे बिगड़ जाता है। इस कारण उसको विशेष सावधानी से रखने की आवश्यकता है।

पशु के मारे जाने के थोड़े ही समय के पश्चात् मांस का निरीक्षण करना आवश्यक है। डाक्टर लैथबी के अनुसार महाशय दास ने उत्तम मांस में निम्नलिखित बातें उपस्थित होनी आवश्यक समझी हैं—

(१) उत्तम मांस में कुछ कड़ापन होता है, वह (जमे हुए बसा की भाँति) अत्यन्त नरम नहीं होता। वह गीला मालूम होता है। किन्तु उसको छूने से उँगलियाँ गीली नहीं होतीं।

(२) मांस का रङ्ग हलका लाल होना चाहिए। यदि उसमें पीलापन अधिक है तो वह पशु की रोगग्रस्त दशा का सूचक है। अधिक लाली यह बतलाती है कि पशु किसी प्रकार के तीव्र ज्वर से पीड़ित था अथवा उसको मारकर उसके शरीर से रक्त तुरन्त नहीं निकाला गया।

(३) उत्तम मांस मे एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है, किन्तु वह दुर्गन्धि नहीं होती। जब मांस सड़ने लगता है तो उसका रङ्ग भी विकृत हो जाता है; वह बहुत ढीला हो जाता है और उससे दुर्गन्धि निकलने लगती है। यदि ऐसे मांस में एक चाकू को घुसेड़कर निकाल लिया जावे तो उससे तीव्र दुर्गन्धि निकलने लगेगी।

(४) मांस को रखने से उससे कुछ रस निकलने लगता है जिसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। किन्तु मांस के बिगड़ जाने पर उसकी प्रतिक्रिया अम्लिक हो जाती है।

(५) उत्तम मांस पकाने पर मात्रा में कम नहीं होता। वह लगभग पूर्व ही के बराबर रहता है।

(६) चौबीस घण्टे तक रखने के पश्चात् मांस कुछ शुष्क दिखाई देने लगता है। किन्तु यदि वह गीला दिखाई दे तो उसे उत्तम नहीं समझना चाहिए। बिगड़ जाने पर मांस के टुकड़ों को खींचने से उनके सूत्र टूट जाते हैं; किन्तु ताज़ा उत्तम मांस इस प्रकार नहीं टूटता। पशु जो चारा खाते हैं उसकी भी गन्ध कभी-कभी मांस मे आने लगती है; किन्तु उससे मांस को दूषित समझना उचित नहीं है। बुड्ढों का, या जिन पशुओ को पर्याप्त भोजन नही मिला है उनका मांस भी रुचिकर नहीं होता।

पुट्ठे, उदर, वक्ष इत्यादि की पेशियों और वृक्क प्रान्त के मांस को ध्यान से देखना चाहिए।

पशुओं का निरीक्षण—जो पशु रोगी होते है उनका मांस खाने योग्य नहीं होता। उसके द्वारा रोग उत्पन्न हो सकते है। इसलिए बध करने से पूर्व चौबीस घण्टे तक पशु को बाड़े मे रखकर देखना चाहिए कि वह रोगग्रस्त तो नहीं है। स्वस्थ पशु का शरीर सुगठित होता है, पेशियाँ दृढ़ होती हैं, नितम्बों का स्थान भरा हुआ होता है और पर्शुका दिखाई नहीं देतीं। उसके नेत्रों में चमक होती है। चर्म भी चमकीला होता है। श्वास से किसी प्रकार की गन्ध नहीं आती; नाक की श्लैष्मिक कला लाल और चमकती हुई होती है। बैठकर उठने मे पशु को कोई कठिनाई नही होती। उसकी चाल भी साधारण स्वस्थ पशुओं की सी होती है; वह चलने में नहीं लँगड़ाते।

पशु के रुग्ण होने पर उसके चर्म की चमक जाती रहती है और बाल गिरने लगते है, नेत्रों की चमक भी कम हो जाती है, नाक से स्राव होने लगता है और मुँह से प्रायः झाग गिरा करते हैं। जिह्वा मुँह से बाहर लटकती रहती है। उसको चलने में कठिनाई होती है और वह श्वास वेग से लेता है। श्वास कभी-कभी दुर्गन्धि-युक्त होता है। ज्वर की दशा मे कान और पाँव गरम रहते हैं।

दूषित मांस से उत्पन्न होनेवाले रोग—मांस मे दो प्रकार से

दोष उत्पन्न हो सकता है; पशु को मारकर मांस के उचित प्रकार से सुरक्षित न रखने से; अथवा जिस पशु को मारा गया है उसके रोगग्रस्त होने से।

हमारे यहा अथवा अन्य सब उष्णता-प्रधान देशों में मांस, विशेषकर गरमियों में, थोड़े ही समय में बिगड़ जाता है। इस कारण उसको बहुत समय तक नहीं रखना चाहिए। उसको रखने के लिए ऐसा स्थान होना चाहिए जो मक्खियों आदि कीट या अन्य कृमियों से पूर्णतया सुरक्षित हो। इनके द्वारा रोगों के जीवाणु मांस मे पहुँच सकते हैं। अन्वेषण से पाया गया है कि मांस के द्वारा राजयक्ष्मा और ऐन्थ्रेक्स[1] के जीवाणु शरीर मे पहुँचते हैं। अन्य रोगों के जीवाणुओं का संवहन प्रायः मांस के द्वारा नहीं होता।

जिस मांस को उचित स्थान में और उचित विधि द्वारा सुरक्षित नहीं रखा गया है उसके प्रयोग से प्रायः भोजनजन्य विष के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते है। सड़े हुए मांस के प्रयोग से भी ऐसे ही लक्षण उत्पन्न होते है। जी मिचलाना, वमन, उदरशूल, अतिसार, दुर्बलता, हृदयावसाद, ज्वर और कभी-कभी प्रलाप तक उत्पन्न हो जाते है। टीन के डिब्बों में बन्द होकर जो मांस बाहर से आता है उसको खाने से भी ऐसे ही लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। यह माना जाता है कि यह मांस कुछ जीवाणु, विशेषकर बैसिलस ऐन्टरीटाइडिस[2] और उनके द्वारा उत्पन्न हुए विषो से युक्त होता है।

रोगग्रस्त पशुओं का मांस सदा हानिकारक और रोगोत्पादक होता है। पशुओं में प्रायः निम्नलिखित रोग पाये जाते हैं जिनके कारण उनका मांस वर्जनीय है:—

पशुओ का प्लेग	ऐक्टिनोमाईकोसिस[4]
ऐन्थ्रैक्स,	सन्धिवात
निमोनिया,[3]	मुखपाद रोग
चेचक	यकृत्-कृमि
राजयक्ष्मा,	आन्त्रिक ज्वर

कृमिजन्य रोग जैसे ट्रिकिनाएसपायरेलस, ग्लैडर्स[5] इत्यादि। फ़ार्सी[6]।

---

१. Anthrax २. Bacillus Enteritidis. ३. Pneumonia. ४. Actinomycosis. ५. Glanders. ६. Farcy.

कृमिजन्य रोगों में कृमियों के लार्वा मांस में रहते है और उसके साथ शरीर के भीतर पहुँच जाते हैं। यद्यपि पकाने से बहुत से रोगों के जीवाणुओं और कृमियों का नाश हो जाता है, किन्तु फिर भी उस पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिए संदिग्ध मांस न खाना चाहिए।

मांस में प्राय. निम्नलिखित कृमि पाये जाते है—

सिस्टीसर्काई[१]—इस समूह के कृमि गौ या बैल, भेड़ और सूअर मे पाये जाते हैं जहाँ से वह मनुष्य, कुत्ते अथवा बन्दरो के शरीर में प्रविष्ट हो सकते हैं। यह कृमि मांस में छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ बना देते हैं जो मांस की परीक्षा करने पर उँगलियों को प्रतीत होती हैं। यह ग्रन्थियाँ परिधि मे $\frac{१}{२५}$ से $\frac{३}{८}$ इंच तक हो सकती हैं।

यह कृमि दो प्रकार के होते हैं। जो भेड़, गौ या बैल के मांस में पाये जाते है वह सिस्टीसर्कस बोविस[२] और सूअर के मांस में पाये जानेवाले कृमि सिस्टीसर्कस सैल्यूलोज़ी[३] कहलाते हैं।

सिस्टीसर्कस सैल्यूलोज़ी—जिस मांस मे यह कृमि होते है वह ढीला, नरम और पीला होता है। हाथ से छूने से वह चिकना प्रतीत होता है। ग्रन्थियों के भोतर कृमि होते है जो चारों ओर से एक आवरण द्वारा आवेष्टित रहते हैं। इनके भीतर श्वेत दूध के रङ्ग जैसा तरल द्रव्य भरा रहता है। कभी-कभी आवरण चूने के लवणों से संयुक्त हो जाने के कारण कड़ा हो जाता है।

यह कृमि वास्तव में मनुष्य की अन्त्रियो में पाये जानेवाले टीनिया सोलियम[४] नामक कृमि के वृद्धिक्रम की एक अवस्था होते हैं। इन्हीं की वृद्धि से टीनिया सोलियम कृमि बनता है। किन्तु यह वृद्धि केवल मनुष्य अथवा कुछ अन्य पशुओ ही में होती है। इस प्रकार कृमि को वृद्धि करने के लिए प्रथम दूसरे आश्रयदाता की आवश्यकता होती है। तत्पश्चात् मनुष्य की अन्त्रियों में पहुँचकर उनसे पूर्ण कृमि बन जाता है।

---

१. Cysticerci. २. Cysticercus Bovis. ३. Cysticercus Cellulosae. ४. Taenia Solium.

टीनिया सोलियम—यह कृमि, जो मनुष्य की अन्त्रियों में पराश्रयी की भाँति पाया जाता है, कई गज़ लम्बा होता है। इसका आकार एक लम्बे फ़ीते के समान होता है। वह अपने एक सिरे की ओर से, जो कृमि का शिर होता है, अन्त्रियों की भित्ति पर चिपटा रहता है; शेष सारा शरीर अन्त्रियों के भीतर स्वतन्त्र पड़ा रहता है। शिर की ओर का भाग शरीर के शेष भाग से कहीं पतला और संकुचित होता है, शिर उसके सिरे पर छड़ी की मूँठ की भाँति दिखाई देता है। यह शिर ऊपर चलकर कुछ चौकोर हो जाता है। इसका बीच का भाग ऊपर की ओर को अधिक उठा हुआ होता है। इसके चारों ओर २८ छोटे मुड़े हुए कठिन अंकुरों की दो पंक्तियाँ होती हैं जिनके द्वारा कृमि अन्त्रियों की भित्ति पर चिपटा रहता है। इन अंकुरों के पीछे की ओर से चार अङ्ग, जिनको चूषक[1] कहते हैं, निकले रहते हैं। कृमि का शरीर ऐसा दीखता है जैसे फ़ीते के बहुत से भागों को जोड़ दिया गया हो। समस्त शरीर में कोई ८५० भाग होते हैं। प्रत्येक भाग प्रोग्लोटाइड[2] कहलाता है।

चित्र नं० २८
टीनिया सोलियम
का शिर

कृमि के शरीर में पाचन-संस्थान नहीं होता। नाड़ी और मलोत्सर्ग संस्थान होते हैं। शरीर के २००वें भाग के लगभग पुरुष-जननेन्द्रियाँ दिखाई देना आरम्भ होती है। स्त्री-जननेन्द्रिया, जिनमें गर्भाशय मुख्य होता है, शरीर के पिछले भाग में स्थित होती हैं। अन्तिम भागों में गर्भाशय का आकार बहुत बढ़ जाता है जिसके कारण दूसरे अङ्गों को संकुचित होना पड़ता है। अन्तिम भागों मे गर्भाशय अनेक शाखाओं से युक्त होता है। परिपक्व होने पर गर्भाशय अण्डों से भरा रहता है। सबसे प्रथम ४०० से ५००वें के बीच के भागों में अण्डे परिपक्व होते हैं। इस प्रकार शरीर के इन भागों से नवीन कृमि उत्पन्न होते हैं।

---

१. Suckers. २. Proglottides.

जीवन-चक्र—कृमि के परिपक्व भाग या प्रोग्लोटाइड अन्य पदार्थों के साथ सूअर के आमाशय में पहुँच जाते है। प्रायः सूअर इत्यादि द्वारा खाये जाने के पूर्व ही प्रोग्लोटाइड से अण्डे बाहर निकल आते हैं और जल, भूमि अथवा घास इत्यादि पर फैल जाते है। जब यह अण्डे आमाशय में पहुँचते है तो वहाँ पर आमाशयिक रस की क्रिया से अण्डो के ऊपर का आवरण घुल जाता है और उनके भीतर स्थित भ्रूण स्वतन्त्र हो जाता है। भ्रूण का शरीर कुछ गोल होता है और उस पर छः अंकुर होते है। यह भ्रूण अन्त्रियों या आमाशय की भित्ति मे घुसकर शरीर के किसी भाग में पहुँच जाता है। वहा पर इसकी वृद्धि होती है। उसका शिर निकलता है, ग्रीवा भी बन जाती है। इससे अधिक वृद्धि केवल आमिषभोजी जन्तुओ में होती है। जब कृमि इस अवस्था में किसी मांसाहारी जन्तु द्वारा खा लिया जाता है तो वह उसकी अन्त्रियों में पहुँचकर वृद्धि करने लगता है। प्रथम शिर बड़ा होता है, फिर ग्रीवा लम्बी होती है और उस पर रेखाएँ दिखाई देने लगती हैं। धीरे-धीरे शरीर के अन्य भाग भी बनने लगते हैं। कुछ ही सप्ताह में पूर्ण परिपक्व कृमि बन जाता है और शरीर के विशेष भागों में अण्डे उत्पन्न हो जाते है।
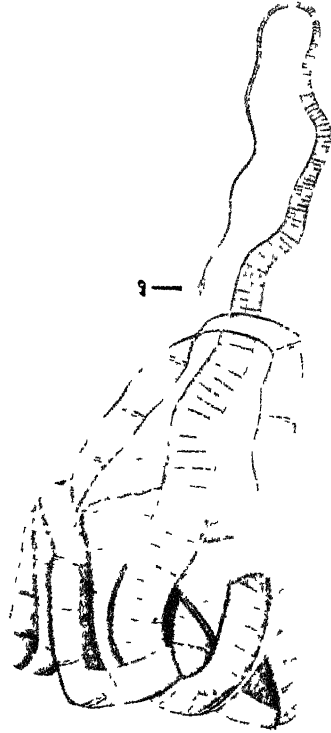
चित्र नं० २६
टीनिया सोलियम—पूर्ण कृमि
१, शिर

सिस्टीसर्कस बोविस—यह कृमि गौ या बैल में पाया जाता है। वह भेड़ बकरी इत्यादि में भी मिल सकता है। इसका शिर चपटा होता है; उसमे कोई अंकुर नहीं होते, केवल चूषक होते है। शिर के ऊपर एक गढ़ा होता है। यह कृमि भी सैल्यूलोज़ी की भाँति पूर्ण कृमि के वृद्धिक्रम की एक अवस्था है। इस कृमि की वृद्धि से टीनिया सेजिनाटा[1] नामक कृमि उत्पन्न होता है जो टीनिया सोलियम जाति ही का है। किन्तु यह कृमि टीनिया सोलियम की अपेक्षा अधिक लम्बा होता है। इसकी लम्बाई ७ या ८ गज़ होती है। इसके शरीर के भागों में जो गर्भाशय पाया जाता है उसमे २० से ३५ तक शाखाएँ होती है।

कुछ विद्वानों की सम्मति है कि सिस्टीसर्कस बोविस की वृद्धि से टीनिया मीडियोकेनीलेटा[2] नामक कृमि बनता है।

इन कृमियों का जीवन-चक्र टीनिया सोलियम की ही भाँति होता है।

टीनिया ऐकिनोकोकस[3] भी इसी जाति का कृमि है किन्तु वह बहुत छोटा होता है। उसके शरीर में केवल तीन या चार भाग होते हैं। उसके शिर पर अङ्कुर और चूषक दोनों होते हैं। यह कृमि कुत्तों की अन्त्रियों में अधिक पाया जाता है। उत्पत्ति की अवस्था में यह कृमि भी छोटे-छोटे कोष बना देते हैं जिनको सिस्ट[4] या हाइडेटिड[5] कहते हैं। यह कोष शरीर के किसी भी भाग में पाये जा सकते हैं, विशेषकर यकृत् में। वह बैल, भेड़, इत्यादि जन्तुओं के फुस्फुस और यकृत् में पाये गये हैं। मनुष्य के यकृत् में भी यह कोष पाये जा सकते है। जिन देशों में मनुष्य

चित्र नं० ३० टीनिया ऐकि-नोकोकस

---

१. Taenia Sagginata २. Taenia Mediocanelata ३. Taenia Ecchinococcus, ४. Cyst. ५. Hydatid.

और कुत्तों का अधिक सम्पर्क होता है वहाँ पर मनुष्यों के इस रोग से आक्रान्त हो जाने का अधिक भय रहता है।

यह छोटे-छोटे कोष, जो कुछ पीले रङ्ग के होते हैं, एक स्वच्छ तरल द्रव्य में तैरते रहते हैं जो एक दृढ़ आवरण के भीतर बन्द होता है। इस आवरण को, जो ब्रुड[१] कैप्स्यूल कहलाता है, काटने पर कोष दिखाई देते हैं।

कृमि को पहचानने के लिए कोषों को काटकर उनके भीतर के द्रव्य में अङ्कुरों या कृमि के शिर की खोज करनी चाहिए। यह द्रव्य पतला होता है; इसमें अलबूमिन नहीं होता; और इस कारण वह उबालने पर नहीं जमता।

जीवन-चक्र—कृमि के शरीर के केवल अन्तिम भाग में जननेन्द्रियाँ होती हैं। अण्डे भी उसी में बनते हैं। यह अण्डे आश्रयदाता के शरीर से मल के साथ बाहर निकलते हैं और धूल, घास अथवा अन्य पदार्थों में मिल जाते हैं। यहाँ से जल, फल, शाक अथवा घास इत्यादि के द्वारा वह गौ, भेड़
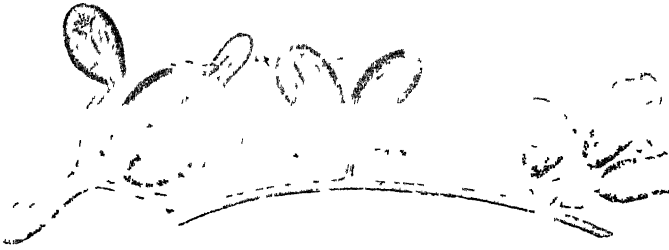
चित्र नं० ३१
टीनिया ऐकिनोकोकस की सिस्ट का परिच्छेद
जिसके भीतर अन्य सिस्ट उपस्थित हैं।

बकरी, सूअर अथवा मनुष्य के आमाशय में पहुँच जाते है। यहाँ पर अंडों का आवरण घुल जाता है और उसके भीतर से भ्रूण निकल आते है। इन

१. Brood-capsule.

भ्रूणो के शिर पर दो पंक्तियों मे छ अङ्कुर रहते है। इन अङ्कुरों के द्वारा अन्त्रियों की भित्तियो मे होते हुए कृमि शरीर के भिन्न-भिन्न भागो मे पहुँच जाते है जहां इनकी वृद्धि होती है। अन्य अङ्गों की अपेक्षा यह यकृत् में अधिक पाये जाते है। वहा पर इनके अङ्कुर लुप्त हो जाते है और कृमि गोल या कुछ लम्बोतरा हो जाता है। इनको 'हाइडेटिड सिस्ट' कहते है। यह फूले हुए कोष की भांति दीखते है। कुछ समय मे यह कोष बड़ा हो जाता है और उनके भीतर कई नये कोष या सिस्ट बन जाते है जो मातृ-कोष की दीवार मे एक डण्ठल के द्वारा लगे रहते है। धीरे-धीरे इन नवीन कोषों के भीतर और नये कोष बन सकते हैं। इस प्रकार एक कोप को काटने से उसके भीतर अनेक कोष उपस्थित मिल सकते हैं। इनमें से प्रत्येक कोष में कई शिर उत्पन्न हो जाते है। प्रत्येक शिर मे चार चूषक और कई अङ्कुर होते है। जब यह शिर दूसरे आश्रयदाता के शरीर मे पहुँचते है तो वह पूर्ण कृमि मे परिवर्त्तित हो जाते है।

बोथ्रियोकिफ़ेलस लेटस[1]—यह भी ऊपर बताई हुई दीर्घ कृमियों की जाति का सदस्य है; किन्तु उनसे कहीं बड़ा होता है। यह केवल योरुप के कुछ भागों में पाया जाता है। इसके भी शिर पर अङ्कुर नहीं होते, किन्तु दो चूषक होते है।

ट्रिकिना स्पायरेलिस[2]—यह कृमि आकार में छोटे और कोमल होते हैं। पुरुष का शरीर १ मिलीमीटर और स्त्री का ३ मि० मी० के लगभग लम्बा होता है। शरीर लम्बा और दोनों सिरो की ओर संकुचित होता है। शिर की ओर बीच मे एक सूक्ष्म छिद्र होता है जो कृमि का मुख होता है। इन कृमियों के शरीर में पाचन-नलिका उपस्थित होती है। इनमें जननेन्द्रियाँ भी होती हैं। स्त्री के गर्भाशय में प्रायः अण्डे अथवा भ्रूण भरे रहते हैं जो एक कमानी की भांति मुड़े हुए दिखाई देते हैं।

स्त्री जाति का कृमि आश्रयदाता की अन्त्रियों की भित्ति में घुसकर किसी रसवाहिनी नलिका मे पहुँच जाता है। यहाँ पर कृमि के अण्डे, जो उसके

---

१. Bothriocephaluslatus. २. Trichina Spiralis

गर्भाशय में स्थित थे, शरीर से निकलते है। इन अण्डों की संख्या प्रायः बहुत अधिक होती है। एक बार में एक सहस्र या इससे भी अधिक अण्डे या
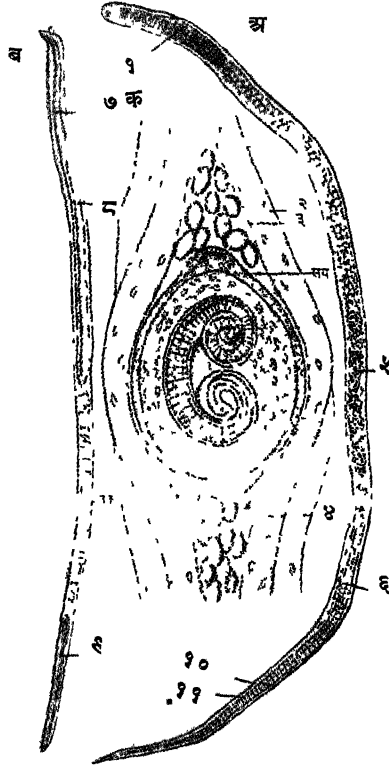
अ—स्त्री-कृमि;

ब—पुरुष-कृमि

क—पेशी में सिस्ट के भीतर स्थित कृमि।

१, डिम्बग्रन्थि; २, पेशी सूत्र; ३, बसा के कण; ४, सौत्रिक धातु का आवरण; ५, भ्रूण; ज क, ६, ११, अन्त्रियों के कोषाणु; ७, निष्कासक नलिका; ८, अंड; ९, ग्रसनिका; स य सिस्ट।

चित्र नं० ३२—ट्रिकिना स्पायरेलिस

डिम्ब मातृ-कृमि के शरीर से निकलकर आश्रयदाता के शरीर में प्रविष्ट हो सकते हैं। रसवाहिनियों में रस के प्रवाह द्वारा रक्त में पहुँचकर वह शरीर के सब भागों में पहुँच जाते हैं और अन्त में ऐच्छिक मांसपेशियों के भीतर प्रवेश

करते हैं। यहाँ पर वह मांससूत्र के आवरण का छेदन करके सूत्र की वस्तु में पहुँचकर कमानी की भाँति मुड़ जाते हैं। इनके चारों ओर एक कोष या सिस्ट बन जाता है और मांसपेशी का नाश होने लगता है। इससे अधिक वृद्धि के लिए कृमि को दूसरे आश्रयदाता के शरीर में जाना आवश्यक है जिसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता। इस प्रकार मनुष्य के शरीर का कृमि सूअर इत्यादि के शरीर में और सूअर के शरीर का कृमि मनुष्य के शरीर में पहुँचना चाहिए। वहाँ पर आमाशय के रस से कृमि का कोष धुल जाता है। वह स्वतन्त्र होकर वृद्धि करता है, उसकी जननेन्द्रियों का विकास होता है और वह नवीन सन्तति उत्पन्न करता है। यह नवजात कृमि फिर पेशियों में पहुँचकर पूर्व की भाँति आचरण करते हैं।

एक कोष में तीन कृमि उपस्थित पाये जा सकते हैं। कुछ समय के पश्चात् पेशियों में उपस्थित इन कोषों में चूने के लवण एकत्र हो जाते हैं, जिससे कोष कड़े हो जाते हैं और वह उँगलियों को प्रतीत होने लगते हैं। इससे कृमियों की भी शरीर के अम्ल अथवा लवणों से रक्षा होती है। न केवल यही किन्तु मांस को भूनने या पकाने के समय भी कृमियों का अग्नि से नाश नहीं होता।

अन्त्रियों से वितीर्ण होने के कारण इन कृमियों की सबसे अधिक संख्या महाप्राचीरा पेशी, उदर और वक्ष की पेशी और यकृत् में पाई जाती है। किन्तु थोड़े ही समय में यह कृमि सारे शरीर की पेशियों में फैल जाते हैं; कोई भी पेशी उनसे मुक्त नहीं रहती। कृमि पेशी में निवेश स्थान के पास अधिक एकत्र होते हैं। इस कारण मांस की परीक्षा करते समय इन स्थानों को अवश्य देखना चाहिए। जो पेशी इन कृमियों से आक्रान्त होती है वह पीतवर्ण, ढीली और कुछ फूली हुई सी दिखाई देती है। उसमें कोष-युक्त कृमि पिन के शिर के बराबर श्वेत बिन्दु सरीखे दिखाई देते हैं। कृमि की परीक्षा करने की सबसे उत्तम विधि यह है कि जिस पेशी में कृमि के उपस्थित होने का सन्देह हो उसका परिच्छेद काटकर सूक्ष्मदर्शक के द्वारा देखा जाय। यदि परिच्छेद को पोटाश हाइड्रेट के विलयन में भिगो दिया जावे तो उसकी क्रिया से पेशी के सूत्र पारदर्शी हो जावेंगे और उनके बीच में

मुड़ा हुआ कृमि स्पष्टतया दीखने लगेगा। किन्तु परिच्छेद को विलयन मे केवल एक या दो मिनट रखना चाहिए।

डिस्टोमा हिपेटिकम[1] अथवा यकृत् कृमि—यह एक छोटा कृमि है जो यकृत् की पित्त-नलिकाओ अथवा पित्ताशय में मिलता है। यह १ से १½ इंच तक लम्बा और ½ इंच चौड़ा होता है। शरीर के एक ओर मुख होता है जिसके चारो ओर चूषक रहते है। इन्हीं के द्वारा कृमि पित्त-नलिका की भित्ति अथवा यकृत् में चिपटा रहता है। इसका रङ्ग हलका भूरा होता है। कृमि के शरीर में पाचन-नलिका, मलोत्सर्ग संस्थान, नाड़ी संस्थान, और जननेन्द्रियाँ सब अङ्ग पाये जाते है। पुरुष और स्त्री-जननेन्द्रियाँ दोनो एक ही कृमि मे उपस्थित होती हैं। गर्भाशय का आकार एक नलिका के समान होता है।
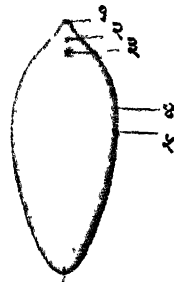
चित्र नं० ३२
यकृत् कृमि
१, मुख, २, मैथुन छिद्र; ३, पश्चिम चूषक; ४, मलोत्सर्ग छिद्र।

अण्डे या डिम्ब कृमि के शरीर से जल मे चले जाते है। उनकी वृद्धि घोंघे नामक जन्तुओं के शरीर में होती है जहाँ उनसे लार्वा बन जाते है। तत्पश्चात् उनका आकार छोटे अपूर्ण मेंढको (पूर्ण मेंढक बनने से पूर्व का रूप) के समान हो जाता है। वह इसी दशा मे घोंघो के भीतर रहते है अथवा उनको छोड़कर घास इत्यादि पर चिपट जाते हैं जहाँ से वह घास के साथ जन्तुओं के शरीर में पहुँचकर वृद्धि करते हैं।

यह कृमि यकृत्, पित्ताशय, पित्त-नलिका और फुस्फुस में मिल सकते हैं; यहाँ से वह रक्त में पहुँच जाते हैं। जिस यकृत् में यह कृमि हो उसको कभी भी प्रयोग न करना चाहिए।

ऐस्केरिस लम्ब्रीकाइडीज़[2] अथवा गोल कृमि—यह कृमि लम्बा किन्तु चौड़ाई मे गोल होता है। स्त्री कृमि ८ से १६ इंच लम्बा और ⅙ इंच चौड़ा होता है। पुरुष कृमि छोटा होता है। उसका रङ्ग हलका भूरा होता है।

१. Distoma Hepaticum. २. Ascaris Lumbricoides.

शरीर के ऊपर चार रेखाएँ, दो ऊपर और नीचे और दो दोनों ओर पार्श्व में, होती हैं। आगे की ओर शरीर के अन्त पर मुख होता है जिसके चारों ओर तीन कुछ त्रिकोणाकार अङ्ग या ओष्ठ होते हैं। इनमें से एक अङ्ग ऊपर की ओर बीच में होता है और शेष दोनों नीचे की ओर पार्श्व मे रहते हैं। शरीर की मध्य रेखा मे नीचे की ओर पिछले सिरे से कुछ आगे मलद्वार का छिद्र होता है। पुरुष में यही मैथुन छिद्र का भी काम करता है। किन्तु स्त्री में मैथुन छिद्र शरीर के अगले सिरे से तृतीयांश भाग पर स्थित होता है। कृमि मे पाचन-नली पूर्णतया विकसित होती है। मलोत्सर्ग संस्थान और नाड़ी-मण्डल भी पूर्ण होते है। जननेन्द्रियाँ शरीर का अधिक भाग घेरे रहती है।

स्त्री कृमि अण्डों को बहुत शीघ्रता से और बहुत बड़ी संख्या मे उत्पन्न करती है। यह अनुमान किया जाता है कि १९००० अण्डे प्रति दिवस उत्पन्न होते हैं। यह अण्डे गर्भाशय में परिपक्व होते है। प्रत्येक के ऊपर एक कड़ा आवरण चढ़ा रहता है। इस दशा में वह आश्रयदाता के शरीर से मल के साथ निकल जाते है। कुछ समय में अण्डों के भीतर भ्रूण बन जाता है। जब जल या भोजन के साथ यह अण्डे किसी पशु या मनुष्य के शरीर में पहुँचते हैं तब अण्डों से कृमि निकलकर वृद्धि करते हैं और पूर्ण हो जाते हैं।

यह कृमि प्रायः मांस के द्वारा शरीर में नहीं पहुँचते।

पशुओं का राजयक्ष्मा

पशुओ मे यह रोग बहुत पाया जाता है। इसका अन्वेषण करने के लिए सन् १८९८ में एक शाही कमीशन बैठा था। उसकी सम्मति के अनुसार इँग्लैंड में मांस-निरीक्षकों को शव की परीक्षा करके देखना होता है कि शव का कितना और कौन-सा भाग रोग से ग्रस्त है। उसी के अनुसार सारे शव को अथवा केवल कुछ अङ्गों को खारिज कर दिया जाता है। यदि—

(१) दोनो फुस्फुसों मे राजयक्ष्मा के चिह्न सर्वत्र फैले हुए हों अथवा,

(२) फुस्फुसावरण और उदरकला पर रोग के चिह्न उपस्थित हों अथवा,

(३) पशु के शरीर की पेशी या पेशियों के बीच मे रस ग्रन्थियाँ रोग से ग्रस्त हो, अथवा

(४) सारा शव कृश हो और उसके किसी भाग में रोग उपस्थित हो; तो इन सब दशाओं में सारे शव को खारिज कर देना चाहिए।

यदि—

(१) रोग फुस्फुसो मे किसी परिमित स्थान में या वक्ष की रस ग्रन्थियों में उपस्थित हो अथवा,

(२) यकृत् में परिमित हो अथवा,

(३) केवल गले की रस ग्रन्थियां रोगग्रस्त हो अथवा,

(४) ऊपर कहे हुए कई स्थानों में रोग उपस्थित हो किन्तु उसकी सीमा परिमित हो; इन सब दशाओ में शव के केवल रोगग्रस्त भाग या अङ्गो को खारिज करना पर्याप्त है।

मांस को पकाना—पकाने से अन्य सब पदार्थों की भाँति मांस का भी दोष जाता रहता है। यदि उसमे कोई रोगोत्पादक जीवाणु होते है तो उनका नाश हो जाता है। मांस के भीतर जो सौत्रिक धातु होती है वह पकाने से गलकर जिलेटीन बन जाती है। किन्तु उससे कुछ रसों का, जो मांस में विशेष गन्ध और स्वाद उत्पन्न करते है, नाश हो जाता है। यदि उबलते हुए जल मे मांस छोड़ दिया जावे तो इन रसो का नाश न होगा। इनमें कोई शक्ति नहीं होती। किन्तु वह मांस को स्वादिष्ट बनाकर उसके पाचन में सहायता देते हैं।

मांस का पाचन—मांस का पाचन आमाशय में होता है। प्रोटीनों को पचाने का काम आमाशय का है। पेप्सिन और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के प्रभाव से मांस के सूत्र फूलकर मोटे और नरम हो जाते है, और अनेक रासायनिक परिवर्तनों के पश्चात् अत्यन्त सूक्ष्म कणो में विभाजित हो जाते हैं जिनको अन्त्रियां सोख लेती है। प्रयोगो से पाया गया है कि मांस के पाचन पर उसके पकने का भी काफ़ी प्रभाव पड़ता है। महाशय जैसन के अनुसार

बिना पका हुआ मांस २ घण्टे मे आमाशय से अंत्रियो में चला जाता है। अर्थात् २ घण्टे में उसका आमाशय में पूर्ण पाचन हो चुकता है। थोड़ा उबला हुआ मांस आमाशय को त्याग करने में २½ घण्टा और पूर्णतया उबला हुआ मांस ३ घण्टे लेता है। भूनने पर उसके पाचन में और भी अधिक समय लगता है। थोड़ा भूना हुआ मांस ३ घण्टे और पूर्णतया भूना हुआ मांस ४ घण्टे मे पचता है।

मछली

यद्यपि मछली का प्रयोग सारे देश मे होता है किन्तु बङ्गाल आदि प्रान्तों मे इसका अधिक प्रचार है। प्रायः इसको चावल के साथ खाया जाता है जिससे चावल की प्रोटीन की कमी पूरी हो जाती है।

मछलिया कई प्रकार की होती है। किन्तु साधारणतया उनके शरीर में उपस्थित बसा के अनुसार उनको 'स्थूल' और 'दुर्बल' कहा जाता है। मोटी मछलियाँ, जिनके शरीर में बसा की अधिक मात्रा होती है, देर से पचती हैं। कम बसावाली दुबली मछलियो का पाचन सहज होता है। साधारण-तया सब मछलियों का पाचन मांस की अपेक्षा जल्दी होता है और उनका शोषण और भी पूर्ण होता है। मछली की प्रोटीनो के ६९ प्रतिशत, बसा के ६० प्रतिशत और लवण या अन्य वस्तुओं के ६७ प्रतिशत भाग का शोषण होता है। इस कारण, यद्यपि मछलियों में मांस की अपेक्षा शक्त्यु-त्पादक अवयवों की मात्रा कम होती है, किन्तु उनका शोषण अधिक पूर्ण होने से दुर्बल लोगों के लिए वह उत्तम भोज्य पदार्थ होती हैं। उनमें मांस की अपेक्षा पेशियों के या अन्य अङ्गो के बनने में सहायता देने की शक्ति अवश्य कम है, क्योंकि उनमें प्रोटीन की कमी है; किन्तु मोटी मछ-लियाँ बसा के कारण काफ़ी शक्ति उत्पन्न करती है। मांस की अपेक्षा मछली में उत्तेजक रस भी कम होते है। जनता में जो यह विश्वास है कि मछली मांस की अपेक्षा अधिक उत्तेजक होती है उसका कारण यह मालूम होता है कि मछली का शोषण मांस की अपेक्षा अधिक पूर्ण होता है। इसी

भाँति मछली को विचार सम्बन्धी कर्म करनेवालों के लिए अधिक उपयोगी माना जाता है। क्योंकि सामान्य धारणा यह है कि उसमें फ़ास्फ़ोरस अधिक होती है। यह विचार भी निर्मूल है, मछली मे फ़ास्फ़ोरस की विशेष मात्रा नहीं होती।

मछलियों का निरीक्षण—मांस की भाँति मछली का भी निरीक्षण आवश्यक है। ताज़ा मछली हाथ को नरम मालूम होती है किन्तु फसफसी नहीं होती। उसको हाथ मे थाम्ह लेने से उसकी पूँछ नीचे की ओर नहीं झुकेगी। उसके डैने श्वेत चमकदार होते है और नेत्रों मे भी चमक होती है। यदि नेत्रों में चमक न हो और वह भीतर को धँसे हुए हो तो मछली को रोगी समझना चाहिए। यदि उसके काटने पर दुर्गन्धित रक्त निकले तो वह भी मछली की विकृत दशा का सूचक है।

मांस की भाँति मछलियो के द्वारा भी कई प्रकार के रोगों का संवहन हो सकता है। जो मछलियाँ डिब्बों में बन्द होकर बाहरी देशों से आती है उनसे भोजन-जन्य विष उत्पन्न हो सकता है जिसके लक्षण मांस के भोजन-जन्य विष के समान होते है।

अंडा

अण्डे में भोजन के सब अवयव उपस्थित होते हैं क्योकि उनसे एक जन्तु का शरीर बनता है। प्रोटीन एलब्यूमिन के रूप मे श्वेत और पीले दोनों भागों में रहती है। बसा पीले भाग में रहती है और कारबोहाइड्रेट का भी कुछ भाग पाया जाता है। साथ में जल और लवण भी पर्याप्त मात्रा मे उपस्थित रहते है। इस कारण अण्डे को भोजन का उत्तम पदार्थ माना जाता है। किन्तु कारबोहाइड्रेट की मात्रा के अपर्याप्त होने से उसके साथ किसी स्टार्च-युक्त पदार्थ का प्रयोग करना आवश्यक है।

मुर्ग़ी का साधारण अण्डा २ औंस (१ छटांक) के लगभग होता है। बत्तक् का अण्डा इससे बड़ा होता है। अण्डे के ऊपर जो छिलका रहता है वह लगभग १० प्रतिशत होता है। श्वेत भाग, जिसमें बसा और प्रोटीन या एलब्यूमिन रहते हैं, ६० प्रतिशत और पीला भाग ३० प्रतिशत होता

है। इसमें अधिक भाग वसा, प्रोटीन, जो ग्लोब्यूलिन के रूप में उपस्थित रहती है, और लवण का होता है। बत्तक के अण्डे मे मुर्गी के अण्डे से अधिक वसा होती है। अण्डे में फ़ास्फ़ोरस और लोह दोनों ऐन्द्रिक योगो के रूप मे उपस्थित रहते है। इस कारण इनका अन्त्रियों द्वारा शोषण भी थोड़े ही समय में और पूर्ण होता है।

अण्डे में पोषक अवयव ऐसे रूप में रहते हैं कि उनका पाचन और शोषण अत्यन्त सहज होता है। यह पाया गया है कि अण्डे के ९४ प्रतिशत भाग का शोषण हो जाता है। इस कारण यह काफ़ी शक्ति प्रदान करता है। कहा जाता है कि एक अण्डे से एक गिलास भर दूध के समान शक्ति उत्पन्न होती है।

अण्डे का प्रयोग गठिया रोगवालों को विशेषकर करवाया जाता है; उससे यूरिक एसिड नहीं उत्पन्न होती। इसको दूध के साथ भी देते हैं। इसमें केलशियम की भी काफ़ी मात्रा रहती है, और वह सब शोषण योग्य होती है।

अण्डों का पाचन—प्रायः अण्डों को पकाकर खाया जाता है। उनका पाचन पकाने पर बहुत कुछ निर्भर करता है। महाशय हचिन्सन का मत है कि हलका उबला हुआ अण्डा शीघ्र पचता है। कच्चा अण्डा और अधिक उबला हुआ अण्डा दोनों देर में पचते हैं। उन्होने पाचन का निम्नलिखित समय बताया है—

२ हलके उबले हुए अण्डे	—१$\frac{3}{4}$ घण्टे
२ कच्चे अण्डे	—२ ,,
२ अधिक उबले हुए अण्डे	—३ ,,
२ अण्डों का आमलेट	—३ ,,

दास महाशय की सम्मति है कि यदि अधिक उबलने पर भी अण्डों को छोटे-छोटे भागो में विभाजित करके उनको भली भाँति चबाया जावे तो वह सहज में पच सकते है।

जब अण्डो को कुछ समय तक रखना होता है तो साधारणतया उनको चूने के पानी में डुबोकर रखा जाता है जिससे उनके भीतर वायु का प्रवेश न हो सके। कुछ लोग नमक में रखना उत्तम समझते है। अण्डे को,

उसके ऊपर गोंद, मक्खन या इसी भाँति की कोई दूसरी जमनेवाली वस्तु लगाकर भी रखा जाता है।

अण्डे को गरमियों के दिनों में अधिक समय तक रखने से वह सड़ने लगता है। शीतकाल में भी, यदि उसको उचित रीति से न रखा जाय तो, वह कुछ समय के पश्चात् विकृत हो जाता है। ऐसे अण्डों के खाने से रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इस कारण प्रयोग करने के पूर्व उसका निरीक्षण कर लेना आवश्यक है। यदि १० छटाँक जल में एक छटाँक नमक को घोलकर एक विलयन बना लें और उसमे उस अण्डे को, जिसकी परीक्षा करनी है, छोड़ दें तो सड़ा हुआ अण्डा इस जल में नीचे बैठ जायगा, किन्तु उत्तम अण्डा जल पर तैरने लगेगा। इसके अतिरिक्त यदि अँधेरे में अण्डे के दूसरी ओर प्रकाश रखकर उसको अण्डे के द्वारा देखा जाय तो कुछ प्रकाश दिखाई देगा। अण्डे के भीतर की वस्तु प्रकाश की किरणों द्वारा चमकती हुई लाल दिखाई देगी। किन्तु सड़ा हुआ अण्डा बिल्कुल अपारदर्शी होगा। उसके द्वारा तनिक भी प्रकाश नहीं दिखाई देगा।

दूध

जब से बच्चा उत्पन्न होता है तभी से माता का दूध पीना आरम्भ करता है और उसी से उसके शरीर की वृद्धि होती है। छः महीने या इससे भी अधिक समय तक उसके शरीर की सारी आवश्यकताएँ दूध से पूर्ण होती रहती है। कुछ विद्वानों की तो सम्मति है कि १८ मास तक उसके लिए दूध पर्याप्त है। किन्तु इसमें मतभेद है। तो भी उसके लिए माता के दूध के पश्चात्, गौ का दूध आवश्यक होता है। शाकाहारियों के लिए दूध विशेष वस्तु है। विचार सम्बन्धी काम करनेवाले शाकाहारियों का एक अवलम्बन दूध मात्र है जहाँ से उनको प्रोटीन मिलती है। इसो कारण दूध की अमृत से उपमा दी गई है। "यथा सुराणां अमृतं हि उक्तं तथा नराणां दुग्धमाहुः"।

अवयवों की तालिका देखने से पता लगता है कि दूध मे प्रोटीन, वसा, कारबोहाइड्रेट, लवण और जल सब सम्मिलित हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न पशुओं

के दूध में इनकी मात्रा मे भिन्नता पाई जाती है। स्त्री के दूध में कारबोहाइड्रेट अधिक होता है, किन्तु प्रोटीन और बसा कम होती है। गौ के दूध मे प्रोटीन और लवण अधिक होते है किन्तु कारबोहाइड्रेट कम होता है; बसा लगभग समान ही होती है। इस कारण जब छोटे बच्चों को गौ का दूध दिया जाता है तो उसमें जल और कुछ शकर मिलाई जाती है। गधी का दूध बहुत कुछ मानुषिक दूध के समान है और इस कारण दुर्बल बच्चों को माता के दूध की अनुपस्थिति में प्रयोग करवाया जाता है। भैंस के दूध में बसा का भाग अधिक रहता है। इस कारण वह गरिष्ठ होता है। घोड़ी के दूध मे प्रोटीन और बसा गधी के दूध से भी कम होती है।

प्रोटीन—दूध में जो प्रोटीन होती है वह केसीन और लैक्टेलब्यूमिन के रूप में रहती है। गौ के दूध मे प्रत्येक एक भाग केसीन के लिए लेक्टेलब्यूमिन के १.७ भाग होते है। यह केसीन दूध में स्वाभाविक अवस्था मे केसीनोजन के रूप में रहती है। जब दूध मे रेनेट, जो आमाशयिक रस में सम्मिलित रहता है, या किसी अम्ल को मिलाया जाता है तो दूध फट जाता है। इससे दूध से छैना पृथक् होकर नीचे बैठ जाता है और एक तरल पदार्थ अलग हो जाता है जिसको कूर्च्चिका कहते हैं। इस परिवर्तन में दूध में सम्मिलित केसीनोजन केसीन के रूप में परिणत होकर और बसा के कणों के साथ मिलकर छैने के रूप में दूध से अलग हो जाती है। और तरल पदार्थ कूर्च्चिका में दूध के लवण, शर्करा और अलब्यूमिन मिले रहते हैं।

आजकल बाज़ार मे दूध से बनाई हुई केसीन प्लाज़्मोन, न्यूट्रोज़, प्रोटीन-फ्लावर अर्थात् प्रोटीन के आटे के नाम से बिकती है। इनमें ६० प्रतिशत प्रोटीन होती है और उनका शोषण भी भली भाँति होता है।

बसा—यदि दूध की एक बूँद को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के नीचे देखा जावे तो उसमें चमकते हुए छोटे-छोटे कण दिखाई देंगे। यह बसा के कण हैं जो अलब्यूमिन और शर्करा-युक्त द्रव्य में मिश्रित हैं। यदि दूध को किसी एक लम्बे बर्तन में भरकर कुछ समय तक रख दिया जावे तो दूध की बसा

ऊपर उठ आती है जिससे दूध का ऊपरी भाग नीचे के भाग से कहीं अधिक गाढ़ा हो जाता है। यह क्रीम कहलाती है। दूध में जितनी बसा अधिक होती है उतनी ही उसमें क्रीम भी अधिक बनती है। इस कारण भैंस के दूध में क्रीम की मात्रा अधिक होती है। साधारणतया उत्तम दूध में १० % क्रीम होनी चाहिए। कभी-कभी किसी पशु के दूध मे १४ % तक क्रीम होती है। जब मशीनों के द्वारा दूध से क्रीम अलग की जाती है तो उसकी मात्रा सदा अधिक होती है। जो दूध मलाई निकाले हुए दूध के नाम से बिकता है उसमे १ % के लगभग बसा होती है।

१ भाग क्रीम ०·२ भाग शुद्ध बसा के बराबर मानी जाती है। दूध मे लगभग ४ प्रतिशत बसा होती है। जिस दूध से बसा या क्रीम निकाल ली जाती है उसकी पोषक शक्ति कम हो जाती है, यद्यपि वह दुर्बल पाचन शक्ति-वालों के लिए हितकर होता है।

कारबोहाइड्रेट—यह दूध मे शर्करा के रूप मे रहता है। दूध की शर्करा इक्षु या द्राक्ष शर्करा से भिन्न होती है। इसको दुग्ध शर्करा कहा जाता है। दूध में इसका ४ या ५ प्रतिशत भाग रहता है। अन्य शर्कराओं की भांति इसके किण्वीकरण से अलकोहल नहीं बनता। किन्तु वायु में कुछ समय तक खुले रहने से, विशेषकर यदि दूध गरम हो तो, यह शर्करा लैक्टिक अम्ल के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस परिवर्तन का कारण एक जीवाणु होता है जिसको बैकटीरियम लैक्टिस कहते हैं। यह जीवाणु दुग्धशालाओं में, या जहाँ दूध रखा जाता है, प्रायः उपस्थित रहता है। इसकी क्रिया से दुग्धशर्करा लैक्टिक अम्ल के रूप में परिवर्तित होती है; प्रोटीनों का भी कुछ विश्लेषण होता है; केसीनोजन से केसीन बन जाती है और केलशियम अम्ल के साथ मिलकर केलशियम लैक्टेट बना देता है। केसीन के साथ बसा के कण भी मिल जाते है। दूध से जब दही बनता है तो उसमे यही बड़े-बड़े बर्तन रहने किन्तु यदि इन जीवाणुओ की क्रिया अधिक होती है या घण्टे पूर्व सारे फ़र्श को जाती है तो दही खट्टा हो जाता है अथवा पूर्णतया ७ कम फ़र्श को झड़वाकर

और खट्टा हो जाता है और उसमे कुछ दुर्गन्धि उत्पन्न हो जाती है। स्वाद भी बिगड़ जाता है। लैक्टिक जीवाणुओं के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे जीवाणु होते है जो दूध मे प्रविष्ट होकर उसको विकृत कर देते हैं। 'बैसिलस बुटायरिकस' दूध को जमा देता है और साथ में बुटायरिक अम्ल भी उत्पन्न करता है। कुछ जीवाणुओ से दूध का रङ्ग बदल जाता है। 'बैसिलस सायनोजिनस' से दूध नीला होता है; बैसिलस सिंज़ैन्थम से पीला, और माइक्रो-कोकस प्रोडीजियोसस से लाल हो जाता है। इस प्रकार बिगड़ा हुआ दूध पीने योग्य नहीं होता। उससे प्रवाहिका, अतिसार आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं। किण्वीकरण के कारण प्रोटीनों के विश्लेषण से दूध में कभी-कभी विषजनक पदार्थ बन जाते है।

यदि दूध, शुद्ध बर्तनों में, सावधानी के साथ उत्तम स्थान मे बन्द रखा जावे तो वह इन जीवाणुओ से सुरक्षित रहेगा और बिगड़ने न पावेगा।

दूध के गुण बहुत कुछ पशुओं के भोजन और उनकी अवस्था पर भी निर्भर करते हैं। रोगग्रस्त पशु का दूध हितकर नहीं होता। उसका उपयोग करने से रोग उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। पशु जो घास खाते हैं उसमें यदि कोई विषैली वस्तु होती है तो उसका प्रभाव दूध में आ जाता है। उसमें गन्ध आने लगती है। पार्वतीय स्थानों के दूध की गन्ध भिन्न होती है। पहाड़ों पर पशुओं को जो घास मिलती है वह प्रान्त के साधारण स्थानों की घास से भिन्न होती है। इस कारण दूध की गन्ध और स्वाद में परिवर्तन हो जाता है। कभी-कभी पशु घास के साथ कुछ ऐसे पदार्थ खा जाते हैं जिनसे स्वयं उनको तो कुछ हानि नहीं होती किन्तु दूध पीनेवाले व्यक्ति रोग-ग्रस्त हो जाते है। कुछ पशुओं का दूध अन्य पशुओं के दूध से पतला होता है। वर्षाकाल में सब पशुओं का दूध पतला हो जाता है। उसमें जल का भाग बढ़ जाता है।

जावे तो उसमें चमक सावधानी से सुरक्षित स्थान में, जहाँ मक्खी इत्यादि का
जो अलब्यूमिन और शक किये हुए बर्तनों में बन्द रखना चाहिए। दूध को शुद्ध
लम्बे बर्तन में भरकर कुछ रोगों के जीवाणु दूध में अत्यन्त सहज में प्रवेश

कर लेते हैं और उसमें बहुत वृद्धि करते है। जीवाणुओं की वृद्धि के लिए दूध उत्तम माध्यम है। दूध को जिस प्रकार ग्वाले पशुओं के स्तनो से निकालते हैं और खुले हुए बर्तनो में रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाते हैं वह लज्जाजनक और निन्दनीय है। उस प्रकार से दूध तो क्या, कोई भी वस्तु शुद्ध नहीं रह सकती। धूल के कण, जिनमें जीवाणु सम्मिलित रहते है, अथवा अन्य गन्दी वस्तुएँ उड़कर दूध मे गिरती रहती हैं। दूध बेचनेवालों का दूध में जल मिलाना तो मानो धर्म है। यदि यह शुद्ध जल हो तो भी एक प्रकार से क्षम्य कहा जा सकता है। किन्तु वह सदा दूषित होता है। इन सब कारणों से बड़े नगरो मे शुद्ध दूध मिलना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव सा है। म्यूनिसिपेलिटियो के लिए यह लज्जा की बात है कि उनके पास सुशिक्षित स्वास्थ्य-निरीक्षक होते हुए भी वह शुद्ध दूध के मिलने का प्रबन्ध नहीं कर सकतीं।

जिस स्थान पर पशु बँधे रहते हैं और जहाँ प्राय: दूध निकाला जाता है वह अस्वच्छता के आदर्श होते है। गोबर पास ही पड़ा रहता है। वहाँ चारों ओर मक्खियाँ भनभनाया करती हैं। पशु भी वहीं मल और मूत्र त्याग करता है; चारों ओर जल भी पड़ा रहता है जिससे सारा स्थान आर्द्र हो जाता है। उसी के बीच में बैठकर ग्वाला, अशुद्ध हाथों से अशुद्ध बर्तनों में, दूध निकालता है। दुहते समय पशु की पूँछ भी कभी-कभी दूध में आ पड़ती है। यही कारण है कि मोतीझरा, प्रवाहिका, अतिसार इत्यादि रोग प्रायः दूध ही के द्वारा फैलते है और बड़े-बड़े नगरों अथवा सारे देश में गौ या बकरी के दूध द्वारा पोषित बच्चों की इतनी अधिक मृत्यु होती हैं।

पशुओं के रहने का स्थान—यह स्थान सदा पूर्णतया स्वच्छ होना चाहिए। इसका फ़र्श पक्का और एक ओर को ढलवाँ होना चाहिए जहाँ एक पक्की मोरी बनी हो। इससे फ़र्श पर जो जल पड़ेगा वह तुरन्त बहकर एक ओर को निकल जायगा। कूड़ा इत्यादि फेंकने के लिए कोनों में बड़े-बड़े बर्तन रहने चाहिएँ। जिस समय दूध निकाला जावे उससे एक घण्टे पूर्व सारे फ़र्श को धुलवा दें। किन्तु यदि यह न हो सके तो कम से कम फ़र्श को झड़वाकर

उस पर जल अवश्य ही छिड़कवा दिया जाय। जिस बर्तन मे दूध निकाला जाय उसको पूर्णतया शुद्ध करना आवश्यक है। योरुप या अमरीका में डेयरियों में इन बर्तनों को जल मे उबालकर उसके पश्चात् उनमें दूध निकाला जाता है। ग्वाले को भी अपने हाथों को साबुन और उसके पश्चात् किसी जीवाणुनाशक द्रव्य से स्वच्छ कर लेना चाहिए। पशुओं के स्तनों को भी इसी प्रकार स्वच्छ करना आवश्यक है। उसकी टाँगों और नितम्बो को भी भले प्रकार धो देना चाहिए। दूध निकालते समय उसकी पूँछ को बाँध दें, जिससे वह दूध में न लगने पावे। दूध निकालने के पश्चात् बर्तनों के मुँह को बन्द करके उनको दूसरे स्थान में ले जाना चाहिए जहां उसके संग्रह का उचित प्रबन्ध हो।

दूध के दूषित होने से बच्चो पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उनके शरीर की सहन-शक्ति कम हो जाती है। इस कारण दूषित दूध द्वारा वह सहज ही मे रोगग्रस्त हो जाते है। हमारे देश मे, और विशेषकर बम्बई और कलकत्ते मे, जो इतने अधिक बच्चो की मृत्यु होती है उसका विशेष कारण दूषित दूध है। स्तन-पोषित शिशु उन भयङ्कर परिणामों से बचे रहते है जो गौ का दूध पीनेवाले बच्चों मे प्राय: देखे जाते है। माता का दूध रोगों के जीवाणु या ऐसे ही अन्य दूषित अवयवों से मुक्त होता है। उसमें भिन्न-भिन्न अवयव भी शिशु की आवश्यकता के अनुसार मात्रा में उपस्थित रहते हैं। गौ का दूध जितने दूर के स्थान से ले जाया जाता है अथवा जितने अधिक मनुष्यों द्वारा उसका संवहन होता है उतनी ही उसके दूषित होने की अधिक सम्भावना रहती है। निम्नलिखित वस्तुओ द्वारा प्रायः दूध को दूषित किया जाता है—

(१) जल, जो प्रायः अशुद्ध होता है।

(२) दूध से मलाई या क्रीम को भिन्न करके दूध बेचा जाता है। अथवा इस प्रकार के दूध को क्रीमयुक्त दूध मे मिला दिया जाता है।

(३) भिन्न-भिन्न पशुओं का दूध एक दूसरे मे मिला दिया जाता है जिससे गौ के दूध में भेड़ या बकरी के दूध की दुर्गन्धि उत्पन्न हो जाती है।

(४) आटे, अरारोट इत्यादि का भी प्रयोग किया जाता है।

(५) बाज़ार से जो दूध लाया जाता है उसमें मक्खी या चींटी इत्यादि कृमि का मिला रहना साधारण बात है।

(६) कभी-कभी दूध में इक्षुशर्करा भी मिला दी जाती है।

दूध की परीक्षा—शुद्ध दूध का रङ्ग पूर्ण श्वेत होता है। उसमे किसी विशेष प्रकार की गन्ध या स्वाद नहीं होते। और न उसमे कोई घन भाग ही पाये जाते हैं। दूध का घनत्व १०२७ से १०३४ तक होता है। घनत्व नापने के लिए एक विशेष यन्त्र आता है जिसको लैक्टोमीटर कहते हैं। दूध में बसा अधिक होने से घनत्व कम हो जाता है। दूध को गरम करने पर ६०° फ़ैरनहाइट के पश्चात् प्रत्येक १० डिगरी तापक्रम के बढ़ने से घनत्व की एक डिगरी कम होती है। [illegible]ससे दूध में मिलाये हुए जल का अनुमान किया जा सकता है। कि[illegible] ऐसा न [illegible] ६०° फ़ैरनहाइट तक गरम करके उसका घनत्व नापना चा[illegible] [illegible]ते या हलवाई दूध से क्रीम अथवा मलाई को अल[illegible] दूध को उबालने से य[illegible] हैं जिससे उसका घनत्व अपने परिमाण पर [illegible] हानिकारक ऐन्द्रिक पदार्थ

परीक्षा करने [illegible] [illegible]गाता है और [illegible] उपस्थित घन अवयवों की मात्रा को भी मालूम करना चाहिए। इसके लिए थोड़े से दूध को लेकर तौलने के पश्चात् उसको यहाँ तक उबालना चाहिए कि वह बिलकुल शुष्क हो जाय। तत्पश्चात् उस बर्तन को, जिसमें दूध था, फिर तौल लेना चाहिए। इससे दूध के शुष्क होने के पश्चात् जितने घन अवयव रह गये हैं उनकी मात्रा का पता लग जायगा। उत्तम दूध मे यह घन अवयव १२ और बसा ३ प्रतिशत से कम न होनी चाहिए।

आटे और अरारोट को मालूम करने के लिए थोड़े से दूध में कुछ आयोडीन का विलयन मिलाया जाता है। यदि यह वस्तुएँ उपस्थित होती हैं तो दूध का रङ्ग नीला हो जाता है। इक्षु शर्करा की परीक्षा करने के लिए एक या दो रत्ती रिसोर्सिन और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल दूध में मिलाये जाते है जिससे दूध लाल हो जाता है। जल-मिश्रित दूध को जब किसी श्वेत रङ्ग के बर्तन में रखा जाता है तो उसमें नीले रङ्ग की झलक दिखाई देती है।

दूध का पाचन—आमाशय में पहुँचकर जब दूध आमाशयिक रस से मिलता है तो वह फट जाता है। छैना और कूर्चिका दोनो अलग हो जाते हैं। दूध की केसीन और बसा के कण मिलकर छैने के रूप मे आ जाते हैं और दूध के लवण, शर्करा इत्यादि कूर्चिका में मिले रहते है। दूध से जो छैना बनता है उसका घनत्व भिन्न-भिन्न पशु के अनुसार भिन्न होता है। गौ के दूध का छैना बहुत घना या कड़ा होता है। गधी के दूध के छैने में घनता कम होती है जिससे उसका पाचन सहज होता है। मानुषिक दूध का छैना भी अधिक घना नहीं होता। यह छैने की घनता दूध में उपस्थित केसीन, केलशियम के लवण और आमाशय में उपस्थित अम्ल की मात्रा पर निर्भर करती है। जब दूध मे केसीन अधिक होती है, केलशियम की मात्रा भी पर्याप्त होती है और आमाशय में [illegible] की भी अधिकता होती है तो छैना घना बनता है। अन्यथा इन वस्तुओं मे जाती [illegible] भी कमी होने पर वह हलका होता है। इस छैने पर आमाशयिक [illegible]जाते हैं। हमें[illegible]ती है जिससे वह पेप्टोन या अलब्यूमोज़ के रूप में [illegible]धिक बच्चों की मृत्यु होत[illegible] भञ्जन होने से उसके इतने सूक्ष्म कण बन जाते हैं कि [illegible]इन भयङ्कर परिणा[illegible] लेती हैं।

बच्चों, रोगियों तथा दुर्बल पाचन-शक्तिवाले व्यक्तियों को ऐसा दूध देना चाहिए जिससे घना छैना न बने। इसके लिए दूध में साधारण जल, जौ का जल अथवा चूने का जल मिलाया जाता है। जौ और विशेषकर चूने के जल से छैना हलका बनता है।

दूध का पाचन बहुत कुछ छैने की दशा पर निर्भर करता है। जब आमाशय में दूध से घना छैना बनता है तो उसका पाचन देर से होता है। यह पाया गया है कि उबले हुए दूध से छैना बनने में अधिक समय लगता है। किन्तु कदाचित् आमाशय में ऐसा न होता हो; क्योंकि आमाशय का अम्ल चूने के लवणो को फिर से घोल लेता है। यदि आमाशय में हलका छैना बनता है तो दूध का पाचन शीघ्र हो जाता है। महाशय दास के अनुसार भिन्न-भिन्न अवस्थावाला दूध निम्नलिखित समय मे आमाशय से पचकर अन्त्रियों में चला जाता है—

१० छटाँक दूध, बिना उबला हुआ	—	३½ घण्टे
१० छटाँक दूध, मलाई उतरा हुआ	—	३½ घण्टे
१० छटाँक दही	—	३ घण्टे
१० छटाँक उबला हुआ दूध	—	४ घण्टे

प्रयोगों से मालूम हुआ है कि यद्यपि दूध का पाचन आमाशय मे आरम्भ हो जाता है किन्तु उसके पाचन के लिए आमाशय आवश्यक नहीं है। केवल अग्न्याशय रस से उसका पाचन पूर्ण हो सकता है।

दूध का शोषण पूर्ण होता है। इसकी प्रोटीन और बसा मांस की प्रोटीन और बसा से भी शीघ्र और अधिक पूर्णतया शोषित होती हैं। दूध में उपस्थित शक्ति के ६० प्रतिशत भाग को शरीर ग्रहण करता है और उसके पाचन और शोषण में अन्त्रियों को बहुत कम शक्ति व्यय करनी पड़ती है। वास्तव में भोजन का कोई भी दूसरा पदार्थ ऐसा नहीं है जो इतनी कम शक्ति के व्यय से पच और शोषित हो जावे।

दूध को उबालना—दूध को उबालने से यद्यपि उसमें उपस्थित जीवाणुओं और अन्य हानिकारक ऐन्द्रिक पदार्थों का नाश होता है, किन्तु वह गरिष्ठ हो जाता है और उसकी पोषक शक्ति भी कम हो जाती है। उबालने पर दूध का लैक्टेलब्यूमिन, जो उबालने से पूर्व पूर्णतया शोष्य होता है, जमकर बहुत कुछ अशोष्य हो जाता है। शर्करा में भी कुछ परिवर्तन होते हैं; बसा के कण गाढ़े और गूढ़ हो जाते हैं; केसीन भी कुछ अपच्य हो जाती है और लवण भी कम घुलते हैं। साधारणतया दूध को १००° शतांश तक उबाला जाता है। यह पाया गया है कि ७०° शतांश तक उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। ७० डिगरी पर अलब्यूमिन गाढ़ा होने लगता है। ८०° शतांश पर दूध की गन्ध में परिवर्तन हो जाता है और उसके किण्वो का नाश होने लगता है। दूध में सात प्रकार के किण्व होते हैं जिनकी सहायता से दूध स्वयं पच सकता है। ८०° पर पहुँचकर इनका नाश होना आरम्भ हो जाता है। और १००° तक पहुँचने में वह सम्पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। ८९° पर दूध की प्रोटीनों का

लगभग २८ % भाग नष्ट हो चुकता है; सायट्रिक अम्ल का केवल तिहाई भाग रह जाता है और केलशियम सायट्रेट पृथक् होने लगता है। किन्तु यदि दूध को एक जल भरे हुए पात्र के भीतर एक छोटे पात्र में भरकर रख दें और उसके द्वारा दूध को ताप पहुँचावें तो उससे इन अवयवों की इतनी हानि नहीं होती। इस विधि द्वारा ८५° शतांश तक दूध को गरम करने से प्रोटीन १२ % और सायट्रिक अम्ल लगभग $\frac{1}{6}$ भाग नष्ट होते है। किन्तु यदि दूध को जल के द्वारा गरम किया जावे तो केवल ७५ शतांश तक गरम करना पर्याप्त है। इस ताप पर दूध को बीस मिनट तक रखना चाहिए। इससे जीवाणुओं तथा अन्य ऐन्द्रिक वस्तुओं का नाश हो जाता है; किन्तु प्रोटीन, बसा, लवण और किण्व बहुत कुछ बच जाते हैं।

इस बात पर सब विद्वान् सहमत हैं कि बच्चों को केवल उबला हुआ दूध बहुत समय तक प्रयोग न करवाना चाहिए। यदि बच्चे को केवल उबला हुआ दूध ही देना पड़े तो उसके साथ ताज़ा फलों का रस भी अवश्य देना चाहिए। ग्लैकूसो, ऐलेनबरी का दूध इत्यादि पदार्थों के साथ भी नारङ्गी तथा अन्य फलों के रस का प्रयोग करवाना आवश्यक है।

अशुद्ध दूध से उत्पन्न होनेवाले रोग—आन्त्रिक ज्वर (मोतीझरा), प्रवाहिका, अतिसार इत्यादि रोगों का पहले उल्लेख हो चुका है। कई बार परिवारों में दूध के कारण यह रोग फैलते देखे गये हैं। जब ऐसा होता है तो जितने भी व्यक्ति उस दूध को पीते हैं सब एक ही समय पर रोग से आक्रान्त होते हैं।

इन रोगों के अतिरिक्त रोगग्रस्त पशुओं के दूध से राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है। अन्वेषण से पाया गया है कि दूध देनेवाली गउओं में से बहुतों को यह रोग होता है। किन्तु रोग के जीवाणु दूध में उसी समय उपस्थित पाये जाते हैं जब उनके स्तन रोगग्रस्त होते हैं। रोगग्रस्त गउओं के मल में प्रायः जीवाणु उपस्थित रहते हैं। गऊ में रोग के लक्षण उपस्थित न होने पर भी जीवाणु उनके मल में पाये गये हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है

इन जीवाणुओं का दूध में प्रविष्ट होना कितना सहज है। विद्वानों की सम्मति है कि उदर का राजयक्ष्मा, जो बच्चों को अधिक होता है, दूषित दूध ही से उत्पन्न होता है।

बाज़ार में जो दूध बिकता है उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। हलवाइयों की दूकानों पर वह खुली हुई कढ़ाइयों में रखा रहता है और उस पर मक्खियाँ मँडलाया करती हैं। सड़क की धूल इत्यादि भी उड़कर उसमें पड़ती रहती है जिससे वह दूषित हो जाता है। ग्वाले जो दूध लाते हैं उसमें तालाबों, गढ़ों और मोरियों तक के जल मिले होने की सम्भावना होती है।

दूध का संरक्षण—जब दूध को कुछ समय तक रखने के योग्य बनाना होता है तो कई विधियों द्वारा उसका संरक्षण किया जाता है। निम्नलिखित मुख्य विधियाँ हैं—

(१) **पेस्चुरीकरण**—दूध को १६७° फ़ैरनहाइट तापक्रम पर आधे घण्टे तक गरम करके फिर उसको शीघ्रता से ठण्डा किया जाता है। इससे जीवाणुओं की कम से कम ९० प्रतिशत संख्या कम हो जाती है और उसको बारह से चौबीस घण्टे तक साधारण दूध की अपेक्षा अधिक रखा जा सकता है।

(२) **हाइड्रोजन-पर-आक्साइड** को मिलाकर २१° शतांश पर तीन घण्टे तक गरम करने से भी दूध एक सप्ताह तक रखा जा सकता है।

(३) आजकल बाज़ार में शुष्क दूध, ग्लैक्सो इत्यादि के रूप में, बिकता है। स्टील के लम्बे-लम्बे तप्त वर्तुलों में होकर दूध को निकालने से वह शुष्क हो जाता है। तत्पश्चात् वर्तुलों में से उसको खुरचकर कुछ अन्य वस्तुएँ मिलाकर बेचा जाता है। उसको गरम जल में घोलकर दूध की भाँति प्रयोग किया जाता है।

(४) दूध के संरक्षण के लिए कुछ जीवाणुनाशक वस्तुओं, जैसे बोरिक अम्ल, फ़ारमेल्डीहाइड, सेलीसिलिक अम्ल, सोडियम कार्बोनेट इत्यादि का प्रयोग होता है।

दूध से बननेवाले कुछ भोज्य पदार्थ—दूध से अनेकों प्रकार के भोज्य पदार्थ बनाये जाते है। अधिकतर मिठाइयों में दूध से बना हुआ खोया मिलाया जाता है। खोये में जल के अतिरिक्त दूध के अन्य सब अवयव अपनी पूर्व मात्रा में रहते हैं। दूध को गरम करने से जल का बहुत सा भाग निकल जाता है। इस कारण पोषक अवयवों की प्रतिशत मात्रा बहुत बढ़ जाती है। यह अत्यन्त गरिष्ठ होता है और दूध की अपेक्षा कम शक्ति पहुँचाता है, क्योंकि उसका पाचन और शोषण कठिन होता है। इस खोये को घी में भूनकर उसमे शर्करा और अन्य वस्तुएँ मिलाकर मिठाइयाँ बनाई जाती हैं।

दही—दही मे परिणत होने से दूध मे जो परिवर्तन होते है उनका पहिले उल्लेख किया जा चुका है। इसका कारण एक जीवाणु होता है जिसके द्वारा दूध में लैक्टिक अम्ल उत्पन्न हो जाता है। यह जीवाणु अन्य रोगो-त्पादक जीवाणुओ का नाश करता है। जो जीवाणु अन्त्रियों में अधिक वायु उत्पन्न करते हैं उनका भी इस जीवाणु से नाश होता है। जापान के प्रोफ़े-सर किटास्टो ने अपने प्रयोगों द्वारा मालूम किया है कि विशूचिका का जीवाणु ०·३ प्रतिशत लैक्टिक अम्ल से ५ घण्टे में नष्ट हो जाता है। डाक्टर कोहैंडी ने लैक्टिक जीवाणु के द्वारा स्वयं अपने ही ऊपर प्रयोग किये हैं। २५ दिन तक उन्होंने ऐसा भोजन किया कि उससे उनकी अन्त्रियों में उपस्थित पदार्थ सड़ने लगे। जब यह क्रिया काफ़ी बढ़ गई तो उन्होंने इस जीवाणु के २८० से ३५० ग्राम तक ७४ दिन में खाये जिससे उनकी दशा फिर पूर्ववत् हो गई और अन्त्रियों में होनेवाली सड़न भी बन्द हो गई। डाक्टर कोहैंडी ने अपने ऊपर किये हुए अथवा अन्य बहुत से प्रयोगों से यह परिणाम निकाला है कि लैक्टिक अम्ल में अन्त्रियों में होनेवाली सड़न को रोकने या नाश करने की विशेष शक्ति है।

प्रोफ़ेसर मैचनिकाफ़ ने दही की, विशेषकर खट्टे दही की, बहुत प्रशंसा की है। उन्होने अनेक देशवासियों का उदाहरण दिया है जो दही अथवा इसी

के समान लैक्टिक जीवाणु-युक्त दूध के अन्य योगों का प्रयोग करते है। उनका कहना है कि दही से इस जीवाणु के द्वारा अन्त्रियों के अन्य रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश होता है और आयु बढ़ती है।

दही गरम दूध से बनाया जाता है। जब दूध कुछ ठण्डा होने लगता है तो उसमें पहिले से बनाये हुए दही का थोड़ा सा भाग मिला दिया जाता है। इससे किण्वीकरण होने लगता है और साधारण कमरे के ताप पर रखने से पाँच या छः घण्टे में दही तैयार हो जाता है। ताप के अधिक या न्यून होने से दही ठीक नहीं जमता। दही को शर्करा-मिश्रित दूध से भी तैयार किया जाता है। वह मीठा होता है।

मठा—मठे का भी प्रयोग बहुत किया जाता है। विशेषकर गाँवों में इसका बहुत उपयोग करते हैं। दही को बिलोने के पश्चात् दूध की सारी बसा मक्खन के रूप में ऊपर आ जाती है। इसको निकाल लेने पर जो तरल भाग रह जाता है वह मठा कहलाता है। मठे में बसा बहुत कम होती है; किन्तु लवण पूर्ण मात्रा मे उपस्थित होते है। कुछ लोग मठे से सारा मक्खन पृथक् नहीं करते, किन्तु दही को थोड़ा सा बिलोकर और उसमे जल मिलाकर मठे की भाँति पीते हैं। इसमे बसा भी साधारण मठे से अधिक रहती है।

मठे का स्वाद लैक्टिक अम्ल के कारण कुछ खट्टा होता है। इसमें केसीन सूक्ष्म कणों के रूप मे रहता है। वह आमाशय में पहुँचकर दूध की भाँति नहीं जमता। इस कारण उसका पाचन दूध से कम समय में होता है, और साथ में लैक्टिक अम्ल से भी लाभ होता है।

छैना और कूर्चिका—छैने का बङ्गाल में बहुत उपयोग किया जाता है। किसी साधारण अम्ल, जैसे टारटरिक अम्ल अथवा नींबू के रस, के मिलाने से दूध फट जाता है जिससे छैना और कूर्चिका दोनों पृथक् हो जाते हैं। कूर्चिका को छैने पर से नितार लिया जाता है। छैने को मलमल के एक टुकड़े में बाँधकर लटका दिया जाता है जिससे उसमें सम्मिलित कूर्चिका

भी छनकर निकल आती है। सवा सेर दूध से लगभग १५ छटाँक कूर्चिका निकलती है। कूर्चिका में शर्करा, लवण और कुछ प्रोटीन रहती है। छैना वसा और प्रोटीन का बना होता है। छैने से, जिसमें प्रोटीन २४·०६, वसा २·५ और लवण १·१ भाग होते हैं, कई भांति की मिठाई बनाई जाती है।

कूर्चिका का प्रयोग रोगियों अथवा दौर्बल्यावस्था में बच्चों को करवाया जाता है। इसका स्वाद कुछ मीठा होता है। उसमें समान भाग गऊ का दूध मिला देने से उसका सङ्गठन मानुषिक दूध के समान हो जाता है।

काउमिस और केफ़ीर—यह दोनों वस्तुएँ दूध के किण्वीकरण से बनाई जाती है। काउमिस घोड़ी के दूध से बनाया जाता है। तातारी लोग इसका विशेषतया अधिक प्रयोग करते हैं। तातार के पास के अन्य देशों के निवासी भी, जो घोड़ों को अधिक पालते हैं, काउमिस का प्रयोग करते हैं। केफ़ीर गधी के दूध से बनाया जाता है। कौकेशस पर्वत पर रहनेवाले पहाड़ी लोग इस वस्तु का अधिक उपयोग करते हैं। केफ़ीर साधारण गौ के दूध से एक भूरे रङ्ग की वस्तु द्वारा, जिसको केफ़ीरकिण्व कहते है, बनाया जा सकता है। इन दोनों वस्तुओं में केसीन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में विभाजित कणों में रहती है। शर्करा लैक्टिक अम्ल के रूप मे परिवर्तित हो जाती है और किण्वीकरण के कारण कुछ अलकोहल भी बन जाता है। कुछ लोगों की सम्मति है कि केफ़ीर का पाचन ख़मीर के कारण पूर्व ही आरम्भ हो जाता है। किन्तु प्रोफ़ेसर हेमन के विचार के अनुसार केफ़ीर के गुण का कारण लैक्टिक अम्ल है। यह वस्तुएँ यद्यपि शीघ्र पचनेवाली हैं और अन्त्रियों मे उपस्थित अन्य जीवाणुओं का नाश करती हैं; किन्तु अलकोहल के कारण उनको बहुत समय तक प्रयोग करने से हानि होती है।

चीज़—इस वस्तु का योरुप में अधिक उपयोग किया जाता है। चीज़ में एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है जिसके कारण जो उसके अभ्यस्त नहीं हैं वह उसको सहन नहीं कर सकते।

चीज़ रेनिट की क्रिया द्वारा, जो आमाशयिक रस में रहता है, दूध से बनाई जाती है। इस वस्तु से केसीन बसा और लवणों के साथ जम जाती है। मलाई निकाले हुए और बसा-युक्त दोनों प्रकार के दूध से चीज़ बनाई जा सकती है। बनाने की विधि के अनुसार एक में बसा अधिक और दूसरे में कम होती है। चीज़ का जो प्रयोग कर सकते हैं, उनके लिए वह उत्तम पोषक खाद्य वस्तु है। उसमें प्रोटीन और बसा दोनों की मात्रा काफ़ी होती है। कुछ समय तक रखने से चीज़ में कुछ परिवर्तन होने लगते हैं जिसको "पकने" के नाम से पुकारा जाता है। केसीन विकृत हो जाती है और बसाम्ल तथा चूने के लवण पृथक् हो जाते हैं।

मक्खन—दूध को जमाकर प्रथम दही बनाया जाता है। दही को रेई या किसी मेशीन से बिलोने पर उस की बसा, मक्खन के रूप में, उसके ऊपर आ जाती है। कच्चे दूध से भी मक्खन निकाला जाता है। वास्तव में इस प्रकार से बनाया हुआ मक्खन दही से निकाले हुए मक्खन से उत्तम होता है; क्योंकि उसकी विटेमीन नष्ट नहीं होती। भिन्न-भिन्न स्थानों और पशुओं से प्राप्त किये हुए मक्खन मे अवयवों की मात्रा भिन्न होती है। किन्तु साधारणतया मक्खन में प्रोटीन १, बसा ६०·५, लवण १ और जल ७·५ प्रतिशत पाये जाते हैं। उसमें केसीन, कई प्रकार की बसा, दुग्धशर्करा की कुछ मात्रा और एक गन्धोत्पादक वस्तु होती है जो मक्खन में विशेष प्रकार की गन्ध उत्पन्न कर देती है। हमारे देश में मक्खन की अपेक्षा घी का प्रयोग अधिक होता है। यह अधिक समय तक रखा जा सकता है। मक्खन के संरक्षण के लिए उसमें नमक मिलाया जाता है। कभी-कभी मक्खन में, हलका सा रङ्ग देने के लिए, कुछ रङ्गीन वस्तु भी मिला दी जाती है। मक्खन में १६ प्रतिशत से अधिक जल नहीं होना चाहिए।

मक्खन का पाचन बहुत शीघ्र होता है और अन्त्रियों द्वारा उसका शोषण भी पूर्ण होता है। उसकी बसा शरीर की बसा के बहुत कुछ समान होती है।

दूध की भांति मक्खन में भी अन्य पदार्थ मिला दिये जाते हैं; किन्तु मक्खन की अपेक्षा घी में अधिक मिलावट की जाती है। मक्खन मे प्रायः जल, पशुओं की चर्बी और दही मिलाया जाता है। इँग्लैंड में मारग-रीन अधिक मिलाई जाती है। आजकल हमारे देश में भी इस वस्तु का प्रचार हो गया है।

घृत—दूध से दही बनाकर उसको बिलोया जाता है जिससे मक्खन निकल आता है। इस मक्खन को दही से अलग करके प्रथम धोया जाता है और तत्पश्चात् उबाला जाता है जिससे मक्खन तैकर पतला हो जाता है। इसमें मिश्रित जल और केसीन दोनों नीचे बैठ जाते है। वाष्पीभवन के द्वारा जल को उड़ा दिया जाता है और केसीन जल जाती है। इस प्रकार शुद्ध घी तैयार हो जाता है। ऐन्द्रिक अशुद्धियों से पूर्णतया मुक्त होने के कारण घी को बहुत समय तक रखा जा सकता है।

आजकल बड़े नगरों में, बाज़ार में, जो घी साधारणतया बिकता है उस सदा मेल रहता है। शुद्ध घी का पाना असम्भव सा हो रहा है। मूँग फली का आटा, पिसे हुए आलू या घुइयाँ, केले का आटा, पशुओं की चर्बी नारियल का तेल, महुवे का तेल, अरण्ड का तेल इत्यादि वस्तुएँ साधारणत घी में मिलाई जाती हैं। कई बार घी में पशुओ के मस्तिष्क तक मिले हैं। य वानस्पतिक तैल घी के समान गुणकारी और शीघ्र पचनेवाले नहीं होते। उनके अभ्यस्त नहीं हैं उनको प्रायः पाचन-सम्बन्धी विकार उत्पन्न हो जाते हैं

आजकल बाज़ार में वानस्पतिक घी के नाम से एक घी के सदृश पद बिकता है। देखने में वह बिलकुल घी के समान होता है किन्तु उसमें की सुगन्धि नहीं होती। वह प्रायः गन्ध-रहित होता है। यह वस्तु आ कल घी में बहुत मिलाई जाती है; क्योकि गन्ध और स्वाद से रहित होने कारण उसका पहिचानना असम्भव है। घी के व्यापारी अथवा घी बनानेव यहाँ तक करते हैं कि प्रथम इस वस्तु को दूध में मिलाकर जमा देते हैं और दूध से घी तैयार करते है। ऐसा करने से उसमें सुगन्धि भी आ जाती है

यह वस्तु प्रायः हौलैंड अथवा योरुप के अन्य देशों से पीपों मे बन्द होकर आती है। कहा जाता है कि इसको केवल वनस्पतियों ही से तैयार किया जाता है। इसमें शुद्ध घी की अपेक्षा पोषक शक्ति बहुत कम होती है। उसमें उपस्थित बसा, घी की बसा के समान, शरीर के लिए ग्राह्य नहीं होती। इसके प्रयोग से बल का नाश और स्वास्थ्य की हानि होती है। किन्तु दुर्भाग्यवश, सस्ती होने के कारण, हलवाई लोग इससे मिठाई या पूरियां इत्यादि बनाते है। जो निर्धन है वह भी घी के स्थान पर इसका प्रयोग करने लगे है।

शुद्ध घृत अत्यन्त उत्तम भोज्य पदार्थ है। इसको दाल में मिलाकर रोटी अथवा चावल के साथ प्रयोग किया जाता है जिससे इन पदार्थों की बसा की कमी पूरी हो जाती है।

भैंस के दूध से बनाये हुए घी में गाय के घी की अपेक्षा अधिक बसा होती है। भैंस का घी श्वेत और गौ का पीला होता है। जाड़ों में जो घी तैयार किया जाता है वह, गरमियों में बनाये हुए घी की अपेक्षा, उत्तम माना जाता है।

घी में मिले हुए बानस्पतिक तैलों की इस प्रकार परीक्षा की जाती है—एक भाग घृत और चार भाग क्लोरोफ़ार्म को एक कांच की नलिका मे मिलाया जाता है। उसमे फ़ास्फ़ोमोलिब्डिक अम्ल की एक बूंद मिलाकर उसको भली भांति हिलाकर नलिका मे रख दिया जाता है। कुछ समय में दोनों वस्तुओ के सम्मेलन पर हरे रङ्ग की एक कुण्डली बन जाती है।

पाशविक बसाओं को मालूम करने के लिए महाशय दास ने निम्नलिखित परीक्षाओं का प्रयोग बताया है—

(१) ग्लैशियल ऐसटिक अम्ल और घी के समान भाग को एक परीक्षा-नलिका में लेकर गरम जल में रखो। जब घृत ऊपर तैरने लगे तो उसका ताप-क्रम देखो। शुद्ध घी २९° शतांश से ३९° शतांश पर तै जायगा। यदि परीक्षा-नलिका का घृत इससे अधिक ताप-क्रम पर तैता है तो घृत में पाशविक बसा मिली हुई है। किन्तु यदि वह २९° शतांश से पूर्व ही तै जाता है तो नारियल के तेल का सन्देह हो सकता है।

(२) २½ भाग कारबोलिक अम्ल के विलयन (६ भाग अम्ल और एक भाग जल) और एक भाग घी को एक काँच की नलिका में लेकर भली भाँति हिलाओ। तत्पश्चात् नलिका को कुछ समय तक रखा रहने दो। घी अम्ल मे घुल जायगा किन्तु पाशविक बसा अम्ल के ऊपर तैरने लगेगी।

(३) एक विशेष यन्त्र के द्वारा, जिसको वर्तनांक मापक कहते हैं, घी का वर्तनांक निकाला जाता है। यह अंक ३५ शतांश पर ४४° से ४६° तक होता है। गोले के तेल का वर्तनांक ४३ है।

घृत मे उपस्थित घुलनशील उड़नेवाले अम्लों की भी मात्रा को मालूम करना होता है। इसके लिए जिस विधि का प्रयोग किया जाता है वह रीशर्ट-वुलने विधि कहलाती है। सोडे या क्षार की दशांश शक्ति का विलयन बनाकर उसके साथ घृत की परीक्षा की जाती है। यह मालूम हुआ है कि ५ ग्राम घी के लिए इस द्रव्य की २४ से ३६ सी. सी. (५१० से ५८५ बूँद) व्यय होती है। कलकत्ते के डाक्टर दास ने घृत के भिन्न-भिन्न गुणों और उसमें उपस्थित अवयवो के लिए निम्नलिखित अङ्क माने हैं;—

	गौ का घी	भैंस का घी
विशिष्ट गुरुत्व	९११ से ९१२	९११—९१३
घुलनशील उड़नेवाले अम्ल (दशांश शक्ति के सोडे के विलयन से रीशर्टवुलने विधि के अनुसार मालूम किये हुए)	२४ सी. सी.	३०·५ सी. सी.
घी का द्रवनांक	३४ से ३५·५ शतांश	३४ से ३६ शतांश
ओलियो रिफ्रेक्टोमीटर	३२ से ३५ ,,	३२ से ३५ ,,
वुटायरो-रिफ्रेक्टोमीटर	४१ से ४२·५,,	४१ से ४२ ५ ,,

पानकादि वस्तुएँ

जल, चाय, काफ़ी, कोको, मद्य, लैमनेड इत्यादि पानक वस्तुएँ यथार्थ में भोज्य पदार्थ नहीं है। किन्तु सारे संसार मे उनका प्रयोग भोजन के साथ इतना अधिक किया जाता है कि संक्षेपतया उनका कुछ विचार करना आवश्यक है।

जल सबसे मुख्य और सबसे अधिक प्रयोग किया जानेवाला पानक है। अन्य सब पानकों में जल का बहुत बड़ा भाग रहता है। वास्तव में वह सब जल के आधार पर ही बनाये जाते हैं। हम गत पृष्ठों मे देख चुके है कि प्रत्येक भोज्य पदार्थ में जल सम्मिलित रहता है। हमारे शरीर की सब धातुओं और अङ्गों में भी जल की बहुत बड़ी मात्रा पाई जाती है। इस कारण हमको जल पीने की आवश्यकता होती है।

जल का शोषण अन्त्रियों द्वारा बहुत शीघ्र होता है। आमाशय में पहुँचने के पश्चात् थोड़े ही समय में वह आमाशय से निकलकर अन्त्रियों में चला जाता है। यह अनुमान किया जाता है यदि एक बार १० छटाँक जल पिया जावे तो वह अधिक से अधिक एक घण्टे तक आमाशय मे रहेगा।

जल पीने के लिए कोई विशेष नियम नहीं बनाया जा सकता। जब कभी भी प्यास लगे तभी जल पीना चाहिए। और जितनी प्यास लगे उसी के अनुसार जल की मात्रा का प्रयोग करे। प्यास शरीर की धातुओं में जल की कमी की सूचना है जिसको पूर्ण करना अनिवार्य है। किन्तु फिर भी एक साथ बहुत अधिक जल न पीना चाहिए। कुछ व्यक्तियों को भोजन के साथ अधिक जल पीने की आदत हो जाती है। इससे भोजन का पाचन उत्तम प्रकार से नहीं होता। अधिक जल आमाशय मे पहुँचकर वहाँ के रस के अम्ल की शक्ति को घटा देता है। भोजन के साथ उतना ही जल पीना चाहिए जिससे भोजन सहज मे आमाशय मे पहुँच जावे और कोई असुविधा न मालूम हो। भोजन के कुछ समय के पश्चात् फिर जल पिया जा सकता है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि भोजन के एक घंटे पूर्व जल पीने से लाभ होता है। उससे आमाशय का प्रक्षालन हो जाता है, भोजन के समय प्यास कम मालूम होती है और थूक या लाला रस अधिक बनता है।

इसके सम्बन्ध में कोई विशेष नियम नहीं बनाया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि भोजन के साथ अधिक जल के प्रयोग करने से पाचन में विकार उत्पन्न हो सकते हैं। इसलिए जल का थोड़ा ही प्रयोग करना चाहिए।

जल की आवश्यकता देश और काल पर बहुत निर्भर करती है। शीत देशों की अपेक्षा उष्ण देशों मे और शीत ऋतु की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु मे प्यास बहुत अधिक लगती है; क्योंकि शरीर से जल स्वेद के रूप में निकलता रहता है। गरमियों में जितनी प्यास लगे उतना ही जल पीना चाहिए।

सोडावाटर, लेमनेड इत्यादि—यह पानक सोडा, चूना, मेगनेशियम इत्यादि के लवणों को कुछ सुगन्धि—जैसे नीबू, या सन्तरे के अर्क—के साथ जल मे मिलाकर बनाये जाते है। इस जल में कार्बन-डाई-आक्साइड को भी मिलाया जाता है। जल को मीठा करने के लिए उसमे कुछ सैकरीन भी मिला दी जाती है। किन्तु इन पानकों का विशेप अवयव कार्बन-डाई-आक्साइड होती है जिस पर उनका गुण निर्भर करता है। कुछ प्राकृतिक स्रोतों के जल मे भी यह गैस मिली रहती है।

यह पानक भोजन के पाचन में सहायता देते है। वह आमाशय के शामक है। इस कारण वमन मे इन जलों को थोड़ा-थोड़ा पिलाया जाता है। इनको दूध में मिलाकर देने से छैना अधिक गाढ़ा नहीं बनने पाता जिससे उसका पाचन सहज हो जाता है। ब्रांडी अथवा व्हिस्की के साथ भी उसका प्रयोग किया जाता है।

इन पानकों में रोगोत्पादक जीवाणु पाये जा सकते हैं। हैजे का जीवाणु एक या दो दिन तक जीवित रह सकता है। इस कारण कम से कम चार दिन पूर्व तैयार किये हुए जल का उपयोग करना चाहिए। कभी-कभी सीसे के लवण कार्बन-डाई-आक्साइड की क्रिया से जल में घुल जाते हैं।

चाय, काफ़ी, मद्य इत्यादि पानकों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) वह जो बिना किण्वीकरण के बनाये जाते हैं; जैसे, चाय।

(२) वह जो किण्वीकरण से बनाये जाते हैं; जैसे, कुछ मद्य।

चाय—इसका प्रयोग संसार भर में होता है। यह कैमीलियाथिया नामक वृक्ष की पत्तियों को सुखाकर बनाई जाती है जो चीन, जापान, लङ्का और हमारे देश के कई भागों में उत्पन्न होता है। चाय का प्रचार इँगलैंड

में ३०० वर्ष के पूर्व न था। सन् १६५० में प्रथम काफ़ी पीने की दुकान खुली थी। सन् १६६० तक इन दुकानों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई। किन्तु इनमें काफ़ी का प्रयोग होता था। लार्ड ओज़री और आरलिंगटन ने प्रथम बार सन् १६६६ में चाय का प्रयोग किया था। उस समय चाय का मूल्य १५०) रु० प्रति पौंड था। सन् १६६७ मे चाय पर बोस्टन मे बलवा हुआ था।

प्रायः सब स्थानों पर चाय एक ही जाति के पौधों से उत्पन्न की जाती है। भिन्न-भिन्न नामों से जो चाय बिकती है वह केवल व्यापारिक नाम हैं। इनमें इतना भेद अवश्य होता है कि काली और नई कोंपलों के ऊपर की नवीन कोमल पत्तियों को एकत्र करने से जो चाय बनती है उसको 'ओरेंज पीको' कहा जाता है। यह सबसे उत्तम होती है। इसमें अन्य भागों की अपेक्षा अधिक सुगन्धि होती है। इन पत्तियों के नीचे तीन या चार बड़े आकार की पत्तियाँ होती हैं। इनको भी एकत्र कर लिया जाता है और उनको सूचौंग के नाम से बेचा जाता है। इन पत्तियों के नीचे की पत्तियाँ कौंगू चाय के नाम से बिकती हैं।

इन पत्तियों से दो प्रकार की चाय बनती है—हरी और काली। दोनों एक ही वृक्ष से तैयार की जाती है किन्तु उनके रङ्ग मे भेद होता है। हरी चाय की पत्तियों को सुखाकर उनको अग्नि पर कुछ भूना जाता है। उनमे बहुधा कुछ हरा रङ्ग भी मिला दिया जाता है। इस कारण इसका प्रयोग कम होता है। काली चाय उन पत्तियों की बनी होती है जिनको वृक्षों से तोड़ने के पश्चात् कम से कम १२ घंटे तक एक ढेर में पड़े रहने दिया जाता है जिससे उनमें कुछ किण्वीकरण होने लगता है। तत्पश्चात् पत्तियों को अग्नि के ऊपर सुखा लिया जाता है। इससे चाय की टैनिन कम घुलनशील हो जाती है। इस कारण हरी चाय की पत्तियों से जो चाय बनाई जाती है उसमें काली चाय की अपेक्षा अधिक टैनिन होती है। उत्तम चाय में सम्पूर्ण पत्तियाँ होती हैं और यद्यपि वह मुड़ी हुई रहती हैं किन्तु गरम जल में पड़ने से खुल जाती हैं। उत्तम चाय की यही परीक्षा है।

चाय का सङ्गठन इस प्रकार है—

जल	८.०	
थीन	२.०	
टैनिन	१४.०	
तेल	०.४	
रस	१५.०	
ऐन्द्रिक पदार्थ	५४.०	
राख	६.०	पोटाश, लोह, सिलिका, मगनेशिया, अलूमिनिया।

पार्क्स ने चाय मे २.६ भाग अलब्यूमिन, ६.७ भाग डेक्सट्रिन, २२ भाग सैल्यूलोज़ और कुछ अन्य अवयव भी बताये है। थीन सदा टैनिन के साथ मिली रहती है; कुछ केफ़ीन भी पाई जाती है। यह वस्तुएँ उबलते हुए जल में घुल जाती है।

उत्तम चाय बनाने के लिए जल को प्रथम उबाल लेना चाहिए। जब उबलना आरम्भ हो तो उसको अग्नि पर से उतारकर उसमें चाय की पत्तियाँ, जो उत्तम होनी चाहिएँ, डालकर बर्त्तन को ढक देना चाहिए। चाय की पत्तियों को दो या तीन मिनट तक उबलते हुए जल में रखना काफ़ी है। चीनी लोग उबलते हुए जल में चाय को केवल कुछ सेकिंड तक रखते हैं जिससे चाय की सुगन्धि, केफ़ीन और थीन जल मे घुल जाते हैं; किन्तु टैनिन नहीं घुलने पाती। चाय को जल में मिलाकर कभी न उबालना चाहिए और न जल ही को बहुत समय तक उबलते रहने देना चाहिए। जल में दो या तीन मिनट तक पत्तियों के रहने पर जल को दूसरे बर्तन में छानकर निकाल देना चाहिए।

चाय एक उत्तम उत्तेजक पानक है। किन्तु यदि उसका अधिक प्रयोग किया जाय अथवा वह उचित प्रकार से न बनाई जावे तो उससे हानि हो सकती है। टैनिन, जो उसमें सम्मिलित रहती है, स्तम्भक वस्तु है और पाचन को बिगाड़ती है। उससे कोष्ठबद्धता उत्पन्न होती है। चाय के अधिक

प्रयोग से नाड़ी-मण्डल पर भी प्रभाव पड़ता है। कुछ लोगों को चाय बिलकुल भी सह्य नहीं होती। साधारणतया उत्तम चाय से शरीर में स्फूर्ति उत्पन्न होती है; विचार-शक्ति बढ़ती है और मूत्र के अधिक निकलने से शरीर से विषों का त्याग होता है।

काफ़ी 'केफ़िया ऐरेबिका' नामक वृत्त के बीजों से बनाई जाती है। बीजों को प्रथम भूनते हैं जिससे उनका रङ्ग गहरा भूरा हो जाता है। तत्पश्चात् उनको पीसकर चूर्ण बना लिया जाता है, जिससे पीने के लिए काफ़ी तैयार की जाती है। उत्तम काफ़ी बनाने के लिए एक प्याले गरम जल में $\frac{1}{2}$ छटाँक काफ़ी का चूर्ण और आवश्यकतानुसार दूध और चीनी मिलानी चाहिए। जिन देशों में काफ़ी का अधिक प्रचार है वहाँ पर १० छटाँक जल में $\frac{1}{2}$ छटाँक काफ़ी का चूर्ण मिलाया जाता है। इससे काफ़ी की पोषक शक्ति कम हो जाती है और केफ़ीन का भी कुछ लाभ नहीं पहुँचता। काफ़ी चूर्ण में केफ़ीन १.२१, टैनिन ३२.७९, शर्करा या डैक्सट्रिन ८.५५, नाइट्रोजन-युक्त पदार्थ १२.०७ और जल १९.२३ भाग होते हैं। लवण और सैल्यूलोज़ भी पाये जाते हैं। काफ़ी में गुण करनेवाली विशेष वस्तु 'केफ़ीन' होती है।

काफ़ी प्रायः चिकोरी नामक वस्तु के साथ मिलाकर बेची जाती है।

काफ़ी की विशेष क्रिया नाड़ी-मण्डल पर होती है जिसको काफ़ी उत्तेजित करती है। इस कारण शरीर में स्फूर्ति मालूम होती है। जो काफ़ी के अभ्यस्त हो जाते हैं वह उसके बल पर अधिक परिश्रम कर सकते है। किन्तु उसके अतिप्रयोग से नाड़ी-मण्डल विकृत हो जाता है। हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, और निद्रा नहीं आती।

काफ़ी के एक प्याले से ४० केलोरी शक्ति उत्पन्न होती है।

कोको का चाय या काफ़ी के बराबर प्रयोग नहीं किया जाता। उसको 'थियोब्रोमा काकोआ' नामक वृत्त के बीजों से बनाया जाता है जिनको पीसकर एक चूर्ण बना लेते है। इसमें २० % वसा, १० % स्टार्च, २०.६ % सैल्यूलोज़, ८.० % गोंद, ३.६ % लवण, १.५ % थियोब्रोमीन

और ६ % जल होता है। इससे मालूम होगा कि कोको में बसा और कर्बोज दोनों की पर्याप्त मात्रा रहती है। इस कारण कोको में अधिक पोषण शक्ति होती है। किन्तु उसमें चाय या काफ़ी की अपेक्षा उत्तेजक शक्ति कम होती है। इसमें विशेष वस्तु थियोब्रोमीन होती है जिसकी क्रिया बहुत कुछ केफ़ीन के समान है।

बाज़ार मे जो कोको का चूर्ण बिकता है उसमें से प्राय: बसा का कुछ भाग निकाल दिया जाता है और स्टार्च और शकर मिला दिये जाते है।

अलकोहल अथवा अलकोहलयुक्त पानक वस्तुए—अलकोहल का प्रयोग सारे संसार मे होता है। पश्चिमी देशो में इसका प्रचार बहुत अधिक है। अत्यन्त प्राचीन समय से इसका, किसी न किसी रूप में, प्रयोग होता आया है। बीयर, मद्य और स्पिरिट इनमे मुख्य अलकोहल-युक्त वस्तुएँ हैं।

इन वस्तुओं मे उपस्थित अलकोहल शर्करा के किण्वीकरण से बनाया जाता है। इस कारण यह किण्वीकरण के द्वारा उत्पन्न हुई वस्तुएँ कही जाती हैं। यदि द्राक्ष शर्करा को जल में घोलकर उसमे थोड़ा सा यीस्ट, जिसको ख़मीर के नाम से पुकारा जाता है, मिला दिया जावे तो उसमें एक विशेष क्रिया होने लगती है जिसको किण्वीकरण कहते ह। इस क्रिया से शर्करा अलकोहल और कार्बन-डाई-आक्साइड के रूप में परिवर्तित हो जाती है। कार्बन-डाई-आक्साइड गैस तो उड़ जाती है, किन्तु अल-कोहल जल में रह जाता है। यदि द्राक्ष शर्करा के स्थान पर साधारण इक्षु शर्करा लें तो प्रथम उससे द्राक्ष शर्करा बनेगी, और उससे अलकोहल और कार्बन-डाई-आक्साइड बन जायँगे। यदि साधारण स्टार्च को सल्फ़्-रिक अम्ल के साथ उबालें तो प्रथम वह एक गोंद के समान वस्तु डेक्सट्रिन और उसके पश्चात् माल्ट शर्करा में परिवर्तित हो जायगा। माल्ट शर्करा भी एक प्रकार की शर्करा है जो द्राक्ष शर्करा के बहुत कुछ समान है। यदि इसमें यीस्ट मिला दिया जावे तो इससे भी अलकोहल और कार्बन-डाई-आक्साइड बन जायँगे। इस प्रकार स्टार्च से भी अलकोहल बनता है; किन्तु जहाँ शकर से, एक ही क्रिया से, अलकोहल बन जाता है वहाँ स्टार्च से दो क्रियाओं के पश्चात्

बनता है। आलू या अन्य किसी प्रकार के स्टार्च से अलकोहल इसी प्रकार बनता है।

अलकोहल एक रासायनिक वस्तु है जो कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन के मिलने स बनता है। उसका रासायनिक संकेत C_2H_6O है। उसको ऊपर बताई विधि के अनुसार शर्करा से बनाया जाता है।

$$C_6H_{12}O_6 = 2C_2H_6O + 2CO_2$$
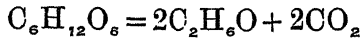
यह जल से हलका और जलनशील होता है और अत्यन्त सहज में ज्वाला पकड़ लेता है। जल मिला देने से उसकी जलनशीलता कम हो जाती है और एक सीमा से अधिक जल होने से अलकोहल का यह गुण बिल्कुल नष्ट हो जाता है। शुद्ध अलकोहल में जल किञ्चिन्मात्र नहीं होता; ६०° फ़ैरनहाइट पर उसका विशिष्ट घनत्व ०·७६३८१ होता है। १६ प्रतिशत जल के मिलने पर उसको रेक्टीफ़ाइड स्पिरिट कहा जाता है। जब अलकोहल में, उसके आयतन के अनुसार, ४६·८ शत जल मिला दिया जाता है तो वह 'प्रूफ़ स्पिरिट' कहा जाना है। यदि इससे अधिक जल होता है तो वह 'अंडर' और यदि इससे कम जल होता है तो वह 'ओवर-प्रूफ़ स्पिरिट' कहलाता है।

१. बीयर—इसको साधारणतया जौ की शराब कहा जाता है; क्योंकि यह जौ के माल्ट और हाप्स नामक फलों से बनाई जाती थी। किन्तु आजकल जौ के स्थान पर दूसरी वस्तुओं का भी प्रयोग किया जाता है। हाप्स के स्थान में अन्य वस्तुएँ जैसे क्वैशा, कैलंबा, जैन्शियन आदि काम में लाई जाती है। जब जौ से बीयर बनानी होती है तो प्रथम उत्तम जौ को एक बड़े बर्तन में तीन दिन तक जल में भिगो दिया जाता है। उसके पश्चात् उनको उस बर्तन से निकालकर पृथ्वी पर या किसी तख्ते इत्यादि पर फैला देते है जहाँ उनको पर्याप्त वायु मिलती है। जौ के दानों में दो या तीन दिन में अंकुर निकलने लगते हैं और दानों के भीतर डायस्टेज़ नामक वस्तु के उत्पन्न होने से स्टार्च शर्करा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अंकुरों के निकलने के कुछ समय के पश्चात् अंकुर-युक्त दानों को अग्नि के ऊपर गरम किया जाता है जिससे अंकुर निकलना रुक जाता है। और दानो के भीतर

माल्ट तैयार हो जाता है। तत्पश्चात् दानों के ऊपर का छिलका उतारकर, जिसके साथ अंकुर भी टूट जाते हैं, दानों को १६० फैरनहाइट ताप के जल से भरे हुए बर्तन में डाल देते हैं जिससे जो कुछ स्टार्च होता है वह सब द्राक्षशर्करा के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। यह शकर जल में घुल जाती है। इसके किण्वीकरण से अलकोहल उत्पन्न होता है। किण्वीकरण से पूर्व शर्करा-युक्त जल को उबाल लेते हैं और उसमें हाप्स इत्यादि जो कुछ मिलाना होता है मिला देते हैं।

बीयर की कई जातियाँ होती हैं; एल, पोर्टर, स्टाउट आदि मुख्य हैं। यह सब बीयर ही की भाँति बनाई जाती हैं। पोर्टर और स्टाउट के बनाने से पूर्व माल्ट को भून लिया जाता है।

इन बीयर, स्टाउट, पोर्टर आदि में मुख्य अवयव अलकोहल, शर्करा, डैक्सट्रिन, वानस्पतिक अम्ल—जैसे एसटिक या लैक्टिक अम्ल—कुछ नाइट्रोजन-युक्त पदार्थ और जल होते हैं। बीयर मे १% से १०% तक अलकोहल होता है।

२. मद्य—भिन्न-भिन्न प्रकार के मद्य शर्करा के किण्वीकरण से बनाये जाते हैं और इनमें अन्य ऐसे पदार्थ, जिनकी सहायता से वह बिगड़ने न पावें, मिलाये जाते हैं। कुछ मद्यों का दो बार किण्वीकरण किया जाता है। इसलिए किसी-किसी मद्य में स्पिरिट मिली होती है।

जब किसी फल के रस का, जिसमें शर्करा सदा उपस्थित होती है, किण्वीकरण किया जाता है तो सारी शर्करा का या उसके कुछ भाग का अलकोहल में परिवर्तन हो जाता है। साथ में कई प्रकार के ईथर और कुछ अम्ल—जैसे मैलिक, टारटरिक, एसटिक—इत्यादि भी बन जाते हैं। कुछ ऐल्डीहाइड भी बनता है जो अत्यन्त मादक वस्तु है। किन्तु वह कुछ समय के पश्चात् नष्ट हो जाता है। कदाचित् इसी कारण पुराने मद्य को उत्तम समझा जाता हो, क्योंकि वह इस पदार्थ से मुक्त होते हैं।

मद्य में यदि १४ प्रतिशत से अधिक अलकोहल हो तो समझना चाहिए कि वह ऊपर से मिलाया गया है। किण्वीकरण के द्वारा १४ प्रतिशत से

अधिक अलकोहल नहीं बन सकता। अलकोहल के इससे अधिक होने से ख़मीर या यीस्ट नष्ट हो जाता है। मद्य को तीव्र बनाने के लिए ऊपर से अलकोहल मिलाया जाता है। यदि मद्य बनाने में अंगूर के रस के अतिरिक्त अंगूरों के बीज या उनके छिलके भी प्रयोग किये जाते हैं तो उनसे मद्य के स्वाद, गन्ध, प्रभाव आदि में कुछ परिवर्तन हो जाता है।

निम्न-लिखित मुख्य मद्य हैं, उनमे उपस्थित अलकोहल की प्रतिशत मात्रा उनके सामने लिखी है।

क्लैरेट—८ से १३ % अलकोहल		ऊपर से अलकोहल नहीं मिलाया जाता।
बर्गंडी— ,, ,, ,,		
शैंपेन—९ से १२ ,, ,,		
हौक— ,, ,, ,,		
शैरी— १५ से २२ ,,		अलकोहल मिलाया जाता है।
पोर्ट— १५ से २० ,,		

३. स्पिरिट या सुरा—स्पिरिट ख़मीर के द्वारा तैयार किये हुए अलकोहल के स्रावण से बनाई जाती है। जिन स्पिरिटों का अधिक प्रयोग किया जाता है वह व्हिस्की, ब्रांडी, रम, जिन इत्यादि है। इस कारण इनमे अलकोहल की अधिक मात्रा पाई जाती है। यह इथाइल अलकोहल होता है। साथ में स्रावण मे उत्पन्न हुए दूसरी जातियो के अलकोहल, ईथर या गन्धोत्पादक वस्तुएँ भी सम्मिलित होती है। भिन्न-भिन्न स्पिरिटों में अलकोहल की मात्रा भिन्न होती है। इस मात्रा के अनुसार स्पिरिट की शक्ति अधिक या कम होती है। शेष जल होता है।

व्हिस्की—इसमें ४० % से ५० % तक अलकोहल होता है। इसको अन्न के दानों से बनाया जाता है। प्रथम दानों में माल्ट उत्पन्न कर दिया जाता है जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। तत्पश्चात् इस माल्ट-युक्त द्रव्य का स्रावण किया जाता है। माल्ट बनाने के लिए प्रायः गेहूँ, जौ, इत्यादि अन्नों के दानों का प्रयोग करते हैं। स्रावण में जो फ्यूसल तैल इत्यादि उत्पन्न होते हैं उनके कारण व्हिस्की की उत्तेजक शक्ति बढ़ जाती है।

ब्रांडी—अंगूरों के रस से जो मद्य बनता है उसके स्रावण से ब्रांडी तैयार होती है। शुद्ध ब्रांडी में ४६ से ५५ प्रतिशत तक अलकोहल, एसटिक ईथर, एसटिक अम्ल, एक तैलीय पदार्थ, कुछ रङ्गोत्पादक अवयव और टैनिन होते है। फ्रांस की ब्रांडी विख्यात है। ताज़ा ब्रांडी रङ्ग-रहित होती है; किन्तु कुछ समय तक रखे रहने से उसमें रङ्ग उत्पन्न हो जाता है। साधारण सस्ती ब्रांडी प्रायः अन्नों से उत्पन्न की हुई स्पिरिट से बनाई जाती है। उसमें शर्करा और कुछ रङ्ग ऊपर से मिला दिये जाते है।

रम—इसमें ५० से ६० प्रतिशत तक अलकोहल होता है। यह विशेष-कर जमैका द्वीप में बनती है। जब प्रथम बार तैयार होती है तो ब्रांडी की भाँति यह भी रङ्ग-रहित होती है। किन्तु जली हुई शकर के मिलाने से उसमें कुछ रङ्ग उत्पन्न हो जाता है। इसमें बुटायरिक ईथर और एक उड़न-शील पदार्थ भी होता है जो इस पदार्थ की गन्ध का कारण होते हैं।

जिन—इसमें ४० से ५० प्रतिशत तक अलकोहल होता है। माल्ट और जौ के मिश्रण से यह पदार्थ बनता है। उसमें गन्ध उत्पन्न करने के लिए जौ और माल्ट के साथ नारङ्गी के छिलके, इलायची इत्यादि वस्तुएँ मिला दी जाती हैं।

अलकोहल का शरीर पर प्रभाव

अलकोहल का सदा से प्रयोग होता आया है। आधुनिक समय में भी कोई देश, प्रान्त या जाति ऐसी नहीं है जो किसी न किसी रूप में इस वस्तु का प्रयोग न करती हो, यद्यपि इस समय संसार में ऐसी संस्थाएँ बन गई हैं जो सारी मनुष्य जाति को अलकोहल से मुक्त कर देने का उद्योग कर रही हैं।

अलकोहल का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। कुछ लोग, विशेषकर जो उसको प्रयोग करने के अभ्यस्त है, अलकोहल की अधिक मात्रा को भी सहज में सहन कर लेते हैं। किन्तु जो लोग अभ्यस्त नहीं होते उनको थोड़ी मात्रा भी सहन करना कठिन होता है। प्रयोगों द्वारा यह पाया गया है कि साधारण व्यक्ति एक औंस से २ औंस (½ से १ छटांक) तक शुद्ध अलकोहल को प्रयोग कर सकता है। इतना अलकोहल २ से ४

औंस ांडी या व्हिस्की में रहता है। जो लोग अभ्यस्त नहीं है उनके लिए दो औंस ब्रांडी भी एक साथ पीना कठिन है। किन्तु जल के मिलाने से उसकी तीव्रता कम हो जाती है। गर्मी के दिनों में तो इस मात्रा से भी कष्ट होता है।

जैसा अलकोहल के सङ्केत से मालूम होगा उसमें कुछ कारबोहाइड्रेट उपस्थित है। इस कारण इसको कुछ लोग भोजन मानते है। किन्तु इस प्रश्न पर, कि वह कहाँ तक जीवन का आधार बन सकता है, बहुत मतभेद है। यह पाया गया है कि एक ग्लास दूध से १८४ केलोरी और एक ग्लास बीयर से १६८ केलोरी ताप उत्पन्न होता है। किन्तु बीयर या अन्य अलकोहलों में जो ईथर, ऐल्डीहाइड या उड़नशील पदार्थ होते है उनके कारण अलकोहल का इतनी या इससे अधिक मात्रा में प्रयोग नहीं किया जा सकता। किन्तु दूध सेरों पिया जा सकता है।

जब तक अलकोहल थोड़ी मात्रा में प्रयोग किया जाता है तब तक वह एक उत्तेजक औषध की भाँति काम करता है और शक्ति उत्पन्न करने में भी सहायता देता है। इसका शोषण बहुत शीघ्र और पूर्ण होता है। शरीर को मद्य पचाने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि इसमे स्वयं ही पचने और शोषित हो जाने की शक्ति है। पीने के १५ मिनट के भीतर यह रक्त में पहुँच जाता है।

जब अलकोहल मुख में पहुँचता है तो मुख की लाला-ग्रन्थियों से अधिक रस बनने लगता है और शरीर में ताप मालूम होता है। आमाशय मे पहुँ-चने पर अलकोहल के प्रभाव से आमाशय की सारी श्लैष्मिक कला लाल हो जाती है; उसकी रक्त-नलिकाओं के प्रसरित हो जाने के कारण उनमें अधिक रक्त आने लगता है जिससे अधिक भूख मालूम होती है और आमाशयिक रस भी अधिक बनता है। किन्तु कुछ लोगों की सम्मति है कि आमाशय में १० प्रतिशत अलकोहल के उपस्थित होने से पाचन स्थगित हो जाता है। थोड़ी मात्रा में अलकोहल पाचन को अवश्य सहायता देता है, किन्तु अधिक मात्रा में उसको बिगाड़ता है और पाचन-कला को विकृत कर देता है।

रक्त में पहुँचने पर अलकोहल से हृदय उत्तेजित और रक्त-नलिकाएँ प्रसरित हो जाती है। चर्म की नलिकाओं का भी प्रसार होता है। इस कारण चर्म मे अधिक रक्त आने लगता है जिससे शरीर के ताप का ह्रास होता है। यद्यपि अलकोहल पीने पर गर्मी मालूम होती है किन्तु वास्तव में शरीर का ताप कम हो जाता है। इस कारण जो अत्यन्त शीत प्रदेशो मे रहते है उनको अलकोहल अधिक मात्रा मे या अधिक बार प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो लोग अलकोहल का सदा प्रयोग करते रहते हैं उनके चर्म की रक्त-नलिकाएँ सदा प्रसरित अवस्था मे रहती हैं और इस कारण उनका मुख और विशेषकर नाक का अग्र-भाग लाल रहता है। उनके शरीर की सहनशक्ति अथवा रोगों के निवारण की शक्ति भी कम हो जाती है।

अलकोहल पीने पर कुछ समय के लिए मस्तिष्क उत्तेजित हो जाता है, विचार-शक्ति उन्नत मालूम होती है और व्यक्ति वास्तव में अधिक काम कर सकता है। किन्तु यदि उसको अलकोहल अधिक मात्रा मे या थोड़ी-थोड़ी मात्रा करके कई बार दिया जावे तो विचार-शक्ति का क्षय हो जाता है। स्मरण-शक्ति जाती रहती है, जिह्वा लड़खड़ाने लगती है, चलने में कठिनाई मालूम होती है और प्रयोग करनेवाला व्यक्ति बहुधा मूर्छित होकर गिर पड़ता है। जो लोग बहुत समय तक अलकोहल का अधिक प्रयोग करते हैं उससे न केवल उन्हीं पर प्रभाव पड़ता है किन्तु भावी सन्तति भी प्रभावित होती है। पागलखानों में बहुत से ऐसे रोगी देखे जाते हैं जो अपने माता-पिता के मद्य के अभ्यस्त होने के कारण सांसारिक सुख और धर्मों से वञ्चित रह जाते हैं।

अलकोहल के अधिक प्रयोग से जिन अङ्गों को सबसे अधिक क्षति पहुँचती है वह आमाशय और यकृत् हैं। आमाशय की पाचन-कला लाल और मोटी पड़ जाती है। अतएव उससे पाचक रस नहीं बनता। इस कारण भोजन का पाचन ठीक प्रकार से नहीं होता; मुँह से दुर्गन्धि आती है, वमन होते हैं; प्रातःकाल सोकर उठने पर विशेषकर अधिक होते हैं। क्षुधा नहीं लगती। यकृत् बढ़ जाता है। उसमें वसा एकत्र होने लगती है। सौत्रिक धातु की भी, जो यकृत् के सेलों के बीच में रहता है, वृद्धि हो जाती है जिससे यकृत्

के कोषाणु और रक्त-नलिकाएँ सब संकुचित हो जाती हैं और धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है।

पेशियों की शक्ति को अलकोहल कहाँ तक बढ़ाता है इसमें बहुत सन्देह है। लार्ड किचनर और लार्ड रोबर्ट युद्धकाल में अपने सैनिकों को अलकोहल नहीं दिया करते थे। यह देखा गया है कि अलकोहल का प्रयोग न करने से शारीरिक शक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं होती।

अनेक प्रयोगों और वाद-विवादों के पश्चात् विद्वानों की सम्मति यह है कि साधारणतया थोड़ी मात्रा, १ व १½ औंस अलकोहल, का प्रतिदिन प्रयोग करने से हानि नहीं होती वरन् लाभ होता है। जिन लोगों को दिन भर विचार-सम्बन्धी कठिन परिश्रम करना पड़ता है उनको अलकोहल की थोड़ी सी मात्रा से अवश्य शान्ति मालूम होती है। सम्भव है कि योरुप के देशों के लिए यह सत्य हो। किन्तु हमारे उष्णता-प्रधान देश में इसकी कोई भी आवश्यकता नहीं मालूम होती। हमारे देश के व्यवसायी और विचार-सम्बन्धी परिश्रम करनेवालों में ऐसी बहुत बड़ी संख्या है जो मद्य का बिलकुल प्रयोग नहीं करते। इसके प्रयोग में सबसे बड़ा दोष यह है कि जो व्यक्ति एक बार उसका प्रयोग आरम्भ कर देते है वह उसकी मात्रा को निरन्तर बढ़ाते जाते हैं जिससे ऊपर कहे हुए दुष्परिणाम उत्पन्न होते हैं। उसका प्रभाव न केवल उन्हीं पर पड़ता है, किन्तु सारे परिवार, समाज और सन्तति पर भी पड़ता है। ऐसे कितने ही उदाहरण देखे जाते हैं जहाँ मद्य के प्रयोग से श्री-सम्पन्न परिवारों का नाश हो गया है।

इन सब बातों को देखते हुए यही उचित है कि मद्य का प्रयोग, जहाँ तक हो सके, न किया जाय। रोग इत्यादि को छोड़कर, जहाँ उसको औषध की भाँति प्रयोग करना होता है, मद्य से सदा दूर रहना ही भला है।

मसाले—साधारण मसाले—मिरच, ज़ीरा, सौंफ़, हींग, लौंग इत्यादि—यद्यपि भोजन नहीं हैं; किन्तु सदा भोजन के साथ मिलाकर खाये जाते हैं। नींबू, सिरका, इमली इत्यादि का भी भोजन के साथ बहुत उपयोग किया जाता है। इन मसालों में एक विशेष प्रकार का तैल होता है जिसकी क्रिया से आमा-

शय की श्लैष्मिक कला उत्तेजित होती है। इस कारण इनसे क्षुधा बढ़ती है और पाचन उत्तम होता है। अन्त्रियों की क्रिया में भी सहायता मिलती है। इनमें जीवाणुओं का नाश करने की भी शक्ति होती है।

साधारण मात्रा मे इनका प्रयोग हितकर है। इनके द्वारा भोजन स्वादिष्ट होता है, उसमे एक विशेष प्रकार की सुगन्धि उत्पन्न हो जाती है जिससे मुख और आमाशय की नाड़िया उत्तेजित होकर पाचक रस अधिक बनाती है।

किन्तु मसालों का प्रयोग इतना ही करना चाहिए जितना भोजन में सुगन्धि और हलका सा स्वाद उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हो। मसाले का अधिक प्रयोग करने से लाभ की अपेक्षा हानि होती है। पाचन-शक्ति दुर्बल हो जाती है और आमाशय की कला में शोथ उत्पन्न हो जाता है।

सातवाँ परिच्छेद

भूमि और निवासस्थान

जिस भूमि पर मकान बनाना हो उसका, मकान बनाने के पूर्व, भली भाँति विचार कर लेना चाहिए। मकान में रहनेवालो के स्वास्थ्य पर भूमि का बहुत प्रभाव पड़ता है। भूमि की आर्द्रता से कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं; और उस पर रहनेवालों लोगो का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। किन्तु शुष्क ऊँची भूमि, जिस पर सूर्य का प्रकाश भली भाँति पड़ता हो, स्वास्थ्य-प्रदायक होती है।

हमारी पृथ्वी दो प्रकार की चट्टानों से बनी हुई है जिनको आग्नेय और जलज कहते है। इन्हीं चट्टानो के ऊपरी पृष्ठ के टूटने-फूटने से भूमि का ऊपरी भाग बन गया है। वर्णन करने के हेतु भूमि को दो भागो में विभक्त किया जाता है। उसका ऊपरी भाग **उपस्थल** और नीचे का भाग **अधःस्थल** कहलाता है। उपस्थल भाग पाशविक और उद्भिज्ज ऐन्द्रिक पदार्थों के विच्छिन्न होने और पशुओं के मल इत्यादि से बना हुआ है। यह भाग उन स्थानों में अधिक गहरा होता है जहाँ वृक्ष-लता इत्यादि बहुतायत से होते हैं, जैसे सघन जङ्गलों में। किन्तु बालुका के मैदानों में, जो वृक्ष-रहित होते हैं, इस भाग की गहराई कम होती है। किसी-किसी स्थान में यह भाग बिल्कुल ही नहीं होता। अध:स्थल भाग में ऐन्द्रिक पदार्थ नहीं होते। वह चट्टानों के टूटने से उत्पन्न हुए केवल अनैन्द्रिक पदार्थों का बना होता है।

भूमि का स्वास्थ्य पर जो उत्तम अथवा हानिकारक प्रभाव पड़ता है उसका कारण भूमि के अन्तर्गत जल, वायु, भूमि पर के जीवाणु, भूमि का ताप,

वृक्ष इत्यादि और उसके चारों ओर के स्थान हैं। अतएव इन सब का संक्षेप से विचार करना आवश्यक है।

भूम्यन्तर्गत वायु—पृथ्वी के भीतर वायु रहती है। जहाँ पर भूमि सच्छिद्र या विच्छिन्न होती है वहा वायु की मात्रा अधिक होती है। वायु न केवल भूमि के भागों के बीच ही मे रहती है किन्तु भूमि के कणों के अन्तर्गत भी रहती है। पृथ्वी के ऊपर की वायु की अपेक्षा भूमि की वायु में कार्बन-डाई-आक्साइड की मात्रा अधिक होती है। वह भूमि के भीतर उपस्थित ऐन्द्रिक पदार्थों के सड़ने से उत्पन्न होती है। इस कारण ऐसे स्थानों के पास, जैसे क़ब्रस्तान या जहाँ मल को गढ़ों में एकत्र किया जाता है वहाँ पर, यह गैस अधिक पाई जाती है। गढ़ों को कूड़े से पाटकर जो भूमि बनाई जाती है उसके भीतर भी इस गैस की मात्रा अधिक होती है। पृथ्वी की गहराई के अनुसार इस गैस की मात्रा भी अधिक पाई जाती है। जो स्थान जितना अधिक गहरा होता है उसकी वायु मे कार्बन-डाई-आक्साइड भी उतनी ही अधिक होती है। भूमि के ताप और उसकी आर्द्रता के साथ भी इस गैस का गाढ़ा सम्बन्ध पाया गया है। जिस ऋतु में भूमि के भीतर जल की मात्रा अधिक होती है, उसमें कार्बन-डाई-आक्साइड भी अधिक हो जाती है; वर्षाकाल मे जल ऐन्द्रिक पदार्थों को अपने साथ लिये हुए पृथ्वी के भीतर पहुँच जाता है। जल में मिलकर यह ऐन्द्रिक पदार्थ सड़ते हैं, और उससे यह गैस उत्पन्न होती है। भूमि की वायु में कार्बन-डाई-आक्साइड के अतिरिक्त अमोनिया, मीथेन, कार्ब्यूरेटेड हाइड्रोजन इत्यादि अन्य गैसें भी पाई जाती हैं।

भूमि की वायु आर्द्र होती है। इसका कारण अधःस्थल जल होता है जो भूमि के भीतर एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रवाहित होता रहता है। भूमि में वायु का भी प्रवाह होता रहता है जिसका मुख्य कारण भूम्यन्तर्गत जल का प्रवाह, वायु-मण्डल में वायु का प्रवाह और भूमि के उपस्थल भाग के द्वारा वर्षा इत्यादि के जल का भूमि में जाना है। वर्षा के जल के साथ वायु पृथ्वी में अधिक गहराई तक पहुँच जाती है। न केवल यही किन्तु जल, शुष्क

स्थानों के द्वारा, वायु को भूमि से बाहर भी निकालता है। वर्षा के पश्चात् जब अधःस्थल जल अधिक होता है तो वह वायु को भूमि से बाहर निकालने का उद्योग करता है। अधःस्थल जल के अधिक या कम होने अथवा उसके प्रवाह के अनुसार भूमि की वायु का सदा प्रवाह हुआ करता है। जिन मकानों की नींव मे कोई अप्रवेश्य वस्तु नहीं लगाई जाती है, उनके नीचे की भूमि की वायु प्रायः मकानों मे व्याप्त होकर उनके वायुमण्डल को अशुद्ध करती है। मकानों की गरम वायु सदा भूमि की ठण्डी वायु को आकर्षित करती है। इस कारण मकानो की नींव मे, विशेषकर जहाँ की भूमि सन्दिग्ध हो, अप्रवेश्य वस्तु का प्रयोग करना आवश्यक है, जिससे भूमि की वायु मकान के भीतर प्रविष्ट न हो सके। इस वायु का स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कुछ समय तक श्वास द्वारा ग्रहण करने से इस वायु से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

भूम्यन्तर्गत या अधःस्थल जल—इसका कुछ उल्लेख जल के सम्बन्ध मे किया जा चुका है। जो जल भूमि के कणो में मिला रहता है वह केवल आर्द्रता के नाम से पुकारा जाता है। ऐसी दशा मे वायु कणों के बीच में उपस्थित रहती है। किन्तु जब भूमि के कणो के बीच में भी जल भर जाता है तो वह अधःस्थल जल कहलाता है। भिन्न-भिन्न स्थानों में अधः-स्थल जल की गहराई में भिन्नता पाई जाती है। कहीं पर केवल १० या १२ फुट या इससे भी कम गहराई पर जल स्थित होता है। कलकत्ते में ९ से १५ फुट पृथ्वी खोदने से जल निकलने लगता है। वर्षाकाल में उसकी गहराई और भी कम हो जाती है। राजस्थान के मरु देश में कई सौ फुट तक खोदने पर भी जल नहीं निकलता। अधःस्थल जल के ऊपर की भूमि सदा जल से आर्द्र रहती है, क्योंकि वह जल को आकर्षित करती रहती है। इससे भूमि के ऊपर की वायु भी आर्द्र हो जाती है।

अधःस्थल जल, जो वास्तव में भूमि के अप्रवेश्य भाग पर एकत्र हुआ वर्षा का जल है, सदा एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रवाहित होता रहता है और उसकी गहराई भी कम या अधिक होती रहती है। वर्षाकाल में जब

अधःस्थल जल की मात्रा अधिक होती है तो उसकी गहराई कम हो जाती है और वायु भूमि से बाहर निकल जाती है। जब यह जल कम होता है तो वह बाहर की वायु को भूमि के भीतर आकर्षित करता है। अधःस्थल जल की गहराई का अनुमान कुवें के जल से किया जा सकता है। कुवें में जितना गहरा जल होता है, उतनी ही गहराई प्रायः अधःस्थल जल की भी होती है।

अध.स्थल जल का सदा नीचे स्थानों की ओर को प्रवाह हुआ करता है। स्रोत इत्यादि इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं।

भूमि की आर्द्रता से प्रतिश्याय, नाड़ी-शोथ, शरीर में पीड़ा, श्वास-सम्बन्धी रोग, सन्धिवात इत्यादि उत्पन्न होते है। डिप्थीरिया, चेचक, मसूरिका और कास के उत्पन्न होने मे आर्द्रता बहुत सहायता देती है। डाक्टर वौडविच ने अमरीका मे और डाक्टर बुकनन ने इँगलैंड में अन्वेषण द्वारा यह सिद्ध किया है कि आर्द्रता और राजयक्ष्मा में विशेष सम्बन्ध है। कुछ विद्वानो की सम्मति है कि आन्त्रिक ज्वर या मोतीझरा, प्रवाहिका इत्यादि रोगों की उत्पत्ति में भी आर्द्रता से बहुत सहायता मिलती है। यह निश्चित प्रकार से नहीं कहा जा सकता कि स्वयं आर्द्रता इन रोगों को कहाँ तक उत्पन्न कर सकती है। किन्तु अध:स्थल जल के अधिक होने से पास के कुँवे, तालाब या अन्य जल स्रोत अवश्य दूषित हो सकते हैं। यह जल मलयुक्त इत्यादि दूषित स्थानों से अशुद्ध अवयवों को जलाशयों में पहुँचा सकता है जिससे रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

जिन स्थानों में कुछ समय तक जल भरा रहता है या जहाँ की भूमि आर्द्र होती है वह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होते है। वहां पर मैलेरिया अधिक होता है। ऐसे स्थानों में मकान बनाने के पूर्व वहां के जल-निकास और उसके शुष्क करने का प्रबन्ध करना चाहिए। इसके लिए गढ़ों अथवा नीचे स्थानों को, जहाँ पर जल एकत्र हो जाता हो, पाट देना चाहिए। जमा हुए जल को पक्की या कच्ची मोरियों द्वारा निकालने का उद्योग करना चाहिए। इस काम में कुछ सहायता वृक्षों से भी ली जा सकती है। पाकर्स और केनवुड के

मतानुसार जैतून का वृक्ष जिस भूमि को आच्छादित किये रहता है, उसकी अपेक्षा आठ गुना अधिक भूमि पर पड़नेवाले वर्षा के जल का वह शोषण कर लेता है। इसी प्रकार यूकेलिप्टस का वृक्ष अपनी अपेक्षा ग्यारह गुना अधिक भूमि का जल शोषण करता है।

जीवाणु—भूमि पर जीवाणुओं की बहुत बड़ी संख्या पाई जाती है। इनकी संख्या उपस्थल की अपेक्षा अधःस्थलों मे कम होती है। ऐन्द्रिक पदार्थों का सड़ना इन जीवाणुओं की क्रिया का परिणाम होता है। भूमि मे कुछ जीवाणु ऐसे भी होते हैं जो ऐन्द्रिक पदार्थों के नाइट्रोजन को नाइट्राइट या नाइट्रेट के रूप में परिणत कर देते है। वृक्षों को नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है; किन्तु वह ऐन्द्रिक पदार्थों से नाइट्रोजन को ग्रहण नहीं कर सकते। यह जीवाणु प्रथम ऐन्द्रिक पदार्थों से अमोनिया बनाते हैं और उससे नाइट्रेट या नाइट्राइट लवण बना देते है जिनको वृक्ष सहज मे ग्रहण कर लेते हैं। भूमि की उपजाऊ शक्ति इन लवणों पर निर्भर करती है। जिस भूमि में यह लवण कम होते हैं वहाँ उपज कम होती है। यदि किसी प्रकार भूमि को जीवाणुओं से पूर्णतया मुक्त कर दिया जावे तो उस भूमि की उपजाऊ शक्ति नष्ट हो जायगी; वहाँ वृक्ष तक न उगेंगे।

भूमि में जो जीवाणु पाये जाते है उनमे कुछ रोगोत्पादक भी होते हैं किन्तु उनकी संख्या कम होती है; भूमि में ऐन्थ्रेक्स, टिटेनस (धनुर्वात), ग्लैंडर्स और घातकशोथ के जीवाणु विशेषतया पाये जाते है। आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु भी भूमि में मिल सकते है। यद्यपि यह जीवाणु भूमि में पाये जाते हैं किन्तु रोगोत्पादन में उनका भाग अधिक नहीं रहता। इनमें से टिटेनस का जीवाणु सदा भूमि ही से क्षत द्वारा शरीर में प्रवेश करके रोग उत्पन्न करता है। अन्य जीवाणु भी वायु के साथ उड़कर शरीर तक पहुँच सकते हैं या भोज्य पदार्थों मे पहुँचकर उनको दूषित कर सकते हैं। अधःस्थल जल जब बढ़कर प्रवाहित होता है तो उसके द्वारा यह जीवाणु कुवें या अन्य जलाशयों में पहुँच जाते है।

भूमि में रोगोत्पादक जीवाणुओं को नाश करने की भी शक्ति होती है यद्यपि वह अधिक नहीं होती।

ताप-क्रम—भूमि के भीतर चार .फुट से अधिक गहराई पर वायु-मण्डल के ताप-क्रम का प्रभाव नहीं पड़ता। ऊपरी चार .फुट का ताप-क्रम वायु-मण्डल के ताप-क्रम के अनुसार घटता या बढ़ता रहता है। कुछ भूमियों का ताप अन्य की अपेक्षा सहज मे बढ़ जाता है। जो अधिक सुषिर और गहरे रङ्ग की भूमि होती है उसका ताप-क्रम अत्यन्त सहज मे घटता या बढ़ता रहता है। प्रत्येक भूमि का ताप-क्रम उसके ताप के शोषण और विसर्जन की शक्ति पर निर्भर करता है। यदि शोषण की अपेक्षा विसर्जन अधिक वेग से होता है तो भूमि का ताप-क्रम चारों ओर की वायु से कम होगा; किन्तु अधिक शोषण होने पर इसके विपरीत होगा।

अधःस्थल भाग के ताप-क्रम मे परिवर्तन शीघ्र नहीं होते। इस सम्बन्ध में पञ्जाब प्रान्त में कुछ अन्वेषण किये गये थे। उनसे मालूम हुआ है कि बीस .फुट की गहराई पर ताप-क्रम सितम्बर मे सबसे अधिक और मार्च में सबसे कम होता है। इससे स्पष्ट है कि अध स्थल के ताप-क्रम मे अधिकता या न्यूनता उपस्थल से कुछ समय के पश्चात् होती है। अतएव गरमियों के दिनों में अधःस्थल उपस्थल की अपेक्षा ठण्डा और जाड़ो में गरम रहता है। दिन और रात्रि के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

वृक्ष इत्यादि का भी भूमि के ताप-क्रम पर प्रभाव पड़ता है। जिन स्थानों में वृक्ष वनस्पति आदि अधिक होते हैं वहाँ पर आर्द्रता अधिक रहती है और इस कारण भूमि से सदा कुछ जल, वाष्प बनकर, उड़ा करता है। इस कारण भूमि का ताप-क्रम कम रहता है और वायु भी आर्द्र और ठण्डी रहती है। इसके अतिरिक्त जल ताप का उत्तम वाहक नहीं है। अतएव जिस भूमि में जल अधिक होता है वह सदा ठण्डी रहती है। कुछ भूमि अन्य की अपेक्षा शीघ्र ही गरम हो जाती है; किन्तु उससे ताप का विसर्जन भी थोड़े ही समय में हो जाता है। Clay, loam, mail, खड़िया और बालुयुक्त भूमि से ताप का विसर्जन, इनके उल्लेख के क्रमानुसार, होता है। Clay से सबसे अधिक शीघ्रता से और बालू से सबसे अधिक देर से ताप विसर्जित होता है। बालू न केवल ताप को अधिक समय में विसर्जित ही करती है किन्तु ताप का शोषण भी बहुत शीघ्र करती है।

भूमि के ताप-क्रम का स्वास्थ्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वह स्थान जहाँ आर्द्रता नहीं होती और जहाँ का ताप शीघ्र ही बढ़ और घट जाता है स्वास्थ्य के लिए उत्तम होता है। भूमि के भीतर ऐन्द्रिक पदार्थों का सड़ना, जिससे वायु-मण्डल दूषित होता है, बहुत कुछ ताप-क्रम पर निर्भर करता है। उपयुक्त ताप-क्रम मिलने पर ही जीवाणुओं की क्रिया पूर्ण होती है, अन्यथा वह स्थगित या कम हो जाती है।

वृक्ष, वनस्पति इत्यादि की अधिकता से भूमि और स्थानिक वायु-मण्डल दोनो आर्द्र रहते हैं। इस कारण उनसे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उष्णता-प्रधान देशो मे भूमि का ताप इतना अधिक हो जाता है कि वह असह्य होता है। वहाँ के ताप में वृक्षों से कुछ कमी अवश्य होती है; किन्तु वृक्षों को मकान से कुछ दूरी पर लगाना चाहिए। अत्यन्त समीप सघन वृक्षों से हानि होने की सम्भावना है। उनसे मकान में शुद्ध वायु के प्रवेश में अवरोध उत्पन्न होता है। वृक्षों में अनेक कीट-पतङ्ग उत्पन्न होकर हानि पहुँचा सकते हैं। वृक्षों के चारो ओर वर्षा का जल एकत्र होकर स्थान के दोष को बढ़ा देता है। अतएव वृक्षो को क्रम से पंक्तियों में निवास-स्थान से पर्याप्त दूरी पर लगाना चाहिए।

स्थिति—मकान बनाने के पूर्व चारो ओर के स्थान का भी भली भांति विचार कर लेना चाहिए। गन्दे जलाशय, नाले, जङ्गल इत्यादि के समीप होने से मच्छर और अन्य कीट उत्पन्न होकर स्वास्थ्य को हानि पहुँचाते हैं। यदि स्थान नीचा हो तो वहाँ वर्षा का जल एकत्र हो जाता है। पर्वतों की तलहटी के स्थान इसी कारण सदा अस्वास्थ्यकर होते हैं। वहाँ वर्षा का जल एकत्र होता रहता है और उससे वृक्ष बहुतायत से उत्पन्न होते हैं। ऊँची भूमि पर स्थित मकान इन दोषो से मुक्त रहते है।

जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि मकान बनाने के लिए ऐसे स्थान को चुनना चाहिए जो ऊँचा हो, जहां की भूमि सुषिर, शुष्क और शुद्ध हो, अर्थात् गढ़ों को भरकर न बनाई गई हो, जहाँ के अधःस्थल और

उपस्थल जल का निकास उत्तम हो अथवा जहाँ जल एकत्र न हो सके और जहाँ वायु तथा सूर्य-प्रकाश के मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध न हो।

कंकरीली और बालुका-युक्त भूमि उत्तम मानी जाती है; क्योंकि वह अत्यन्त शुष्क और गरम होती है। किन्तु उसकी गहराई पर्याप्त और स्थिति ऊँची होनी चाहिए जिससे वहाँ पर जल एकत्र न होने पावे। इस प्रकार की भूमि प्रायः सुषिर होती है और इस कारण उसके भीतर जल एकत्र हो सकता है। खड़िया-युक्त भूमि भी स्वास्थ्य-प्रदायक किन्तु ठण्डी होती है। वह ताप का शोषण तो नहीं करती; किन्तु शुष्क अवश्य होती है। क्ले-युक्त भूमि के भीतर सदा जल एकत्र रहता है। इस कारण उसको स्वास्थ्य-प्रदायक नहीं कहा जा सकता। क्ले-स्लेट अवश्य उत्तम भूमि है; क्योंकि उसमें जल नहीं रहता। यदि क्ले-युक्त भूमि की ऊँचाई काफ़ी हो और वह ढलवाँ भी हो तो उस पर मकान बनाने में कोई हानि नहीं। रेणुशिला भी स्वास्थ्य के लिए उत्तम होती है; वहाँ की भूमि और वायु दोनों शुष्क होते हैं। जो भूमि नदियों के द्वारा लाई हुई रेत से बनी होती है वह मकान के लिए उपयुक्त नहीं होती। वहाँ जल एकत्र रहता है इस कारण वह आर्द्र और ठण्डी होती है। नदियों के मुहानों पर ऐसी भूमि बहुतायत से दिखाई देती है। स्वास्थ्य के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि को इस क्रम में लिखा जा सकता है—

१—कंकर, बालू।
२—रेणुशिला।
३—खड़िया।
४—ग्रानिट।
५—क्ले-स्लेट।
६—चूने के पत्थर युक्त भूमि।
७—लोम[1]।
८—क्ले।
९—नदियों की रेत से बनी हुई भूमि।
१०—गढ़ों को कूड़े से भरकर बनाई हुई भूमि।

---

१. Loam.

अधःस्थल जल का निकास—जो स्थान अधःस्थल जल की अधिकता से आर्द्र या जल-परिपूरित होते हैं वहाँ पर जल के निकास का उचित प्रबन्ध करना चाहिए। अधःस्थल जल के निकास के लिए भूमि के भीतर चीनी मिट्टी के खुरदरे या साधारण मिट्टी के बने हुए नलों को मोरियो के रूप में लगाया जाता है। यदि चीनी के नलों का प्रयोग किया जाता है तो उनमें इधर-उधर छोटे-छोटे छिद्र कर दिये जाते है और उनके जोड़ों को भी ढीला रखा जाता है। इन मोरियो के चारो ओर ईंटों के टुकड़े या कङ्कर लगाये जाते हैं जिनके द्वारा जल स्रवकर मोरियें के भीतर पहुँचता रहता है। इन मोरियें का ऐसे स्थान की ओर को ढाल होना चाहिए जहाँ से जल निकलकर किसी नाले या नदी में गिराया जा सके। जिन बम्बों के द्वारा नगर का मैला बहाया जाता है उन बम्बों में इस जल को गिराना ठीक नहीं। बालुका इत्यादि सुषिर भूमि में इस प्रकार की एक मोरी बना देना पर्याप्त है। किन्तु क्ले के समान कठिन भूमि में कई मोरियाँ बनाना आवश्यक है। ऐसा करने से अधःस्थल जल बहुत कम हो सकता है। यह जल मकान की नींव से कम से कम १० फुट नीचा होना चाहिए।

इन मोरियें की समय-समय पर परीक्षा करनी चाहिए। यदि उनमें रेत एकत्र हो जावे तो मोरियें को खोदकर स्वच्छ करने के पश्चात् उनको फिर से बनाना चाहिए।

मकान बनाते समय ऊपर कही हुई बातें का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। भूमि ऊँची और ढलवाँ होनी चाहिए जिससे वहाँ पर जल एकत्र न होने पावे। वायु की दिशा का ध्यान रखना भी आवश्यक है। जहाँ तक हो सके, मकान वायु-प्रवाह के सम्मुख और चारों ओर से खुला होना चाहिए। उसके आगे और पीछे कम से कम मकान की ऊँचाई के बराबर खुला हुआ स्थान छोड़ देना आवश्यक है। मकान में सूर्य-प्रकाश के प्रवेश का भी पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। जिन मकानें में सूर्य-प्रकाश और शुद्ध वायु का पूर्ण प्रवेश होता है वही स्वास्थ्य के लिए हितकर होते हैं। भूमि के गुण और अवगुणों को प्रथम ही बताया जा चुका है।

उन्हीं के अनुसार मकान बनाने के लिए भूमि का विचार करना चाहिए। खेत, जलाशय, बाज़ार, गोशालाएँ या अन्य पशुओं के रहने के स्थानों को मकान के पास बनाना ठीक नहीं है।

नगर के भीतर मकान चौड़ी सड़कों के किनारे या पार्क इत्यादि के पास होने चाहिएँ और उनके आगे और पीछे दोनों ओर काफ़ी स्थान छुटा रहना चाहिए। ऐसे मकान, जो पीछे की ओर से जुड़े होते हैं, स्वास्थ्य के लिए उत्तम नहीं है। इससे मकान के कमरों मे वायु-प्रवेश में बाधा पड़ती है। मकानों के बीच में सदा अन्तर रहना चाहिए जिससे न केवल बैठने और सोनेवाले ही कमरों में किन्तु गोदाम, रसोई, स्नानागार या अन्य कमरों में भी पर्याप्त वायु पहुँच सके। लंदन में यह नियम बना दिया गया है कि प्रत्येक सड़क की चौड़ाई सड़क के दोनों ओर के मकानों की ऊँचाई से कम न होनी चाहिए। जो नई सड़कें बनाई जाती है उनकी चौड़ाई कम से कम ४० फुट रखी जाती है।

उत्तम भूमि और स्थिति प्राप्त कर चुकने के पश्चात् मकान बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि स्वास्थ्य के विचार से उसमें किसी प्रकार का अवगुण न आने पावे; मकान में सील न रहे, उसके कमरों में शुद्ध वायु का पूर्ण प्रवेश हो, कमरे गरमी में ठण्डे और शीतकाल में गरम रहें; और कमरों में सूर्य-प्रकाश भली भांति भीतर पहुँचे। हमारे देश में मकान के भीतर सहन छोड़कर उसके चारों ओर कमरे बनाने की रीति अत्युत्तम है। किन्तु कमरों के आकार और उनकी संख्या के अनुसार सहन की लम्बाई-चौड़ाई पर्याप्त होनी चाहिए।

भूमि की आर्द्रता से मकान मे सील उत्पन्न होती है जो मकान की नींव में प्रयोग की हुई ईंटों या चूने इत्यादि के द्वारा आकर्षित होती रहती है। मकान के कमरों में वायु और प्रकाश के पर्याप्त रूप से प्रवेश न करने से भी मकान सील-युक्त हो जाता है। इस कारण सील को रोकने के लिए मकान की नींव ऐसी बनानी चाहिए कि उसके द्वारा भूमि से आर्द्रता का शोषण हो सके। दीवारें भी आर्द्रता को शोषित करती हैं।

नींव—मकान की नींव गहरी और दृढ़ होनी चाहिए। यदि भूमि कठिन न हो तो दीवारों की नींव के नीचे कंक्रीट या पत्थर लगावे। यह पत्थर या चूने से आच्छादित नींव के नीचे का स्थान ऊपर की दीवार की अपेक्षा कम से कम चार गुना चौड़ा होना चाहिए। वास्तव में समस्त मकान
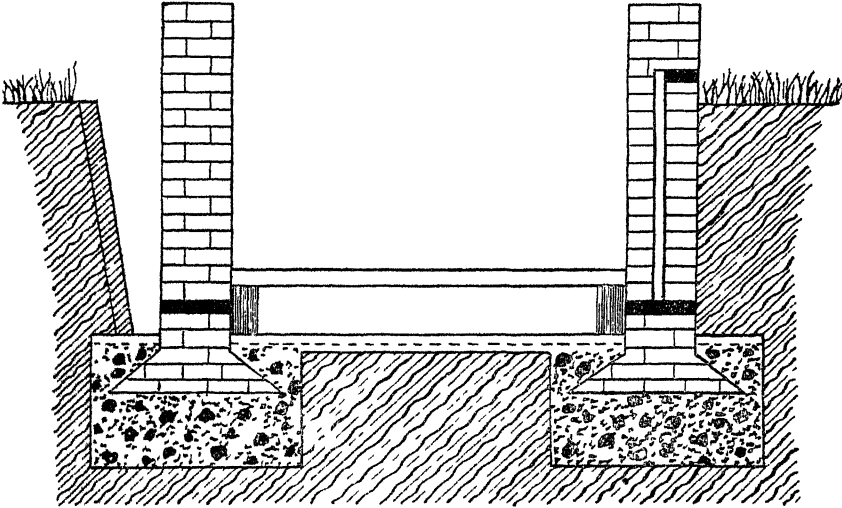
चित्र नं० ३४

के नीचे की भूमि में सीमेंट और कंक्रीट का ६ इंच मोटा स्तर लगाया जाय। उसके ऊपर सीमेंट का प्लस्तर हो। दीवारों के आधारों या निचले भाग को चारों ओर बढ़ा देना चाहिए जिससे इस भाग की चौड़ाई दीवार से कम से कम दुगनी हो जावे।

कंक्रीट और सीमेंट के अतिरिक्त दीवारों के निचले भाग में, जहाँ वह भूमि से ऊपर निकलती हैं, आर्द्रतावरोधक वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है। इन वस्तुओं को दीवारों की समस्त चौड़ाई में लगाया जाता है जिससे दीवार और भूमि का सम्पर्क नहीं होता और भूमि से दीवार में आर्द्रता के पहुँचने की

सम्भावना बहुत कम रह जाती है। चीनी के पालिश किये हुए टाइल, स्लेट, सीस के तख्ते, विशेष प्रकार से बनाई हुई ईंट और ऐस्फ़ेल्ट नामक वस्तुओं का अधिक प्रयोग होता है। यह वस्तुएँ पूर्ण अप्रवेश्य होती है। इन सबों में ऐस्फ़ेल्ट को उत्तम माना जाता है। कहीं-कहीं दीवार को पोला बनाकर उसमें आर्द्रतावरोधक वस्तुओं को दो स्थानों पर प्रयोग करते हैं। इस वस्तु का एक परत मकान के फ़र्श या भूमि के नीचे दीवार में लगाया जाता है। इसके ऊपर दीवार का भाग पोला होता है। अवरोधक वस्तु का दूसरा परत इस पोले भाग के ऊपरी सिरे पर लगाया जाता है जो भूमि से कुछ ऊँचा रहता है। यह वस्तु पुराने मकानों मे भी लगाई जा सकती है। इस प्रकार के प्रबन्धो द्वारा दीवारों को आर्द्रता से पूर्णतया मुक्त रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

दीवारें प्रायः ईंट और पत्थर से बनाई जाती है। कहीं-कहीं लकड़ी का भी प्रयोग किया जाता है। ईंटो मे शोषण का गुण अधिक होता है; क्योंकि उनकी रचना सुषिर होती है। इस कारण उनके द्वारा जल और वायु दोनों भीतर आ सकते है। अतएव दीवारों की चौड़ाई में कम से कम डेढ़ ईंट लगाई जाती हैं और उनको सीमेंट के द्वारा जोड़ दिया जाता है। दीवारो की चौड़ाई कम से कम १९ इंच होनी चाहिए। दीवारों के पतली होने से कमरे गरमी में शीघ्र ही गरम और शीतकाल में ठण्डे हो जाते हैं। दीवारों की चौड़ाई, स्थान और दृढ़ता की आवश्यकता के अनुसार, रखी जाती है।

साधारणतया दीवारो के बाहर और भीतर की ओर चूने का प्लस्तर किया जाता है और उस पर सफ़ेदी अथवा किसी और प्रकार का रङ्ग कर दिया जाता है। दीवारों के बाहर की ओर प्लस्तर न करके उनको खुला छोड़ देने की प्रथा भी प्रचलित है। इससे कमरों के गरम होने की अधिक सम्भावना रहती है। चूने में, जिसका सफ़ेदी में प्रयोग किया जाता है, जीवाणुनाशक शक्ति होती है। किन्तु साधारण खड़िया में यह शक्ति नहीं होती।

जिन ईंटो की दीवारें बनाई जावें वह उत्तम होनी चाहिएँ। वे आकार में समान, भली भांति पकी हुई, दृढ़ और बजाने से धातु के समान शब्द उत्पन्न करनेवाली हों। ईंट और उनको जोड़ने के लिए प्रयोग किये गये मसाले के उत्तम न होने से वर्षा के जल से ईंटें आर्द्र हो जाती हैं और भूमि से पाँच या छः फ़ुट की ऊँचाई पर उन पर एक रेखा दिखाई देने लगती है।

छतों से जल के निकास के लिए जो मोरियाँ बनाई जाती है उनके उत्तम न होने पर भी छत अथवा दीवारें आर्द्र हो जाती हैं; क्योंकि वर्षा का जल छत पर एकत्र हो जाता है। इस कारण, विशेषकर वर्षा के पूर्व, इन मोरियों की दशा सुधार देनी चाहिए।

पत्थर के मकान, ईंटो की अपेक्षा, अधिक गरम रहते है। किन्तु पत्थर ईंट की अपेक्षा आर्द्रता का कम शोषण करता है।

फ़र्श सदा ऐसे पदार्थ का बनाना चाहिए जो सहज में धोया जा सके किन्तु जल का शोषण न करे। ईंटें, पत्थर के चौके, ईंट और चूना, टाइल, सीमेंट, ऐस्फ़ेल्ट इत्यादि का हमारे देश में अधिक प्रयोग होता है। सङ्गमरमर के टुकड़े भी इस काम मे लाये जाते है। योरुप मे और हमारे देश के पार्वतीय स्थानों मे फ़र्श बनाने के लिए लकड़ी भी काम मे लाई जाती है।

फ़र्श एक ओर को कुछ ढलवाँ होना चाहिए जिससे कमरे का जल सहज में बाहर निकल जावे। जब पत्थर या सङ्गमरमर के चौकों का प्रयोग किया जाय तो उनको विशेष सावधानी से जोड़ना चाहिए। वह इस प्रकार जुड़ने चाहिएँ कि उनके बीच में तनिक भी अन्तर न रहने पावे। अन्तर रह जाने से वहाँ कूड़ा एकत्र हो जाता है और फ़र्श को धोते समय जल भर जाता है।

लकड़ी का फ़र्श लगाते समय भी ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि सारा फ़र्श एक समान और चिकना हो; उसमें दरार न हो। साधारणतया

पर्वतों के अतिरिक्त लकड़ी फ़र्श के लिए उपयुक्त वस्तु नहीं है; क्योंकि गरमियों में वह तड़कने और मुड़ने लगती है। योरुप में इसका अधिक प्रयोग होता है।

छतें प्रायः ईंट और चूने की बनाई जाती हैं और उन पर सीमेंट लगा दिया जाता है। आजकल कंक्रीट या ईंटों के साथ लोहे का भी उपयोग किया जाता है। इसको रीइन्फ़ोर्स्ड कंक्रीट या ईंटें कहते हैं। इस वस्तु की बनी हुई छतें बहुत दृढ़ होती हैं। टाइल, पत्थर, लकड़ी, लोहे के तख़्ते इत्यादि भी काम में लाये जाते हैं।

छतें दो तरह की बनाई जाती हैं; एक समतल और दूसरी ढलवां। समतल छतों में भी इतना ढाल रखना आवश्यक है कि उस पर से वर्षा इत्यादि का जल सहज में बहकर निकल जावे। ढलवाँ छतें मकान को अधिक ठण्डा रखती हैं किन्तु समतल छतें ग्रीष्म ऋतु में रात्रि में सोने के काम में लाई जा सकती हैं।

टाइल, लोहे के तख़्ते और छप्परों की बनी हुई छतें ढलवां होती हैं। टाइल मिट्टी के बने हुए कई आकार के होते हैं। दीवारों पर लोहे की सलाखें रखकर उनके ऊपर टाइलों को रखकर छत बनाई जाती है। गरमियों में इस प्रकार की छतें गरम रहती हैं, इस कारण इन वस्तुओं को प्रायः पशुओं के रहने के स्थानों में प्रयोग किया जाता है। छप्परों को बँगलों में लगाया जाता है। छोटे-छोटे मकानों में भी इनका प्रयोग होता है। कुछ लोग लोहे की चादरों पर छप्पर डलवाते हैं। यह गरमियों में ठण्डे रहते हैं किन्तु उनमें आग लग जाने का भय रहता है। इसके अतिरिक्त छप्पर में कृमि, पक्षी इत्यादि भी अपना घोंसला बना लेते हैं। छप्पर की मोटाई ६ से १२ इंच तक होनी चाहिए। कहीं-कहीं पर दोहरी छत भी बनाई जाती है। एक छत के ऊपर कुछ अन्तर छोड़कर दूसरी छत बना दी जाती है। इस प्रकार की छतें मकानों को बहुत ठण्डा रखती हैं।

छत १५ या २० फ़ुट से कम ऊँची न होनी चाहिए। किन्तु उसकी ऊँचाई इतनी अधिक भी न हो कि उससे कमरे के व्यजन में बाधा

पड़े। छत की ऊँचाई के बहुत अधिक होने पर कमरे से वायु के निकास के लिए विशेष प्रबन्ध करना आवश्यक है।

व्यजन की आवश्यकता और उसके भिन्न-भिन्न साधनों का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। उन्हीं नियमों के अनुसार वायु के प्रवेश और निकास-द्वारों को बनाना चाहिए। प्रत्येक दीवार मे उसकी लम्बाई के अनुसार खिड़कियाँ होनी चाहिएँ। कम से कम एक खिड़की तो अवश्य ही होनी चाहिए। यदि सम्भव हो तो दरवाज़े के पास भी खिड़कियाँ बनानी चाहिए। शीतकाल में दरवाज़ों को बन्द करने पर एक या अधिक खिड़की खुली रखी जा सकती है। शीत के अत्यधिक होने पर ही खिड़की को बन्द करना चाहिए।

पाकशाला या रसोईघर—भोजन बनाने के लिए एक विशेष कमरा निर्दिष्ट होना चाहिए जो, आवश्यकता के अनुसार, लम्बा-चौड़ा बनाया जा सकता है। रसोई में वायु-प्रवेश का प्रबन्ध करना उतना ही आवश्यक है जितना सोने के कमरे में। ऐसे कमरे, जिनमें शुद्ध वायु के प्रवेश और धुव के निकलने का उचित प्रबन्ध न हो, पाकशाला के लिए उपयुक्त नहीं हैं। साधारण दरवाज़े और खिड़कियों के अतिरिक्त प्रत्येक रसोई मे चिमनी होनी चाहिए जो चूल्हे के ऊपर स्थित हो, जिसके द्वारा धुवां भली भाँति कमरे से बाहर निकलता रहे। यह चिमनी कमरे की छत से ऊपर जाकर खुलती हैं। इनका ऊपरी भाग कई प्रकार का बनाया जाता है। चीनी मिट्टी के बने हुए नल, जिनका आगे का भाग मुड़ा रहता है, बहुत प्रयुक्त होते हैं।

रसोई का फ़र्श पक्का और अप्रवेश्य होना चाहिए। सीमेंट इसके लिए उत्तम वस्तु है। चूल्हे के पास, विशेषकर इसी प्रयोजन के लिए बनाई हुई, ईंटों या टाइल का प्रयोग करना चाहिए। इनको Fire bricks कहते हैं। रसोई के फ़र्श मे चूहों के बिल कदापि न रहे। फ़र्श का ढाल इस प्रकार का होना चाहिए कि उसको धोने के पश्चात् जल तुरन्त ही कमरे से मोरी द्वारा निकल जावे।

रसोई ऐसे स्थान पर होनी चाहिए कि वहाँ से निकला हुआ धुवाँ बैठने या सोनेवाले कमरों में न जाने पावे। इस कारण रसोई का कमरा न तो

दूसरे कमरों के बहुत पास ही हो और न बहुत दूर ही। शौच-स्थान और रसोईघर मे पर्याप्त अन्तर होना आवश्यक है। उसकी स्थिति सड़क के किनारे के पास भी न हो। ऐसा होने से सड़क की धूल इत्यादि रसोई मे पहुँचकर भोज्य पदार्थों को दूषित करेगी। रसोई मे ऐसा प्रबन्ध करना, जिससे उसके भीतर मक्खियाँ न आ सकें, अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए लोहे के तार की बारीक जाली का प्रयोग किया जाता है। लकड़ी के चौखटे मे लगाकर इस जाली को खिड़कियों के बाहर की ओर लगा दिया जाता है। दरवाज़ो पर दुहरे किवाड़ लगाये जाते है। भीतर के किवाड़ साधारण होते हैं किन्तु बाहर के किवाड़ इसी जाली के बने होते है जिनमें एक कमानी लगी रहती है। इस कमानी से किवाड़ स्वयं ही बन्द हो जाते हैं।

भोजन करने का कमरा रसोई के पास ही या उससे कुछ दूरी पर होना चाहिए। जो लोग केवल चौके ही मे भोजन करते है उनके लिए इस प्रकार का कमरा बनाना आवश्यक है कि उसका रसोई से सम्बन्ध भी रहे, किन्तु रसोई का धुवाँ वहाँ न पहुँचने पावे। इस कमरे में भी जाली के दुहरे किवाड़ लगाये जायँ। फ़र्श और दीवारों की पूर्ण स्वच्छता का ध्यान रखना आवश्यक है।

स्नानागार वस्त्र पहनने के कमरे के पास होना चाहिए। इसके फ़र्श और दीवारों पर लगभग चार फुट की ऊँचाई तक उत्तम टाइल लगाये जायँ।

शौच-स्थान, जहाँ तक हो सके, कमरों से कुछ दूरी पर बनाना चाहिए। जहाँ स्थान का अभाव न हो वहां शौच-स्थान कमरों से कम से कम १५ फट और जलाशय से ५० फुट की दूरी पर हो; किन्तु स्थानाभाव होने पर भी उसको रसोईघर के पास बनाना उचित नहीं। शौच-स्थान का फ़र्श और ४ फुट ऊँची दीवारें बिलकुल पक्की होनी चाहिएँ। टाइल या सङ्गमरमर इसके लिए अत्यन्त उपयुक्त हैं। साधारण श्वेत चिकना पत्थर भी उत्तम है। इनके न होने पर उत्तम सीमेंट का प्रयोग किया जा सकता है। शौच-स्थानों में वायु के प्रवेश का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए।

मकान से जल के निकास के लिए उचित प्रबन्ध करना आवश्यक है। छतों और कमरों से बरसाती अथवा अन्य जल के नीचे जाने के लिए, छत से भूमि तक, लोहे या चीनी के नल लगाने चाहिएँ। ऐसा करने से जल मकान की दीवारों पर होकर नहीं बहेगा और कमरे आर्द्र होने से बच जावेंगे। इन नलों के द्वारा आये हुए और वर्षा के जल के, जो स्वयं उस भूमि पर पड़ता है, निकलने के लिए मकान के सहन में उचित मोरियों का होना आवश्यक है। जहाँ तक हो सके सहन को पक्का बनाना चाहिए, जिससे जल भूमि मे प्रवेश न कर सके। सहन एक ओर को ढलवाँ हो। उसके अन्त पर एक पक्की मोरी हो जिसके द्वारा जल मकान से बाहर निकल जावे। इसी प्रकार मकान के चारों ओर की भूमि से भी जल के निकास का उचित आयोजन करना आवश्यक है। यह जल-निकास सारे नगर के जल और मल-निकास के प्रबन्ध से घनिष्ठ तथा सम्बद्ध है। इस कारण जब तक सारे नगर में जल-निकास का उत्तम प्रबन्ध न हो तब तक मकानों में भी यह प्रबन्ध सन्तोषजनक नहीं हो सकता। अतएव नगर के स्वास्थ्यविभाग के अधिकारियों को सारे नगर के जल-निकास की ओर ध्यान देना उचित है।

प्रायः मकानों के पास मोरियों से निकले हुए जल को एकत्र करने के लिए नाबदान, हौज़ या कुण्ड बनाये जाते है। कहीं-कहीं पर यह सीमेंट के पक्के भी बना दिये जाते हैं। किन्तु छोटे नगरों में कच्चे हौज़ों, गढ़ों या पृथ्वी में गड़े हुए साधारण घड़ों से यह काम लिया जाता है। इनमें थोड़े ही समय मे गाद और कीचड़ एकत्र हो जाती है और उनसे चारों ओर को मैला जल बहने लगता है। यह भूमि को भी दूषित करते हैं। इनसे पास के जलाशयों के दूषित होने की भी सम्भावना रहती है। यह हौज़ मच्छरों के तो उत्पत्ति-स्थान होते हैं।

यदि नगर में उत्तम पक्की मोरियाँ हों तो इन चौबच्चों को बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। मकान की मोरियों का जल सीधा नगर की मोरियों में जा सकता है। किन्तु जब उत्तम मोरियाँ न हों तो लोहे के चौखूँटे हौज़ो

को, जो इसी प्रयोग के लिए बनाये जाते है, काम में लाना चाहिए। इस प्रकार के दो हौज़ों को रखना उत्तम है। एक हौज़ के भर जाने पर भङ्गी उसके स्थान पर दूसरे को रखकर उसको जल फेंकने और स्वच्छ करने के लिए ले जा सकता है।

मकान के भीतर कुवाँ बनाना सरकारी नियम द्वारा वर्जित होना चाहिए। यदि वह बनाया भी जाय तो स्वास्थ्य विभाग के अधिकारी उसकी देख-भाल करते रहें। इन कुँवों के सम्बन्ध में पहिले बताये हुए नियमों का पालन करना आवश्यक है।

अस्तबल या गोशाला—दूध का वर्णन करते समय गौवों के रखने के स्थान का उल्लेख किया जा चुका है। अन्य पशुओं के रखने के स्थान भी इसी प्रकार स्वच्छ होने चाहिएँ। अस्तबल या गोशालाएँ रहने के मकान में न हों। बहुधा मकान के नीचे के भाग में पशुओं को रखा जाता है और ऊपर के भाग का रहने के लिए उपयोग किया जाता है। ऐसा करना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। जहां पशु रहते हैं वहीं गोबर या लीद करते हैं जिसमें अनेकों कृमि और कीट उत्पन्न होकर सारे मकान को गन्दा करते हैं। मकान की दीवारें और फ़र्श आर्द्र हो जाते हैं।

पशुओं के रहने का स्थान मकान से २० फ़ुट और जलाशय से ५० फ़ुट दूर होना चाहिए। उसका फ़र्श पक्का, ढलवां और पास की भूमि से कम से कम ६ इंच ऊँचा बनाया जाय। दीवारों को ऊँचा बनाने की विशेष आवश्यकता नहीं है। बीच-बीच में ऊँचे स्तम्भ बनाकर उनपर छप्पर डाला जा सकता है अथवा किसी दूसरे प्रकार की छत बनाई जा सकती है।

फ़र्श के किनारे पर, जिधर उसका ढाल हो, एक पक्की मोरी होनी चाहिए जिसके द्वारा फ़र्श पर गिरा हुआ जल दूर चला जावे। कूड़े को डालने के लिए यतस्ततः विशेष पात्र रखे रहने चाहिएँ। सारे स्थान को दिन में दो बार स्वच्छ करना आवश्यक है।

पशुओं के रहने के लिए स्थान बनाते समय वायु-अवकाश का ध्यान रखना चाहिए। यह अनुमान लगाया गया है कि प्रत्येक गौ के

लिए ८×४ फुट, भैंस के लिए ८×५ फुट और घोड़े के लिए ९×५ फुट स्थान आवश्यक है।

पशुओं को जहाँ रखा जाय वहाँ पर्याप्त जल का प्रबन्ध होना चाहिए।

मकानों की स्वच्छता और उनका स्वास्थ्य पर प्रभाव बहुत कुछ नगर की दशा पर अवलम्बित है। जिस नगर मे स्वच्छ चौड़ी सड़कें होती है और जल, मल और कूड़ा निकालने का उत्तम प्रबन्ध होता है वहाँ के मकान भी स्वच्छ और स्वास्थ्य-प्रदायक होते हैं।

नगर का स्वच्छ रखना उत्तम प्रबन्ध के अतिरिक्त नगर की रचना पर बहुत कुछ निर्भर करता है। जो नगर उत्तम प्रकार से बसाये जाते है, जहाँ सड़के चौड़ी होती हैं, जल और मल के बहिष्कार के लिए उचित प्रबन्ध किया जाता है, मकानों के बनाने मे भी कोई विशेष क्रम रखा जाता है, भिन्न-भिन्न भाग बाज़ार, कारखाने, जलाशय इत्यादि के लिए एक विशेष स्थान निर्दिष्ट कर दिया जाता है और इसी प्रकार अन्य सब आवश्यकताओ का पूर्ण विचार करके भिन्न-भिन्न भागों का निर्माण होता है उन नगरो को स्वच्छ रखना कठिन नहीं है। किन्तु हमारे देश के पुराने नगरों के समान जहाँ, चार खण्ड के, ऊँचे मकानों की पंक्तियों के बीच में केवल ८ या १० फुट और कहीं-कहीं केवल ४ या ५ फुट चौड़ी गलियाँ होती है वहाँ स्वच्छता का प्रबन्ध करना असम्भव है। गलियों में कूड़ा जमा होता रहता है जिससे दुर्गन्धि उठती है। मकानों का वायुमण्डल दूषित हो जाता है और वह आर्द्र रहते हैं; क्योंकि गलियों में सूर्य का प्रकाश बहुत थोड़े समय तक रहता है।

ऐसे नगरों को उन्नत करने का केवल उपाय यह है कि मकानों को गिराकर नगर को या उसके किसी विशेष भाग को नये सिरे से बनाया जावे। योरुप में अनेकों स्थानों में ऐसा ही किया गया है; सघन भागो को गिराकर नये सिरे से बनाया है। हमारे देश में भी कई नगरो मे ऐसे ट्रस्ट बन गये हैं जिनका काम नगर की उन्नति करना है। इसके लिए गवर्न्मेंट की ओर से नियम भी बना दिया गया है जिसके अनुसार ट्रस्ट के अधिकारी मूल्य का कुछ भाग देकर मकान को ख़रीद लेते हैं और उसको गिरवाकर फिर नये

सिरे से, अपने नक़शे के अनुसार, नये मकान या दूकानें बनवाते हैं। नगर के जिन भागो में मकान इतने सघन होते हैं कि सघनता के कारण वहाँ के रहने-वालों को शुद्ध वायु और सूर्य-प्रकाश नहीं मिलते वहाँ पर इन मकानों को गिरवाकर फिर नये सिरे से उत्तम मकान बनवाना और साथ मे जल इत्यादि के निकास का उचित प्रबन्ध करना इन संस्थाओ का मुख्य कर्तव्य है।

अन्वेषण से यह पाया गया है कि जो नगर जितना अधिक सघन होता है वहाँ मृत्यु-संख्या भी उतनी ही अधिक होती है और नगर-निवासियों का स्वास्थ्य भी उत्तम नहीं होता। कानपुर के पुराने भाग में ५३१ मनुष्य प्रति एकड़ भूमि मे रहते हैं। संसार भर में किसी नगर अथवा नगर के भाग में इतनी अधिक जन-संख्या नहीं पाई जाती। नगर के इस भाग मे मृत्यु की संख्या भी ७६ प्रति मील है। जहा मृत्यु की इतनी भयानक संख्या हो वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य का स्वयं ही अनुमान किया जा सकता है। यह सदा देखा जाता है कि ऐसे सघन स्थानों मे जल-निकास इत्यादि का प्रबन्ध भी उत्तम नहीं होता।

नगर-निर्म्माण की कला आजकल बहुत उन्नति कर रही है। नये नगरों को पूर्णतया वैज्ञानिक रूप से बसाया जाता है। अंगरेज़ी में इस विषय पर बहुत सी बड़ी-बड़ी पुस्तकें हैं जिनके अवलोकन से इस विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ पर इसका अत्यन्त संक्षेप से उल्लेख किया जा सकता है।

नगर-निर्म्माण में जिन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए उनको डाक्टर पंड्या और डन ने, अपनी पुस्तक में, बड़े उत्तम प्रकार से लिखा है। संक्षेपतः वह इस प्रकार हैं—

(१) नगर की आवश्यकताओं, वहाँ के निवासियों, व्यापार, व्यवसाय इत्यादि का विचार रखते हुए नगर का निर्माण करना चाहिए।

(२) जहा तक हो सके, सड़कें सीधी और चौड़ी होनी चाहिएँ। मुख्य सड़कों की चौड़ाई ८० से १०० फ़ट होना आवश्यक है। नगर के जिन भागों में बस्ती अधिक हो वहाँ इनकी चौड़ाई केवल ५० से ६० फ़ट रखी जा

सकती है। इन मुख्य सड़कों को जोड़नेवाली सड़कें, जहाँ तक हो सके, बड़ी सड़कों के समकोण बनाना चाहिए; उनकी चौड़ाई २० फुट से कम न हो। मुख्य सड़कों के बीच में मकानों के पीछे की ओर भी २० फुट चौड़ी सड़क होनी चाहिए। इससे प्रत्येक मकान का व्यजन उत्तम प्रकार से होगा और मकानों को स्वच्छ रखने में भी सहायता मिलेगी। सड़कों के किनारे, जहाँ वह बड़ी सड़कों से जुड़ती है, गोल होने चाहिएँ। जिन नगरो मे गाड़ी, मोटर इत्यादि बहुत चलती हैं वहाँ ऐसा प्रबन्ध अवश्य हो।

(३) पैदल चलनेवालो के लिए सड़क के दोनो ओर ६ इंच या एक फुट ऊँचे प्लेटफ़ार्म बना देने चाहिएँ।

(४) नगर के उस भाग से, जिसमे रहने के मकान बनाये जावें, कारख़ाने, व्यवसाय के स्थान इत्यादि दूर होने चाहिएँ। बाज़ार के लिए भी एक निर्दिष्ट स्थान हो। यदि नगर बड़ा है तो भिन्न-भिन्न भागो में कई छोटे-छोटे बाज़ार बनाये जा सकते हैं। नगर के प्रत्येक भाग मे पर्याप्त भूमि खुली हुई छोड़ देनी चाहिए जिस पर पार्क इत्यादि बनाये जा सके।

(५) मकान सदा एक विशेष क्रम से बनाने चाहिएँ। जहाँ तक हो सके, उनके दोनों ओर सड़क हो।

(६) मकानों की ऊँचाई उनके सामने की सड़कों की चौड़ाई से अधिक न होनी चाहिए। जो मकान पीछे की सड़कों पर बने हों वह उन सड़कों की चौड़ाई से ड्योढ़े ऊँचे हो सकते है। प्रत्येक मकान के पीछे पर्याप्त खुला स्थान होना चाहिए। जहाँ तक हो सके, प्रत्येक मकान के साथ बरामदा हो। इससे कमरे ठण्डे रहते हैं।

(७) नगर में जल और मल के निकास का उत्तम और उचित प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। इसका पूर्ण वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

(८) प्रत्येक नगर में पार्क, मनोरञ्जन के स्थान आदि यतस्ततः बनाने चाहिएँ जहाँ पर नगरवासियों को टहलने और शुद्ध वायु ग्रहण करने का अवसर मिल सके।

(६) चौड़ी सड़कों के दोनो ओर वृक्षों की एक पंक्ति होनी चाहिए। ग्रीष्म ऋतु मे सड़क पर चलनेवालों को इससे बड़ी सुविधा होती है।

(१०) प्रत्येक नगर में नगरवासियों के लिए पर्याप्त जल मिलने की आयोजना करनी चाहिए। जल की कमी से नगर स्वच्छ नहीं रह सकता; नगरवासियों को असुविधा होती है और रोग फैल सकते है।

डेयरी या दुग्धशाला—यह नगर के एक भिन्न भाग में होनी चाहिए जहा किसी प्रकार की मोरी या जलाशय उसके समीप न हों। डेयरी के लिए जल का प्रबन्ध साधारण पम्प के द्वारा होना चाहिए। इसकी अनुपस्थिति में डेयरी से थोड़ी दूरी पर कुवां बनाकर उसमे हाथ का पम्प लगाया जा सकता है।

गौओं या भैंसों से जो दूध निकाला जाय उसके रखने के लिए पशुशाला से कुछ दूरी पर कमरे होने चाहिएँ जो मक्खियों से पूर्णतया सुरक्षित हों। न तो वहां पर किसी मनुष्य को सोने की आज्ञा हो, और न वहां तम्बाकू, चुरट इत्यादि ही पीना चाहिए। दूध में गैसों के शोषण की शक्ति होती है, जिससे वह दूषित हो जाता है। इन डेयरियों की पूर्ण देख-रेख बहुत आवश्यक है। वायु और प्रकाश के प्रवेश का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए।

थियेटर इत्यादि का नगरवासियों के अनुसार प्रबन्ध होना चाहिए। रात्रि के दो या तीन बजे तक थियेटर होना उचित नहीं। रात्रि के ग्यारह बजे के पश्चात् अभिनय होना नियम के द्वारा रोका जाना चाहिए, उनसे नगरवासियों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इन स्थानों के व्यजन और आग लग जाने पर उसको तुरन्त बुझाने के प्रबन्ध पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

आठवाँ परिच्छेद

मल और कूड़े के निकास का प्रबन्ध

प्रत्येक नगर में वहाँ के कूड़े और मल को नगर से बाहर निकालने और नष्ट करने का पूर्ण प्रबन्ध किया जाता है। स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारियों को इस बात की देख-रेख करनी पड़ती है कि यह कर्म उचित और उत्तम प्रकार से हो रहा है। नगरवासियों के स्वास्थ्य को उत्तम दशा में रखने के लिए यह आवश्यक है कि मकानों से और सड़कों को झाड़ने से जो कूड़ा एकत्र हो उसका, जितना शीघ्र हो सके, नगर से बहिष्कार किया जावे। इस कूड़े में राख, धूल, वस्त्रों के टुकड़े, काग़ज़ इत्यादि अनैन्द्रिक वस्तुओं के अतिरिक्त घोड़ों की लीद, पशुओं की विष्ठा, फल, पत्ती, भोज्य पदार्थों के टुकड़े आदि ऐन्द्रिक वस्तुएँ भी मिली रहती हैं। कुछ समय तक एकत्र रहने से यह वस्तुएँ सड़ने लगती हैं। उनसे दुर्गन्धि और कृमि उत्पन्न होकर रोग फैलाते हैं। मक्खियाँ इस कूड़े से भोज्य पदार्थों को दूषित करती है। विशूचिका, मोतीझरा इत्यादि रोग इसी प्रकार फैलते हैं। मल के एकत्र होने से और भी भयङ्कर परिणाम होते हैं। इसलिए विष्ठा को, जिसके साथ कुछ न कुछ जल भी सदा मिला रहता है, तुरन्त ही नगर से दूर करना आवश्यक है।

कूड़े को प्रायः भङ्गी लोग झाड़ू से बुहारकर एक स्थान में जमा कर देते हैं और वहाँ से उसको गाड़ियों द्वारा नगर के बाहर पहुँचाया जाता है। इस कर्म को अन्य यान्त्रिक साधनों द्वारा भी किया जाता है। यह अवस्करन कहलाता है।

मल को दूर करने के दो उपाय है। भङ्गी शौच-स्थानों से मल को बाल-टियों या विशेष प्रकार के बने हुए लोहे के पात्रों में भरकर ले जाते है। और अन्त में यह गाड़ियों में भरकर दूर ले जाकर नष्ट कर दिया जाता है, अथवा खाद इत्यादि बनाने के काम मे आता है। इसको **मलापहरण** कहते हैं। हमारे देश मे प्राय यही रीति प्रचलित है। कुछ बड़े नगरो में जल के द्वारा मलापहरण किया जाता है। यह **जल-संवहन विधि** कहलाती है। योरुप क प्रायः सभी बड़े नगरों और गाँवो तक मे यह विधि प्रयोग में आ गई है। किन्तु हमारे देश में अभी इसका इतना प्रचार नहीं हुआ है। साधारण मलापहरण से इसको उत्तम समझा जाता है।

अवस्करन

कूड़े मे भिन्न-भिन्न पदार्थों के टुकड़े मिले रहते है जिनमे कुछ अनैन्द्रिक और कुछ ऐन्द्रिक होते है। वे थोड़े ही समय में सड़ने लगते हैं। जिन नगरों या नगर के भागों में कूड़े को हटाने का उत्तम प्रबन्ध नहीं होता वहाँ सड़कों या गलियों के किनारे पर कूड़े के ढेर, कई दिन तक, जमा रहते हैं और उस पर मक्खियां भिन-भिनाया करती हैं। यह वह कूड़ा होता है जो मकानों से गलियों में फेंक दिया जाता है और इस कारण उसमें ऐन्द्रिक पदार्थों का अधिक भाग रहता है। मकान से कूड़े को गलियों में फेंकने के पूर्व ऐन्द्रिक पदार्थों को—फल के टुकड़े, शाक इत्यादि को—जला देना चाहिए। इससे कूड़े की मात्रा कम हो जायगी और वह जल्दी नहीं सड़ेगा।
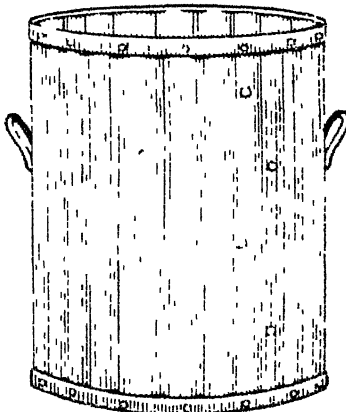
चित्र नं० ३९
कूड़ा भरने के लिए पात्र (डस्टबिन)

सड़कों को झाड़नेवाले भङ्गी भी प्रायः कूड़े को गली के एक कोने पर जमा कर देते हैं जहां वह कई दिन तक पड़ा रहता है। कूड़े को जमा करने के लिए विशेष आकार के बने हुए बर्तनों का प्रयोग करना चाहिए। इनको डस्ट-बिन कहते हैं; ये बाज़ार मे मिलते है। यह लोहे की चादर के गोल पीपे या ढोल के आकार के होते हैं। इनके दोनों ओर, पकड़ने के लिए, दो कुण्डे होते है। यह ऊपर और नीचे दोनों ओर से खुले रहते हैं, किन्तु ऊपर से ढकने के लिए एक ढक्कन होता है।

इन पात्रों को सड़क या गली के एक कोने में, सीमेंट के पक्के चबूतरे पर, लगा देना चाहिए। मकानों का कूड़ा या सड़क के झाड़ने से जो कुछ कूड़ा निकले वह सब इन्हीं पात्रों में गिराया जावे। कूड़े को ले जानेवाली गाड़ी प्रति दिवस एक बार अवश्य आनी चाहिए जो इन पात्रों में भरे कूड़े को उठाकर ले जावे। यह गाड़ी रात्रि के समय आनी चाहिए जिससे नगर-निवासियों को किसी प्रकार का कष्ट न हो।
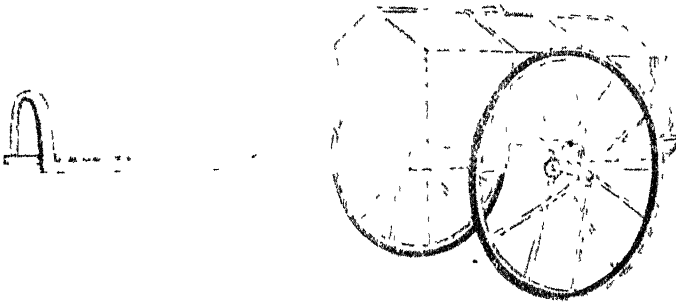
चित्र नं० ३६

कूड़ा ले जानेवाली गाडी, जिसके ढक्कन दोनों ओर पार्श्व को खुलते है।

(Empire Engineering Co., Cawnpore.)

कुछ लोगों की सम्मति के अनुसार इन पात्रों से कूड़े को गाड़ी में न डालकर स्वयं इन पात्रों ही को गाड़ी में रख देना चाहिए। किन्तु इसके लिए इस

प्रकार के पात्र होने चाहिएँ जिनके नीचे पेंदी लगी हो। कुछ नगरों के स्वास्थ्याधिकारी लोग इन पात्रों के स्थान में छोटी-छोटी गाड़ियों का उपयोग करते है। उनके ऊपर ढक्कन होते है। प्रत्येक गाड़ी इतनी बड़ी होती है कि उसको एक मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जा सकता है। सड़कों या गलियों में यतस्ततः यह गाड़ियाँ खड़ी रहती हैं और इनमें कूड़ा पड़ता रहता है। सन्ध्या अथवा रात्रि के समय उस स्थान का भङ्गी गाड़ी को उसके निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देता है। आजकल कूड़ा ले जाने के लिए मोटर ट्रक काम मे लाई जाती है। कलकत्ते में २००० टन के लगभग कूड़ा नित्य प्रति ले जाना पड़ता है। इस सब के लिए मोटर ट्रकों ही का प्रयोग किया जाता है। यह कूड़े को शीघ्र ही नगर से बाहर पहुँचा देती हैं और बैल-गाड़ियों की अपेक्षा सस्ती होती है। बहुत से छोटे-छोटे नगरों में भी इनको काम में लाया जाता है।

पात्र सड़कों के किनारों पर, पर्याप्त संख्या में, रखे जाने चाहिएँ और भङ्गियों की संख्या भी पर्याप्त हो। ऐसा न होने से स्थान की गन्दगी बढ़ जायगी। साथ में अधिकारियों को कूड़े की मात्रा कम करने की भी चेष्टा करनी चाहिए। यदि मकानों में रहनेवाले ऐन्द्रिक पदार्थों को जलाने के पश्चात् कूड़े के पात्र में डालें तो कूड़े की मात्रा अवश्य कम हो सकती है। दूकानदारों या अन्य व्यक्तियों के निकृष्ट वस्तुओं को यतस्ततः डाल देने से भी बहुत असुविधा होती है।

सड़कों के उत्तम न होने से भी कूड़े की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। कच्ची और कंकड़ की सड़कें गाड़ियों के पहियों द्वारा सदा टूटती रहती हैं। इससे जो धूल उत्पन्न होती है वह चारों ओर वायु में फैल जाती है। सड़क जितनी अधिक टूटती है उतनी ही अधिक धूल उत्पन्न होती है जिससे न केवल अधिकारियों ही को अधिक व्यय करना पड़ता है, किन्तु सारे नगर-निवासियों और विशेषकर पैदल चलनेवालों को बड़ी असुविधा होती है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक कष्ट देनेवाली मोटरकार होती हैं। इसलिए जब तक सड़कों पर अलकतरा न डाला गया हो अथवा किसी दूसरे प्रकार से

सड़कों को पक्का और चिकना न बना दिया गया हो, जैसे ऐसफ़ेल्ट के द्वारा, तब तक इन गाड़ियों को न चलने देना चाहिए।

सड़कों की दशा को उन्नत करने के लिए अलकतरा उत्तम वस्तु है। यद्यपि एक बार व्यय अधिक होता है किन्तु सड़क बहुत दिनों तक चलती है और उसको स्वच्छ रखने के लिए भी इतने अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता नहीं होती। कलकत्ता, बम्बई इत्यादि में सड़को पर ऐसफ़ेल्ट का प्रयोग किया गया है जिससे वह अत्यन्त सहज में स्वच्छ की जा सकती है और गाड़ी या मोटरों के चलने से धूल भी नहीं उड़ती। उनको जब स्वच्छ किया जाता है तो साधारण सड़को की अपेक्षा उनसे बहुत कम कूड़ा निकलता है।

छोटी सड़कों या गलियों के लिए डाक्टर पंड्या ने खड़ी ईंटों का प्रयोग करने की सम्मति दी है। इनका प्रयोग लखनऊ इत्यादि में किया गया है जिससे बहुत सन्तोषजनक परिणाम निकले हैं। कंक्रीट के चाके भी सड़कों पर लगाये जाते है।

इन कारणों से सड़को की दशा को उन्नत करना स्थानीय कर्मचारियों का कर्तव्य है।

कूड़े का अन्तिम नाश—सारे नगर से कूड़े को एकत्र करने के पश्चात् उसको दो प्रकार से नष्ट किया जाता है। उसको गहरे गढ़े या खाई इत्यादि को पाटने के काम में लाते हैं अथवा उसका दहन कर दिया जाता है।

(१) जब पुराने गन्दे तालाब, गढ़े, खाई या गहरी भूमि को भरकर समतल बनाना होता है तो वहाँ नगर भर का कूड़ा डलवाया जाता है। कुछ समय में स्थान समतल हो जाता है।

यह विधि उत्तम नहीं कही जा सकती। जहाँ कूड़ा डाला जाता है वहाँ मक्खियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। चूहे या कृमि भी वहाँ उत्पन्न होते हैं। वर्षा के दिनों में ऐन्द्रिक पदार्थों के सड़ने से बड़ी दुर्गन्धि फैलती है। इस कूड़े से अधःस्थल जल दूषित होकर पास के जलाशयों को अशुद्ध करता है और इस प्रकार रोग फैल सकता है। जहाँ तक हो सके, इस विधि को काम में न लाना चाहिए। किन्तु जहाँ इस प्रकार से नई भूमि को बनाना ही

पड़े वहाँ कूड़े को डालने के पश्चात् उसके ऊपर शुष्क मिट्टी या रेत, काफ़ी मात्रा में, डाल देनी चाहिए। इससे कूड़े से उत्पन्न होनेवाले दोष बहुत कुछ कम हो जायँगे। यदि इस कूड़े को गढ़े या खाई में डालने के पश्चात् जला दिया जावे तो उससे भी रोगों के फैलने का भय बहुत कुछ कम हो जायगा। नगर के भीतर मकान या जलाशयों के पास के गढ़े या गहरी भूमि को पाटने के लिए पुराने गिरे हुए मकानों की ईंटे, खपरे, मिट्टी इत्यादि को काम में लाना चाहिए।

(२) दहन—कूड़े को नष्ट करने का सबसे उत्तम उपाय उसको जला देना है। इसके लिए कई प्रकार की दाहक भट्ठियाँ या मेशीनें बनाई गई हैं।

चित्र नं० ३७—हार्सफ़ाल दाहक

(Horsefall Destructor ; from Dunn & Pandya.)

यह दाहक दो भाँति के होते हैं। एक में अग्नि का तापक्रम २००० फ़ैरनहाइट तक पहुँच जाता है। इससे समस्त ऐन्द्रिक पदार्थों का पूर्ण नाश हो जाता है। कूड़े के जलने से जो वाष्प निकलते है उनमे सम्मिलित ऐन्द्रिक पदार्थों के सूक्ष्म कण तक नष्ट हो जाते है। इस कारण दुर्गन्धि नहीं उत्पन्न होती। जिन दाहको मे अग्नि का ताप क्रम इतना अधिक नहीं होता उनमे वाष्पो के कणों को नष्ट करने के लिए भिन्न प्रबन्ध करना होता है। दाहक में एक ऐसा कोष्ठ बनाया जाता है जिसमें वाष्पो में सम्मिलित अप-द्रव्यों का नाश हो जाता है और उससे किसी प्रकार की दुर्गन्धि नहीं निक-लती। इस प्रकार का दाहक नगर मे चाहे जिस स्थान पर बनाया जा सकता है।

यह दाहक कई प्रकार के होते हैं। हार्सफ़ाल का दाहक बहुत काम में लाया जाता है। अन्य कम्पनियाँ भी इन दाहकों को बनाती है। इनमे एक ओर से वेग से वायु के भीतर आने का प्रबन्ध रहता है जिससे कूड़े का दहन सम्पूर्ण होता है। साधारण कंक्रीट और ईंटों के भी दाहक बनाये जाते हैं। जहां अग्नि प्रज्वलित होती है उसके चारो ओर इस प्रकार की ईंटें लगाई जाती है जो अग्नि के ताप को सहन कर सके। इनको 'फ़ाइर-ब्रिक्स' कहते है। नीचे अग्नि के जलने का स्थान होता है और ऊपर से कूड़े को भीतर डालने के लिए छिद्र या खिड़कियाँ होती है। धुवाँ निकलने के लिए एक चिमनी होती है।

इन सब दाहकों मे कई कोष्ठ होते हैं। इन्हीं कोष्ठों मे कूड़े का दहन होता है। जितना अधिक कूड़ा जलाना होता है उतने ही अधिक कोष्ठ बनाये जाते हैं। धुवाँ या वाष्प के निकलने का मार्ग कोष्ठ के सामने की ओर रहता है। वाष्पों के ऐन्द्रिक घन अवयवो का नाश एक दूसरे भाग में होता है।

जिन दाहकों में १८००° या २०००° फ़ैरनहाइट का ताप-क्रम उत्पन्न होता है, जैसे ऊपर कहे हुए हार्सफ़ाल कम्पनी के दाहक या बीमैन और डीज़ के दाहकों में, उनमें अधिक कोष्ठो की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक दाहक १० से १६ टन कूड़े का प्रति दिन नाश कर सकता है। किन्तु जिन दाहको

पड़े वहाँ कूड़े को डालने के पश्चात उसके ऊपर शुष्क मिट्टी या रेत, काफ़ी मात्रा में, डाल देनी चाहिए। इससे कूड़े से उत्पन्न होनेवाले दोष बहुत कुछ कम हो जायँगे। यदि इस कूड़े को गढ़े या खाई मे डालने के पश्चात् जला दिया जावे तो उससे भी रोगों के फैलने का भय बहुत कुछ कम हो जायगा। नगर के भीतर मकान या जलाशयों के पास के गढ़े या गहरी भूमि को पाटने के लिए पुराने गिरे हुए मकानो की ईंटे, खपरे, मिट्टी इत्यादि को काम में लाना चाहिए।

(२) दहन—कूड़े को नष्ट करने का सबसे उत्तम उपाय उसको जला दना है। इसके लिए कई प्रकार की दाहक भट्ठियाँ या मेशीनें बनाई गई है।

चित्र नं० ३७—हार्सफ़ाल दाहक
(Horsefall Destructor ; from Dunn & Pandya.)

यह दाहक दो भाँति के होते हैं। एक में अग्नि का तापक्रम २००० फ़ैरनहाइट तक पहुँच जाता है। इससे समस्त ऐन्द्रिक पदार्थों का पूर्ण नाश हो जाता है। कूड़े के जलने से जो वाष्प निकलते हैं उनमें सम्मिलित ऐन्द्रिक पदार्थों के सूक्ष्म कण तक नष्ट हो जाते हैं। इस कारण दुर्गन्धि नहीं उत्पन्न होती। जिन दाहकों में अग्नि का ताप क्रम इतना अधिक नहीं होता उनमें वाष्पों के कणों को नष्ट करने के लिए भिन्न प्रबन्ध करना होता है। दाहक में एक ऐसा कोष्ठ बनाया जाता है जिसमें वाष्पों में सम्मिलित अप-द्रव्यों का नाश हो जाता है और उससे किसी प्रकार की दुर्गन्धि नहीं निक-लती। इस प्रकार का दाहक नगर में चाहे जिस स्थान पर बनाया जा सकता है।

यह दाहक कई प्रकार के होते हैं। हार्सफ़ाल का दाहक बहुत काम में लाया जाता है। अन्य कम्पनियाँ भी इन दाहकों को बनाती हैं। इनमें एक ओर से वेग से वायु के भीतर आने का प्रबन्ध रहता है जिससे कूड़े का दहन सम्पूर्ण होता है। साधारण कंक्रीट और ईंटों के भी दाहक बनाये जाते हैं। जहाँ अग्नि प्रज्वलित होती है उसके चारों ओर इस प्रकार की ईंटें लगाई जाती हैं जो अग्नि के ताप को सहन कर सकें। इनको 'फ़ाइर-ब्रिक्स' कहते हैं। नीचे अग्नि के जलने का स्थान होता है और ऊपर से कूड़े को भीतर डालने के लिए छिद्र या खिड़कियाँ होती हैं। धुवाँ निकलने के लिए एक चिमनी होती है।

इन सब दाहकों में कई कोष्ठ होते हैं। इन्हीं कोष्ठों में कूड़े का दहन होता है। जितना अधिक कूड़ा जलाना होता है उतने ही अधिक कोष्ठ बनाये जाते हैं। धुवाँ या वाष्प के निकलने का मार्ग कोष्ठ के सामने की ओर रहता है। वाष्पों के ऐन्द्रिक घन अवयवों का नाश एक दूसरे भाग में होता है।

जिन दाहकों में १५००° या २०००° फ़ैरनहाइट का ताप क्रम उत्पन्न होता है, जैसे ऊपर कहे हुए हार्सफ़ाल कम्पनी के दाहक या बीमैन और डीज़ के दाहकों में, उनमें अधिक कोष्ठों की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक दाहक १० से १६ टन कूड़े का प्रति दिन नाश कर सकता है। किन्तु जिन दाहकों

मे ताप-क्रम अधिक नहीं उत्पन्न होता उनमे केवल ६ से १० टन तक कूड़ा प्रति दिवस नष्ट हो सकता है। इस कारण इन दाहकों मे अधिक कोष्ठों की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त इनमें वाष्प-नाशक भाग भी बनाना पड़ता है। प्रथम प्रकार के दाहको मे इसकी आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि वाष्पों को जिस भाग पर होकर निकलना पड़ता है वह इतना तप्त हो जाता है कि वाष्पो के समस्त अपद्रव्य नष्ट हो जाते है। किन्तु इस प्रकार के दाहकों को बनाने मे अधिक व्यय होता है और मरम्मत भी अधिक बार करनी पड़ती है।

छोटे नगरों के लिए साधारण ईंट और चूने का बना हुआ दाहक पर्याप्त है। किन्तु उसको नगर के बाहर बनाना चाहिए; क्योंकि उससे निकलनेवाले धुँवें और गैसों से नगरवासियों को कष्ट पहुँच सकता है। वर्षा के दिनो में कूड़े के गीले हो जाने से उसके जलने मे कठिनाई होती है। इसलिए पर्याप्त कोयला डालना पड़ता है। गर्मी के दिनों मे प्राय कोयले की आवश्यकता नहीं होती। डाक्टर पंड्या ने संयुक्त प्रान्त के स्वास्थ्य विभाग के सुपरिंटेंडिंग इंजिनियर द्वारा बनाये हुए दाहक का उल्लेख किया है। इस दाहक में १ टन कूड़ा और ५०० या ७०० मनुष्यों का विष्ठा एक दिन में नष्ट हो सकता है। इसको बनाने में भी केवल ५००) लगते हैं। अतएव प्रत्येक म्यूनिसिपैलिटी और संस्था इसका प्रयोग कर सकती है।

गाँवों में कूड़ा निकालने का प्रबन्ध—इस सम्बन्ध में सबसे कठिन प्रश्न गाँवो का है। वहाँ न कोई म्यूनिसिपैलिटी होती है और न कोई दूसरी ऐसी संस्था होती है जो इन सार्वजनिक कामो का कुछ प्रबन्ध कर सके। मकान कच्चे होते हैं और उनके बीच में जो सड़कें या गलियां होती हैं वह भी कच्ची होती हैं। कूड़े को फेकने के लिए या मल-त्याग के लिए भी कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं होता। ग्रामीणों में शिक्षा का प्रचार न होने के कारण वह लोग स्वच्छता और स्वास्थ्य के नियमों की महत्ता नही समझते। इस कारण मकानों का कूड़ा इत्यादि मकानो के पास, उनके पीछे ही, पड़ा रहता है जहां मक्खियां अथवा अन्य कृमि उत्पन्न होते है। गांववाले प्रायः इस कूड़े को खेतों में खाद देने के काम में लाते है। इसलिए वह उसको एकत्र करते

रहते हैं। गाँवो में जो रोग फैलते हैं उनका बहुत बड़ा कारण यह एकत्रित कूड़ा होता है। इसके अतिरिक्त मकानो के चारों ओर गढ़े होते हैं जहाँ कूड़े और जल दोनों के एकत्र होने से कूड़ा सड़ने लगता है और दुर्गन्धि फैलती है।

गाँववालों को सूर्य्यप्रकाश और शुद्ध वायु दोनों अत्यन्त सुगमता के साथ मिल जाते हैं जो नगरवासियों के लिए बहुत स्थानों में दुर्लभ हैं। वह लोग प्रातःकाल शौच के लिए भी खेतो मे जाते है, जहाँ मल खाद का काम करता है। सूर्य्य-प्रकाश की प्रचण्डता से यह मल शुष्क होकर वहाँ की भूमि में मिल जाता है। इस कारण प्रायः मल से जलाशय इत्यादि दूषित नहीं होने पाते। किन्तु जो रोगी होते है उनका मल, कूड़े के साथ, मकानो के पिछवाड़े फेंक दिया जाता है जिससे रोग फैल सकता है।

प्रत्येक गाँव की स्वच्छता और स्वास्थ्य-सम्बन्धी देख-रेख करना डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का काम होना चाहिए। प्रत्येक गाँव में कूड़े और मल को निकालने और उसको सन्तोषजनक रीति से नष्ट करने का उत्तम प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। गाँवों की वर्तमान दशा अत्यन्त हीनावस्था और शिक्षाहीनता की सूचक है और सभ्य जाति पर कलङ्क के समान है। गाँवों की ओर उचित ध्यान देने से उनकी सहज में उन्नति हो सकती है। सरकार और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के अधिकारी-वर्ग के लिए यह लज्जा की बात है कि देशवासियों की इतनी बड़ी संख्या ऐसी दुरवस्था में रहती है और उसकी उन्नति के लिए कुछ भी उचित प्रबन्ध नहीं हो सकता। कूड़े को निकालने और नष्ट करने के लिए ऊपर जो प्रबन्ध बताये गये हैं उन सब का गाँवों में भी होना आवश्यक है। यदि वहाँ दाहक का प्रबन्ध न किया जा सके तो गाँव से कुछ दूरी पर छोटी-छोटी खाइयाँ खोदकर उनमें कूड़े को भरकर ऊपर से मिट्टी से ढक देना चाहिए।

यह भली भाँति मालूम हो चुका है कि ग्रामीणों के बच्चों में नेत्र रोग, अतिसार अथवा उदर-सम्बन्धी अन्य अनेकों रोगों का कारण गाँवों की अस्वच्छता है। रोगों के उत्पन्न होने में मक्खियाँ विशेष भाग लेती हैं जिनकी उत्पत्ति गन्दगी मे होती है। हमारे देश की इतनी अधिक बाल-मृत्यु-संख्या का कारण भी यही मक्खियाँ है जो अस्वच्छता की सूचक होती हैं।

नवाँ परिच्छेद

मलापहरण

नगरवासियों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए नगर से मल को, जितना भी शीघ्र हो सके, निकलवा देना आवश्यक है। मल के एकत्र होने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। इसके द्वारा वायु, जल, भोजन सब दूषित होते हैं। मल के सड़ने से दुर्गन्धित गैसें उत्पन्न होकर वायु में फैल जाती हैं। किसी जलाशय के पास होने से मल के दूषित अवयव जल में पहुँच जाते हैं जिसके कारण जनता में रोग फैलते हैं। मल अथवा कूड़े से, मक्खियों के द्वारा, भोज्य पदार्थों के दूषित होने का पूर्व ही उल्लेख किया जा चुका है। विशूचिका इत्यादि रोग प्रायः इसी प्रकार फैलते हैं। इन कारणों से मलत्याग के लिए एक निर्दिष्ट स्थान होना चाहिए जहां से मल को समय-समय पर नियमानुसार हटाना आवश्यक है। स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारियों को सदा इस बात की पूर्ण देख-रेख करते रहना चाहिए कि निर्दिष्ट स्थानों के अतिरिक्त, जहाँ शौच-स्थान बने हुए हों, कोई भी व्यक्ति अन्य स्थान पर मलत्याग न करने पावे। जनता को भी इस सम्बन्ध में कर्मचारियों के साथ पूर्ण सहयोग करना चाहिए।

जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, मल का बहिष्कार दो प्रकार से होता है। जल की सहायता से जो बहिष्कार किया जाता है वह **जल-संवहन** कहलाता है। कुछ बड़े नगरों के अतिरिक्त यह विधि छोटे नगरों में अभी तक प्रचलित नहीं हुई है। प्राय: शौच-स्थान से भङ्गी मल को बालटी इत्यादि में भरकर ले जाते हैं। इसको **मलापहरण** कहते हैं। यह विधि जल-संवहन

के समान सन्तोषजनक नहीं है; इसमें व्यय भी अधिक होता है। जल-संवहन विधि में प्रारम्भ में व्यय अधिक होता है किन्तु अन्त में वह सस्ती रहती है।

मल की मात्रा—शाकाहारियों की अपेक्षा आमिषभोजी व्यक्ति थोड़ा मल त्याग करते हैं। इस कारण हमारे देश मे मल की अधिक मात्रा को हटाने का प्रबन्ध करना पड़ता है। प्रत्येक योरुपवासी चौबीस घण्टे में लगभग ८ औंस के मल और ५० औंस के मूत्र त्याग करता है। हमारे देश में १२ औंस के लगभग मल और ४० औंस मूत्र प्रति व्यक्ति का अनुमान किया गया है। अवस्था या आयु के अनुसार इसमें भिन्नता होती है। शौच के अतिरिक्त अन्य समयों पर लोग प्रायः मकान से बाहर मोरियों में मूत्र त्याग करते है। किन्तु शौच के साथ जो जल प्रयोग किया जाता है उसके कारण मल, मूत्र और जल की मात्रा लगभग ५० औंस हो जाती है जिसके बहिष्कार का प्रबन्ध स्वास्थ्य विभाग को करना पड़ता है। योरुप में मल के साथ या उससे भिन्न त्यक्त मूत्र की मात्रा अधिक होती है।

एक योरुप-निवासी, जिसका मुख्य भोजन मांस या अन्य नाइट्रोजन-युक्त पदार्थ होते हैं, चौबीस घण्टे मे मल के द्वारा लगभग १४½ माशे और मूत्र के द्वारा ११½ माशे नाइट्रोजन का त्याग करता है। हमारे देशवासियों के मल और मूत्र में नाइट्रोजन की मात्रा कम होती है, क्योंकि शाकाहारियों के भोजन मे इस पदार्थ की न्यूनता होती है। मल में फ़ास्फ़ेट और पोटाश की भी पर्याप्त संख्या मिली रहती है जिनके कारण मल में भूमि को उर्वरा बनाने की शक्ति होती है। मूत्र और मल दोनों ही भूमि के लिए लाभदायक हैं।

मूत्र के साथ मिलने से मल बहुत थोड़े समय में सड़ने लगता है और उससे हाइड्रोजन सल्फ़ाइड, अमोनियम सल्फ़ाइड इत्यादि दुर्गन्धित गैस और ऐन्द्रिक वाष्प उत्पन्न होते हैं। मूत्र में सम्मिलित यूरिया से अमोनियम कार्बोनेट उत्पन्न होता है। किसी भी अस्वच्छ शौच-स्थान के भीतर जाते ही इन गैसों का अनुभव होने लगता है। इन कारणों से शौच और मूत्र-स्थानों को पूर्णतया स्वच्छ रखना अत्यन्त आवश्यक है। इन स्थानों को बनाने में सदा

ऐसे पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए जिनके द्वारा मूत्र अथवा जल-मिश्रित मल का पृथ्वी में शोषण न हो सके।

पशुशाला, अस्तबल, गोशाला इत्यादि स्थानों से भी पशुओं के मल को शीघ्र ही हटा देना उचित है।

शौच-स्थान—अत्यन्त निर्धन व्यक्तियों के मकानों के अतिरिक्त प्रायः प्रत्येक मकान में एक या इससे अधिक शौच-स्थान होते हैं। किन्तु अधिकतर उनकी बनावट ऐसी होती है कि उनको स्वच्छ रखना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है; वह प्रायः कच्चे होते हैं। साधारण भूमि पर दो ओर ईंटों के क़दमचे बना लिये जाते हैं जिन पर बैठकर मल त्याग किया जाता है। मूत्र और जल, जिसका शौच के समय प्रयोग किया जाता है, भूमि पर गिरकर वहीं शोषित हो जाते हैं; अथवा उनका कुछ भाग कच्ची नालियों में धूल या रेत के साथ मिलकर कीचड़ उत्पन्न करता है। कहीं-कहीं यद्यपि नीचे का फ़र्श पक्का होता है, किन्तु शौच-स्थान का कमरा चारों ओर से बन्द रहता है जिसमें वायु-प्रवेश का कोई मार्ग नहीं होता। फ़र्श के एक किनारे पर एक नाली होती है जिसमें होकर शौच का जल और मूत्र दोनों बहते हैं। प्रायः कुछ मल भी जल के साथ बहकर मोरी में पहुँच जाता है जिससे ऊपर बताई हुई गैसें उत्पन्न होकर सारे मकान को दुर्गन्धित करती हैं। जो लोग ऐसे स्थानों के अभ्यस्त नहीं हैं उनको शौच के लिए वहाँ जाने में अत्यन्त कष्ट होता है। ऐसे शौच-स्थानों से मकान में रहनेवालों के स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

ऊपरी खण्डों में जो संडास होते हैं उनको स्वच्छ रखना मानुषिक शक्ति के बाहर है। उनकी जितनी भी निन्दा की जाय थोड़ी है। मल कई गज़ की ऊँचाई से नीचे के फ़र्श पर गिरता है। चारों ओर की दीवारों पर भी कुछ न कुछ मल लग जाता है जिसका स्वच्छ करना सम्भव नहीं है। संडास में नीचे के फ़र्श के पास एक खिड़की होती है जिसके द्वारा भङ्गी वहां पर पड़े हुए मल को हटा लेता है। इसके अतिरिक्त वहां पर वायु के प्रवेश का कोई मार्ग नहीं होता। इस कारण दुर्गन्धित वाष्प सदा ऊपर की ओर को उठकर शौच-स्थान पर बैठे हुए व्यक्ति को अत्यन्त कष्ट पहुँचाते हैं।

यह समझना कि शौच-स्थान पर अधिक व्यय करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसका उपयोग एक गन्दे कर्म के लिए किया जाता है, बिलकुल अनुचित है। शौच-स्थान को मकान के अन्य सब भागों से अधिक स्वच्छ रखना आवश्यक है; क्योंकि मकान के निवासियों के स्वास्थ्य को नष्ट करनेवाले कारण अन्य स्थानों की अपेक्षा इस स्थान से अत्यन्त सहज मे उत्पन्न हो सकते हैं। वास्तव में अन्य सब भागों की अपेक्षा भोजनालय और शौच-स्थान पर अधिक व्यय करना उचित है। प्रत्येक मकान को बनाने से पूर्व शौच और मूत्र-स्थानों की उचित स्थिति और उनका नक़शा विचार लेना चाहिए और इनकी संख्या मकान में रहनेवालो की संख्या के अनुसार पर्याप्त होनी चाहिए। मकान बना चुकने के पश्चात् बिना किसी विचार के शौच-स्थान को बना देना अत्यन्त अनुचित और निन्दनीय है। भोजनालय, शौच-स्थान और स्नानागार मकान में रहनेवालों की सभ्यता के सूचक हैं और उनके निरीक्षण से वहाँ के निवासियों के स्वभाव इत्यादि का पूर्ण परिचय मिलता है। यदि किसी मकान के यह भाग अस्वच्छ और दुर्निर्मित है तो मकान बनानेवालो और उसमे रहनेवालो को सभ्यता अथवा गृह निर्म्माण के सम्बन्ध में किसी प्रकार का श्रेय नहीं दिया जा सकता।

शौच-स्थानो की रचना मे आवश्यकता के अनुसार भिन्नता करनी होती है। जो शौच-स्थान मकानों मे बनाये जाते है वह जनता के प्रयोग के लिए बने हुए शौच-स्थानों से भिन्न होते है। मेलो इत्यादि में जो शौच-स्थान केवल थोड़े ही समय के लिए बनाये जाते है वह दूसरे ही प्रकार के होते है। इस प्रकार शौच-स्थानों को निम्न-लिखित प्रकार से सामूहित किया जा सकता है—

१. निजी मकानों के शौच-स्थान।

२. जनता के लिए शौच-स्थान जो दो प्रकार के होते हैं—

(अ) स्थायी।

(क) अस्थायी—मेलो के लिए।

शोच-स्थान बनाते समय निम्नलिखित सिद्धान्तों का ध्यान रखना चाहिए। आवश्यकता और स्थानानुसार रचना में भिन्नता की जा सकती है।

(१) शौच-स्थान मकान के एक भिन्न भाग में होना चाहिए। जहां तक हो सके, मकान से इस स्थान तक एक ढका हुआ मार्ग होना चाहिए, जिससे वहाँ जानेवालो को वर्षा और धूप में किसी प्रकार की असुविधा न हो। शौच-स्थान भोजनालय से कम से कम १५ गज़ दूर होना चाहिए।

(२) शौच-स्थान का प्रत्येक भाग पूर्ण अप्रवेश्य पदार्थ का बना होना चाहिए जिससे जल, मूत्र और मल का वहाँ शोषण न हो सके।

(३) शौच-स्थान का फ़र्श इस प्रकार ढलवाँ होना चाहिए कि वहा पर गिरा हुआ जल और मूत्र एक नली के द्वारा बहकर नीचे रखे हुए पात्र मे पहुँच जावे।

(४) शौच-स्थान के नीचे मल और मूत्र अथवा जल के लिए दो भिन्न पात्र रहने चाहिएँ। इन पात्रों मे रेत भरी हो, जिससे मूत्र और जल उसमें शोषित हो जावे। भङ्गी को आज्ञा होनी चाहिए कि वह मल-पात्रों को निकालते समय मल को रेत से ढक दे। यह पात्र लोहे के हो और सदा अलकतरे से पुते रहे। यदि भङ्गी को इन पात्रों को दूर ले जाना पड़े तो इन पात्रों पर ढक्कन होना चाहिए जिससे पात्र बन्द किये जा सकें।

(५) शौच-स्थान की रचना इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसमें वायु और प्रकाश का पूर्ण प्रवेश हो सके; किन्तु शौच-स्थान में बैठा हुआ व्यक्ति वर्षा और धूप से सुरक्षित रहे।

(६) शौच-स्थान के पीछे की ओर एक ऐसी खिड़की या खुला हुआ स्थान होना चाहिए जिसके द्वारा नीचे का सारा स्थान पूर्णतया स्वच्छ किया जा सके। इस खिड़की के पीछे की ओर लोहे के किवाड़ रहने चाहिएँ जिससे बाहरवालों को यह स्थान न दिखाई पड़े। किवाड़ों के स्थान में अन्य किसी प्रकार का प्रबन्ध, जो उचित हो, किया जा सकता है।

(७) प्रत्येक दिवस एक बार शौच-स्थान के सारे फ़र्श को जल से धुलवा देना चाहिए। किसी वि:संक्रामक को प्रयोग करना उत्तम है। कार-बोलिक एसिड का चूर्ण या अन्य वस्तुएँ इसके लिए प्रयोग की जा सकती

है। फ़िनाइल को जल में मिलाकर शौच-स्थान को धोने के काम में लाया जाता है।

निजी मकानों में शौच-स्थान इत्यादि पर जितना व्यय किया जा सकता है उतना जनता के लिए यतस्ततः शौच-स्थानों के बनाने में व्यय नहीं हो सकता। किन्तु प्रत्येक स्थान को ऊपर लिखे हुए सिद्धान्तों के अनुसार बनाना चाहिए। जनता के शौच-स्थानों में पत्थर इत्यादि सस्ते पदार्थों का प्रयोग किया जा सकता है; किन्तु वह अप्रवेश्य अवश्य होने चाहिएँ। मकानों में शौच-स्थान का फ़र्श और विशेषकर वह स्थान जहाँ बैठा जाता है श्वेत चिकने पत्थर या सङ्गमरमर का होना चाहिए और चारों ओर की
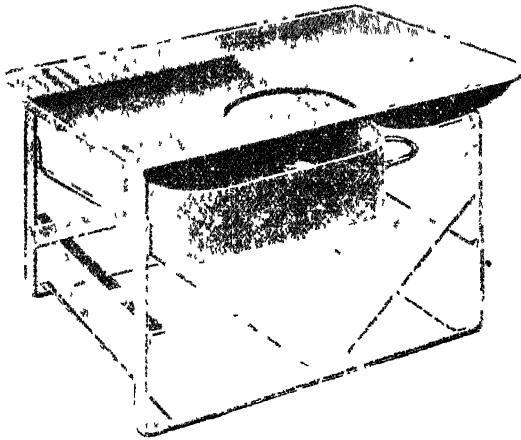
चित्र नं० ३८—बेली की शौच-स्थान की बैठक
(Bailey's Patent Latrine Seat.)

दीवारें कम से कम चार फ़ुट तक चीनी मिट्टी के पालिशदार चौके या सङ्गमरमर के चौकों से ढकी होनी चाहिएँ। जो लोग सङ्गमरमर या चीनी

मिट्टी के चौको को नहीं मोल ले सकते वह पत्थर को काम में ला सकते हैं। इस पत्थर के बीच मे मल के नीचे जाने के लिए एक छिद्र और मूत्र के लिए दूसरा छिद्र और एक ढलवाँ नाली होनी चाहिए जिसमे होकर मूत्र अपने पात्र मे पहुँच जावे। मल-छिद्र के दोनो ओर पाँवो को रखने के लिये दो २ या ३ इंच ऊँचे, पत्थर या चीनी के, चौके होने चाहिएँ जिनके बीच मे ८ या ९ इंच का अन्तर हो। यदि यह बैठक ठीक प्रकार से बनी हुई हो तो मल के द्वारा शौच-स्थान के अन्य भागो के दूषित होने का बहुत कम अवसर रह जाता है। आजकल चीनी मिट्टी की बनी हुई ऐसी बैठकें बाज़ार में बिकती है।

शौच-स्थान के नीचे का भाग जिसमें मल और मूत्र को एकत्र करने के लिए पात्र रखे रहते हैं पक्का कंक्रीट का बना हुआ, भूमि-तल से कम से कम ६ इंच ऊँचा और खिड़की की ओर को ढलवाँ होना चाहिए। मल और मूत्र के पात्र बैठक से ३ फट नीचे रहने उचित है।

शौच-स्थान के पास ही किन्तु उससे तनिक दूर हाथ धोने का स्थान होना चाहिए। वहाँ पर एक नल लगा देना उत्तम है जिससे शौच-स्थान को धोने के लिए भी जल लिया जा सकता है। यहाँ से भी जल के निकास का प्रबन्ध करना आवश्यक है।

शौच-स्थान के प्रत्येक भाग के, विशेषकर नीचे के भाग के, कोने अवश्य गोल होने चाहिएँ।

जनता के लिए शौच-स्थान

(१) **स्थायी**—निर्धन व्यक्तियों के लिए, जो अपने घरों में उत्तम शौच-स्थान नहीं बना सकते, शौच-स्थान बनाना स्वास्थ्य-विभाग का कर्तव्य है। यह शौच-स्थान नगर से कुछ दूरी पर या नगर के ऐसे भागों में स्थित होने चाहिएँ जहाँ बस्ती घनी न हो, जिससे नगरवासियों

को कष्ट न पहुँचने पावे। इसके अतिरिक्त जलाशय, कुवें इत्यादि का ध्यान रखना भी आवश्यक है।

यह शौच-स्थान पक्के कंक्रीट और ईंटो के प्लेटफ़ार्म पर, जो भूमि-तल से कम से कम १ फ़ुट ऊँचा होता है, लोहे की चादर तथा ईंट और चूने के बनाये जाते हैं। चारो ओर ईंटों का एक अहाता बना दिया जाता है जिसकी दीवारें झिरीदार होती हैं। उसके बीच में एक ऊँचे प्लेट-फ़ार्म पर लोहे की चादरों को लगाकर यह स्थान बनाये जाते है। बैठक ढलवाँ लोहे की होती है जिसके बीच मे एक लम्बे छिद्र के दोनों ओर पाँवों को रखने के लिए स्थान बने होते है। इस छिद्र के नीचे अलकतरे से पुते हुए लोहे के पात्र रखे रहते है जिनमें उनको पकड़कर उठाने के लिए दोनों ओर दो कुण्डे लगे होते हैं। प्रायः मल और मूत्र दोनों के लिए एक ही पात्र रहता है। यह शौच-स्थान कई प्रकार के होते है जो भिन्न-भिन्न नामों से बाज़ार में बिकते हैं। डौनल्डसन या हैरबरी की भाँति के शौच-स्थान का बहुत उपयोग किया जाता है।

जो स्थान ईंट, चूने और सीमेंट के बनते हैं वह भी इसी सिद्धान्त पर बनाये जाते हैं। झिरीदार अहाते के भीतर एक ऊँचे प्लेटफ़ार्म पर एक पंक्ति में कई स्थान बना दिये जाते है। प्राय· इस प्रकार की दो पंक्तियाँ बनाई जाती हैं जिनके द्वार विरुद्ध दशाओं की ओर खुलते है। इन स्थानो की बैठक पत्थर या लोहे की होती हैं। बैठक के सामने की ओर मूत्र के लिए एक मोरी होती है, जो प्रत्येक बैठक के सामने होती हुई शौच-स्थान के एक सिरे पर जा-कर समाप्त हो जाती है। यहाँ मूत्र के एकत्र होने के लिए एक पात्र रखा रहता है। शौच-स्थान की दोनों पंक्तियो के बीच में भङ्गी के जाने के लिए ३ फ़ुट के लगभग चैाड़ा मार्ग होता है।

इस स्थान के पास ही अहाते के भीतर जल का एक नल भी होना चाहिए जहाँ पर लोग हाथ धो सकें, और भङ्गी सारे स्थान को स्वच्छ करने के लिए जल ले सके। जल की कमी होने पर स्थान स्वच्छ न हो सकेगा, जिससे दुर्गन्धि और अन्य दोष उत्पन्न हो जावेंगे। मल के पात्रों को स्वच्छ
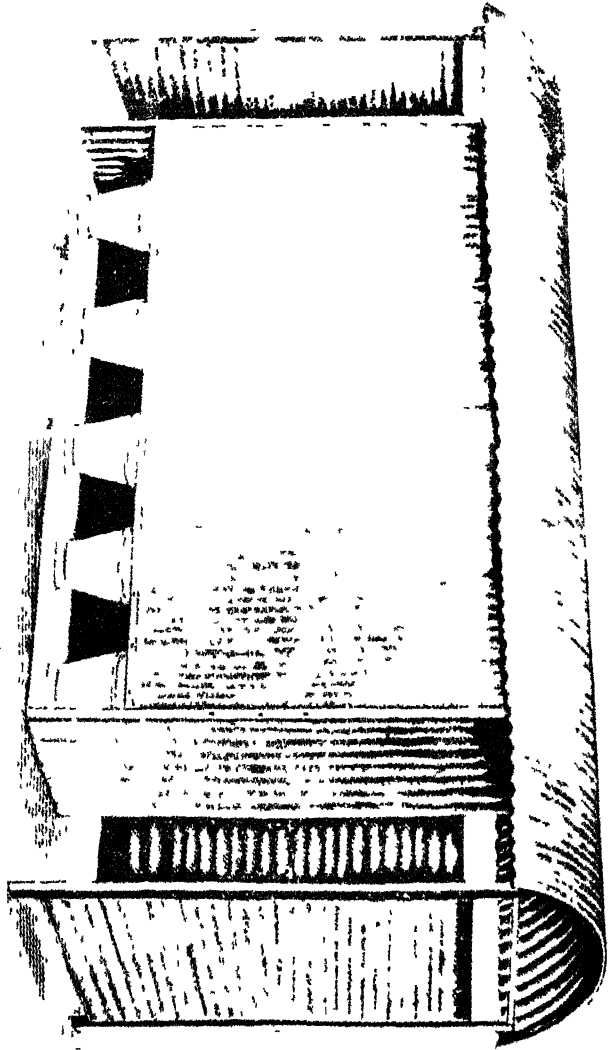
चित्र नं० ३९—डौनल्डसन और हौरबरी का शौच-स्थान
(Dawnoldson and Horbury Pattern.)
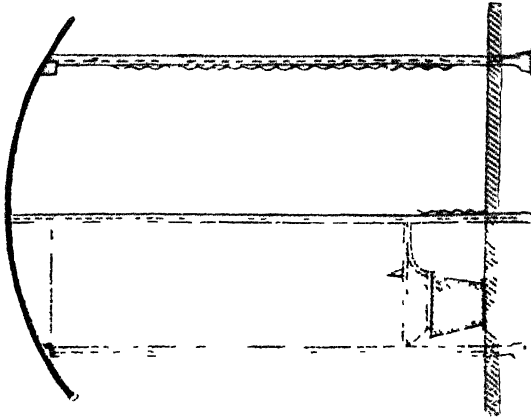
चित्र नं० ४०—चित्र नं० ३९ का पार्श्विक दृश्य
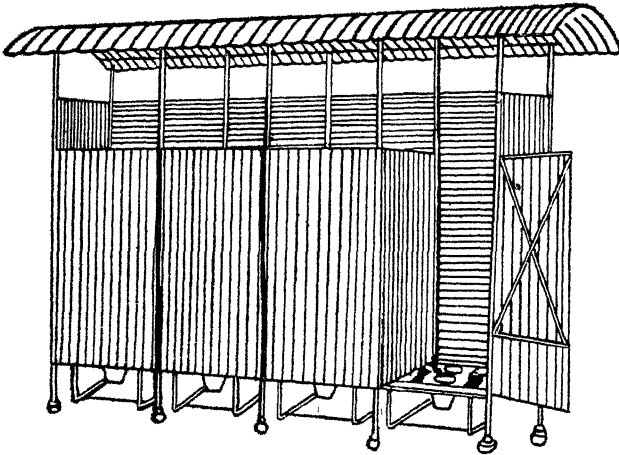
चित्र नं० ४१

जनता के लिए लोहे की चादर का बना हुआ शौच-स्थान

(Empire Engineering Company, Cawnpore.)
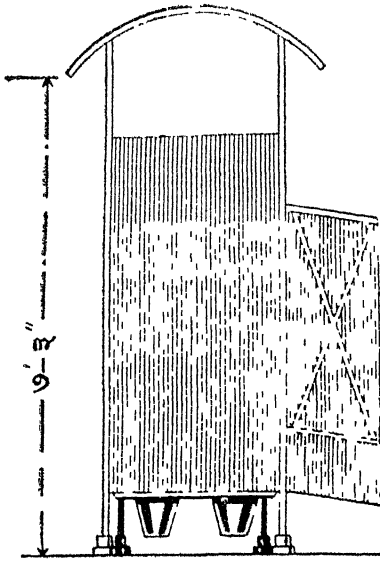
चित्र नं० ४२—चित्र नं० ४१ का पार्श्विक दृश्य

रखना भी बहुत आवश्यक है। मल को एकत्र करने के लिए जो पात्र हों उनके ऊपर दृढ़ ढक्कन होने चाहिएँ जो पात्रों पर भली भाँति कसकर लगाये जा सकें।

(२) अस्थायी शौच-स्थान—मेलों में ऐसे शौच-स्थानों की आवश्यकता होती है। फ़ौज के कैम्पों में भी इस प्रकार के स्थान बनाने पड़ते हैं। यह स्थान इस प्रकार के होने चाहिएँ कि उनको सहज में एक स्थान से दूसरे स्थान में हटाया जा सके और जब आवश्यकता न हो तो उनको गोदाम में थोड़े ही स्थान
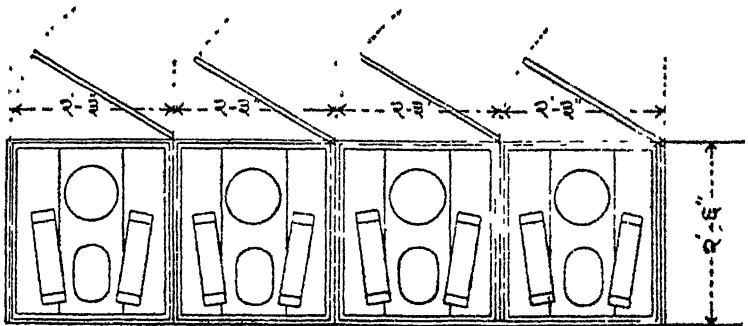
चित्र नं० ४३—शौच-स्थान का मानचित्र
(From Empire Engineering Company, Cawnpore.)

में रखा जा सके। इस प्रकार के शौच-स्थानो में ईंट या चूने का बिलकुल प्रयोग नहीं किया जाता। यह स्थान कई प्रकार से बनाये जाते हैं—

(१) फ़ौजों में अधिकतर लोहे की चादरें से शौच-स्थान बनाये जाते है। किन्तु बैठक के स्थान मे भूमि पर दोनों ओर ईंटे रखकर उनके बीच में लोहे का, तारकोल से पुता हुआ, पात्र रख दिया जाता है। छत और पार्श्व लोहे की चादर के बने होते हैं। इन स्थानों मे बहुत सा जल भूमि पर गिरता है। कुछ समय के पश्चात् जब वहाँ की भूमि गन्दी हो जाती है और उससे कुछ दुर्गन्धि निकलने लगती है तो लोहे की चादरें और पात्रों को उस स्थान से हटाकर किसी दूसरे उचित स्थान पर खड़ा करके नये शौच-स्थान बना दिये जाते है। जहाँ पहिले शौच-स्थान था वहाँ की सारी भूमि को खोद डाला जाता है। वायु और धूप की सहायता से यह स्थान फिर शुद्ध हो जाता है। प्रयोग के पश्चात् जब उनकी आवश्यकता नहीं होती तो टीन की चादरें और पात्रों को भिन्न करके किसी स्थान में रख दिया जाता है।

(२) जहाँ मेलों मे सहस्रों मनुष्य एकत्र होते है वहाँ पर इस प्रकार के शौच-स्थान बनाना भी असम्भव है। इस कारण वहाँ उचित और पर्याप्त स्थान को चुनकर उसको बाँस की टट्टियों से घेरकर शौच के लिए स्थान बना दिये जाते हैं। यह स्थान दो प्रकार के होते है। प्रथम भाँति के स्थानों में मल को भङ्गी हटाता है किन्तु दूसरे प्रकार के शौच-स्थानों में एक लम्बी खाई खोद दी जाती है जिसमे लोग मल त्याग करते है। जब खाई में काफ़ी मल एकत्र हो जाता है तो वह रेत से भर दी जाती है, और वहाँ से कुछ दूरी पर नवीन शौच-स्थान बना दिये जाते हैं।

डाकृर पण्ड्या ने अपनी पुस्तक मे निम्नलिखित प्रकार के शौच-स्थानों का उल्लेख किया है—

(अ) आवश्यकतानुसार लम्बे-चैाड़े स्थान को ४ फुट ऊँची टट्टियाँ लगाकर घेर दिया जाता है। एक ओर भीतर प्रवेश करने का द्वार रखा जाता है। इन टट्टियों के पास लगभग २½ फुट चैाड़े स्थान कोई २ फुट ऊँचा

टट्टियो को लगाकर, जो एक ओर को-झुकी रहती है, छेक दिये जाते हैं, जिससे प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न स्थान बन जाता है। इस प्रकार बने हुए स्थान में मल और मूत्र के लिए दो पात्र रखे रहते हैं जो समय-समय पर भङ्गियों द्वारा हटा दिये जाते हैं।
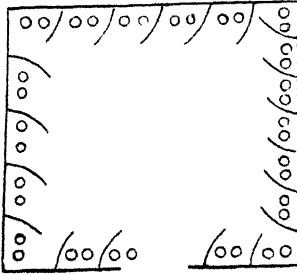
चित्र नं० ४४—पुरुषों के लिए मेलों इत्यादि में बनाये जानेवाले अस्थायी शौच-स्थान का नक़्शा।
(After Dunn and Pandya.)

स्त्रियों के लिए जो स्थान बनाये जाते हैं उनमें विभाजक टट्टियों की कोई आवश्यकता नहीं होती।

(क) दो लम्बी टट्टियों के बीच में ईंट इत्यादि से बैठकों की एक पंक्ति बना दी जाती है। पुरुषों के लिए जो स्थान बनाये जाते है वह विभाजक टट्टियों द्वारा एक दूसरे से विभक्त कर दिये जाते है। स्त्रियों के शौच-स्थानो में इनकी कोई आवश्यकता नहीं है।

(च) बीच मे एक लम्बी टट्टी खड़ी करके उसके समकोण पर दोनों ओर ढाई फुट के अन्तर पर विभाजक टट्टियां लगाकर छोटे-छोटे शौच-स्थान बना दिये जाते है और उनके बाहर की ओर एक छोटी टट्टी को बीच की बड़ी टट्टी के समानान्तर खड़ा करके प्रत्येक शौच-स्थान पर एक द्वार लगा दिया जाता है। इन स्थानों मे मल और मूत्र के लिए दो अथवा एक पात्र रखा जाता है और मूत्र के लिए एक लम्बी नाली बना दी जाती है जिसके द्वारा मूत्र बहकर नाली के दूसरे किनारे पर रखे हुए पात्र में एकत्र होता रहता है (चित्र नं० ४५)।

(ब) बड़े मेलों में जहां कई लाख मनुष्य एकत्र होते हैं वहां भङ्गियों के द्वारा स्थान को स्वच्छ रखना सम्भव नहीं है। इस कारण

ऐसे समय पर इस प्रकार के शौच-स्थान बनाये जाते हैं जहाँ भङ्गियों की आवश्यकता नहीं होती।

दस इंच चौड़ी और १८ इंच गहरी खाई खोदी जाती है। डाक्टर पण्ड्या ने इस खाई की लम्बाई ४८ फुट निर्धारित की है; किन्तु आवश्यकता के अनुसार इसमें अधिकता या न्यूनता की जा सकती है। इस खाई के दोनों ओर दो ऊँची टट्टियाँ खड़ी कर दी जाती है। खाई के खोदने से जो मिट्टी निकलती है वह खाई के किनारे से छः इंच पीछे खाई के किनारे के पास-पास रख दी जाती है जिससे खाई को भरते समय मिट्टी सहज मे खाई में डाली जा सके। इस प्रकार मिट्टी और खाई के बीच में छः इंच का अन्तर रह जाता है जिससे शौच के लिए बैठनेवाला व्यक्ति अपना पाँव खाई के किनारे पर रख सकता है। इस सारी खाई को छोटे-छोटे शौच-स्थानों में विभक्त करने के लिए प्रत्येक ३ फुट की दूरी पर ३ फुट चौड़ी और ३ फुट ऊँची टट्टी खाई के आर-पार लगा दी जाती है। किन्तु इन टट्टियो और बाहर की लम्बी टट्टियों के बीच मे इतना अन्तर रखा जाता है कि आनेवाला व्यक्ति या भङ्गी सहज में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जा सकता है। शौच के लिए जानेवाला व्यक्ति खाई के आरपार उसके किनारों पर अपने पांवों को रखकर बैठता है जिससे मल, मूत्र और जल सब खाई मे गिरते है। मल और मूत्र भूमि में सूख जाते हैं और शेष मल पर लोगों के शौच कर चुकने के पश्चात् भङ्गी थोड़ी-थोड़ी मिट्टी डाल देता है (चित्र नं० ४६)।
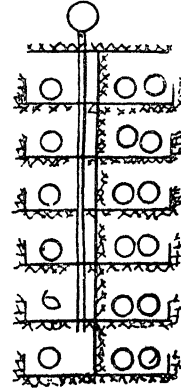
चित्र नं० ४५

कुछ समय के पश्चात् जब खाई में मल एकत्र हो जाता है तो उसको मिट्टी से भर दिया जाता है और उसके सात या आठ फुट पीछे पहिले ही के समान खाई खोदकर उस पर पूर्ववत् टट्टियाँ लगाकर नये शौच-स्थान बना दिये जाते है।
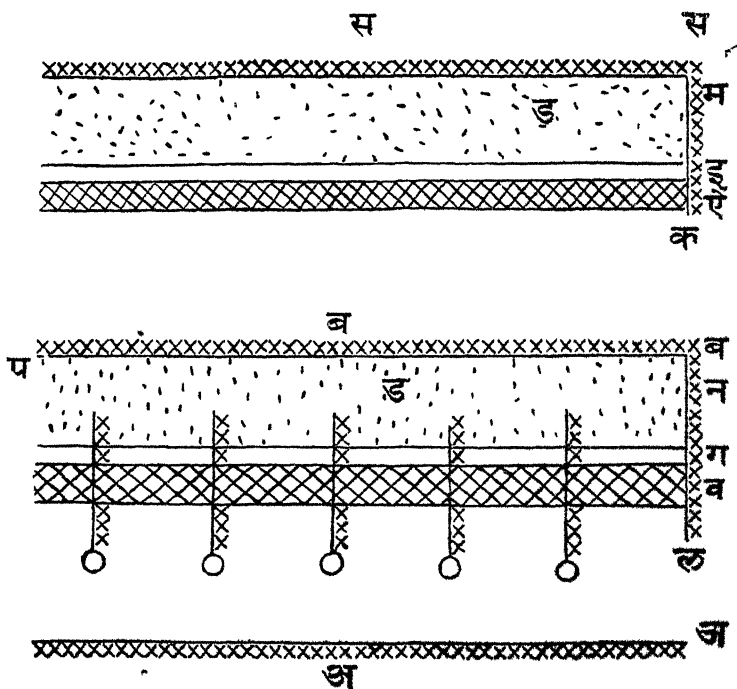
चित्र नं० ४६—मेलों के लिए दूसरे प्रकार के शौच-स्थान
(After Dunn and Pandya.)

अ, ब, स, लम्बी टट्टियाँ।

ड, खाई से निकली हुई मिट्टी।

इ, ग, छः इंच चौड़ा स्थान पाँव रखने के लिए स्थान।

ए, व, खाई।

क, ल, चार फुट चौड़ा आने-जाने के लिए मार्ग।

म, न, पार्श्व की चार फुट चौड़ी टट्टियाँ।

O, विभाजक टट्टियाँ।

प, भङ्गी के आने का मार्ग।

स्त्रियों के लिए जो शौच-स्थान बनाया जाता है वह टट्टियों से घिरी हुई केवल एक लम्बी खाई होती है। उस पर विभाजक टट्टियों के लगाने की कोई
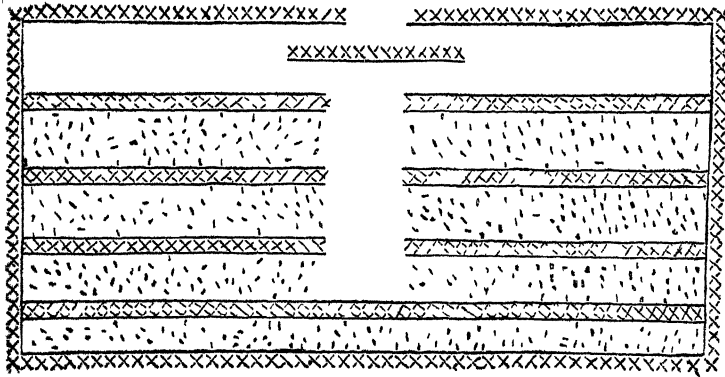
चित्र नं० ४७—स्त्रियों के लिए अस्थायी शौच-स्थान
(After Dunn and Pandya.)

आवश्यकता नहीं है। केवल टट्टियों से घिरे हुए एक बड़े अहाते के भीतर चार-चार फुट के अन्तर पर खाई खोद दी जाती है और प्रत्येक के पीछे मिट्टी एकत्र कर दी जाती है जो खाई में मल के ऊपर से भरी जा सकती है।

पेशाबखाना—नगर के प्रत्येक भाग में पेशाबख़ानों की पर्याप्त संख्या होनी चाहिए। मनुष्यों के यतस्ततः मूत्र त्याग करने से जलाशय इत्यादि के दूषित होने का भय रहता है जिससे जनता में रोग फैल सकता है। मेलों में इसका विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। निर्दिष्ट स्थानों के अतिरिक्त मूत्र त्याग करने की बिल्कुल मनाही होनी चाहिए।

नगरों में जो पेशाबख़ाने बनाये जायँ वह पक्के होने चाहिएँ। उनके बनाने में शौच-स्थान के सम्बन्ध में बताई हुई सारी बातों का ध्यान रखना उचित है। सारा प्लेटफ़ार्म भूमि से कम से कम एक फुट ऊँचा अप्रवेश्य पदार्थ, पत्थर या चीनी के चौकों का बना हुआ और एक ओर को—जिधर नाली हो—

ढलवाँ हो। विभाजक दीवारें भी, जिनके द्वारा कई छोटे-छोटे मूत्र-स्थान बनाये जा सकते हैं, ऐसे ही पदार्थ की बनी होनी चाहिएँ। पेशाबख़ानों मे जल का ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि वह समय-समय पर स्वयं प्रत्येक मूत्र-स्थान मे प्रवाहित होता रहे। जहाँ जल के नल लगे हुए हैं और मल का
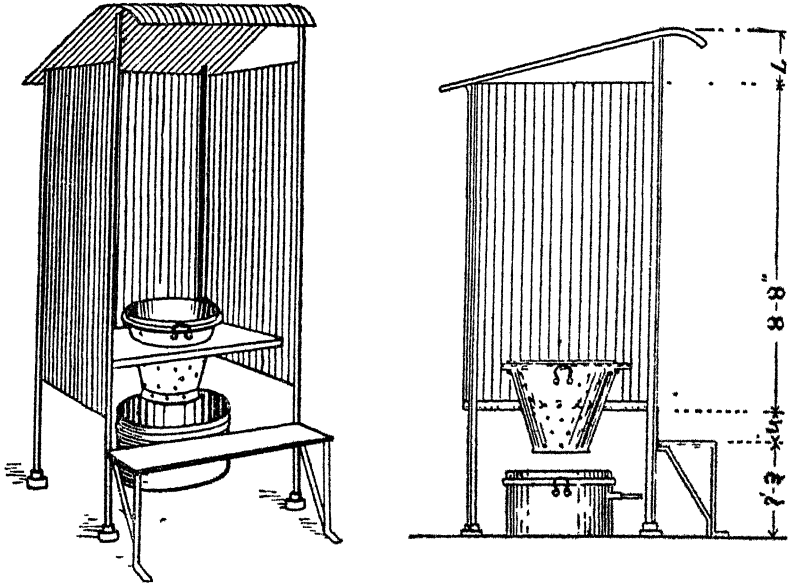
चित्र नं० ४८—लोहे की चादरों का बना हुआ पेशाबघर

संवहन भी जल के द्वारा होता है वहाँ इस प्रकार का प्रबन्ध करना बहुत सहज है। इससे स्थान स्वच्छ रहता है और किसी मनुष्य के वहा पर प्रत्येक समय रहने की आवश्यकता भी नहीं होती। किन्तु जहा यह विधि प्रचलित नहीं है वहाँ स्थान को स्वच्छ रखने के लिए भङ्गी को रखना आवश्यक है।

जिस नाली के द्वारा मूत्र प्रवाहित होता रहता है उसके अन्त पर अलकतरे से पुता हुआ एक लोहे का पात्र रखा रहना चाहिए जिसको समय-समय पर स्वच्छ

करने के लिए बदलते रहना उचित है। जिस नगर में सड़कों या गलियों के दोनों ओर नालियाँ हो, जो प्रत्येक नगर और ग्राम मे होनी चाहिएँ, वहाँ मूत्र को एकत्र करने के लिए किसी विशेष पात्र की आवश्यकता नहीं है। वहाँ पर इस प्रकार का प्रबन्ध किया जा सकता है कि मूत्र पेशाबख़ाने से सीधा सड़क के किनारे की मोरी में चला जावे।

मूत्रस्थान और शौच-स्थानों के लिए संगमरमर सबसे उत्तम पदार्थ है। इसको चिकना करने के पश्चात् लगाया जाता है। जो इसको मोल ले सकते हैं उनको अपने मकानों में अवश्य ही संगमरमर लगाना चाहिए।
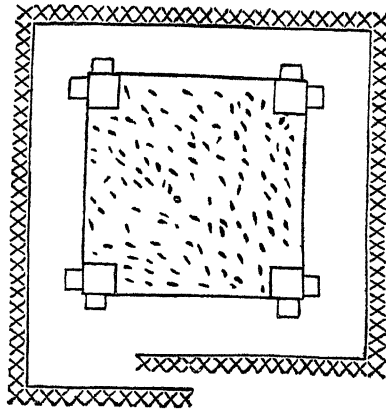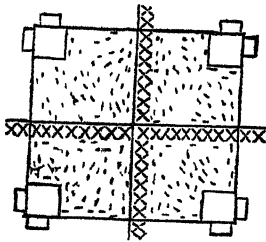
चित्र नं० ४९—पुरुषों के लिए अस्थायी पेशाबख़ाने (After Dunn and Pandya.)

चित्र नं० ५०—स्त्रियों के लिए अस्थायी पेशाबख़ाने (After Dunn and Pandya.)

चीनी मिट्टी के चौके या चीनी मिट्टी चढ़ी हुई ईंटों का मूल्य संगमरमर से कम होता है, किन्तु वह सङ्गमरमर ही के समान उपयोगी होती हैं। अतएव जो लोग सङ्गमरमर प्रयोग करने में असमर्थ हों वह इन ईंटो को काम में ला सकते हैं। नगरों में जनता के लिए जो पेशाबख़ाने बनाये जाते हैं उनमे

पालिशदार चिकने पत्थर भी लगाये जाते है। बैठक के लिए भी इसी प्रकार का पत्थर या 'पेटेंट स्टोन' काम में लाना चाहिए।

मेलों में अस्थायी पेशाबख़ाने बनाने आवश्यक होते हैं। टट्टियों से पर्याप्त लम्बाई चौड़ाई के स्थान को घेरकर उसके प्रत्येक कोने में एक चार फुट लम्बा, चार फुट चौड़ा और पाँच फुट गहरा गढ़ा खोद दिया जाता है जिसकी तलहटी में मिट्टी भर दी जाती है। उसके ऊपर कङ्कड़ या पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े रहते हैं। मिट्टी के तेल के पीपों को भी इस काम में लाया जा सकता है। उनमें लकड़ी का बुरादा भरकर और उनकी पेंदी में बहुत से छिद्र करके प्रत्येक क्षेत्र के कोने में लगा दिये जाते हैं। बुरादे में कुछ चूना, पेस्टरीन या रस-कपूर मिला दिया जाता है। इन पीपों मे लोग मूत्र त्याग करते है जो पीपे के भीतर बुरादे के द्वारा नीचे के कङ्कड़ या मिट्टी मे पहुँचकर शुष्क हो जाता है।

प्रत्येक पीपे के पास व्यक्ति के बैठने के लिए दो ईंटें रख दी जाती हैं।

शौच-स्थानों से मल को एकत्र करना—मल के एकत्र करने और उसको नगर से दूर ले जाने का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए। इसकी ओर जितना भी ध्यान दिया जावे उतना ही कम है। मल के किसी स्थान में पड़े रहने से जो भयङ्कर परिणाम होते हैं उनका पूर्व ही वर्णन किया जा चुका है। इस कारण जनता के स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि, जितना शीघ्र हो सके, प्रत्येक शौच-स्थान से मल को पूर्णतया उचित रीति से हटा दिया जावे। इसके लिए जो भङ्गी निजी मकानों को स्वच्छ करते है वह पूर्णतया स्वास्थ्य-विभाग के अधीन अथवा उसके नौकर होने चाहिएँ। हमारे देश मे बहुत से स्थानों में यह रीति प्रचलित है कि मकानों पर भङ्गियों का पैतृक अधिकार होता है, जिसके कारण एक विशेष भङ्गी के अतिरिक्त दूसरा भङ्गी वहाँ काम नहीं कर सकता। इस कारण शौच-स्थानों को स्वच्छ रखने में बहुधा अत्यन्त कठिनता होती है। मकान में रहनेवाले भङ्गी को असावधानता के लिए किसी प्रकार का दण्ड नहीं दे सकते और न अधिकारियों ही के

द्वारा दिलवा सकते हैं। अतएव इस प्रथा को बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए। शौच-स्थानों की स्वच्छता की देख-भाल स्वास्थ्य विभाग का काम होना चाहिए।

प्रत्येक नगर में, जहाँ जल-संवहन विधि अभी तक प्रचलित नहीं हुई है, शौच-स्थानो से मल भङ्गियों द्वारा हटाया जाता है। इस मल को भङ्गी मैले की गाड़ी मे डाल देते हैं जो उसको नगर से दूर ले जाती है। वहाँ पर उसकी अन्तिम क्रिया की जाती है। साधारणतया मकानों मे खुले हुए मल के पात्र रहते है जिनसे भङ्गी मल को एक बड़े पात्र में एकत्र करके गाड़ी में डाल देता है। जब गाड़ी मे ऊपर तक मैला जमा हो जाता है तो उस पर थोड़ा सा कूड़ा या पत्ते इत्यादि डाल दिये जाते है और मल को उसी दशा में गलियों और सड़कों द्वारा ले जाया जाता है। मल पर मक्खियाँ भिनभिनाया करती है; कहीं-कहीं कुछ मल गिर भी पड़ता है।
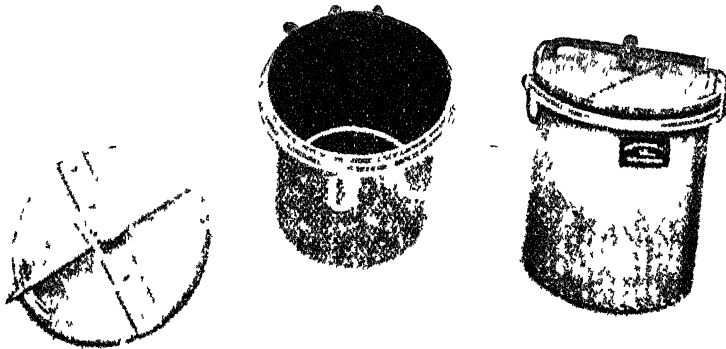
चित्र नं० ५१—टी० एम० रिसेप्टेकिल अथवा मलपात्र
(From Empire Engineering Company, Cawnpore.)

इस रीति की जितनी भी निन्दा की जाय कम है। सभ्य समुदाय के लिए इस प्रकार का कार्य अत्यन्त निन्दनीय और लज्जा की बात है। मल को

इस प्रकार हटाना और ले जाना चाहिए कि उससे किसी भाँति दुर्गन्धि न फैलने पावे और न मल ही किसी व्यक्ति के दृष्टिगोचर हो। इसके लिए जिन पात्रों में मल भरा जावे वह इस प्रकार के होने चाहिएँ कि बन्द करने के पश्चात् उनसे गैस या वाष्प बाहर न निकल सकें। ऐसे पात्र लोहे के बने होते हैं। उनको समय-समय पर अलकतरे से पोतना आवश्यक है। इनको बन्द करने के लिए एक ढक्कन होता है जिसके भीतर वायु का प्रवेश नहीं हो सकता। एम्पायर इञ्जिनियरिंग कम्पनी, कानपुर के टी० एम० रिसेप्टेकिल या मलपात्र बहुत उत्तम होते हैं। इन पात्रों को सब स्थानों में, निजी मकानों और सार्वजनिक शौच-स्थानों मे, प्रयोग करना चाहिए। शौच-स्थान की बैठक के नीचे इनको रखा जा सकता है। मूत्र के लिए दूसरा इसी प्रकार का पात्र रहना चाहिए। मकान में रहनेवालों को शौच के पश्चात् मल पर किसी प्रकार का विसंक्रामक चूर्ण डाल देने का आदेश कर देना चाहिए। जब यह पात्र मल से भर जावे तो वह बन्द करके एक विशेष प्रकार की गाड़ी मे अन्तिम स्थान पर ले जाये जा सकते हैं। मूत्र के लिए भी ऐसा ही करना उचित है। मल और मूत्र को प्रथम खुले हुए पात्रों में एकत्र करना और पश्चात् उनसे गाड़ियों में या दूसरे पात्रों मे भरना उचित नहीं है।

मल को ले जाने के लिए साधारणतया जो गाड़ियाँ प्रयोग की जाती हैं वह चित्र में दिखाई गई हैं। इनके बीच का भाग, जिसमें मल भरा रहता है, इस प्रकार का बना होता है कि उसको सहज में उलटा किया जा सकता है। अन्तिम स्थान पर पहुँचकर गाड़ी के ढकन को हटाकर भङ्गी गाड़ी के बीच के भाग को उलट देता है जिससे मल नीचे की भूमि में गिर पड़ता है। ये गाड़ियाँ साधारणतया ऐसे आकार की बनाई जाती है कि उनमें ७५, ६० या ११० गैलन मल आ सकता है। उनके ऊपर एक ढकन रहता है जो भली भाँति बन्द हो जाता है। प्रयोग करने के पश्चात् गाड़ी को भीतर और बाहर से धो डाला जाता है और समय-समय पर दोनों ओर अलकतरा लगाया जाता है।

इन गाड़ियों में वही दोष है जो पहिले बताया जा चुका है। मल को मलपात्रों से इन गाड़ियों में डालना पड़ता है जिससे दुर्गन्धि, वाष्प इत्यादि

चारों ओर फैलते हैं। और, सम्भव है कि डालने के समय कुछ मल भी नीचे
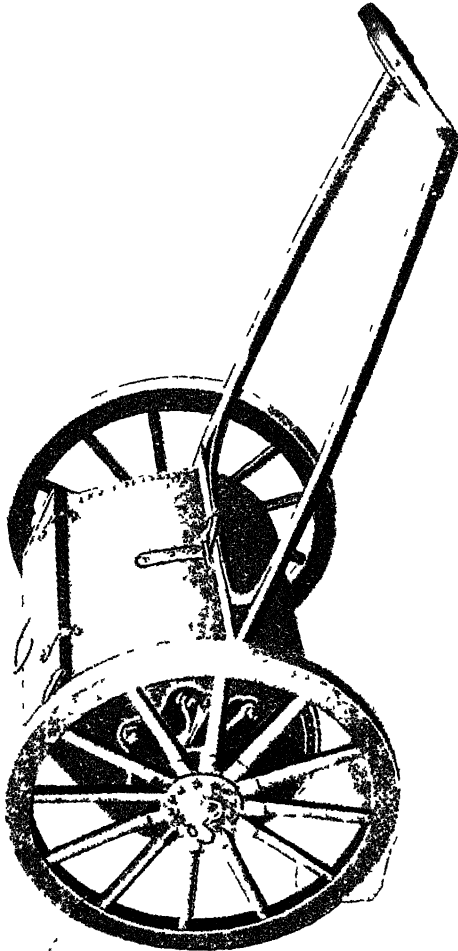
चित्र नं० ५२—मल को ले जानेवाली साधारण गाड़ी
(Empire Engineering Co. Cawnpore.)

भूमि पर गिर पड़ता हो। इस कारण गाड़ी इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसमें स्वयं टी० एम० मलपात्र रखे जा सकें। जिन कारखानों में ये पात्र

बनाये जाते है वहाँ इस प्रकार की गाड़ियाँ भी बनती है। चित्र मे इस प्रकार
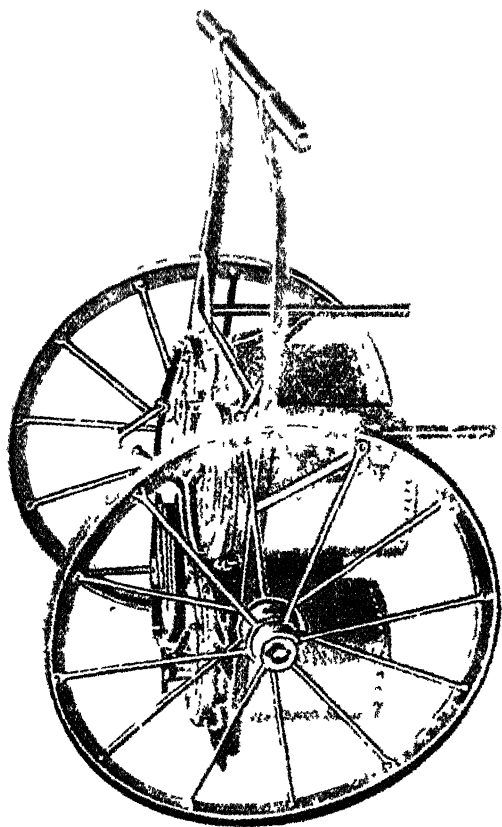
चित्र नं ५३
चार टी० एस० मलपात्रों को ले जानेवाली गाड़ी।
इससे अधिक पात्रों को ले जानेवाली गाड़ियाँ भी बनाई जाती है।
(Empire Engineering Co., Cawnpore.)

की एम्पायर इंजिनियरिंग कम्पनी कानपुर की बनाई हुई गाड़ी दिखाई गई है। इनमें पात्रों को केवल अन्तिम स्थान पर उलटना पड़ता है।

प्रत्येक नगर में कुछ ऐसे स्थान होते हैं, यद्यपि होने नहीं चाहिएँ, जहाँ मैले की गाड़ियाँ नहीं जा सकतीं। वहाँ से भङ्गी को स्वयं मलपात्रों को एक निर्दिष्ट स्थान तक ले जाना पड़ता है जहाँ पर मैले की गाड़ियाँ खड़ी रहती है। नगर के भिन्न-भिन्न भागों में ऐसे स्थान होने चाहिएँ जहाँ पर स्वच्छ ख़ाली पात्र रखे रहें। जब आवश्यकता हो तो भङ्गी भरे हुए पात्र को यहाँ पर रखकर ख़ाली पात्र को प्रयोग के लिए ले जावे। भरे हुए पात्रों को समय-समय पर गाड़ियाँ अन्तिम स्थान तक ले जा सकती है।

शौच-स्थानों और इन ऊपर बताए हुए स्थानों से मल को हटाने और अन्तिम स्थान तक ले जाने का काम रात्रि के अन्तिम भाग में होना चाहिए। शौच-स्थानों को दिन मे दो बार स्वच्छ करवाना उचित है।

मूत्र की गाड़ियाँ मल की साधारण गाड़ियों के समान होती हैं। टी० एम० पात्र की गाड़ियों में पात्रों में भरकर मूत्र को दूर ले जाया जा सकता है। साधारण गोल गाड़ियाँ भी इसके लिए प्रयोग की जाती हैं।

मल की अन्तिम क्रिया—शौच-स्थान से एकत्र किया हुआ मल नगर से दूरी पर स्थित अन्तिम स्थान पर ले जाया जाता है और वहाँ उसका भिन्न-भिन्न प्रकार से नाश या उपयोग किया जाता है। इसका अभिप्राय यह होता है कि मल से नगरवासियों के स्वास्थ्य पर किसी प्रकार का बुरा प्रभाव न पड़ने पावे। किसी-किसी देश मे, विशेषकर चीन में और हमारे देश में भी, मानुषिक मल का खाद के लिए उपयोग किया जाता है। जहाँ पर इसकी आवश्यकता नहीं होती वहाँ मल को नष्ट कर दिया जाता है।

मल के नष्ट या उपयोग करने की निम्नलिखित मुख्य विधियाँ है—

(१) खाई खोदकर उनमें मल को दाबकर खाद बनाना।

(२) मल का दहन करना।

(३) मल का तुरन्त ही खाद की भाति प्रयोग करना।

(४) गढ़े में दाबना।

१—हमारे देश में सबसे अधिक प्रथम विधि का उपयोग किया जाता आवश्यकता और सुभीते के अनुसार लम्बी खाई, जिसकी चौड़ाई एक

विशेष परिमाण से अधिक नहीं होती, खोदी जाती है और उसमें मल को भर-कर मिट्टी से ढक दिया जाता है। यह खाई कई प्रकार की बनाई जाती है।

जिस भूमि पर यह खाई बनाई जावे उसका पहिले से पूर्ण निरीक्षण और विचार कर लेना चाहिए। यह स्थान ऊँचाई पर स्थित होना चाहिए और इसके जल का बहाव भी उत्तम होना चाहिए जिससे वहाँ जल एकत्र न होने पावे। इसके अतिरिक्त उसकी स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि वायु-प्रवाह नगर से खाई की ओर हो जिससे खाई से जो दुर्गन्धित वाष्प उत्पन्न हों वह नगर की ओर न जा सकें।

खाइयों के लिए जो स्थान निर्द्धारित हों वहाँ खाइयां यतस्ततः न बनानी चाहिएँ; उनको एक विशेष क्रम से बनाना उचित है। एक लम्बी और गहरी खाई की अपेक्षा कई छोटी-छोटी खाइयां उत्तम हैं। इन खाइयों के बीच में सड़क होनी चाहिए जिससे वहाँ मैले को सहज मे पहुँचाया जा सके। वहाँ जल का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है।

यह खाइयां विशेषकर निम्नलिखित प्रकार की होती हैं—

(१) उथली खाई।
(२) गहरी खाई।
(३) चौड़ी खाई।

(१) उथली खाई ढाई फुट चौड़ी और १२ इंच गहरी होती है। इसमें छः इंच गहरा मल भरा जाता है और उसके ऊपर खाई में से निकली हुई १२ इंच मिट्टी भर दी जाती है। इससे मिट्टी खाई के किनारे से छः इंच ऊँची हो जाती है। धीरे-धीरे कुछ समय मे यह मिट्टी नीचे बैठ जाती है। किसी-किसी स्थान में, जैसे बङ्गाल मे, केवल तीन इंच गहरा मल भरने की आज्ञा है। खाई की चौड़ाई भी २ फुट से अधिक नहीं होती। इससे २५ गैलन मल के लिए ८ फुट लम्बी खाई खोदनी पड़ती है।

(२) गहरी खाई २ फुट चौड़ी और ढाई फुट गहरी बनाई जाती है। इनमें बारह इंच गहरा मल भरकर उसके ऊपर मिट्टी भर

जाती है। स्थान की कमी होने पर इस प्रकार की कई खाइयाँ एक-एक फट की दूरी पर बनाई जा सकती है।

(३) चौड़ी खाई पाँच फुट चौड़ी और ६ इंच गहरी होती है। इसको प्रायः १६ फुट लम्बी खोदते है। इसमे ½ या १ इंच गहरा मल भरा जाता है और शेष मिट्टी भर दी जाती है। जहाँ स्थान अधिक होता है वहाँ इस प्रकार की खाई बनाई जाती है। खाई मे मल को भरने से पूर्व नीचे की मिट्टी पोली कर दी जाती है जिससे मल में जो जल इत्यादि हो वह तुरन्त ही भूमि में शुष्क हो जावे।

गहरी खाई की अपेक्षा उथली या चौड़ी खाई मे मल की थोड़े ही समय में खाद बन जाती है। खाद बनने में प्रायः तीन मास के लगभग समय लगता है; किन्तु गहरी खाई में छः मास से भी अधिक समय लग जाता है। वर्षा ऋतु में मल का परिवर्तन अत्यन्त धीमा [illegible]ता है।

मल को मिट्टी से पूर्णतया ढक देना अत्यन्त आवश्यक है। मिट्टी के कम रहने से खाद भी शीघ्र न बनेगी और मल में उपस्थित मक्खियों के अण्डों से मक्खियाँ उत्पन्न होकर मिट्टी के स्तर के द्वारा बाहर निकल आवेगी। मिट्टी के अधिक होने से इस बात की सम्भावना कम हो जाती है। इस कारण उथली या चौड़ी खाई की अपेक्षा गहरी खाई उत्तम होती है।

उथली अथवा गहरी खाई मे इस प्रकार खाद बनाकर बेच दिया जाता है। यदि बिक्री का सुभीता न हो तो खाई के ऊपर की भूमि में खेती की जा सकती है। चौड़ी खाई पर मल को दाबने के पश्चात् तुरन्त ही खेती आरम्भ हो सकती है। उस पर हल चलाने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। वहाँ पर जुआर, मकई या कोई घास बोई जा सकती है। अन्य प्रकार की खाइयों पर की भूमि को तीन से छ. मास के पश्चात् जोतकर उस पर हरे शाक या [illegible]कारी—जैसे गोभी, शलजम, मूली इत्यादि—उत्पन्न की जा सकती हैं। गन्ने [illegible] ऐसी भूमि पर भले प्रकार उगते है।

जो स्था[illegible] [illegible]ाई बनाने के लिए चुन लिया गया है उसके एक ओर से खाई बनाना आरम्भ करना चाहिए और क्रमशः दूसरी ओर को समय-समय पर

बनाते जाना चाहिए। कुछ लोगों की सम्मति है कि इस भूमि मे खेती अवश्य होनी चाहिए। खेती न करने से कुछ समय के पश्चात् भूमि दुर्बल हो जाती है और उसमें मल को खाद मे परिवर्तित करने की शक्ति नहीं रहती। किन्तु बङ्गाल के डाक्टर दास की सम्मति इससे विरुद्ध है। उनका अनुभव है कि जिस भूमि में मल दाबना आरम्भ किया जाता है उसकी मल को खाद मे परिवर्तित करने की शक्ति बराबर बढ़ती जाती है; क्योंकि उसमे उन जीवाणुओं की संख्या, जो यह कर्म करते हैं, उत्तरोत्तर बढ़ा करती है। इसके अतिरिक्त मल के गलने से जो दूषित गैस उत्पन्न होती है वह वायु में मिल जाती हैं और अन्य पदार्थ वर्षा के जल इत्यादि के द्वारा बह जाते है। इस कारण सात या आठ मास के पश्चात् भूमि मल का नाश करने मे उतनी ही समर्थ हो जाती है जितनी मल दाबने से पूर्व थी। अतएव बिना किसी प्रकार की खेती किये हुए भी सात या आठ मास के पश्चात् पुनः मल खाइयों मे भरा जा सकता है। किन्तु इतनी उत्तम नाइट्रोजन-युक्त खाद को व्यर्थ नष्ट करना उचित नहीं है।

खाइयो की भूमि के नगर की ओर के किनारो पर वृक्षों की एक या दो पंक्ति लगा देनी चाहिए।

२—**दहन**—इसका वर्णन पहले किया जा चुका है। हमारे देश के कितने ही नगरो मे इसका प्रयोग किया चुका है। अधिक तापवाले दाहक उत्तम होते है। कम तापवाले दाहकों में दहन धीरे-धीरे होता है और उससे जो दुर्गन्धित वाष्प निकलते है उनसे जनता को कष्ट होता है। किन्तु दूसरे प्रकार के दाहकों के बनाने में व्यय बहुत होता है और छोटे नगर या संस्थाएँ उसको बनाने में असमर्थ होती हैं। कुछ जेलों में छोटे और न्यून ताप के दाहक भी सन्तोषजनक पाये गये हैं। उनका ठीक-ठीक काम करना उनकी देख-भाल पर निर्भर करता है।

मल के पूर्ण दहन के लिए यह आवश्यक है कि उनमें जलनशील पदार्थ अधिक मिलाये जावें। लकड़ी का बुरादा या उसकी छीलन, शुष्क पत्तियाँ तिनके, कोयले की राख इत्यादि इसके लिए उत्तम वस्तु हैं। इनके साथ

गलियों का कूड़ा भी मिलाया जा सकता है। जब तक मल के साथ इन वस्तुओं की पर्याप्त मात्रा मिली रहेगी, तब तक मल के नष्ट होने में कठिनता न होगी। इस कारण भङ्गियों पर कड़ी दृष्टि रखना आवश्यक है।

दहन की विधि स्वास्थ्य की दृष्टि से सबसे उत्तम है। जहाँ कहीं सम्भव हो सके उसका उपयोग करना चाहिए।

३—बहुत स्थानों मे कृषकगण ताज़ा मल को भूमि के लिए बहुत लाभदायक मानते हैं और इसलिए अधिक मूल्य देकर भी उसको खेतों में डालते है। नगर से दो या तीन मील की दूरी पर मल को एकत्र किया जाता है, जहाँ से उसको स्वयं कृषक लोग ले जाते हैं। यह प्रणाली अनुचित और निन्दनीय है। जिस स्थान पर मल एकत्र किया जाता है वहां से कई मील दूर तक दुर्गन्धि फैलती है। स्थान कभी स्वच्छ नहीं होता और वहाँ मक्खियाँ इत्यादि कृमि उत्पन्न होकर चारो ओर फैलते हैं।

४—जहाँ भङ्गियों के मकानों पर पैतृक अधिकार होते है वहाँ भङ्गी मल को गढ़ों में एकत्र करके कृषको को बेच देते है। अथवा कृषक मल को भङ्गियों से ख़रीदकर गढ़ो मे एकत्र करके समय-समय पर प्रयोग करते है। यह गढ़े प्रायः ३ फुट गहरे और २ फुट चौड़े होते है, और ऊपर तक मल से भरे रहते हैं। गहराई अधिक होने के कारण मल के बहुत समय तक गढ़े के भीतर रहने से भी मल मे कुछ परिवर्तन नहीं होता। इस प्रणाली को भी ऊपर कही हुई प्रणाली ही के समान निन्दनीय समझना चाहिए; उससे अधस्थल जल के दूषित होने की बहुत सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त मक्खियाँ उत्पन्न होती हैं।

निकृष्ट जल का निकास—ऊपर बताई हुई विधि में निकृष्ट जल के—जो भोजनालय, स्नान, वस्त्र धोने, स्थान को स्वच्छ करने, पशुओ को नहलाने, बर्तनों को स्वच्छ करने इत्यादि से उत्पन्न होता है—निकास का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया है। ऐसे जल के, जो अनेक प्रकार के ऐन्द्रिक और अनैन्द्रिक पदार्थों से युक्त और दूषित होता है, सन्तोषजनक निकास का प्रबन्ध अत्यन्त आवश्यक है। उसके लिए भिन्न पक्की नालियाँ या मोरियाँ होनी

चाहिएँ। साधारणतया मकानों के पीछे कच्चे गढ़े या हौज़ा में कच्ची नालियों के द्वारा पहुँचकर यह जल एकत्र होता रहता है जिससे चारों ओर की भूमि और वायुमण्डल दूषित हो जाता है। इन हौज़ों में मच्छर और मक्खियों की सदा अधिकता रहती है। कभी-कभी मकानों से यह जल कच्ची नालियों के द्वारा बहुत दूर तक किसी कच्चे गढ़े इत्यादि मे ले जाया जाता है। ऐसी दशा मे मकान से जल का उचित निकास नहीं हो पाता। कच्ची नाली में मिट्टी एकत्र होकर जल के साथ कीचड़ बनकर मोरी को रोक देती है।

प्रत्येक नगर में इस प्रकार के कच्चे हौज़ों और गढ़ों को भरवा देना चाहिए और जल के निकास के लिए उत्तम पक्की, या के आकार की, खुली हुई मोरियाँ होनी चाहिएँ। जहा जल-संवहन विधि का प्रयोग हो सके वहा तो इस जल का निकास भी उसी के द्वारा करना चाहिए।

पक्की नालियों का ढाल उत्तम होना चाहिए। जो बड़ी नालियां हों वह आकार की बनाई जा सकती है। प्रत्येक मकान, कारखाने इत्यादि की इन नालियों का पक्की नालियों से सम्बन्ध होना चाहिए जिससे उन स्थानों का जल सीधा इन नालियों में चला आवे। कुछ समय में इन मोरियों मे कीचड़ एकत्र हो जाती है। इस कारण समय-समय पर उनको स्वच्छ करवाते रहना चाहिए। वर्षा में इसकी अधिक आवश्यकता होती है। इन मोरियों को एक बार प्रति दिवस जल से धुलवा देना उत्तम है। किन्तु यदि जल की कमी हो तो प्रत्येक दूसरे या तीसरे दिवस धुलवाया जा सकता है।

कुछ स्थानों में कच्चे हौज़ या गढ़ों के स्थान में विशेष प्रकार के गढ़े बनाये जाते हैं जो ५ या ६ फुट गहरे होते हैं। उनमें टूटी हुई ईंटें, कङ्कड़ या मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े और बालू इत्यादि भर दिये जाते हैं। मकान का निकृष्ट जल एक नाली के द्वारा इस गढ़े में पहुँचकर भूमि के द्वारा सोख लिया जाता है।

जब यह गढ़े भर जाते हैं तब जल भूमि पर फैल जाता है। वर्षा में भी यही दशा होती है। इन गढ़ों से अधस्थल जल के दूषित होने की बहुत

सम्भावना रहती है। यद्यपि ये कच्चे हौज़ो से उत्तम होते हैं, किन्तु इनको सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

जिन स्थानों में पक्की मोरियों के द्वारा जल के निकास का प्रबन्ध नहीं है वहाँ पर प्रत्येक मकान के पास मलपात्रों की भाँति निकृष्ट जल के एकत्र होने के लिए भी एक पक्के स्थान पर लोहे के पात्र रखने चाहिएँ, जिनको भर जाने पर गाड़ियों द्वारा हटाया जा सकता है।

इस प्रकार के जल या मल-युक्त तरल द्रव्य को मोरियों के द्वारा नगर से बाहर निकालकर खेतों या अन्य खुले हुए स्थानों मे फैलाया जा सकता है। सूर्य की किरणों और वायु के प्रभाव से इस जल के सब दोष नष्ट हो जाते हैं, और पृथ्वी उसको सोख लेती है। जब जल की अधिक मात्रा, अथवा किसी नगर के निकृष्ट जल, के नाश का स्थायी प्रबन्ध करना होता है तो भूमि के किसी भाग को चुनकर उसको सात भागों मे विभक्त कर दिया जाता है। सप्ताह में एक दिन एक भाग पर जल को छोड़ते हैं; शेष छः दिन तक उसको खुला छोड़ देते हैं जिससे धूप और वायु के द्वारा जल शुष्क हो जाता है और भूमि की जल को सोखने की शक्ति बनी रहती है।

इसी कर्म के लिए एक विशेष प्रकार के निस्यन्दक बनाये जाते हैं जो पक्की ईंट और चूने इत्यादि के बने हुए तालाब होते है। इनकी दीवारों के द्वारा जल की एक बूँद भी नहीं निकल सकती। इन तालाबों के भीतर टूटे हुए झावों के टुकड़े, चीनी या मिट्टी के पक्के बर्तनो के टुकड़े इत्यादि भरे रहते है, जिनमें छोटे-छोटे छिद्र होते हैं। निकृष्ट जल इन तालाबों में छोड़ दिया जाता है। कुछ समय में उनमें इस प्रकार के जीवाणु उत्पन्न हो जाते हैं कि वह ऐन्द्रिक पदार्थों का नाश करके सारे जल की अशुद्धि को नष्ट कर देते हैं। यद्यपि जल देखने में मैला और काला सा दीखता है; किन्तु वह दुर्गन्धि-रहित और भूमि के लिए खाद के समान लाभदायक होता है।

नगर के उच्छिष्ट जल के निकालने के लिए जो मोरियाँ ऊपर बताई गई है उनके स्वच्छ करने के लिए पर्याप्त जल का प्रबन्ध होना आवश्यक है। जल के कम होने से उनका मार्ग शीघ्र ही बन्द हो जायगा; उनमें ऐन्द्रिक पदार्थ-

युक्त जल के सड़ने से नगरवासियों को कष्ट पहुँचेगा और उनके स्वास्थ्य की हानि होगी।

गाँवों में मलापहरण का प्रबन्ध—कूड़े और मल के निकास के लिए जो गांवों मे कठिनता है उसका उल्लेख पूर्व ही किया जा चुका है। ग्रामनिवासी मल-त्याग के लिए सदा खेतों मे जाते है जहाँ मल थोड़े ही समय मे शुष्क होकर भूमि में मिल जाता है जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ती है। इससे वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। किन्तु ऐसे खेतो में मल-त्याग करना चाहिए जो मकान और जलाशयों से कम से कम २०० गज़ दूर हों।

ग्रामो मे जल के निकास के लिए कुछ भी प्रबन्ध नहीं होता। केवल कच्ची मोरी और हौज़ या गढ़े होते हैं जिनमें निकृष्ट जल एकत्र होता रहता है। इनसे जलाशय भी दूषित हो जाते है।

प्रत्येक गांव मे एक शौच-स्थान और उसके साथ मलापहरण का प्रबन्ध होना चाहिए। वहां के निवासियों के स्वास्थ्य को देखते हुए इतना व्यय बहुत नहीं है। मोरियों की दशा की ओर ध्यान देना भी बहुत आवश्यक है। उनको पक्का बनाना चाहिए। यदि गांव के जल के निकास का कोई सन्तोषजनक उपाय न हो सके तो झावें इत्यादि से भरे हुए गढ़े बनाये जा सकते है। समय-समय पर नये गढ़े बनाने होंगे।

इन सब कामों के लिए व्यय करना डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और गवर्नमेंट का कर्तव्य है; क्योंकि जनता के स्वास्थ्य के लिए वह उत्तरदायी है।

दसवाँ परिच्छेद

जल-संवहन विधि

जैसा नाम से स्पष्ट है, इस विधि में मल और दूषित जल दोनों को जल-प्रवाह के द्वारा बहा दिया जाता है जो प्रणाल या बम्बों में होता हुआ नगर से दूर स्थित निर्दिष्ट स्थानों पर जाकर गिरता है। इस विधि मे जल की अधिक आवश्यकता होती है और उसके प्रवाह के लिए भूमिपृष्ठ के नीचे प्रणाल बनाने पड़ते हैं जिनके द्वारा मल, पशुशालाओं या अन्य स्थानों से एकत्र हुई पशुओं की विष्ठा, मूत्र, निकृष्ट जल इत्यादि जल के साथ बह जाते है। जिन नगरों में पर्याप्त जल का प्रबन्ध है वहाँ, जहाँ तक हो सके, इसी विधि की आयोजना करनी चाहिए। यद्यपि इस विधि में, प्रारम्भ मे, अधिक व्यय होता है, किन्तु इससे नगर की स्वच्छता अन्य विधियो की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण होती है। और, नगरवासी दुर्गन्धि और उन स्वास्थ्य-नाशक प्रभावो से, जो खुली हुई मोरियों या मल को बालटियों मे भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने से उत्पन्न होते है, सुरक्षित रहते है। इसके अतिरिक्त एक बार व्यय करने के पश्चात् बहुत समय के लिए छुट्टी हो जाती है। नगर स्वच्छ रहता है। हमारे देश में प्रायः सब बड़े-बड़े नगरो मे यह विधि प्रचलित हो चुकी है। अन्य विधियों की अपेक्षा इसको उत्तम माना जाता है। इस कारण प्रत्येक म्यूनिसिपैलिटी को इस विधि को प्रयोग मे लाने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि एक ही बार सारे नगर में इस विधि की आयोजना करने के लिए पर्याप्त धन न हो तो, नगर को कई भागों मे विभक्त करके, प्रत्येक वर्ष एक भाग मे इस विधि का प्रबन्ध कर देना चाहिए। ऐसा करने से कुछ वर्षो मे समस्त नगर मे इस विधि का पूर्ण प्रबन्ध हो जायगा।

यह विधि दो प्रकार से काम में आती है। पहिली को **मिश्रित विधि** और दूसरी को **भिन्न विधि** कहते है। संयुक्त विधि मे विष्ठा, दूषित जल, भूमि के ऊपर का वर्षा का जल अथवा जिस जल से सड़क इत्यादि धोई जाती हैं, सब भूमि के अन्तर्गत प्रणालों के द्वारा प्रवाहित किये जाते हैं। किन्तु भिन्न विधि में वर्षा इत्यादि के जल को ले जाने के लिए भूमि के ऊपर मोरियाँ बनाई जाती हैं। भूमि के भीतर के प्रणालों द्वारा केवल विष्ठा तथा शौच-स्थान और मकानों का दूषित जल जाता है। दोनों विधियों में कुछ लाभ और कुछ हानियाँ हैं। भिन्न विधि मे उत्तमता यह है कि (१) व्यय कम होता है; क्योंकि बम्बों का आकार छोटा होता है। (२) मल और दूषित जल की मात्रा कम होने से उनको नष्ट करने मे सुभीता होता है। (३) बम्बों के छोटे होने के कारण अधिक जल की आवश्यकता नहीं होती। (४) वर्षा के जल के साथ बम्बों मे जो धूल इत्यादि पहुँचकर बम्बों को अवरुद्ध कर देती है, वह इस विधि मे नहीं होने पाता। (५) यदि नगर की जन-संख्या और जितने जल का नगर में वितरण होता है उसकी मात्रा का ज्ञान हो तो जितनी विष्ठा और दूपित जल को बम्बों के द्वारा निकालकर नष्ट करना होता है उसका हिसाब सहज में लगाया जा सकता है। इससे उनका उचित प्रबन्ध करने में कठिनता नहीं होती।

किन्तु इस विधि में (१) दो प्रकार के बम्बे बनाने पड़ते हैं। (२) संयुक्त विधि मे वर्षा का जल बम्बों को भीतर से धो देता है और यदि उनमें कहीं पर कुछ गन्दगी एकत्र हो तो उसको भी बहा देता है। भिन्न विधि में ऐसा नहीं होने पाता। हमारे देश के लिए साधारणतया भिन्न विधि ही उत्तम मानी जाती है; क्योंकि वर्षा केवल तीन या चार महीने होती है। किन्तु तो भी विधियों का निर्णय करना स्थानिक कारणों पर निर्भर करता है। चाहे जिस विधि को काम में लाया जावे, इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जिन बम्बों के द्वारा मल और जल प्रवाहित हो रहे है वह पूर्ण अप्रवेश्य पदार्थ के बने हों और भूमि के अधःस्थल जल के निकास का भी उचित प्रबन्ध हो। इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं भूमि के ऊपर की मोरी का भूमि के

भीतर स्थित बम्बों के साथ सम्बन्ध हो वहाँ ऐसा आयोजन करना चाहिए कि भूमिपृष्ठ की धूल बम्बे के भीतर न पहुँचने पावे।

इस विधि का प्रारम्भ वास्तव मे प्रत्येक मकान से होता है। इसके सम्बन्ध में शौच-स्थान का प्रबन्ध भिन्न प्रकार से करना पड़ता है; क्योंकि वहाँ से मल को जल के द्वारा प्रवाहित करके भूमि के अन्तर्गत प्रणालों तक ले जाना होता है। इस कारण यह विधि दो मुख्य अङ्गों में विभाजित की जा सकती है—(१) मकान का मल-संवहन और (२) भूम्यन्तर्गत प्रणाल।

मकान के मल-संवहन का प्रबन्ध

मकान के मल-संवहन के सम्बन्ध में हमको निम्नलिखित बातों का विचार करना आवश्यक है—

(१) जल-शौचपात्र,

(२) भूमिनल,

(३) गृह-परिवाह,

(४) कूट।

१—जल-शौचपात्र—शौच-स्थानों से जल के द्वारा मल का संवहन करने के लिए विशेष प्रकार के पात्र बनाये जाते हैं। इनका सम्बन्ध एक ओर जल की एक टङ्की के साथ होता है जिसकी ज़ञ्जीर खींचने से शौचपात्र में बड़े वेग से जल का प्रवाह होता है। दूसरी ओर इस पात्र का एक बम्बे के द्वारा, जिसको भूमिनल कहते हैं, एक दूसरे चौड़े बम्बे से सम्बन्ध होता है। इस बम्बे के द्वारा मकान का सारा निकृष्ट जल नीचे स्थित बड़े-बड़े प्रणालों में चला जाता है।

यह पात्र साधारणतया चीनी मिट्टी के बने होते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य है—

(१) लघु निष्कासक मलपात्र—इस मलपात्र का सबसे अधिक उपयोग होता है। चित्र से मालूम होगा कि पात्र का ऊपरी भाग

चौड़ा है और ऊपर का किनारा चौड़ा और भीतर की ओर को मुड़ा हुआ है। जल के आने का मार्ग इस मुड़े हुए किनारे के नीचे होता है। किनारे के मुड़े हुए होने के कारण जल पात्र में नीचे की ओर को बहता है। पात्र के निचले भाग की बनावट इस प्रकार की है कि उसमें सदा कुछ न कुछ जल एकत्र रहता है। शौच के समय मल इस जल में गिरता है और ऊपर से जो वेग के साथ जल आता है उसके साथ बह जाता है। इस पात्र में उत्तमता यह है कि मल सीधा जल में गिरता है; पात्र में इधर-उधर नहीं लगता। साथ में जल के प्रवाह से सारा मल पात्र से निकल जाता है।
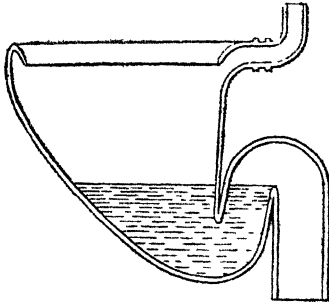
चित्र नं० ५४—लघु निष्कासक मलपात्र

पात्र के अधोभाग में उसके आकार के कारण सदा कुछ न कुछ जल एकत्र रहता है। यह कूट कहलाता है। भूमिनल तथा परिवाह इत्यादि में उत्पन्न हुई दूषित गैसें इस जल-कूट के द्वारा पात्र में नहीं आ सकतीं। इस प्रकार मकान का वायुमण्डल दूषित होने से बचा रहता है।
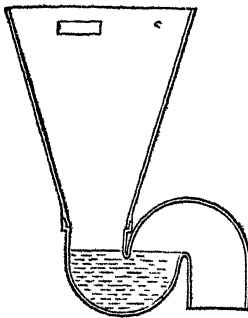
चित्र नं० ५५—दीर्घ निष्कासक मलपात्र

(२) दीर्घ निष्कासक मलपात्र—जैसा चित्र से स्पष्ट है, इसकी चौड़ाई कम है; किन्तु गहराई अधिक है। इस कारण मल बहुधा इसकी दीवारों पर लग जाता है जिससे इसको स्वच्छ करना कठिन होता है। जो जल पात्र के किनारे के पास से निकलता है वह पात्र में यतस्ततः लगे हुए मल के ऊपर होता हुआ बह जाता है।

नीचे के भाग मे भी कभी-कभी मल रह जाता है। इस प्रकार के मलपात्र को स्वच्छ करने के लिए अधिक जल की आवश्यकता होती है।

(३) बहिःनिष्कासक मलपात्र—इसका निचला भाग भी चौड़ा होता है। इसको इस भांति बनाया जाता है कि इसमें प्रत्येक समय कुछ न कुछ जल रहता है। मल इस जल मे गिरता है। इसको स्वच्छ करने के लिए अधिक जल की आवश्यकता होती है। इसमें मल, नीचेवाले भाग का जो भीतर की ओर उठा हुआ किनारा है उस पर होकर, बहता है। इस कारण मल को बहा देने के लिए जल-प्रवाह के अधिक वेग की आवश्यकता होती है, जिससे मल उठे हुए किनारे के ऊपर होता हुआ बाहर निकल जाय। इस पात्र में प्रायः किनारे पर कुछ न कुछ मल लगा रह जाता है। कभी-कभी कुछ मल पात्र के जल में रह जाता है। इस कारण इस प्रकार का मलपात्र काम में नहीं लाया जाता।
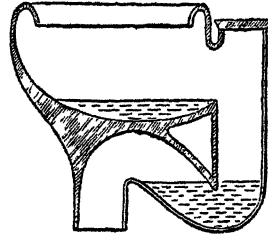
चित्र नं० ५६—बहिः निष्कासक मलपात्र

(४) पटल निष्कासक मलपात्र—यह पात्र आकार मे चौड़ा और एक कढ़ाई के समान होता है। इसके नीचे की ओर लगभग तीन इंच व्यास का एक छिद्र होता है जिस पर एक पट्ट लगा रहता है। इस कारण पात्र में सदा जल भरा रहता है। पट्ट का सम्बन्ध एक हैंडिल से होता है। जब वह हैंडिल उठाया या घुमाया जाता है तब पट्ट खुलता है और जो कुछ पात्र में होता है वह नीचे की ओर निकल जाता है।

इन पात्रों का पट्ट कुछ समय के पश्चात् प्रायः ढीला हो जाता है। उस समय पात्र में जल नहीं ठहरता। इस कारण पात्र के नीचे की मोरी से मकान में दूषित गैसें आने लगती है। यह पात्र प्रायः गन्दा रहता है। इन कारणों से आजकल इसका प्रयोग नहीं किया जाता है।

(५) वाल्व निष्कासक मलपात्र—इस पात्र में भी नीचे की ओर एक पट्ट लगा रहता है जो सदा इस प्रकार से बन्द रहता है कि उसके

द्वारा जल नीचे नहीं जा सकता। इस पट्ट का भी पटलवाले मलपात्र के समान हैंडिल के साथ सम्बन्ध होता है। जब हैंडिल घुमाया जाता है तब पात्र का जल और मल दोनों, पट्ट के नीचे की ओर दब जाने से, नीचे को निकल जाते है। हैंडिल के छोड़ देने पर वह पात्र के छेद को फिर बन्द कर देता है। इस पट्ट के नीचे धातु का बना हुआ एक बक्स रहता है जिसका एक साइफ़न कूट के साथ सम्बन्ध होता है। यह कूट ४ इंच के लगभग व्यास के सीसे के नल का बना हुआ होता है। इस कूट का दूसरा सिरा भूमिनल
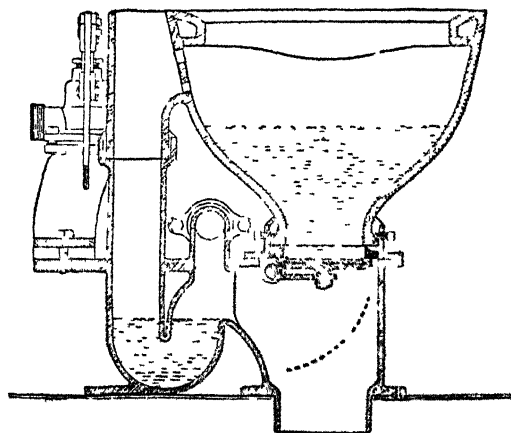
चित्र नं० ९७—वाल्व निष्कासक मलपात्र

के साथ जोड़ दिया जाता है। इसमें भी अधिक जल की आवश्यकता होती है। प्रथम पात्र को स्वच्छ करने के लिए जल आवश्यक होता है। उसके पश्चात् पट्ट द्वारा छेद के बन्द हो जाने पर पात्र में जल भर दिया जाता है। इस कारण पात्र का जिस टङ्की के साथ सम्बन्ध हो वह इतनी बड़ी होनी चाहिए कि उसमें २९ या ३० सेर जल आ सके।

टङ्की की ज़ञ्जीर को खींचने पर कभी-कभी पात्र में बहुत अधिक जल आ जाता है और उसके किनारों पर से चारों ओर को बहने लगता है। इस

कारण पात्र मे एक ओर एक नली लगा दी जाती है जिसका ऊपरी सिरा पात्र के किनारे के नीचे रहता है। नली का दूसरा सिरा पट्ट के नीचे के बक्स मे खुलता है। इस नली का आकार चित्र नं० ५८ के समान होता है। इसके नीचे के मुड़े हुए भाग मे जल भरा रहता है जिससे दुर्गन्धित गैसें पात्र में न पहुँच सकें। इस नली को लगाने से पात्र में जल नली के छेद से ऊपर नहीं जा सकता। ज्यों ही जल उस छेद तक पहुँचता है त्यों ही वह इस नली मे होकर निकलने लगता है।

चित्र नं० ५८

इस पात्र में मल सीधा जल ही मे गिरता है। मल और जल के पात्र से निकलते समय गड़गड़ाहट की ध्वनि नहीं होती। किन्तु पटल-मलपात्र की भाँति यहाँ भी पट्ट के बिगड़ जाने से दूषित गैसें मकान के भीतर प्रविष्ट हो सकती हैं।

इन सब पात्रों मे लघु निष्कासक पात्र का अधिक प्रयोग किया जाता है। उसकी बनावट बहुत साधारण है। जल को निकालने के लिए किसी विशेष नली की आवश्यकता नहीं होती; और न उसके द्वारा दूषित गैसों के ही मकान में आने की सम्भावना होती है।

कुछ मलपात्र इस प्रकार के बने होते हैं कि उनके साथ साइफ़न कूट का सम्बन्ध रहता है। इससे न केवल ऊपर की ओर से जल-प्रवाह के कारण मल का निकास होता है किन्तु वह नीचे की ओर से भी खिंचता है। लघु निष्कासक पात्र के साथ भी प्रायः इस प्रकार का प्रबन्ध किया जाता है। वास्तव में कुछ ऐसे मलपात्र बनाये जाते हैं जिनमें पात्र और कूट दोनों मिले हुए होते हैं। दोनों को जोड़कर एक कर दिया जाता है। ये बहुत सन्तोषजनक होते हैं।

हमारे देश में प्राय. लोग भूमि पर बैठकर मल त्याग करते है। इसलिए इन पात्रो को भूमि में लगाना पड़ता है। उनके किनारे भूमि के साथ मिले रहते हैं। इनको बनाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चारों ओर की भूमि का पात्र की ओर को लगभग ½ इंच का ढाल हो। पात्र के

चारों ओर की भूमि किसी अप्रवेश्य पदार्थ की बनी होनी चाहिए। कुछ लोग इटली का सङ्गमरमर प्रयोग करते है। सीमेंट भी उत्तम वस्तु है। टायल का भी प्रयोग किया जा सकता है। आजकल कुछ कारखाने चीनी मिट्टी की इस प्रकार की बैठकें बनाते है। दोनों ओर पाँव रखने के लिए विशेष स्थान
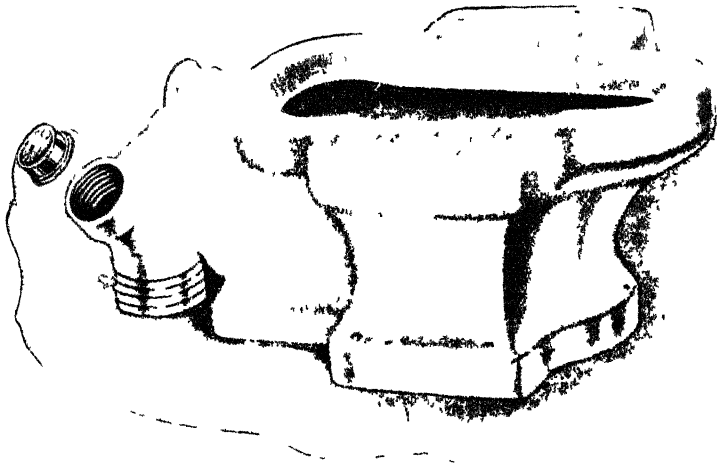
चित्र नं० ९९—बैठनेवालों के लिए विशेष प्रकार की बैठक, मलमात्र इत्यादि के सहित

(From Hygiene by Das, Doulton and Co., London.)

बने होते है और उनके बीच मे पात्र होता है जिसके साथ कूट इत्यादि जुड़े रहते है।

टङ्की—इन पात्रों में प्रत्येक बार मल त्याग करने के पश्चात् मल को जल-प्रवाह के द्वारा बहा देना होता है। इसलिए पात्र का एक टङ्की से सम्बन्ध कर दिया जाता है। यह टङ्की लोहे की चादर की बनी होती है
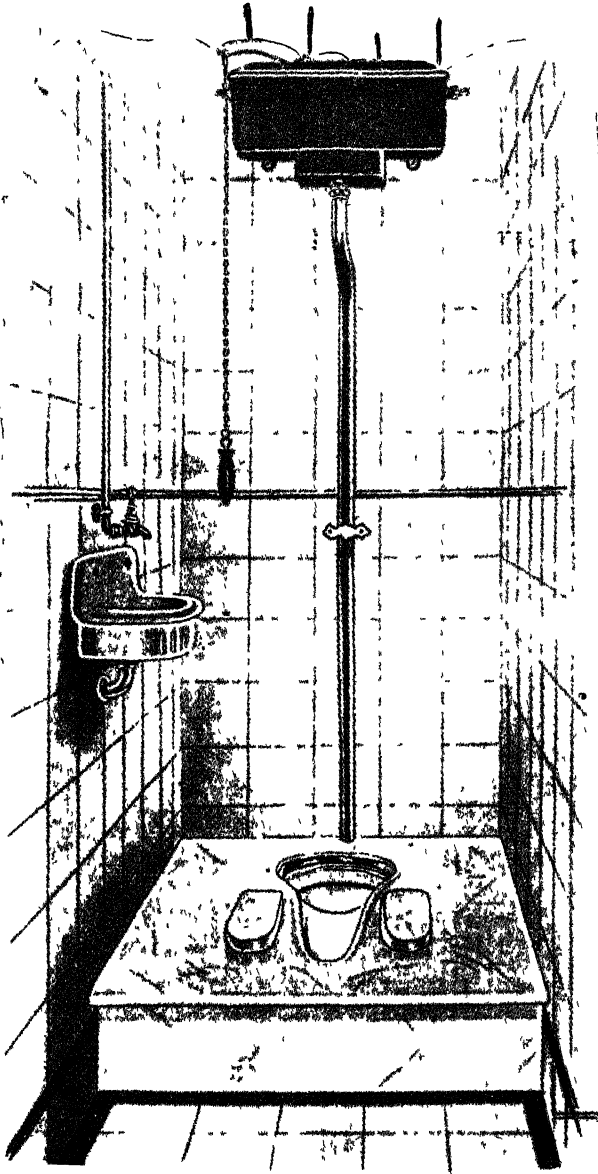
चित्र नं० ६०—भारतवासियों के प्रयोग के लिए विशेषतया बनी हुई बैठक—मलपात्र, कूट और टङ्की सहित, जिससे लटकती हुई ज़ञ्जीर चित्र में दिखाई गई है।
(From Hygiene by Das, Doulton and Co, London.)

जिस पर सीसा चढ़ा रहता है। साधारणतया टङ्की इतनी बड़ी होती है कि उसमें १२ से १५ सेर तक जल आता है। इसमें एक मार्ग जल के आने का और दूसरा जल के निकलने का होता है। प्रथम मार्ग मकान की बड़ी टङ्की अथवा जल के नल से एक चौड़े नल द्वारा जुड़ा रहता है। दूसरे मार्ग से $१\frac{१}{४}$ इंच से $१\frac{१}{२}$ इंच व्यास का एक नल मलपात्र तक आता है और पात्र के किनारों के नीचे स्थित छिद्रों से सम्बद्ध होता है।

इस टङ्की पर एक ढक्कन रहता है। इसके एक ओर से एक शलाका निकली रहती है जिससे एक ज़ञ्जीर और हैंडिल लटके रहते हैं। जब इस हैंडिल और ज़ञ्जीर को नीचे की ओर खींचा जाता है तो टङ्की के भीतर जल के निकलने का मार्ग खुल जाता है और टङ्की का सारा जल वेग से पात्र में चला आता है।

कहीं-कहीं पर बैठने के क़दमचों के साथ टङ्की के निकास-मार्ग का सम्बन्ध रहता है। क़दमचों पर बैठनेवाले व्यक्ति के पाँव के भार से टङ्की से सम्बन्ध रखनेवाला लीवर दब जाता है और उससे जल का मार्ग खुल जाता है। कुछ स्थानों में इस प्रकार का प्रबन्ध किया जाता है कि टङ्की का मार्ग स्वयं ही समय-समय पर खुलता रहता है। सार्वजनिक शौच-स्थानों में ऐसे ही प्रबन्ध की आवश्यकता है।

जो नल टङ्की से मलपात्र तक आवे वह, जहां तक हो सके, बिलकुल सीधा होना चाहिए। उसकी मोटाई भी ऊपर बताये अनुसार हो। पात्र से मल को बहाने और पात्र को स्वच्छ रखने के लिए जल का प्रवाह वेग के साथ होना चाहिए और जल की मात्रा भी पर्याप्त होनी चाहिए। साथ में शौच-स्थान का प्रयोग करनेवालों को टङ्की की ज़ञ्जीर को खींचना कभी न भूलना चाहिए।

द्रोण्याकार शौच-स्थान—यह शौच-स्थान अस्पताल, जेल, छात्रालय इत्यादि स्थानों में बनाये जाते हैं। मलपात्र भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्तु उनके नीचे द्रोणि के आकार की एक नली या बम्बा एक सिरे से दूसरे सिरे

तक जाता है। यह बम्बा एक ओर को ढालू होता है, जहाँ पर उसके साथ कूट लगा रहता है। इस प्रकार कई शौच-स्थानो का मल एक ही पात्र में
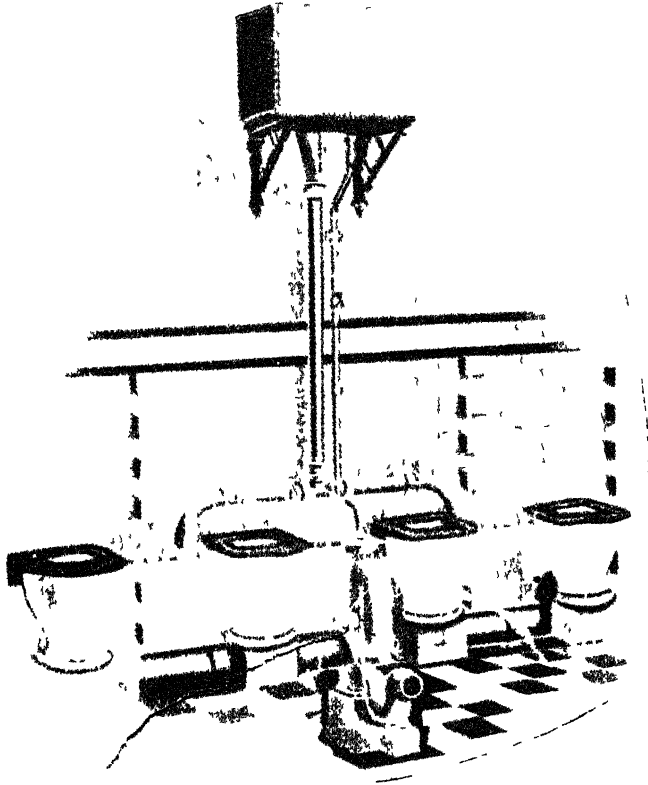
चित्र नं० ६१—द्रोण्याकार शौच-स्थान जिसमें मलपात्र भिन्न हैं।
(Parkes and Kenwood)

गिरता है(जिसमें समय-समय पर जल का प्रवाह होता रहता है। इस पात्र में प्रत्येक समय कुछ जल भरा रहता है।

कहीं-कहीं पर इस प्रकार के शौच-स्थानों में यह परिवर्तन कर दिया जाता है कि मलपात्रों को दीवारों द्वारा भिन्न कर देते हैं जिससे कई भिन्न शौच के कमरे बन जाते हैं, किन्तु इन सबों का सम्बन्ध एक ही द्रोणि से होता है।

इस प्रकार के शौच-स्थान से यह लाभ है कि कई पात्रों के लिए एक ही टङ्की से काम लिया जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें व्यय भी कम होता है।

निकृष्ट जलवाला शौच-स्थान—कुछ संस्थाओं में ऐसे शौच-स्थान बनाये गये है जिनमे टङ्की के जल के स्थान मे मकान का निकृष्ट जल प्रयोग किया जाता है। किन्तु अनुभव से वे उपयोगी नही पाये गये है।

मूत्रपात्र—मलपात्र की भांति मूत्रपात्र भी अप्रवेश्य पदार्थ के होने चाहिएँ। मकानों में प्रयोग करने के लिए चीनी मिट्टी के बने हुए पात्र बाज़ार में बिकते हैं। पत्थर, तामचीनी अथवा चिकनी मिट्टी के भी पात्र बनाये जाते हैं। मलपात्र की भांति इनका भी कूट के द्वारा भूमिनल के साथ सम्बन्ध रहना चाहिए और जल-प्रवाह से समय-समय पर इनको स्वच्छ करने का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए। ऐसा न होने से कुछ समय के पश्चात् पात्र मे बहुत से यूरेट लवण एकत्र हो जाते हैं, और कुछ समय में मोरी का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त इन पात्रों को अथवा स्थानों को जल से प्रतिदिन स्वच्छ न करने से दुर्गन्धि उत्पन्न होने लगेगी।

आविल मार्जनी—यह चीनी मिट्टी या अन्य किसी ऐसी ही वस्तु के बने हुए चौड़े बर्तन होते हैं जिनमे रसोई या दूसरे कार्यों से उत्पन्न हुआ मैला जल डाल दिया जाता है। कभी-कभी इनका मूत्रपात्र की भांति भी उपयोग किया जाता है। किन्तु खुली हुई साधारण मार्जनियों को इस उपयोग में न लाना चाहिए। लघु मलपात्र के आकार की बनी हुई मार्जनी भी आती हैं। इनको काम में ला सकते हैं। इन मार्जनियों का सम्बन्ध एक बड़े बम्बे से होना चाहिए जिसके द्वारा मकान का मैला जल भूमि के अन्तर्गत प्रणालों में चला जावे। इसके साथ भी साइफ़न कूट का प्रबन्ध होना चाहिए। इसके मुख पर एक जाली लगी हो जिससे वस्तुओं के टुकड़े, जो

मार्जनी में फेंक दिये गये हों, बम्बों में न जा सकें। यह कूट मलपात्र के कूट की ही भाँति भूमिनल से जुड़ा रहता है।

भूमि नल—यह वह नल है जो मल को कूट से भूम्यन्तर्गत गृह-परिवाह तक ले जाते हैं। इनका आकार गोल होता है और यह प्रायः ढलवाँ लोहे या कर्षित सीस के बने होते हैं। सीस के नल उन स्थानों के लिए, जहाँ गरम जल का अधिक उपयोग किया जाता है, उपयुक्त नहीं हैं। गरम जल से सीस के नरम हो जाने से कुछ समय के पश्चात् नलों का आकार विकृत हो जाता है। लोहे के नलों का उपयोग करने से पूर्व उनको एँगस-स्मिथ-वार्निश में [illegible] लेना चाहिए। इससे नल भीतर और बाहर दोनों ओर से चिकने हो जायँगे और उन पर जल की क्रिया नहीं होगी, अर्थात् ज़ङ्ग नहीं लगेगा। इन नलों का भीतर का व्यास ३½ या ४ इंच से कम नहीं होना चाहिए। प्रत्येक १ वर्ग फ़ुट नल का भार ४ सेर (८ पौंड) होना आवश्यक है। इससे कम भारवाले नल कमज़ोर होते हैं।

इन नलों को मकान के बाहर दीवार के ऊपर कीलों द्वारा लगाना चाहिए। इनका ऊपरी सिरा मकान की छत से लगभग ५ या ६ फ़ुट ऊपर वायु में खुला रहे। कुछ लोग इस सिरे पर गुम्बद के समान तार का एक ढकना लगा देते हैं। खुले हुए नल में वायु से धूल-मिट्टी अथवा रात्रि के समय किसी छोटे पक्षी के चले जाने का डर रहता है। जहाँ तक हो सके, इन नलों को मकान के उस ओर लगाना चाहिए जिधर धूप कम रहती हो। अथवा नलों को लकड़ी के तख़्तों से ढक देना चाहिए। लकड़ी के तख़्तों का एक प्रकार का बक्स बनाकर उन पर चढ़ाया जा सकता है। इससे नलों के जोड़ सुरक्षित रहेंगे।

नलों के जोड़ों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। ये जोड़ ऐसे होने चाहिएँ कि उनके द्वारा भीतर की गैस बाहर न निकलने पावे और न बाहर ही से किसी भाँति कोई वस्तु भीतर जा सके। लोहे के ढलवाँ नलों की भी इस सम्बन्ध में परीक्षा कर लेनी चाहिए। बनते समय कभी-कभी

परिवाहों का आकार काफ़ी बड़ा हो और वह भीतर से चिकने हो। परिवाह के बनाने में केवल ऐसे नलों का उपयोग करना चाहिए जिनमें कोई दरार या छिद्र इत्यादि न हो। परीक्षा से इनको सहज में मालूम किया जा सकता है। जहाँ तक हो सके, इन परिवाहों को मकानों के नीचे न बनाना चाहिए। किन्तु यदि बनाना ही पड़े तो परिवाह के चारों ओर छः इंच दूर तक सीमेंट या कंक्रीट लगाना चाहिए। मकान से बाहर निकलने पर, जहाँ परिवाह भूम्यन्तर्गत बड़े प्रणालों के साथ जुड़ते हैं वहाँ, परिवाह और प्रणाल के बीच में एक कूट लगा देना चाहिए। साथ मे परिवाह मे वायु के आने-जाने का प्रबन्ध करना भी आवश्यक है। इसके लिए मकान के पास कूट मे वायु के भीतर आने का एक मार्ग बना देना चाहिए। यह मार्ग भूमि के समतल बनाया जा सकता है। कभी-कभी इसको भूमि से पाच या छः फुट ऊँचा कर देते है। वायु आने के लिए कभी-कभी लोहे का एक बम्बा भी परिवाह में लगा देते हैं, जिसका ऊपरी सिरा वायु में भूमि से पाँच या छ. फुट ऊपर रहता है। वह तार या जाली के द्वारा सुरक्षित कर दिया जाता है। वायु-प्रवेश का यह मार्ग कूट के दूसरी ओर भी बनाया जा सकता है। इस मार्ग के द्वारा जो वायु भीतर आती है वह भूमिनल में होती हुई उसके ऊपरी सिरे से बाहर निकल जाती है। इस प्रकार परिवाह में जो कुछ दूषित गैस इत्यादि उपस्थित रहती है वह इस मार्ग से शीघ्र ही बाहर चली जाती है।

निरीक्षण-कोष्ठ—यह भूमि के नीचे एक चौकोर कोठरी होती है जिसके फ़र्श में एक खुली हुई मोरी बनी होती है। इस मोरी के द्वारा परिवाह का जल बहता है। कोठरी की दीवारें ईंटों की बनी होती हैं। ईंटों पर सीमेंट लगा दिया जाता है जिससे उनमें जल इत्यादि का शोषण न हो सके। कोठरी की छत में जो भीतर जाने का छोटा द्वार होता है वह लोहे के ढकने से बन्द रहता है। यह ढकना द्वार पर इस प्रकार कसकर लगा रहता है कि उसके द्वारा कोठरी की वायु भी ऊपर नहीं जा सकती। कोठरी के फ़र्श के बीच में नाली होती है जिसके दोनों ओर की भूमि अथवा कोठरी का फ़र्श ढलवाँ होता है।

इस कोठरी में वायु के आने-जाने का मार्ग भी रखा जाता है। जिस ओर से कोठरी में नाली आती है उसके दूसरी ओर कोठरी की दीवार में छ. इंच के लगभग व्यास का एक नल लगा रहता है। यह नल कोठरी की दीवार में होता हुआ बाहर जाता है और एक दूसरे नल के साथ जुड़ जाता है जिसका सिरा भूमि से चार या पाँच फट ऊपर निकला रहता है। इस सिरे पर लोहे का एक कठहरा और एक वाल्व लगे रहते हैं। वाल्व के द्वारा
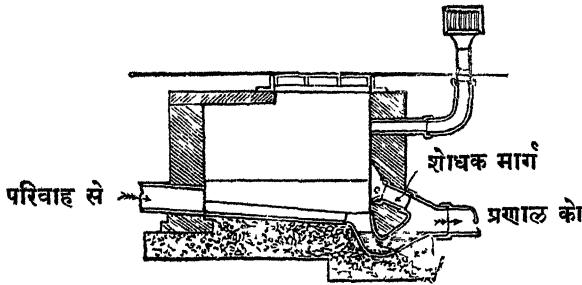
चित्र नं० ६९—निरीक्षण-कोष्ठ, प्रतिबन्धक कूट सहित
(After J. L. Das)

बाहर से शुद्ध वायु भीतर प्रवेश करती है। किन्तु भीतर की दूषित गैस बाहर नहीं जा सकती।

इस कोठरी के दूसरे सिरे पर, जहाँ से प्रणाल बाहर निकलता है, एक कूट लगा दिया जाता है। जिन कूटों का आजकल उपयोग किया जाता है उनके ऊपर एक चौड़ा नल लगा रहता है जो कूट के दूसरे सिरे के साथ जुड़ा होता है। इस नल का एक द्वार कोठरी के भीतर रहता है, जिसके द्वारा लम्बी शलाका डालकर कूट के दूसरे भाग या प्रणाल के प्रारम्भिक भाग को स्वच्छ किया जाता है। इस प्रकार प्रणाल और कूट के बीच के अवरोध को, यदि कोई हो तो, दूर किया जा सकता है। इन कूटों को **प्रतिबन्धक कूट** और उसके ऊपरी भाग को **शोधक मार्ग** कहते हैं।

निरीक्षण-गृह खुले स्थान में होना चाहिए और प्रतिदिन उसके द्वारा परिवाह को देखते रहना चाहिए। जब कभी कोठरी में कीचड़ या मैला एकत्र हो जावे तो उसको तुरन्त दूर करवाना आवश्यक है।

प्रतिबन्धक कूट का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। प्रणालों और परिवाहों के बीच में इसका प्रयोग करना बहुत आवश्यक है जिससे प्रणाल की वायु परिवाह में न जा सके। साथ में शोधक मार्ग के द्वारा कूट के दूसरे भाग को स्वच्छ किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कूट में वायु के भीतर आने के लिए भी एक मार्ग होता है जो कूट के प्रवेश-द्वार के पास स्थित होता है। उसमें विशेष देखने की बात यह है कि (१) कूट का प्रथम भाग लगभग सीधा किन्तु दूसरा भाग, जिसके द्वारा जल बाहर निकलता है, टेढ़ा बना हो। उसका मोड़ लगभग ९०° होना उचित है। (२) जहाँ पर भूमिनल और कूट आपस में मिलें वहाँ से कूट को ढलवाँ बनाना चाहिए जिससे कूट में स्थित जल भूमिनल और प्रणाल के संगम से कम से कम २ इंच नीचा रहे। (३) कूट में जल कम से कम २ या ३ इंच गहरा होना चाहिए। (४) यदि परिवाह में ६ या ८ इंच व्यास के नल का उपयोग किया गया है तो कूट का व्यास उससे कम हो।

कूट—इसका उपयोग इसलिए किया जाता है कि प्रणाल की वायु परिवाह में अथवा परिवाह की वायु भूमिनल या मलपात्र में न जा सके।
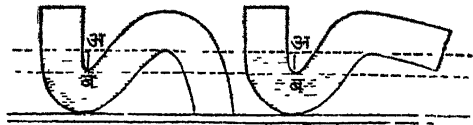
चित्र नं० ६६—S-कूट और P-कूट जलमुद्रा सहित

कूट के द्वारा यह सब भाग एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। यह कूट केवल मुड़े हुए नल होते हैं जिनका मोड़ इस प्रकार का होता है कि उनमें प्रत्येक

समय जल भरा रहता है। चित्र मे देखने से मालूम होगा कि कूट के प्रथम भाग में जल के स्तम्भ की जो ऊँचाई है वह कूट के मोड़ की अपेक्षा अधिक है। अर्थात् प्रथम भाग के जल के ऊपरी पृष्ठ और मोड़ के जल में कुछ अन्तर है। यह अन्तर कम से कम दो या तीन इंच होना चाहिए। इस अन्तर को **कूट की मुद्रा** कहते हैं। कूट का यह भाग विशेष महत्त्व का होता है। कूट की कार्य-कुशलता इसी भाग पर निर्भर करती है।

कूट का आकार भी ऐसा होना चाहिए कि एक बार के जल-प्रवाह से कूट स्वच्छ हो जावे। यदि कूट का आकार बड़ा होगा और जल की कमी होगी तो कूट पूर्णतया स्वच्छ न हो सकेगा। कूट भीतर से चिकना होना चाहिए और, जहाँ तक हो सके, उसमे कोने या दरार बिलकुल न होने चाहिएँ।

महाशय दास के अनुसार निम्नलिखित स्थानों पर कूट का उपयोग करना आवश्यक है—

(१) शौच-स्थान के मलपात्र के नीचे।

(२) परिवाह और प्रणाल के बीच मे।

(३) मूत्र-स्थान या स्नानागार से जिस मोरी से जल निकले उसका कूट के साथ सम्बन्ध होना चाहिए। कूट को भूमि के समतल खुले हुए स्थान में लगाना उचित है।

(४) यदि इन स्थानो से जानेवाला नल बहुत लम्बा हो और उसके दूषित हो जाने का डर हो तो कूट को स्नानागार, मार्जनी इत्यादि के पास ही लगा देना चाहिए।

(५) कभी-कभी आविल मार्जनी के नीचे ही, मार्जनी और उससे जाने-वाले नल के बीच में, कूट लगाया जाता है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के कूट—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कूट एक मुड़ा हुआ नल होता है। किन्तु अनेक आकार के कूट बनाये जाते हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

(१) **साइफ़न कूट**—इनका आकार अँगरेज़ी के अक्षर S अथवा P के समान होता है (देखो चित्र ६६)। यदि इन अक्षरों को ऊपर की ओर मोड़कर रख दिया जाय जिससे उनका गोल भाग ऊपर हो जावे तो अक्षर और कूट की समानता स्पष्ट हो जायगी। यदि कूट का दूसरा भाग अधिक मुड़ा हुआ हो तो वह S की भाँति दीखेगा। मोड़ के कम होने पर P के समान हो जायगा। इस कूट में मुद्रा कम से कम $\frac{3}{4}$ इंच होनी चाहिए। इसके प्रथम भाग में एक छिद्र होता है जहाँ पर साइफ़न क्रिया के प्रतिरोध करनेवाले नल की शाखा लगती है। भूमिनल के सम्बन्ध में इसका उल्लेख किया जा चुका है।

इन कूटों मे उत्तमता यह होती है कि इनमे जल की ऊँचाई एक समान रहती है और उससे साफ़इन क्रिया भली भाँति होती रहती है। स्नानागार, शौच-स्थान के मलपात्र, परिवाह और मार्जनी इत्यादि मे उपयोग करने के लिए यह सबसे उत्तम कूट है। यदि दो कूट बराबर अथवा कुछ अन्तर पर प्रयोग किये जावें तो दोनों के बीच में वायु के भीतर आने का मार्ग अवश्य बना देना चाहिए। ऐसा न करने से एक कूट दूसरे के जल को अपनी ओर खींचेगा, जिससे कूट की मुद्रा भङ्ग हो जावेगी।
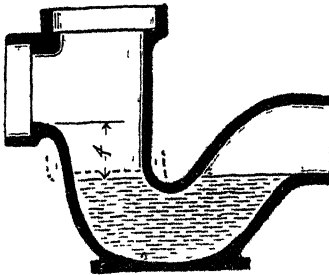
चित्र नं० ६७

(२) **गली-कूट**—यह कूट विशेषकर वर्षा के जल के लिए अथवा मकान के सहन इत्यादि के निकास पर बनाये जाते हैं। ऊपर की ओर एक चौड़ा मुँह होता है जिसमें होकर जल कूट के भीतर जाता है। जिन नलों के द्वारा मकान का जल आता है उनके नीचे ये कूट बनाये जाते हैं और निरी-क्षण-कोठरी में जानेवाले परिवाह की
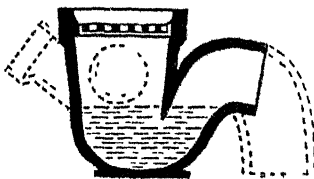
चित्र नं० ६८—गली-कूट

शाखाओं के साथ जोड़ दिये जाते है। भूमि पर नलों के नीचे इनके प्रवेश-मार्ग पर लोहे की एक जाली रहती है, जिसके द्वारा जल केवल कूट में जाने पाता है।

इन कूटों को समय-समय पर स्वच्छ करते रहना चाहिए। इनको मकान से कम से कम १८ इंच की दूरी पर लगाना चाहिए और ऊपर का मुँह—उसकी कार्य्य-कुशलता में बिना विघ्न डाले हुए—जितना भी छोटा बनाया जा सके, बनाना चाहिए।

और भी अनेक प्रकार के कूट बाज़ार मे बिकते है। 'मैसन' के कूट में, जो चित्र में दिखाया गया है, एक चौखूँटी कोठरी के दोनों ओर
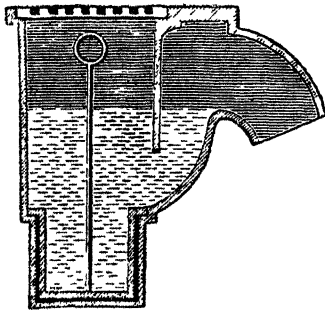
चित्र नं० ६९– दूसरी प्रकार का गली-कूट
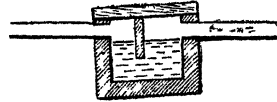
चित्र नं० ७०—मैसन का कूट
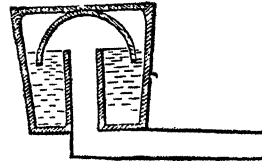
चित्र नं० ७१—घण्टाकार कूट

दो नलियाँ है जो कोठरी की छत के पास स्थित हैं। एक नली के द्वारा जल कूट में आता है और दूसरी के द्वारा बाहर निकल जाता है। दोनों के बीच में एक पटल है जो नीचे की ओर एकत्र हुए जल तक पहुँचता है। ऊपर यह कूट पत्थर से ढका रहता है। यह कूट उत्तम नहीं है; क्योंकि इसको स्वच्छ करने का विशेष आयोजन करना पड़ता है। दूसरे प्रकार के कूट के भी चित्र दिखाये गये हैं।

भूमिनल और परिवाह की परीक्षा

भूमिनलों और परिवाहों का समय-समय पर निरीक्षण करना चाहिए। मकान की स्वच्छता के लिए और सारे नगर के स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि नगर का मल-संवहन पूर्ण और उत्तम प्रकार से हो। अतएव समय-समय पर निरीक्षकों को परिवाह, भूमिनल और प्रणाल इत्यादि का निरीक्षण करना चाहिए। निरीक्षण करते समय यह मालूम करना आवश्यक है कि प्रणाल या परिवाहों की दीवारों में होकर जल या वायु बाहर तो नहीं निकलती है। मकान में परिवाह इत्यादि बनाते समय इस बात की बराबर परीक्षा करते रहना चाहिए कि वह उत्तम प्रकार से बन रहे हैं या नहीं। अर्थात् जिस प्रयोजन के लिए उनको बनाया जा रहा है वह उनके द्वारा भली भाँति पूर्ण होगा भी या नहीं। न केवल नवीन ही, किन्तु पुराने परिवाह, प्रणाल इत्यादि की भी परीक्षा करते रहना आवश्यक है।

प्रायः निम्नलिखित जाँचों द्वारा परीक्षा की जाती है—

(१) जल के द्वारा जाँच,

(२) धुएँ के द्वारा जाँच,

(३) वायु के द्वारा जाँच, और

(४) रसायनिक जाँच।

(१) जल के द्वारा जाँच—परिवाह या भूमिनल बनाने के पश्चात् उनकी इस बात की जाँच की जाती है कि उनके द्वारा जल तो बाहर नहीं निकलता है। यह निरीक्षण-कोठरियों द्वारा किया जाता है। परिवाह का वह सिरा जो निरीक्षण-कोठरी में प्रवेश करता है, अर्थात् जिसके द्वारा निरीक्षण कोष्ठ में जल आता है, पूर्णतया बन्द कर दिया जाता है। इस भाग या परिवाह के मुख को बन्द करने के लिए एक केनवास या रबड़ का बैग काम में लाया जाता है। यह बैग फुटबाल की भाँति होता है जो एक पीतल के पम्प के द्वारा वायु भरने से फूल जाता है। यह बैग फूलने पर परिवाह के मुख को भली भाँति बन्द कर देता है। इसलिए छोटे-बड़े कई आकार के बैग बनाये जाते हैं जो बाज़ार में बिकते हैं।

इस प्रकार परिवाह के मुख को बन्द करके किसी दूसरी निरीक्षण-कोठरी से, जो परिवाह पर पहिली निरीक्षण-कोठरी के कुछ पूर्व स्थित होती है,
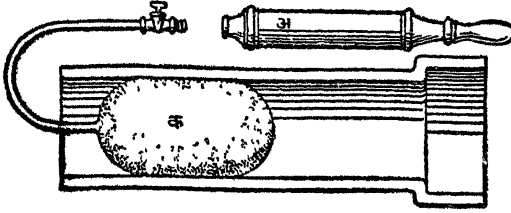
चित्र नं० ७२—परिवाह के भीतर भरा जानेवाला रबड़ का थैला।
क—रबड़ का थैला, अ—पम्प (After J. L. Das.)

परिवाह को जल से भर देते हैं। यदि यह जल कुछ समय तक परिवाह में एक समान रहता है, अर्थात् जहाँ तक जल भर दिया गया था उससे कम नहीं होता, तो समझा जाता है कि परिवाह जलाभेद्य है; उसके द्वारा जल नहीं निकलता। परिवाह में जल भरने से पूर्व परिवाह के दूसरे मुख पर लगे हुए बैग को रस्सियों द्वारा बाँध देना चाहिए जिससे जल के धक्के से वह निकल न जाय।

परिवाह में जल के कम होने के सम्बन्ध मे इतना ध्यान रखना चाहिए कि परिवाह से जो शाखाएँ निकलती हैं उनमे वायु भी रहती है। मुख्य परिवाह में जल भरने पर इन शाखाओं से वायु न निकल सकेगी; किन्तु परिवाह का जल धीरे-धीरे इस वायु को सोख लेगा। अतएव परिवाह में जल कुछ कम हो जायगा, जिससे परिवाहों के पूर्ण अभेद्य होने में सन्देह उत्पन्न हो सकता है। इसलिए लम्बे मुड़े हुए लोहे के पतले नलों को परिवाह के मुख के द्वारा उसकी शाखाओं में डालकर उनकी वायु निकाल देनी चाहिए। पुराने परिवाहों की भी इसी प्रकार परीक्षा की जाती है। इस प्रकार परीक्षा करने पर यदि परिवाह में दोष मालूम हो तो जिस विशेष स्थान में दोष स्थित है उसको मालूम करना आवश्यक है। इसके लिए परिवाह के प्रत्येक खण्ड की परीक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार दोष-युक्त स्थान को मालूम करके उसकी मरम्मत करवानी

उचित है। यह परीक्षा परिवाह के जोड़ों को मिलाने के पश्चात्, किन्तु कंक्रीट लगाने के पूर्व, करनी चाहिए।

(२) धुएँ के द्वारा जाँच—इस जांच का सिद्धान्त भी वही है जो जल द्वारा जाँच का है। इसके द्वारा भूमिनल और परिवाहों मे जिन नलों के द्वारा वायु आती है उनकी भी जाँच हो सकती है। धुआं उत्पन्न करने के लिए एक विशेष यन्त्र होता है जिसको जहाँ चाहे वहाँ सहज मे ले जा सकते हैं। उसमें पीला काग़ज़ या तेल मे भिगोया हुआ वस्त्र जलाकर धुआं उत्पन्न किया जाता है। धुआं उत्पन्न करने के लिए कुछ मेशीनें भी बनाई गई हैं; किन्तु बड़ी होने के कारण उनको जहाँ-तहाँ ले जाने में कठिनाई होती है।

चित्र नं० ७३ (After J. L. Das)

जिस परिवाह या भूमिनल की परीक्षा करनी हो उसकी अन्त की निरीक्षण-कोठरी के द्वारा परिवाह के मुख में यन्त्र को प्रविष्ट कर दिया जाता है। धुएँ के कारण वायु परिवाह में ऊपर की ओर को जाने लगती है और उससे धुआँ भी इस ओर को खिंचता है। कुछ समय के पश्चात् धुआं भूमिनल या परिवाह के वायु-मार्ग के द्वारा निकलता हुआ दिखाई देगा। जब इस प्रकार से धुआं निकलने, लगे तो भूमिनल या वायु-मार्ग को किसी बैग या गीले वस्त्र से बन्द कर देना चाहिए। साथ में परिवाह के उस मुख को भी जिसके द्वारा धुएँ को प्रविष्ट किया था, बन्द कर देना उचित है। अथवा निरीक्षण कोठरी का ढक्कन भले प्रकार लगा देना चाहिए जिससे उसके द्वारा धुआं न निकल सके। ऐसा करने से सारे परिवाह या भूमिनल में धुआँ भर जा

यदि उन नलों में किसी प्रकार का छिद्र या दरार होगी तो उसके द्वारा धुआ्रा निकलने लगेगा। इसकी जाच करते समय कूटों में पर्याप्त जल होना चाहिए जिससे उनके द्वारा धुआ्रां न निकल सके। धुएँ की मेशीन से धुआ्रा एक धौंकनी द्वारा परिवाह इत्यादि में भर दिया जाता है।

(३) **वायु के द्वारा जाँच** धुएँ के ही समान की जाती है। एक मेशीन से धौंकनी द्वारा परिवाह मे वायु भर दी जाती है। वायु का जल पर जो दबाव होता है उसको मालूम करने के लिए मेशीन मे एक दाब-मापक यन्त्र लगा रहता है जिसके द्वारा दबाव की कमी-वृद्धि मालूम होती रहती है। यदि कुछ समय तक दबाव एक ही समान बना रहे तो समझना चाहिए कि परिवाह में कोई दोष नहीं है। किन्तु इस विधि में यह कमी है कि उसके द्वारा परिवाह या भूमिनल के दोष की स्थिति का पता नहीं लग सकता; क्योंकि वायु में न गन्ध होती है और न रङ्ग होता है। इसके अतिरिक्त एक आलपीन के समान सूक्ष्म छिद्र से भी वायु निकल सकती है।

(४) **रासायनिक जाँच**—यह जाँच कुछ रासायनिक वस्तुओं द्वारा की जाती है। साधारणतया काँच की छोटी-छोटी शीशियों में, जो विशेष प्रकार की होती हैं और जिन्हे ऐम्प्यूलस[१] के नाम से पुकारते हैं, फ़ास्फ़ोरस और हींग का एक योग भर दिया जाता है। जब यह ऐम्प्यूल टूट जाते है और उनमे भरी हुई वस्तु जल के सम्पर्क मे आती है तब एक धड़ाका होता है और धुएँ के समान वाष्प उत्पन्न होते हैं जिनसे हींग की गन्ध आती है। यदि यह वाष्प नलों के किसी छिद्र में से निकलते हैं तब अपने स्वरूप और रङ्ग के कारण तुरन्त पहिचान लिये जाते हैं।

इन ऐम्प्यूलों को परिवाह में डालने की कई विधियाँ हैं। स्याही-सोखते मे ढककर तोड़ने के पश्चात् उनको परिवाह के जल में फेंककर परिवाह के मुख को बन्द कर दिया जाता है। ऐम्प्यूल को तोड़कर शौच-स्थान के मलपात्र में भी डाल सकते हैं। डालने के पश्चात् तुरन्त ही पात्र मे, टङ्की के द्वारा,

---

१. Ampoules.

जल प्रवाहित कर देना चाहिए जिससे रासायनिक पदार्थ भूमिनल में होते हुए परिवाह में पहुँच जावे। इनको डालने के लिए विशेष यन्त्र भी बनाये गये हैं।

प्रणाल या बम्बा

इन बम्बों मे होता हुआ परिवाह के द्वारा गया हुआ जल, विष्ठा, मकान का निकृष्ट जल अथवा वर्षा या मकानों के धोने से निकला हुआ जल अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचता है, जहाँ उसका नाश किया जाता है। इस प्रकार प्रणाल जल-संवहन विधि का अन्तिम और बहुत बड़ा अङ्ग है।

यह प्रणाल प्रायः सड़कों या गलियों के नीचे बनाये जाते हैं। इनका आकार और व्यास आवश्यकता के अनुसार रखा जाता है। जहाँ तक हो सके भूमिनल की भाँति प्रणालों को भी सीधा बनाना चाहिए; मोड़ जितने कम हों, उत्तम है। प्रणालो को सड़कों के बीच मे न बनाकर मकानों के पीछे की गली मे बनाना उचित है। शौच-स्थान मकानों मे पीछे की ही ओर होते हैं। इस कारण उनका प्रणालों से सम्बन्ध करना सहज होता है। इसके अतिरिक्त लम्बे-लम्बे परिवाह भी नहीं बनाने पड़ते और न उनको कई स्थानों पर मोड़कर मकान के नीचे से ले जाने की ही आवश्यकता होती है।

प्रणालों को बनाने में भी वैसी ही सावधानता अपेक्षित है जैसी कि भूमिनलों के निर्माण में। उनके जोड़ पूर्णतया जलाभेद्य होने चाहिएँ। इससे न तो उनसे जल बाहर जा सकता है और न बाहर से जल भीतर ही आ सकता है। इस प्रणाल के चारों ओर के अधःस्थल जल का निकास प्रणालों के द्वारा न होगा, और न ऐसा करने की आशा या प्रयत्न ही करना चाहिए।

प्रणालों को बनाते समय उनमें उचित ढाल रखना आवश्यक है जिससे प्रणाल के भीतर का जल केवल स्थिति ही के कारण बहता हुआ चला जाय। जिन प्रणालों का व्यास १० फुट हो उनमें प्रत्येक मील मे २ इंच का ढाल होना चाहिए। अर्थात् प्रणाल का अन्तिम भाग एक मील की दूरी के पश्चात् आरम्भिक भाग से २ इंच नीचा होना चाहिए। इसी प्रकार जिस

प्रणाल का व्यास ५ .फुट हो उसमें ४ इंच प्रति मील, २ .फुट व्यास के प्रणाल में ८ इंच प्रति मील और एक .फुट व्यास के प्रणाल में २० इंच प्रति मील का ढाल देना आवश्यक है। इससे प्रणाल के भीतर का जल २½ .फुट प्रति सेकेंड की गति से बहेगा और प्रणाल स्वयं स्वच्छ होते रहेंगे। जिन स्थानों में प्रणालों मे पर्याप्त ढाल नहीं होता वहाँ पर प्रणालों से मल और जल को निकालने के लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है।

प्रणाल अप्रवेश्य पदार्थ के बने होने चाहिएँ। इसलिए पत्थर, मिट्टी, सीमेंट और लोहे के नलों का उपयोग किया जाता है। छोटे प्रणाल प्रायः मिट्टी के बनाये जाते है जिन पर चीनी मिट्टी चढ़ाकर वार्निश कर दी जाती है। इससे बम्बे भीतर की ओर से चिकने हो जाते है। १८ इंच व्यास तक के बम्बे इस प्रकार बनाये जा सकते हैं। बड़े प्रणाल ईंट और सीमेट से बनाये जाते है। उनके भीतर की ओर इस प्रकार सीमेंट लगाना चाहिए कि ईंटों के जोड़ भली भाँति बन्द हो जावें। तत्पश्चात् ईंटों के ऊपर सीमेंट का प्लस्तर करना चाहिए। जहाँ यह प्रणाल बनाये जायँ वहाँ उनके चारों ओर ४½ से ९ इंच मोटी ईंट और उत्तम सीमेंट की एक दीवार बना देनी चाहिए। इस प्रकार इस दीवार द्वारा, जो प्रणाल के चारों ओर रहेगी, प्रणाल को आश्रय भी मिलेगा और उससे बाहर की ओर या बाहर से प्रणाल में किसी वस्तु के शोषित होने की आशङ्का भी न रहेगी।

लोहे के नलों का, जहाँ तक हो सके, उपयोग न करना चाहिए। उनमे ज़ङ्ग लगने की अधिक सम्भावना रहती है। यदि उनका उपयोग करना ही पड़े तो उनको एंगस-स्मिथ वार्निश से सुरक्षित कर देना चाहिए।

जहाँ पर छोटे प्रणालों को बड़े प्रणालों के साथ जोड़ना पड़े वहाँ पर उन दोनों को इस भाँति जोड़ना चाहिए कि उनके बीच मे एक न्यून-कोण बन जावे। छोटा प्रणाल बड़े प्रणाल की ओर, जिधर से उसमे जल आ रहा है, झुका हुआ रहेगा। ऐसा करने से छोटे बम्बे से निकलनेवाले जल का प्रवाह भी उस ओर को होगा जिस ओर बड़े बम्बे मे जल बह रहा है, और छोटे बम्बे से जानेवाले जल के द्वारा बड़े बम्बे के जल-प्रवाह में कोई बाधा उत्पन्न

न होगी। इसके अतिरिक्त छोटा बम्बा बड़े बम्बे से कुछ ऊँचा होना चाहिए जिससे बम्बे से गिरते समय जल में वेग उत्पन्न हो जावे। यदि बड़े और छोटे दोनों बम्बों की स्थिति एक ही सी होगी तो सम्भव है कि छोटे बम्बों से जल के निकलने मे कुछ बाधा पड़े।

छोटे बम्बे आकार मे गोल बनाये जाते है। किन्तु बड़े बम्बे, विशेषकर उस स्थान मे जहा मलयुक्त जल की मात्रा घटती-बढ़ती रहती है, अण्डे के आकार के बनाने चाहिएँ। इससे बम्बे के साथ जल का सङ्घर्षण कम होता है और जल के वाष्प भी कम बनते है।
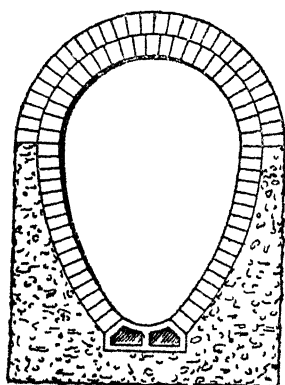
चित्र नं० ७४—अण्डाकार प्रणाल का परिच्छेद

यदि प्रणालों मे मोड़ बनाने पड़ें तो बड़े मोड़ बनाने चाहिएँ, जिससे उनमे मुड़ाव अधिक न होने पावे। साधारण नियम यह है कि मोड़ की लम्बाई प्रणाल के व्यास से दस-गुना होनी चाहिए। यदि प्रणाल का व्यास ४ फ़ुट हो तो मोड़ कम से कम ४० फ़ुट होना चाहिए; अर्थात् मोड़ के आदि से अन्त तक प्रणाल की लम्बाई ४० फ़ुट होनी चाहिए। प्रणालों में जहां भी मोड़ हो वहाँ एक निरीक्षण-कोष्ठ बनाना आवश्यक है, जिसके द्वारा निरीक्षण या प्रणाल को स्वच्छ करने के लिए मज़दूर इत्यादि नीचे उतर सकें। इन कोठरियों का ऊपर का ढक्कन जलाभेद्य होना चाहिए। छोटे प्रणालो को बड़े प्रणालों के साथ, जहाँ तक हो सके, इन कोठरियों ही मे जोड़ना चाहिए। इन कोठरियों की दीवारों मे प्रायः एक लोहे की सीढ़ी लगा दी जाती है जिसके द्वारा निरीक्षक प्रणाल में उतर सकते है।

इन कोठरियों में प्रणालों को स्वच्छ करने के लिए एक विशेष प्रबन्ध किया जाता है। कोठरी से जानेवाले प्रणाल के मुख पर किवाड़ लगाये जाते हैं जिनसे प्रणाल का मुख बन्द हो जाता है। जब आवश्यकता होती है

तब प्रणाल का मुँह बन्द कर दिया जाता है जिससे कोठरी में जल इत्यादि आता तो है किन्तु निकलता नही। इस प्रकार जब कोठरी मे पर्याप्त जल एकत्र हो जाता है तब प्रणाल का मुख खोल दिया जाता है जिससे कोठरी का जल बड़े वेग से प्रणाल में प्रवाहित होता है और उसमे जो कुछ होता है उसको बहा देता है। इस प्रकार प्रणाल स्वच्छ हो जाते हैं।

कहीं-कहीं पर प्रणालों को स्वच्छ करने के लिए विशेष टङ्किया बनाकर उनका सम्बन्ध प्रणालों से कर दिया जाता है। समय-समय पर इन टङ्कियों से जल प्रवाहित करके प्रणालो को स्वच्छ किया जाता है। गर्मियो के दिनों मे प्रणालों को स्वच्छ करने की विशेष आवश्यकता होती है। इस ऋतु मे प्रणालो मे जल की कमी रहती है और जल सूखता भी अधिक है जिससे प्रणाल अवरुद्ध हो जाते हैं। ऐसा होने पर उनसे दुर्गन्धित वाष्प निकलने लगते है।

प्रणाल को स्वच्छ करने के लिए जो जल प्रवाहित किया जावे उसकी मात्रा पर्याप्त होनी चाहिए। जल-प्रवाह के वेग पर ही प्रणाल की स्वच्छता निर्भर करती है। इस कारण जितना अधिक जल, एक साथ ही, छोड़ा जायगा उतना ही प्रणाल अधिक स्वच्छ होगा।

प्रणालों में वायु-प्रवेश का आयोजन—प्रणालों मे मल इत्यादि के साथ जल की अधिकता और उसके प्रवाह के तीव्र होने से प्रणाल स्वच्छ रहते है और जल के नीचे मलकच्चर (मल, निकृष्ट जल, मकान धोने अथवा बर्तन माँजने इत्यादि से उत्पन्न हुआ जल सब मिलकर मलकच्चर कहलाते है) का कोई भाग नहीं जमने पाता। किन्तु हमारे देश मे प्रणालों में जाने-वाले जल की मात्रा में ऋतु के अनुसार भिन्नता हुआ करती है। इस कारण मलकच्चर के ठोस भागों की प्रणाल के तल मे बैठ जाने की बहुत सम्भावना रहती है। जब तक प्रणाल में कोई वस्तु एकत्र नहीं होती तब तक तो वहाँ की वायु दूषित नहीं होती; किन्तु जब मलकच्चर के ठोस भागो का अव-क्षेपन होने लगता है तब जल का प्रवाह कम हो जाता है और दुर्गन्धि-युक्त दूषित वाष्प भी निकलने लगते है। इस कारण प्रणालों में सदा वायु-प्रवेश का मार्ग बनाया जाता है जिससे दूषित गैसे सदा बाहर निकलती रहती है।

वायु-माग के बनाने की सबसे साधारण रीति यह है कि गली या सड़क के बीच से एक लोहे की लम्बी नली प्रणाल तक पहुँचाई जाती है। इस नली का ऊपरी सिरा सड़क पर रहता है, जहाँ उसके छिद्र के ऊपर लोहे का एक तख़्ता—जिसमे बड़े-बड़े छिद्र होते है—ढका रहता है; और दूसरा सिरा प्रणाल में ऊपर की ओर खुलता है। प्रणाल मे इस नली का सिरा इस प्रकार लगाया जाता है कि दोनों का जोड़ वायु और जल से अभेद्य होता है। सड़क के ऊपर जो लोहे का तख़्ता होता है उसके नीचे की ओर एक प्रकार का बक्स सा रहता है। यदि तख़्ते के छिद्रो के द्वारा कुछ धूल, कङ्कड़ या अन्य वस्तुएँ नली मे गिरती हैं तो वह उस बक्स ही मे रुक जाती है, प्रणाल तक नहीं पहुँचने पातीं। इस प्रकार की नलियाँ लगभग सौ-सौ गज़ की दूरी पर प्रणाल मे लगा दी जाती है। कुछ नलियो के द्वारा वायु भीतर आती है और कुछ के द्वारा बाहर निकलती है। इससे प्रणाल की वायु स्वच्छ होती रहती है।

इस आयोजन मे सबसे बडी आपत्ति यह है कि नलों के द्वारा प्रणाल से निकलनेवाले दुर्गन्धित वाष्प सड़क पर चलनेवालों को कष्ट पहुँचाते है। इस कारण कुछ लोग वायु-प्रवेश के मार्ग गलियों या सड़क के बीच मे न बनाकर उनको मकानों के पास बनाते हैं; और लोहे के नलों को मकानों की दीवारों पर कीलों द्वारा लगाकर उनको मकानों की छतों से ४ या ५ फ़ुट ऊपर तक ले जाते है। नीचे की ओर यह नल पहले की ही भाँति प्रणालों में खुलते है। इस प्रकार प्रणालों से निकलनेवाले दुर्गन्धित वाष्प मकान से ऊपर जाकर वायु में मिल जाते हैं।

गली या सड़क से वर्षा-जल इत्यादि के नीचे जाने का जो मार्ग होता है उसके कूट के सम्बन्ध में सावधानी की आवश्यकता है जिससे धूल, मिट्टी, कङ्कड़, कूड़ा इत्यादि कूट के द्वारा प्रणाल मे न जाने पावें।

कुछ ऐसे यन्त्र भी बनाये गये है जिनके द्वारा रासायनिक वस्तुओं के प्रयोग से दुर्गन्धि का नाश किया जाता है। महाशय रीव के यन्त्र द्वारा पोटाशियम परमेंगनेट और गन्धकाम्ल (सल्फ़्यूरिक एसिड)

दोनों एक साथ प्रणाल में छोड़े जाते है जिससे उनके सम्मेलन पर आक्सिजन बनता है। इससे वाष्पों की दुर्गन्धि का नाश होता है। इसी प्रकार के दूसरे भी आयोजन किये गये है।

प्रणाल की वायु—प्रयोगों द्वारा पाया गया है कि यदि प्रणाल उत्तम प्रकार से बने हों, उनमें मलकच्चर का प्रवाह उचित वेग से होता रहे और ज और वायु के द्वारा उनकी शुद्धि होती रहे, जैसी कि होनी चाहिए, तो उनकी वायु मकानों की वायु से अधिक दूषित नहीं होगी। लन्दन में वैस्टमिनिस्टर प्रान्त के प्रणाल की वायु का महाशय कारनेली और हैल्डेन ने अन्वेषण किया था। परिणाम-स्वरूप उन्होने यह पाया कि प्रणाल की वायु में बाहर की वायु की अपेक्षा कार्बन-डाई-आक्साइड दुगुनी और ऐन्द्रिक पदार्थ तिगुने थे; जीवाणुओं की संख्या बाहर की वायु के बराबर ही थी किन्तु मकानों की वायु की अपेक्षा कहीं कम थी। उनका कहना है कि कार्बन-डाई-आक्साइड की जो अधिकता थी वह मलकच्चर के ऐन्द्रिक अवयवों के ओषजनीकरण से उत्पन्न हुई थी और कुछ गैस पास की भूमि में से, नल के पूर्ण अभेद्य न होने के कारण, आ गई थी। जीवाणुओं के सम्बन्ध में विशेष बात यह पाई गई कि प्रणाल की वायु मे जो जीवाणु मिले वह मलकच्चर में उपस्थित जीवाणुओं से भिन्न थे। किन्तु वैसे ही जीवाणु बाहर की वायु में उपस्थित थे। जीवाणुओ की सदा प्रवृत्ति होती है कि वह गीली वस्तु पर चिपट जाते हैं। जल की उपस्थिति में वह जल-पृष्ठ पर लग जाते है और वहाँ से नहीं हटते। इस कारण मलकच्चर के जीवाणु उससे भिन्न नहीं होने पाते। जो जीवाणु वहाँ की वायु मे मिले वे बाहर की वायु से भीतर पहुँच गये थे; क्योंकि उनकी संख्या भी उतनी ही थी जितनी कि बाहरी वायु में थी। दूसरे प्रयोगों का भी ऐसा ही फल निकला है।

किन्तु साधारणतया प्रणालों में मलकच्चर का कुछ न कुछ अवक्षेपन हो जाता है। और उसके सड़ने से दूषित वायु उत्पन्न होती है। कई बार ऐसी दुर्घटनाएँ हो चुकी हैं कि प्रणालों से इस गैस के मकानों में पहुँचने के कारण रोग उत्पन्न हो गये हैं। अतिसार, पाचन-सम्बन्धी अन्य रोग, पाण्डु रोग

अथवा स्वास्थ्य का बिगड़ जाना इत्यादि प्रणाल की वायु से उत्पन्न हो सकते है। गले मे प्रायः शोथ भी उत्पन्न हो जाता है। ऐसी दुर्घटनाएँ बहुधा देखने मे आती हैं कि जो मनुष्य सबसे पूर्व प्रणाल को साफ़ करने के लिए उसके भीतर उतरता है वह मूर्च्छित हो जाता है। कई मनुष्यों की एक साथ इस प्रकार मृत्यु होते देखी गई है।

प्रणाल की वायु में यह जीवाणु पाये गये है—बैसिलस कोलाई[1], सीवेज प्रोटियस[2], स्ट्रिप्टो कोकाई[3], बैसिलस ऐंटेरीटाइडीज़ स्पोरोजिनीज़[4]। इनके अतिरिक्त कुछ और भी रोगोत्पादक जीवाणु मिलते है, किन्तु वह शीघ्र ही नष्ट हो जाते है।

प्रणालों में दुर्घटनाएँ—प्रणालों मे प्राय उपर्युक्त दुर्घटनाएँ होती रहती है। इसका कारण वह विपैली गैसे होती है जो मलकच्चर के सड़ने से उत्पन्न होती हैं और प्रायः निरीक्षण-कोठरी इत्यादि मे एकत्र हो जाती हैं जहाँ वायु के प्रवेश और निकास का उचित प्रबन्ध नहीं होता। इसलिए जब कभी प्रणालों की सफ़ाई के लिए मज़दूर जावें तब उनके नेता को, जो साधारणतया सेनिटरी इंसपेक्टर होता है, निम्नलिखित उपायों को—जिनका उल्लेख डाक्टर मोदी ने अपनी पुस्तक में किया है—काम में लाना चाहिए।

(१) निरीक्षण-कोठरी कम से कम दो घण्टे तक खुली रहे। उसके पश्चात् उस स्थान की वायु की इस प्रकार परीक्षा करनी चाहिए। एक जलता हुआ मिट्टी के तेल का लैम्प कोठरी में लटकाना चाहिए। जब वह लैम्प जल या कीचड़ के पास पहुँच जावे तो जल या कीचड़ को किसी बाँस से इधर-उधर को हटाना चाहिए। यदि ऐसा करने के १५ या २० मिनट पश्चात् तक लैम्प न बुझे तो समझना चाहिए कि वहां की वायु विपैली नहीं है। उसके पश्चात् काम करनेवाले मज़दूरों को उतारा जा सकता है। प्रत्येक निरीक्षण-कोठरी की मजदूरों के उतरने के पूर्व इसी प्रकार परीक्षा कर लेनी

---

१. Bacillus Coli. २. Sewage Proteus. ३. Streptococci. ४. Bacillus Enteritidis sporoienes.

चाहिए। यदि लैम्प बुझ जावे तो मज़दूरों को उतरने न देना चाहिए। किन्तु विशेष साधनों द्वारा कोठरी के भीतर शुद्ध वायु पहुँचानी चाहिए।

(२) प्रथम मनुष्य जो प्रणाल में उतरे उसके हाथ मे एक लालटेन होनी चाहिए जिसके सहारे वह सावधानी के साथ धीरे-धीरे प्रणाल मे बीस गज़ तक चला जावें और वहाँ लैम्प को टाँग दे। प्रणाल मे आगे बढ़ते समय उसको ध्यानपूर्वक देखते रहना चाहिए कि लैम्प की ज्वाला भली भाँति जल रही है या नहीं।

(३) प्रणालों को साफ़ करवाने मे जल्दी करनी चाहिए और जिस ओर को जल बह रहा है उस ओर को काम करना चाहिए। कई स्थानों पर भिन्न-भिन्न मज़दूरों से काम करवाने से प्रणालों की सफ़ाई का काम जल्दी समाप्त हो जायगा। किन्तु कुलियों के काम करने के स्थान पर एक लैम्प अवश्य जलता रहना चाहिए। यदि एक भी लैम्प बुझ जावे तो सब मज़दूरों को बाहर आ जाना उचित है।

(४) जो मज़दूर प्रणाल के भीतर काम करने जावें उनको आधे घण्टे से अधिक भीतर नहीं रहना चाहिए। आध घण्टे तक काम करने के पश्चात् उनको बाहर बुला लेना चाहिए और दूसरे मज़दूरों को काम करने के लिए भेजना चाहिए।

(५) यदि कोई मनुष्य मूर्च्छित हो जावे तो उसको तुरन्त बाहर निकाल कर कृत्रिम श्वास-क्रिया करनी चाहिए। तत्पश्चात् उसकी उचित चिकित्सा का आयोजन करना आवश्यक है।

ऊपर बताये अनुसार मल के संवहन की विधि प्रणालों के ढाल पर निर्भर करती है। यदि उनमे ढाल कम होगा तो मलकच्चर के प्रवाहित करने में बड़ी कठिनता होगी। इस कारण इस विधि की सफलता विशेषकर प्रणालों के ढाल पर निर्भर रहती है। किन्तु किसी-किसी स्थान में, जो बहुत नीचे होते हैं, प्रणालों को पर्याप्त रूप से ढलवाँ बनाना कठिन होता है। इसलिए ऐसे स्थानों पर पम्प करके या किसी दूसरी विधि द्वारा मल को नीचे से ऊपर को

कुछ ऊँचाई तक उठाकर निर्दिष्ट स्थान तक ले जानेवाले प्रणालों मे डालना होता है। यह निम्नलिखित दो विधियों द्वारा किया जाता है।

(१) शोन विधि—बम्बई, करांची और रङ्गून में यह विधि काम में लाई जाती है। नगर में जहा-तहाँ भूमि के नीचे लोहे के एक प्रकार के यन्त्र बनाये जाते हैं जिनका आकार कुछ-कुछ टङ्कियों के समान होता है। इनको 'प्रक्षेपक' कहते हैं। नगर के मध्य-स्थान में एक यन्त्र होता है जहाँ से लोहे के नलों के द्वारा वायु को प्रक्षेपकों मे भेजा जाता है। इन प्रक्षेपकों में प्रणालों द्वारा मलकच्चर आता रहता है। प्रक्षेपक मे दूसरे प्रणाल का भी मुख होता है जिसके द्वारा मलकच्चर को भेजना होता है। यह पहिले प्रणाल से ऊँचा होता है। दोनों प्रणालों के मुख पर वाल्व द्वारा ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाता है कि मलकच्चर केवल एक ही दिशा में जाता है। नीचे के प्रणाल से वह प्रक्षेपक मे आ सकता है; किन्तु लौट नहीं सकता। इसी प्रकार दूसरे प्रणाल द्वारा मलकच्चर केवल जा सकता है। प्रक्षेपक में तीसरा मार्ग वायु आने का होता है। यह मार्ग भी एक विशेष यान्त्रिक साधन से बन्द रहता है। जब प्रक्षेपक मलकच्चर से भर जाता है तब यह मार्ग खुलता है और उसमें होकर वायु बड़े वेग से भीतर आती है। यह वायु सारे मलकच्चर को दबाती है जिससे वायु का दबाव बहुत बढ़ जाता है। साथ में भीतर आनेवाले प्रणाल का मुख बन्द हो जाता है। अतएव मलकच्चर बाहर जानेवाले प्रणाल में
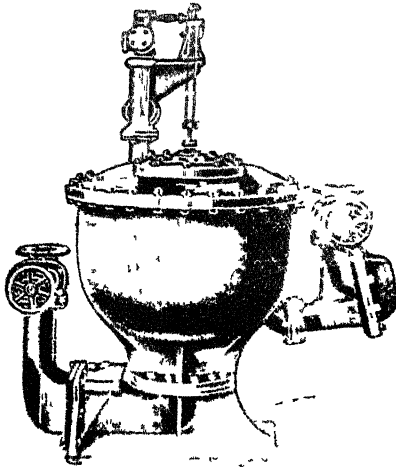
चित्र नं० ७९—शोन का वायवीय प्रक्षेपक

होकर निकल जाता है। इस प्रकार मलकच्चर के न रहने या कम हो जाने से वायु आने का मार्ग फिर बन्द हो जाता है और मार्ग में वायु भर जाती है। नीचे के प्रणाल से नया मलकच्चर आता है जो पहले की भाँति फिर निकाल दिया जाता है।

(२) लीरनर की विधि—इस विधि में भी मलकच्चर का सञ्चालन करनेवाली शक्ति वायु से ही ली जाती है। किन्तु जहाँ शोन-विधि मे वायु के द्वारा मलकच्चर को खींचा जाता है, यह विधि उन स्थानों के लिए उत्तम बताई जाती है जहाँ पर जल की कमी होती है। प्रत्येक मकान का दो प्रकार के नलों से सम्बन्ध होता है जो पूर्णतया जलाभेद्य होते है। एक नल केवल निकृष्ट जल ले जाते है जो नदी इत्यादि में डाल दिया जाता है। दूसरे नलों के द्वारा केवल मल जाता है। यह नल, जो पूर्णतया जलाभेद्य होते हैं, एक ओर शौच-स्थान के मलपात्रों से और दूसरी ओर गलियों के नीचे लोहे के बक्सों से जुड़े होते है जो चारों ओर से बन्द और पूर्ण अभेद्य होते है। इन बक्स या टङ्कियों का नगर में जहाँ-तहाँ स्थित बड़ी टङ्कियों से सम्बन्ध होता है। यह टङ्की नगर के सबसे बड़े या मध्यस्थ यन्त्र के साथ जुड़ी होती है। समय-समय पर इस यन्त्र को चला-कर गली और नगर की टङ्कियों की वायु को खींच लिया जाता है जिससे उनमें शून्य स्थान उत्पन्न हो जाता है। अतएव मलकच्चर शौच-स्थानों से इन टङ्कियों में खिंच आता है जहाँ से वह मध्यस्थ स्थान को खींच लिया जाता है। यहाँ पर उसको एक विशेष यन्त्र में उबाला और सुखाया जाता है और अन्त को खाद बनाकर बेच दिया जाता है। यह खाद 'पाउड्रेट' कहलाती है।

इस विधि में दो प्रकार के नल बनाने पड़ते है। जिन नलों में होकर मल जाता है उनमें मल का एकत्र हो जाना बहुत सम्भव है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

मल का अन्तिम विनाश

मल के संवहन की भिन्न-भिन्न विधियों का ऊपर वर्णन किया गया है। संवहन के पश्चात् उसके विनाश का प्रश्न उपस्थित होता है जो जनता के स्वास्थ्य के लिए बड़े महत्त्व का है। नगर से मल चाहे जल-संवहन विधि द्वारा हटाया जावे अथवा भङ्गी और बैलगाड़ी इत्यादि के द्वारा नगर से दूर ले जाया जावे, मल का अन्तिम विनाश शीघ्र और पूर्ण होना चाहिए। जिस समय जल के साथ मिलकर मल प्रणालों द्वारा बहता है उस समय जीवाणुओं की क्रिया से मल मे कुछ परिवर्तन होता है। प्रथम वह ठोस अवस्था से तरल अवस्था में आता है। तत्पश्चात् उसके बहुत से ऐन्द्रिक अवयवों का भञ्जन होता है। मल के भञ्जन के लिए जिन भिन्न-भिन्न विधियों का प्रयोग किया जाता है उनका भी यही उद्देश होता है कि मल के गूढ़ ऐन्द्रिक भागों को साधारण रूप में परिणत कर दिया जावे।

हमारे देश में मल का विनाश निम्नलिखित विधियों द्वारा किया जाता है—

(१) समुद्र या नदी में डालना।

(२) भूमि पर फैला देना।

(३) रासायनिक विधि।

(४) जीवाणवीय विधि।

इन विधियों का संक्षेप से वर्णन नीचे किया जाता है—

(१) समुद्र या नदी में मल को डालना—बनारस, इलाहाबाद और कानपुर में नगर का समस्त मलकच्चर गङ्गा में फेंका जाता है। इन

स्थानों में नदी में जल बहुत अधिक है और प्रवाह भी तीव्र है। इस कारण इससे कोई विशेष हानि नही होती। मलकच्चर को नगर से पर्याप्त दूरी पर नगर के नीचे की ओर, अर्थात् जिधर को जल का प्रवाह हो रहा हो, नदी में डालना चाहिए। नगर के ऊपर की ओर मलकच्चर को डालने की भयङ्कर भूल कदापि न करनी चाहिए। नदी का प्रवाह नगर की ओर होने के कारण मलकच्चर के दूषित अवयव नगरवासियों को हानि पहुँचा सकते हैं। इसके अतिरिक्त नदी में मलकच्चर को डालने से पूर्व उसकी प्राथमिक शुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिए। इसका उपाय आगे चलकर बताया जावेगा। ऐसा करने से मलकच्चर के बहुत से हानिकारक अवयव नष्ट हो जाते है, अथवा जिस स्थान पर शुद्धि की जाती है वहीं रह जाते हैं, नदी तक नहीं पहुँचते। जिस मोरी द्वारा नदी में मलकच्चर गिरे उसके मुख पर एक वाल्व लगाना चाहिए जिसके द्वारा मोरी से मलकच्चर नदी में तो गिर सके, किन्तु नदी का जल मोरी मे न जाने पावे। मोरी का यह मुख नदी के जल-पृष्ठ से काफ़ी नीचा रहे जिससे नदी में गिरा हुआ मलकच्चर जल के ऊपर न आने पावे।

समुद्र में भी मलकच्चर इसी प्रकार डाला जाता है। जहां जल की मात्रा पर्याप्त होती है वहां मलकच्चर जल के साथ मिलकर इतना फैल जाता है कि उससे किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं है।

(२) भूमि के ऊपर फैलाना—जहां की वायु शुष्क होती है वहाँ पर इस विधि से उत्तम परिणाम निकलते है। मलकच्चर मे भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ानेवाले पदार्थ रहते है। इस कारण बहुत से स्थानों में भूमि में मल की खाद दी जाती है। मलकच्चर को जिस भूमि पर फैलाया जाता है वहाँ की उपजाऊ शक्ति बहुत बढ़ जाती है। भूमि मे अनेकों जीवाणु उपस्थित रहते हैं। यह जीवाणु मलकच्चर के संयोगिक गूढ़ अवयवों पर आक्रमण करते हैं और उनको, भञ्जन करके, साधारण वस्तुओं मे परिणत कर देते हैं। इसके पश्चात् यह वस्तुएँ, जीवाणुओं ही की क्रिया से, वृक्षों के

उपयोगी पदार्थों में परिवर्तित हो जाती हैं। भूमि इन पदार्थों को अपने में संग्रह कर लेती है और वृक्ष उनका उपयोग करते है।

यद्यपि मलकच्चर से भूमि अधिक उपजाऊ होती है, किन्तु उस पर उतना ही मलकच्चर फैलाना चाहिए जितना वह सोख सके। इसलिए भूमि को कई भागों में बाँट दिया जाता है और प्रत्येक भाग पर बारी-बारी से मल-कच्चर फैलाया जाता है। साधारण नियम यह है कि एक भाग पर मलकच्चर को ६ घण्टे तक फैलाना चाहिए। उसके पश्चात् १८ घण्टे तक उसका प्रयोग न करना चाहिए। मलकच्चर को फैलाने के पूर्व उससे बड़े-बड़े टुकड़े पृथक् कर देने चाहिएँ; अन्यथा भूमि की शोषण-शक्ति कम हो जायगी।

यह विधि दो प्रकार से काम में लाई जाती है। एक को **विस्तृत सिञ्चन** और दूसरे को **अधः निस्यन्दन** के नाम से पुकारा जाता है।

(अ) **विस्तृत सिञ्चन**—जैसा नाम से प्रकट है, इस विधि का अभिप्राय बहुत सी भूमि को सींचना है जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति
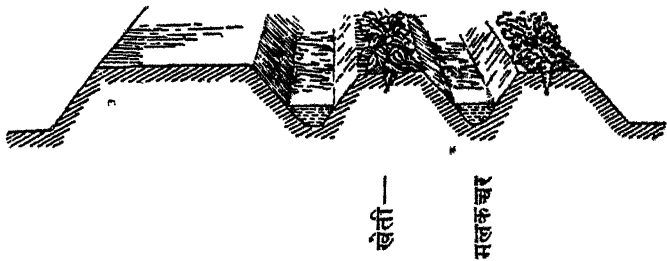
चित्र नं० ७६ (After J. L. Das)

बढ़े और उपज उत्तम हो; साथ ही मलकच्चर भी शुद्ध हो जावे।

जो भूमि इसके लिए चुनी जावे वह कड़ी न होनी चाहिए। साथ में उसकी ऊँचाई भी अधिक न हो। भूमि को चुनते समय यह देख लेना

चाहिए कि उसका ढाल ऐसा हो कि उस पर मलकच्चर बराबर बहता चला जावे, एक स्थान पर एकत्र न हो।

जिस भूमि को प्रयोग करना होता है उसमे खाई और चौड़ी-चौड़ी मेंड़ समानान्तर बना दी जाती हैं। जैसा चित्र में दिखाया गया है, प्रत्येक दो खाइयों के बीच में वह चौड़ी मेंड़ या भूमि है जिस पर खेत लगाया जाता है। इनकी चौड़ाई लगभग ४० फुट के रखी जाती है। इनके किनारे खाइयों की ओर ढलवाँ होते हैं। मलकच्चर को नालियों द्वारा खाइयों में पहुँचाया जाता है जो मलकच्चर से भरी रहती है। इस प्रकार मलकच्चर भूमि के भीतर भीतर बीच के स्थानों में पहुँचता रहता है।

इन स्थानों में घास, दूब, गन्ना, केला, अथवा शाक इत्यादि की उपज बहुतायत से होती है। इलाहाबाद मे इसी प्रकार का एक बड़ा फ़ार्म काम कर रहा है और दूसरे स्थानों मे भी ऐसे ही फ़ार्म बनाने का प्रस्ताव हो रहा है।

जिस भूमि का इस प्रकार सिञ्चन किया जावे उसको कई भागों में विभक्त कर देना चाहिए। एक भाग को प्रयोग करके उसको कुछ दिनों के लिए खुला छोड़ देना चाहिए जिससे उसको पर्याप्त वायु मिल जावे। ऐसा न करने से भूमि के छिद्र रुँध जायँगे और भूमि में सड़न उत्पन्न हो जायगी।

इँग्लैंड में यह पाया गया है कि २०० मनुष्यों के मलकच्चर के विनाश के लिए एक एकड़ भूमि आवश्यक है।

(ब) अधःनिस्यन्दन—इस विधि में थोड़ी भूमि की आवश्यकता होती है। एक एकड़ भूमि १००० मनुष्यों के मलकच्चर को नाश करने के लिए पर्याप्त है। भूमि को कई भागों में बाँटकर प्रत्येक भाग पर बारी-बारी से मलकच्चर को फैलाया जाता है। छः घण्टे तक एक भाग को प्रयोग करने के पश्चात् १८ घण्टे तक उसको खुला रहने देना चाहिए। यदि मलकच्चर से कड़े टुकड़ों को पृथक् कर दिया गया है तो एक एकड़ भूमि ४००० मनुष्यों के मलकच्चर का नाश कर सकती है।

घन अवयवों को भिन्न करने के लिए मलकच्चर विशेष प्रकार की टङ्कियों या तालाबो मे भरा जाता है। इससे ऐन्द्रिक पदार्थों के टुकड़े भिन्न हो जाते हैं जिनको जला दिया जाता है और अनैन्द्रिक पदार्थ नीचे बैठ जाते है।

इस विधि से भूमि को कुछ लाभ नहीं होता। केवल मल का विनाश हो जाता है।

(३) रासायनिक विधि—हमारे देश में इस विधि का उपयोग नहीं किया जाता। इस विधि मे मलकच्चर को बड़ी-बड़ी टङ्कियों या तालाबों में भर देते है जिनको **अवक्षेपक टङ्की** या तालाब कहते हैं। साथ में कुछ रासायनिक पदार्थ भी मिला दिये जाते है जिनकी सहायता से ऐन्द्रिक पदार्थ, ठोस भाग या कई प्रकार के घुले हुए दूषित पदार्थ, नीचे बैठ जाते हैं। केवल तरल भाग ऊपर रह जाता है जिसमे दूषित पदार्थ बहुत कम होते हैं। इस तरल भाग को एक बार फिर शुद्ध करने के पश्चात् साधारण मोरियों द्वारा बहाया अथवा खेत में फैलाया जा सकता है। जो कुछ अवक्षेप टङ्की में नीचे बैठ जाता है उसकी बड़ी-बड़ी टिकियाँ बनाकर खाद के काम में लाई जाती हैं।

साधारणतया निम्नलिखित रासायनिक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है—

(१) चूना—चार सेर मलकच्चर के लिए १२ ग्रेन (६ रत्ती) चूना आवश्यक है। चूना मलकच्चर के कारबोनिक एसिड से मिलकर उसे केलशियम कारबोनेट बना देता है। ऐन्द्रिक पदार्थों के भी कारबोनेट बन जाते हैं। यह सब टङ्की में नीचे बैठ जाते हैं। यदि चूना अधिक होता है तो सारा मलकच्चर क्षारीय हो जाता है और वह शीघ्र ही सड़ने लगता है। चूने को जल में घोलकर डालना उत्तम है। यह विधि सस्ती है और विशेष कर उन स्थानों के लिए, जहाँ मलकच्चर मे लोह और धात्वीय अम्ल या कारबोनिक अम्ल अधिक होते हैं, उपयोगी है। किन्तु इसमें दोष यह है कि मलकच्चर क्षारीय होने से जल्दी सड़ने लगता है।

(२) फिटकरी[1] के मिलाने से एक विशेष प्रकार का फैला हुआ अवक्षेप बनता है जो मलकच्चर के अन्य ठोस भागों के साथ नीचे बैठ जाता है। प्रत्येक चार सेर के लिए ५ से १० ग्रेन (२½ से ५ रत्ती) फिटकरी आवश्यक है। इससे मलकच्चर जल्दी नहीं सड़ता।

(३) लोह-प्रोटो-सल्फेट[2] एक गैलन में २ से ५ ग्रेन तक मिलाया जाता है। यदि मलकच्चर में फिटकरी मिलाने के पश्चात् यह लवण मिला दिया जावे तो एक गाढ़ा अवक्षेप बन जाता है और मलकच्चर के सारे ठोस अथवा घुले हुए भागों का भी अवक्षेपन हो जाता है। यह वस्तु प्रबल विसंक्रामक है।

(४) चूना और फिटकरी दोनों के मिलाने से बहुत उत्तम परिणाम निकलता है। प्रत्येक ४ सेर मलकच्चर मे ५ ग्रेन फिटकरी और ५ ग्रेन चूना मिलाना चाहिए।

(५) ऐमीन विधि[3]—मलकच्चर में चूना और समुद्र का जल दोनों मिलाये जाते हैं। इससे एक उड़नशील 'ऐमीनोल' वस्तु बनती है जो प्रबल विसंक्रामक और गन्धनाशक है। इस वस्तु के कारण अवक्षेप की गन्ध जाती रहती है।

(६) सिलर की ए० बी० सी० विधि[4]—इस विधि में फिटकरी, रक्त, मिट्टी और कोयला प्रयोग किये जाते हैं[5]। इन वस्तुओं को मलकच्चर में मिलाने से तुरन्त एक गाढ़ा अवक्षेप बन जाता है। सब ठोस पदार्थ नीचे बैठ जाते हैं। कहा जाता है कि इस अवक्षेप की बहुत उत्तम खाद बनती है।

(७) हरमाइट-विधि[6]—बड़ी-बड़ी टङ्कियों में, जिन पर सीसे का पानी फिरा रहता है, समुद्र का जल भर दिया जाता है और उनमें विद्युत्

---

१. Aluminium Sulphate. २. Proto-sulphate of Iron. ३. Amine Process. ४. Siller's A. B. C. Process. ५. इन वस्तुओं को अँगरेज़ी में Alum, Blood और Clay कहते हैं। इस कारण इस विधि का नाम A. B. C. Process रख दिया गया है। ६. Hermite System.

की धारा पहुँचाई जाती है जिससे मेगनेशियम क्लोराइड का भञ्जन हो जाता है। इस प्रकार जो द्रव्य तैयार होता है उसमे प्रबल विसंक्रामक शक्ति होती है जिससे मल का भञ्जन होकर मलकच्चर शुद्ध हो जाता है।

(८) वैब्सटर की विधि[१]—इस विधि मे मलकच्चर को टङ्कियों में भरकर उसमे विद्युत् का प्रवाह किया जाता है। टङ्कियों के भीतर बहुत से लोहे के पट्ट रहते है। विद्युत का प्रयोग करने पर टङ्की के भीतर एक ओर आक्सिजन और क्लोरीन निकलते है जिनके द्वारा हाइपोक्लोरस अम्ल बन जाता है। इस अम्ल की ऐन्द्रिक पदार्थों पर क्रिया होती है और लोह के साथ मिलने से लोह-हाइपोक्लोराइट बन जाता है जो विद्युत् प्रवाह के कारण टङ्की की दूसरी ओर अथवा ऋणध्रुव पर निकले हुए अमोनिया, पोटाश, सोडा इत्यादि के मिलने से Hydrated Iron oxide के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इससे मलकच्चर की शुद्धि होती है।

यह रासायनिक विधियां हमारे देश के लिए उपयुक्त नहीं है। जिन स्थानों में यह प्रयुक्त हुई है वहां पर भी इनका त्याग कर दिया गया है। इनमें बहुत से दोष हैं। मलकच्चर से जो अवक्षेप बनता है वह बहुत अधिक होता है। इस कारण उसको ले जाने और नष्ट करने में बड़ी कठिनाई होती है। इस अवक्षेप की उत्तम खाद भी नहीं बनती; क्योंकि उसमें भूमि-पोषक शक्ति कम होती है। अवक्षेप बनने के पश्चात् जो तरल द्रव्य रहता है वह केवल स्वच्छ हो जाता है; उसके रोगोत्पादक जीवाणु नष्ट नहीं होते। जिन तालाबो या टङ्कियों मे इस विधि का प्रयोग किया जाता है उनके खुले हुए होने के कारण चारों ओर दुर्गन्धि फैलती है।

(४) जीवाणवीय विधि[२]—नित्य प्रति की घटनाओं में जीवाणु बहुत बड़ा भाग लेते हैं। साधारण सड़ने की क्रिया इन जीवाणुओं द्वारा ही होती है। यह जीवाणु गूढ़ संयोगिक ऐन्द्रिक पदार्थों का साधारण वस्तुओं में भञ्जन कर देते हैं। जीवाणवीय-विधि मे भी इन जीवाणुओं द्वारा मलकच्चर

१. Webster's Process. २. Biological System.

के संयोगिक अवयवों का भञ्जन करवाया जाता है और अन्त मे उन्हीं के द्वारा भूमि के लिए उपयोगी वस्तु बनवाई जाती है जिससे भूमि की उपजाऊ शक्ति बढ़ती है।

मलकच्चर में दो प्रकार के जीवाणु उपस्थित होते है; एक वायवीय, जिनको वायु की आवश्यकता होती है और दूसरे अवायवीय, जिनको वायु की आवश्यकता नहीं होती। अवायवीय जीवाणु मलकच्चर के ठोस ऐन्द्रिक भाग को गलाकर तरल कर देते है जिससे गूढ़ पदार्थ साधारण अवयवों में परिवर्तित हो जाते हैं जिनमें अमोनिया विशेष है। वायवीय जीवाणु इस अमोनिया अथवा अमोनिया-युक्त पदार्थों को नाइट्राइट और नाइट्रेट नामक लवणों में परिवर्तित करते है जो वृक्षों के लिए आवश्यक भोज्य पदार्थ है। यह भी कहा जाता है कि इन जीवाणुओं के कारण मलकच्चर के रोगोत्पादक जीवाणु नष्ट हो जाते है।

महाशय दास ने इन जीवाणुओं की क्रिया को तीन अवस्थाओं मे विभक्त किया है—

पहली अवस्था—यह तरलीकरण की अवस्था है। मलकच्चर के प्रोटीन अथवा ऐल्ब्यूमिन-युक्त तथा बसामय पदार्थ और सैल्यूलोज़ इत्यादि अमोनिया अथवा अन्य नाइट्रोजन-युक्त पदार्थ, बसाम्ल तथा अन्य गैसों में परिवर्तित हो जाते हैं।

दूसरी अवस्था—महाशय दास के अनुसार यह अवस्था भी प्रथम अवस्था का एक स्वरूप है जिसमे अधिक अमोनिया, नाइट्राइट और अन्य गैसें बनती हैं। यह अवस्था पूर्ण अवायवीय नहीं है।

तीसरी अवस्था—यह अवस्था वायवीय होती है। वायवीय जीवाणुओं द्वारा अमोनिया और कार्बन-युक्त पदार्थ कार्बन-डाई-आक्साइड, जल और नाइट्रेट लवणों में परिवर्तित होते है।

जीवाणवीय विधि की आयोजना करने के लिए विशेष प्रकार की बनी हुई टङ्की की आवश्यकता होती है। इस कारण इसके लिए निम्नलिखित प्रकार के कुण्ड आदि बनाये जाते हैं—

पूति-कुण्ड—यह पक्का कुण्ड भूमि के नीचे बनाया जाता है। इसकी दीवारें उत्तम ईंट की बनी होती हैं और उन पर सीमेंट का प्लस्तर किया जाता है। इस कुण्ड की लम्बाई चौड़ाई से चार या पांच गुना और गहराई छः से आठ फ़ुट होनी चाहिए। ६० फ़ुट लम्बा, १२ फ़ुट चौड़ा और ६ फ़ुट गहरा कुण्ड २०००आदमियों के मल को नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। यह कुण्ड चारों ओर से बन्द होता है। इस कुण्ड के एक ओर मलकच्चर के आने का और दूसरी ओर उसके कुण्ड से बाहर निकलने का मार्ग होता है। इन दोनों मार्गों की स्थिति कुण्ड के जल से नीचे रहती है। कुण्ड से पूर्व एक छोटी सी कोठरी बना दी जाती है। कुण्ड में जानेवाला मलकच्चर इस कोठरी में होकर कुण्ड मे आता है। मलकच्चर मे यदि इट, कङ्कड़, अन्य ठोस पदार्थ या मल के बड़े-बड़े टुकड़े होते है तो वह इस कोठरी के तल में बैठ जाते है। इस कारण कोठरी का फ़र्श बीच में से गहरा होना चाहिए जिससे जो कुछ भी कोष्ठ में एकत्र हो वह उसके फ़र्श के बीच मे पहुँच जावे। किन्तु यह एकत्र हुई वस्तुएँ कोष्ठ से नल में होती हुई कुण्ड में पहुँच सकती है। इस कारण कोष्ठ से कुण्ड में जाने के द्वार से कुछ पूर्व एक दीवार बना दी जाती है। इस प्रकार कोष्ठ का एक भाग पृथक् हो जाता है जो **अवरोधक भाग** कहलाता है। इस भाग और कुण्ड का सम्बन्ध जिस नल या छिद्र द्वारा हो वह नीचे फ़र्श की ओर होना चाहिए। १२ से १६ इंच का द्वार पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त इस कोष्ठ की एक ओर की दीवार में लगभग दो फ़ुट व्यास का एक द्वार होना चाहिए जिसके द्वारा कोष्ठ के तल में जमा हुई ईंटों इत्यादि के टुकड़े निकाले जा सके।

कोष्ठ से मलकच्चर धीरे-धीरे कुण्ड में जाना चाहिए जिससे मलकच्चर के ठोस भाग को कुण्ड के तल में बैठ जाने का समय मिले। प्रायः कुण्ड के फ़र्श पर काले रंग का पदार्थ एकत्र हो जाता है। इस पदार्थ में कुछ अनैन्द्रिक धात्वीय पदार्थ, सैल्यूलोज़ और वनस्पतियों के सूत्र इत्यादि होते हैं जो जीवाणुओं द्वारा द्रवित नहीं होते। साथ में कुण्ड के तरल क ऊपरी पृष्ठ पर भी कुछ गाढ़ा पदार्थ एकत्र हो जाता है।
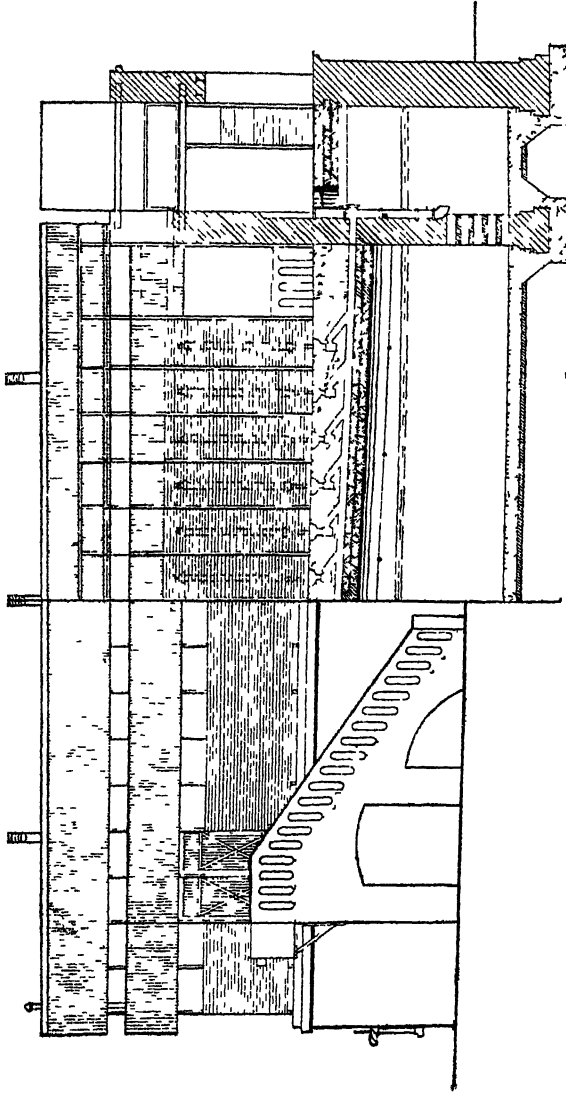
चित्र नं० ७७—पूति-कुण्ड और शौच-स्थान।

यह जीवाणवीय-विधि वास्तव में (अ) अवायवीय और (क) वायवीय विधि मे विभक्त की जा सकती है। कुण्ड के भीतर अवायवीय
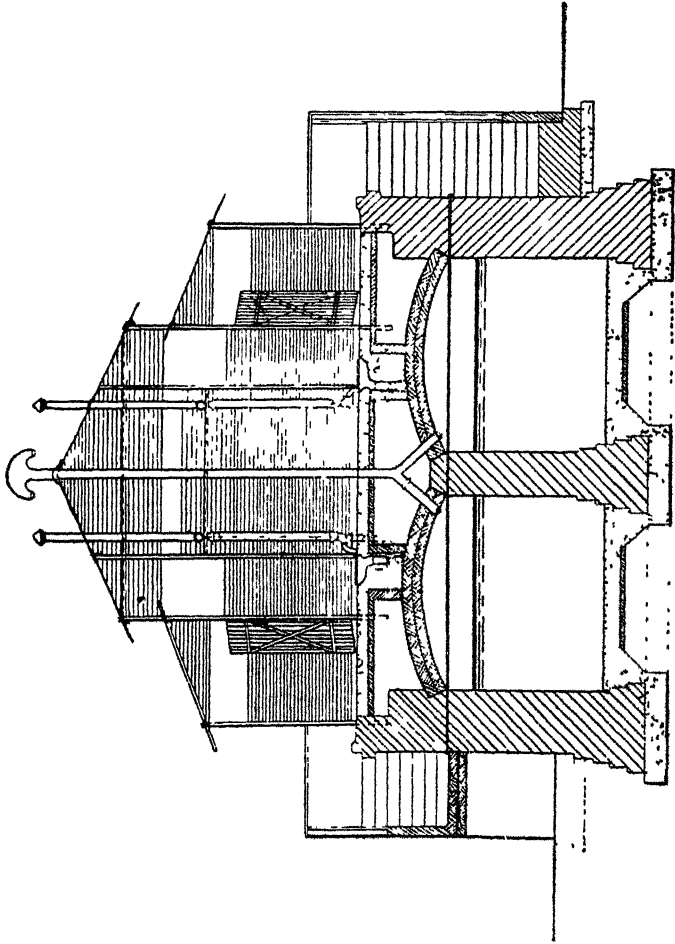
चित्र नं० ७८—पूति-कुण्ड और शौच-स्थान का पार्श्व-परिच्छेद

(अ) अवायवीय विधि—कुण्ड के भीतर जब मलकच्चर प्रविष्ट होता है तब इस विधि का आरम्भ हो जाता है। वास्तव में यह विधि अवरोधक कोष्ठ ही में आरम्भ हो जाती है। और, यदि कोष्ठ उचित आकार का बना हो और उसमें कच्चर पर्याप्त समय तक रहे तो यह विधि बहुत कुछ वहीं पूर्ण हो जाती है, कुण्ड के लिए बहुत कम काम रह जाता है। इस विधि में अवायवीय जीवाणु मल को गला देते है। इस भञ्जन के कारण कार्बन-डाई-आक्साइड, मीथेन, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन आदि गैसें उत्पन्न होती हैं। मल का इस प्रकार पूर्ण भञ्जन हो जाता है, जिसका अन्तिम स्वरूप जल और अमोनिया होता है। सम्भव है कि जल के पृष्ठ पर कुछ ठोस भाग इस समय भी तैरते हों। किन्तु वह तलहटी मे जमा हुई वस्तु के समान ही पदार्थ होंगे अथवा वह मल होगा जिसका अभी तक भञ्जन नहीं हुआ है। कुण्ड का तरल द्रव्य इस समय दुर्गन्धि-रहित होता है, जो कुण्ड से बाहर निकलनेवाले नल के द्वारा निकाला जा सकता है।

इस क्रिया के पूर्ण होने के लिए मलकच्चर कुण्ड के भीतर कम से कम २४ घण्टे तक रहना चाहिए। इसलिए उसको अवरोधक कोष्ठ से कुण्ड में धीरे-धीरे प्रवाहित करना चाहिए। कुण्ड की तलहटी में जो अवक्षेप एकत्र होता रहता है उसको भी समय-समय पर निकालते रहना चाहिए। अवक्षेप कभी एक .फुट से अधिक गहरा न होना चाहिए। एक .फुट गहरा होने पर कुण्ड को खुलवाकर उसको स्वच्छ करवाना चाहिए।

(क) वायवीय विधि—कुण्ड का द्रव्य, जो देखने में मैला किन्तु गन्धरहित होता है, कुण्ड से निकलकर एक हौज़ में जाता है, जहाँ से नलियों में होता हुआ वह "**स्पर्श या निस्यन्दन क्यारियों**" मे पहुँचता है। प्रत्येक क्यारी एक हौज़ के समान होती है जो लम्बाई-चौड़ाई में समभुज और गहराई में प्रायः ३ या ४ .फुट होती है। इसकी दीवारें ईंट की बनी होती हैं। यदि भूमि कठिन होती है तो उसमें हौद खोदकर उसके चारों ओर ईंट और सीमेंट लगा देते हैं। ऊपर से हौद खुली होती है। उसके तल

का मध्य-भाग कुछ उठा हुआ होता है जहाँ से दोनों ओर की दीवारों की ओर कुछ ढाल होता है। यहाँ पर दो नालियाँ होती है जिनके द्वारा क्यारी में पहुँचा हुआ द्रव्य बाहर निकलता है। क्यारी में पत्थर या ईंट के छोटे-छोटे टुकड़े, झाँवें, भट्ठो में से निकले हुए चूने के ढिम्मे और कङ्कड़ इत्यादि भरे रहते हैं। सबके ऊपर छोटे टुकड़े रखे जाते हैं; सबसे बड़े टुकड़े क्यारी के फ़र्श पर रहते है। इनका आकार $\frac{1}{2}$ से २ इंच तक होता है। इस प्रकार की कई क्यारिया एक साथ बनाई जाती है।

कुण्ड से निकलकर मैले रङ्ग का तरल द्रव्य पत्थर की नालियों द्वारा इन क्यारियों में पहुँचता है। इस द्रव्य को क्यारियों मे एक समान फैलाने के लिए एक प्रकार के नल भी बनाये जाते है जो एक ओर से दूसरी ओर को बराबर घूमते रहते है। नालियों या इन नलों के द्वारा द्रव्य को इस प्रकार क्यारी पर धीरे-धीरे फैलाना चाहिए कि द्रव्य झाँवें या कङ्कड़ इत्यादि में होकर धीरे-धीरे रसकर नीचे चला जावे। जब द्रव्य इस भाँति क्यारी मे नीचे की ओर जाता है तब उस पर वायवीय जीवाणुओ की क्रिया होती है जिससे द्रव्य की नाइट्राइट वस्तुएँ नाइट्रेट के रूप मे आ जाती हैं। यह क्रिया विशेष महत्त्व की है। कुण्ड में जो क्रिया होती है उसकी अपेक्षा इस क्रिया का महत्त्व अधिक है। कुण्ड में मलकच्चर केवल इस क्रिया के लिए तैयार कर दिया जाता है। प्रथम क्रिया दूसरी क्रिया के लिए केवल एक तैयारी है। यह माना जाता है कि यदि प्रथम क्रिया न हो तो भी वायवीय जीवाणु इस क्रिया को पूर्ण कर सकते हैं। कार्बन-डाई-आक्साइड, हाइड्रोजन-सल्फ़ाइड, मीथेन और जल यहाँ भी उत्पन्न होते हैं।

महीने में एक बार क्यारियों में भरे हुए कङ्कड़-पत्थर इत्यादि को निकलवाकर उसको साफ़ करवा देना चाहिए। क्यारियों को लगातार प्रयोग न करना चाहिए। छोटी क्यारियों से २४ घण्टे में केवल चार घण्टे काम लेना चाहिए और २० घण्टे तक विश्राम देना चाहिए। इस कारण कई क्यारियों का बनाना आवश्यक है।

कहीं-कहीं जेल, अस्पतालों इत्यादि में पूति-कुण्ड के ऊपर मलत्याग करने के लिए शौच-स्थान बनाये जाते हैं। इन स्थानों से मल सीधा कुण्ड में जाता है। जल की अधिक आवश्यकता होती है। ऐसे शौच-स्थानों से यह लाभ है कि मल का तुरन्त नाश हो जाता है। मल को गाड़ियों में भरकर उसको दाबने या खाद बनाने के लिए सड़कों पर होते हुए खाइयों तक नहीं ले जाना पड़ता, और न भङ्गियों की ही आवश्यकता होती है। इसमें व्यय कम होता है और स्थान स्वच्छ रहता है।

जब नया कुण्ड बनाया जावे तो उसको प्रयोग मे लाने के पूर्व किसी काम करते हुए कुण्ड के अवक्षेप और ऊपर के द्रव्य से कम से कम १० मन लेकर नये कुण्ड में डाल देना चाहिए। इसके पश्चात् कुण्ड में जल भरा जा सकता है। एक वर्ष तक प्रयोग करने के पश्चात् कुण्ड पूर्णतया सन्तोषपूर्वक काम करता है।

क्रियमाण मलावशेष विधि—इस विधि में मलकच्चर की शुद्धि केवल वायवीय जीवाणुओं द्वारा होती है जिनकी संखया मलकच्चर अथवा मलावशेष में बहुत बढ़ जाती है। इस विधि से मलावशेष के अवक्षिप्त होने के पश्चात् जो तरल भाग रह जाता है वह स्वच्छ और शुद्ध होता है। उसके सड़ने की कोई सम्भावना नहीं होती।

प्रथम मलकच्चर को टङ्कियो में भर देते हैं, जहा मलकच्चर में मिले हुए ठोस पदार्थ टङ्कियों में नीचे बैठ जाते हैं। इसके पश्चात् शेष मल-कच्चर को एक दूसरी टङ्की में ले जाते हैं जिसमें एक विशेष यन्त्र से वायु के आने के लिए कई नल रहते हैं। इन नलों के द्वारा वायु को वेग के साथ मलकच्चर में पहुँचाते हैं और वह खूब हिलाया जाता है। साधारणतया मलकच्चर के प्रत्येक गैलन के लिए १.७५ घन फट के हिसाब से वायु को इस टङ्की में भेजा जाता है। वायु के बुदबुदे मलकच्चर के द्वारा उसके ऊपरी पृष्ठ पर निकलने लगते हैं। इससे वायवीय जीवाणुओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है। इस प्रकार मलकच्चर में वायु मिलाने के पश्चात् उसको एक दूसरी टङ्की में ले जाया जाता है जिसमें कुछ समय तक उसको स्थिर

रखा जाता है। इससे मलावशेष टङ्की मे नीचे बैठ जाता है और ऊपर का तरल भाग स्वच्छ और गन्ध-रहित हो जाता है। इसको टङ्की से नलों द्वारा निकालकर किसी नदी इत्यादि मे डाला जा सकता है। उससे किसी प्रकार की हानि पहुँचने का भय नहीं है। इसके पश्चात् मलावशेष को फिर प्रथम टङ्की मे, जिसमें वायु मिलाई गई थी, वापस लौटाया जाता है जहाँ पर वह नये मलकच्चर के साथ मिलता है और वायुयुक्त भी होता है। इससे मलावशेष में वायवीय जीवाणुओं की संख्या बढ़ती है। यह जीवाणु उपस्थित ऐन्द्रिक पदार्थों का भञ्जन और आक्सिजन के द्वारा उनका नाश करते है। जो मलावशेष बच जाता है उसमें लगभग ६ प्रतिशत नाइट्रोजन-युक्त पदार्थ रहते हैं। इस कारण उसका खाद की भाति उपयोग किया जाता है। अतएव इस विधि से जो मलावशेष बनता है वह अन्य विधियों द्वारा बने हुए मलावशेष से उत्तम होता है। इस विधि में स्पर्श क्यारियों की आवश्यकता नहीं होती।

जमशेदपुर और कलकत्ते के पास शिवपुर इंजिनियरिंग कालेज में यह विधि कई वर्ष से काम में लाई जा रही है।

महाशय दास के अनुसार इस विधि से निम्नलिखित लाभ हैं—

(१) इस विधि में व्यय कम होता है; क्योंकि भूमि की कम आवश्यकता पड़ती है। टङ्की के साथ स्पर्श क्यारी इत्यादि भी नहीं बनानी पड़ती।

(२) टङ्कियाँ समय-समय पर स्वयं ही साफ़ होती रहती हैं; जो मलावशेष अधिक होता है वह स्वयं ही समय-समय पर यान्त्रिक आयोजनों के कारण टङ्की से निकलता रहता है।

(३) मलकच्चर सदा वायु के द्वारा शुद्ध होता रहता है। तरल भाग स्वच्छ और गन्धरहित हो जाता है।

(४) मलावशेष का एक उत्तम खाद की भाँति उपयोग किया जा सकता है।

मलकच्चर के तरल भाग की शुद्धि का प्रमाण—मलकच्चर को नदी इत्यादि में डालने से पूर्व शुद्ध कर लेने की अनेक विधियाँ ऊपर लिखी

जा चुकी हैं जिनके द्वारा मलकच्चर स्वच्छ और गन्धरहित हो जाता है। किन्तु वह कहाँ तक शुद्ध होता है इसकी जांच करने के लिए इँग्लेंड में एक शाही कमीशन नियुक्त हुआ था। कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार मलकच्चर का तरल भाग यद्यपि स्वच्छ और गन्धरहित हो जाता है, किन्तु वह जीवाणु-रहित नहीं होता। इस कारण कमीशन की सम्मति के अनुसार इस तरल भाग को उन नदी या नालों में नहीं डालना चाहिए जिनका जल पीने के काम में आता है अथवा जिनमें भोजन के लिए उपयोगी मछलियाँ या अन्य जन्तु रहते हैं।

शाही कमीशन ने मलकच्चर के स्थूल भाग की शुद्धि के सम्बन्ध में निम्न-लिखित नियम लिखे हैं—

(१) यह तरल द्रव्य स्वच्छ, चमकीला और ठोस भाग तथा मल की दुर्गन्धि से रहित होना चाहिए।

(२) तरल भाग में जो ठोस पदार्थ मिले हुए हों वह तरल के १००,००० भाग में ३ भाग से अधिक न हो।

(३) यदि इस द्रव्य को ६५° फ़ैरनहाइट के ताप पर ५ दिन तक रखा जावे तो उसके १०,००० भागों में आक्सिजन के २ भाग से अधिक न घुलें।

इनके अतिरिक्त डाक्टर मोदी ने निम्नलिखित नियमों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है—

(१) द्रव्य के १००,००० भागों मे ऐन्द्रिक एमोनिया का ०·१ भाग से अधिक न होना चाहिए।

(२) यदि द्रव्य को किसी बर्तन में बन्द करके ८° फ़ैरनहाइट पर एक सप्ताह तक रखा जावे तो भी उसको सड़ना न चाहिए।

मल-विनाश की भिन्न-भिन्न विधियों की तुलना—

बड़े नगरों के लिए जल-संवहन विधि सबसे उत्तम है। भङ्गियों द्वारा मल को गाड़ियों में भरकर ले जाने की विधि अत्यन्त निन्दनीय है। उससे स्थान या नगर को पूर्ण शुद्ध नहीं रखा जा सकता।

जल-संवहन विधि में मलकच्चर के अन्तिम विनाश का प्रश्न महत्त्व का है। उससे निकले हुए जल को नदी इत्यादि में न फेंकना चाहिए; क्योंकि उसमें प्रायः रोगों के जीवाणु उपस्थित रहते हैं। जहाँ तक हो सके, मलकच्चर को भूमि पर फैलाकर नष्ट करना चाहिए। इससे मलकच्चर के तरल भाग का भी भूमि पर ही नाश हो जायगा। यदि ऐसा न हो सके और द्रव्य को नदी या नाले में डालना ही पड़े तो उसको ऐसे नाले या नदी में डालना चाहिए जिसका जल पीने के लिए न लिया जाता हो। जिन स्थानों में भूमि की कमी के कारण मल के नाश के लिए पर्याप्त भूमि मिल सकती हो वहाँ जीवाणवीय विधि का प्रयोग करना चाहिए। किन्तु उससे निकलनेवाले द्रव्य को नदी में डालने से पूर्व शुद्ध कर देना आवश्यक है।

बारहवाँ परिच्छेद

शव की अन्तिम क्रिया

जिस व्यक्ति को उसके जीवन में प्रत्येक सम्बन्धी, कुटुम्बी और इष्ट-मित्र प्यार करते है, प्राण-विसर्जन होने के पश्चात् उसके शव को कुछ घण्टों तक भी मकान के भीतर रखना कठिन होता है। विज्ञान के अनुसार ऐसा करना उचित और आवश्यक है, चाहे उसकी मृत्यु से किसी पर कैसा ही प्रभाव क्यों न पड़े। विज्ञान के अनुसार शरीर के अङ्गो का शिथिल हो जाना और अपने-अपने कर्मों को छोड़ देने का ही नाम मृत्यु है।

मृत्यु के पश्चात् शव की अन्तिम क्रिया की जाती है। भिन्न-भिन्न देशों में यह क्रिया करने की भिन्न-भिन्न रीतिया प्रचलित है। जो लोग जितने असभ्य है उनमें प्रचलित रीति भी वैसी ही असभ्य है। पृथ्वी के कुछ भागों में मृत मनुष्य की देह बिना किसी वस्त्र इत्यादि से ढके हुए नग्न छोड़ दी जाती है और उसको जन्तु खा जाते हैं। किसी-किसी स्थान के निवासी मृत व्यक्ति का शव कुत्तों को खिलाते हैं। पार्सियों में शव को बड़ी-बड़ी ऊँची खुली हुई मीनारों मे, जिनमें बड़े-बड़े ताक़ या अलमारियाँ बनी होती हैं, रख दिया जाता है। इन मीनारों को Towers of silence कहते हैं। यह बम्बई में बनी हुई हैं। इन पर गिद्ध-चील इत्यादि जमा रहते हैं, जो शव को रखते ही खा जाते हैं। महाशय दास ने अपनी पुस्तक में तिब्बतवालो मे प्रचलित प्रथा का वर्णन किया है। वहाँ पर प्रत्येक ग्राम मे एक विशेष जाति के लोग होते हैं जो लाधा कहलाते हैं। जब किसी की मृत्यु होती है तब यह लोग बुलाये जाते हैं। इनका काम कुल्हाड़ी इत्यादि से शव के अङ्गों को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त करना होता है जो पक्षियों के सामने, खाने के लिए, डाल दिये जाते हैं।

सभ्य देशों में दो रीतियाँ प्रचलित हैं, दाह और दफ़न करना। इन रीतियों का उचित या अनुचित प्रकार से व्यवहार करने से जनता के स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। इस कारण इनका संक्षिप्त विचार करना आवश्यक है।

दाह

शव के नाश का सबसे उत्तम और सन्तोषजनक उपाय दाह है। हिन्दुओं में दाह की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। यह सोलह संस्कारों में से अन्तिम संस्कार है जो मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् किया जाता है। वेदों द्वारा इस संस्कार का आदेश किया गया है। इसको अन्त्येष्टि क्रिया के नाम से पुकारा जाता है।

दफ़न करने की अपेक्षा दाह बहुत उत्तम है। इससे शरीर के समस्त ऐन्द्रिक अवयव अग्नि द्वारा थोड़े ही समय में अनैन्द्रिक पदार्थों मे परिणत हो जाते हैं। दाह-कर्म मे शव से कोई विशेष दुर्गन्धि भी नहीं उत्पन्न होती। यदि दाह पूर्ण हुआ है तो उसके पश्चात् केवल राख बचती है। प्रायः कुछ अस्थियां भी बच जाती हैं। यदि अग्नि प्रचण्ड होती है तो वह भी भस्म हो जाती हैं। ग़रीब लोग प्रायः पर्याप्त लकड़ियों का प्रयोग नहीं कर सकते। इस कारण शव का पूर्ण दाह नहीं हो पाता। शव का जो भाग बच जाता है वह नदियों में बहा दिया जाता है। ऐसा करना उचित नही है। साधारणतया एक शव को जलाने के लिए लगभग ८ मन लकड़ियों की आवश्यकता होती है। जो लोग सामर्थ्यवान् होते हैं वह साधारण लकड़ियों के साथ चन्दन आदि का प्रयोग करते है और घृत डालकर अग्नि को प्रचण्ड करते हैं। इससे शव की दुर्गन्धि का नाश होता है। शव-दाह के स्थान प्रायः नदियों के तट पर स्थित होते है। इन स्थानों को चुनने में सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नदी के जल का प्रवाह नगर से दाह-स्थान की ओर को हो, शव-स्थान से नदी नगर की ओर को न बह रही हो। दाह के पश्चात् सारी राख और अस्थियाँ इत्यादि नदी में फेक दी जाती हैं। यदि जल का प्रवाह नगर की ओर है तो यह राख बहकर नगर की ओर जायगी जिससे किसी प्रकार का दोष उत्पन्न होने की आशङ्का है। कम से कम नदी के घाटों पर स्नान करनेवालों को असुविधा अवश्य होगी। किन्तु यदि जल का प्रवाह

दूसरी ओर को होगा तो राख नगर की ओर न जाकर आगे की ओर को बह जायगी।

योरुप में भी दाह क्रिया का प्रचार होता जा रहा है। वहाँ के निवासी भी इस रीति की उत्तमता को समझने लगे हैं। वहां पर विशेष दाहक यन्त्र बनाये गये हैं जिनको Crematorium कहते हैं। यह स्थान एक कोठरी की भाँति होते है जिनमें प्रत्येक शव को रखने के लिए ७ फुट लम्बा और २८ इंच चौड़ा स्थान होता है। इसके फ़र्श में 'क्वार्ज़' नामक पत्थर के टुकड़े भरे रहते हैं। एक पूर्ण दाहक में ऐसे कई स्थान होते हैं। प्रत्येक स्थान के फ़र्श के नीचे से वायु और गैस के जाने का मार्ग होता है। गैस को प्रदीप्त कर देने पर प्रत्येक दाहस्थान का फ़र्श ताप की अधिकता से तप्त होकर श्वेत हो जाता है और ताप ३६०० फ़ैरनहाइट तक बढ़ जाता है। इस स्थान में शव को रखने के आध घण्टे के भीतर शव का पूर्ण दाह हो चुकता है और अस्थियों की केवल कुछ थोड़ी सी राख रह जाती है। इस प्रकार का एक दाह-स्थान कलकत्ते में बनाया गया है।

साधारण दाह-स्थान बस्ती से कम से कम ४०० फुट की दूरी पर स्थित होना चाहिए।

दफ़न करना

हमारे देश मे मुसलमान, ईसाई और हिन्दुओं में भी कुछ नीची जातियों में मुर्दों को गाड़ने की रीति प्रचलित है। गाड़ने का प्रयोजन यह होता है कि पृथ्वी के भीतर उपस्थित जीवाणु शव पर आक्रमण करके गूढ़ और ऐन्द्रिक पदार्थों का साधारण अवयवों में भञ्जन कर दें। इस क्रिया में शव से अनेक प्रकार के दूषित और विषैले पदार्थ उत्पन्न होते हैं। कार्बन-डाई-आक्साइड गैस निकलती है। इस कारण इस रीति से जनता के स्वास्थ्य को हानि पहुँच सकती है।

प्रत्येक नगर में अधिकारियों को शव के दफ़न करने के लिए विशेष स्थान नियत करना होता है। यह स्थान ऐसी भूमि में बनाना चाहिए जो भुरैरी और नरम हो। कड़ी भूमि इसके लिए उपयुक्त नहीं होती; क्योंकि उसके अधःस्थल

जल का निकास भली भांति नहीं होता। भूमि मे दरार इत्यादि भी न रहे। दरारों के द्वारा विषैली गैसें बाहर निकलकर स्वास्थ्य को हानि पहुँचाती हैं। इसके अतिरिक्त यह गैसें पृथ्वी के द्वारा भूमि-नल, परिवाह, जल के नल, तालाब, कुएँ इत्यादि में पहुँचकर उनके जल को दूषित कर सकती हैं। इन स्थानों की स्थिति अधिक ऊँचाई पर भी न होनी चाहिए; क्योंकि शवों से निकले हुए दूषित पदार्थ अधःस्थल जल के साथ मिलकर ऊँचे स्थानों से नीचे स्थानों की ओर बहकर जलाशय इत्यादि को बिगाड़ सकते हैं।

शवो को दफ़न करने का स्थान बस्ती से दूर होना चाहिए। सारे स्थान के चारों ओर एक अहाता खिंचवा देना चाहिए जिससे शृगाल इत्यादि जन्तु उसके भीतर न जा सके। कलकत्ते में प्रत्येक शव के लिए ७ × ४ फुट स्थान दिया जाता है। बच्चों के लिए इतने स्थान की आवश्यकता नहीं है। इस स्थान मे चारों ओर मार्ग बनाये जा सकते है। इन मार्गों के बीच में शव को दफ़न करने का स्थान होना चाहिए।

कुछ लोग पक्की क़ब्रे बनवाते हैं। जहाँ पर शव दफ़न किया जाता है उसके चारों ओर दीवार में ईंटें लगवा देते हैं। ऐसा करना अनुचित है। इससे भूमि के जीवाणु, जो शव पर आक्रमण करके उसका विनाश कर देते हैं, शव तक जल्दी नहीं पहुँच पाते, और जो क्रिया एक वर्ष में पूरी होनी चाहिए थी उसमे अधिक समय लग जाता है। यदि सन्दूक़, जिसमें शव बन्द होता है, मोटा और कठिन होता है तो उसका भी यही परिणाम होता है। क़ब्रें सदा कच्ची होनी चाहिएँ और शव का सन्दूक़ किसी पतली लकड़ी का बना हुआ होना चाहिए जिससे जीवाणुओं को उसके भेदने मे अधिक कठिनाई न पड़े।

शव को भूमि के भीतर ३ से ५ फुट से अधिक गहरा न गाड़ना चाहिए। अध.स्थल जल से शव का ऊपर ही रहना उचित है। ३ फुट से कम गहराई पर शव को गाड़ने से जन्तुओं का, क़ब्र को खोदकर उसे निकाल लेने का, डर रहता है।

गाड़ने से शव के कोमल अङ्गों का विनाश होने में लगभग एक वर्ष लग जाता है।

तेरहवाँ परिच्छेद

वैयक्तिक स्वास्थ्यवृत्त

वैयक्तिक स्वास्थ्यवृत्त का उन बातों से सबन्ध है जिनका प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वास्थ्य को उत्तम बनाने के लिए विचार करना चाहिए। स्वास्थ्य शरीर की शुद्धि, वस्त्र, भोजन, व्यायाम, मलत्याग के नियत समय, निद्रा और व्यक्तिगत स्वभाव पर ही अवलम्बित है। इन्हीं के द्वारा स्वास्थ्य सुधरता है और इन्हीं के सम्बन्ध मे लापरवाही करने से बिगड़ जाता है। इस अध्याय मे हम इन बातों का संक्षेप से विचार करेंगे।

आदत

मनुष्य की आदतों पर उसके जीवन की सफलता निर्भर रहती है। इस कारण आदतों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। आरम्भ ही से आदतों को इस प्रकार का बनाना चाहिए कि फिर उन्हें छोड़ने की आवश्यकता न पड़े। एक बार जब आदत बन जाती है तब फिर वह नहीं छूटती। शरीर की स्वच्छता, भोजन, निद्रा के सम्बन्ध में प्रत्येक मनुष्य की आदत भिन्न होती है। किन्तु तो भी कुछ ऐसे नियम है जो सब मनुष्यां के लिए एक से है।

प्रत्येक काम को नियत समय पर और नियमपूर्वक करने की आदत डालनी चाहिए। शौच, स्नान, पाठ, व्यायाम और भोजन आदि का एक नियत समय होना चाहिए और प्रत्येक कर्म निर्धारित समय पर होना चाहिए। कुछ दिनों तक ऐसा करने से स्वयं ही आदत पड़ जायगी और प्रत्येक कार्य्य बिना किसी प्रयत्न के अपने निर्दिष्ट समय पर होता रहेगा।

शौच—प्रातःकाल शय्या से उठते ही शौच जाना उचित है। उसके पश्चात् दूसरा कार्य करना चाहिए। कुछ लोगो की आदत होती है कि प्रातःकाल शय्या पर पड़े-पडे चाय पी लेते है। तत्पश्चात् शौच को जाते है। कुछ लोग दो-दो दिन तक शौच को नहीं जाते। यह दोनो आदतें बुरी है। शौच जाकर और कुल्ला-दाँतून करने के पश्चात् चाय इत्यादि पीनी चाहिए अथवा प्रातःकाल का नाश्ता करना चाहिए। शौच से पूर्व चाय पीने से रात्रि भर मे मुँह मे जो मैल जमा हुआ है वह चाय के साथ आमाशय मे जाता है जिससे हानि पहुँचती है। भोजन के पूर्व दांत और मुँह का शोधन कर लेना अत्यन्त आवश्यक है।

दो-दो दिन तक शौच को न जाना भी बुरा है। मलत्याग न करने से मल अन्त्रियो के भीतर एकत्र रहता है और उससे अनेक प्रकार के विष उत्पन्न होकर शरीर मे व्याप्त होते रहते है। क़ब्ज़ या कोष्ठ-बद्धता अनेक रोगो की जड़ है। जिन लोगो को क़ब्ज़ रहता है उनको नियत समय पर अवश्य शौच जाना चाहिए, चाहे मलत्याग हो अथवा न हो। ऐसा करने से कुछ समय के पश्चात् आदत हो जायगी और समय पर मलत्याग होने लगेगा। जिनको क़ब्ज़ रहता है उनको जल का अधिक सेवन करना चाहिए। उदर सम्बन्धी व्यायाम से ऐसी दशा मे बहुत लाभ होता है।

मुख-प्रक्षालन—शौच के पश्चात् मुख-प्रक्षालन करना उचित है। प्रथम दाँतून या बुरुश से दातों को साफ़ करना चाहिए। नीम और बबूल की दांतून उत्तम होती है। दाँतूनो मे विशेष देखने योग्य बात यह है कि उनका बुरुश अत्यन्त बारीक होना चाहिए। दांतून के सिरे को ४, ५ मिनट तक भली भाँति दांतों से चबलाने से उत्तम बुरुश बन जाता है। यदि बुरुश के रेशे मोटे रह जाते है तो उनसे मसूढ़े छिल जाते है। दांतूनो में एक कठिनाई यह है कि उनसे दांत पीछे की ओर से साफ़ नहीं होते। बुरुश से दांत आगे और पीछे दोनों ओर से स्वच्छ हो जाते है।

यदि बुरुश का उपयोग किया जावे तो साधारणतया कड़े बालोंवाला बुरुश लेना चाहिए। बुरुश को दाँतो पर ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर की

ओर को फेरना चाहिए। आगे और पीछे दोनों ओर से दांत इसी प्रकार स्वच्छ किये जावे। बुरुश को इस प्रकार फेरने से दाँतों के बीच मे कोई वस्तु नहीं रहने पाती। बुरुश से वास्तव मे दांतों को प्रातःकाल और सोते समय दो बार स्वच्छ करना उचित है, किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो कम से कम एक बार अवश्य स्वच्छ करना चाहिए। कुछ लोगों की सम्मति है कि प्रत्येक बार भोजन के पश्चात् मुँह को स्वच्छ करना आवश्यक है।

बुरुश से काम लेने के पश्चात् उसे एक शीशी में, जिसमे कारबोलिक ऐसिड का घोल भरा हो, रखना चाहिए। दातों को स्वच्छ करने के पश्चात् जिह्वा को भी स्वच्छ करना आवश्यक है। यह कार्य दांतून को चीरकर या विशेष द्वारा किया जा सकता है। ह रक्त मे मिल-

दांतो और मुँह को स्वच्छ न करने से 'पायरिया' नामक प्रभाव हृदय पर उत्पन्न हो जाता है जिसमें मसूड़ों से पूय निकलने लगती है जाता है, कभी-कभी के प्रत्येक ग्रास के साथ आमाशय में पहुँचती है कि तम्बाकू पीनेवालों इत्यादि अनेक रोग उत्पन्न हो सकते है। इस रोग प्रथम बार तम्बाकू पीते है असावधान न होना चाहिए। निकोटीन से शरीर की

भोजन—भोजन के सम्बन्ध मे अत्यन्त सावधातुओं का क्षय होने लगता है। भोजन, मनुष्य के व्यवसाय के अनुसार, उत्तम नाड़ी-मण्डल को विकृत कर चाहिए। किन्तु भूख से अधिक भोजन करना हानिादि लक्षण उत्पन्न हो जाते वत है कि 'एक रोटी की भूख छोड़कर भोजन करना हृदय धड़कने लगता है है। भूख से अधिक भोजन करने से जितने लोग चन भी बिगड़ जाता है। भोजन से बीमार नहीं होते। जो लोग अधिक भक्ष समय उदास रहता है। अजीर्ण, मन्दाग्नि और पाचन-सम्बन्धी अन्य रोगो से मेट्टी का पाइप पीते हैं, लोगों के लिए कहा जाता है कि They dig their गले में चारों ओर their own teeth, अर्थात् वह अपने दाँतों से अपर तम्बाकू का विशेष- भोजन के सम्बन्ध में निम्नलिखित नियमो का पालन करना : के समान कदा-

(१) सदा भूख लगने पर भोजन करना चाहिए।

(२) कुछ भूख रहते भोजन समाप्त कर देना चाहिए। इसका उपयोग

रुई—रुई के वस्त्र सबसे अधिक पहने जाते है। इसके सूत्र, जिनसे वस्त्र बुने जाते हैं, कपास के बीजों के चारों ओर लगे रहते हैं। यह अत्यन्त बारीक और चपटे फ़ीते के समान होते है। इनकी मोटाई १/४००० से १/१००० इंच तक होती है। यह वस्तु ऊन के समान शरीर के ताप की रक्षा नहीं करती। यह ताप का उत्तम वाहक है। इस कारण शरीर के ताप का सहज में वायु मे विसर्जन होता है और वायु का ताप शरीर मे पहुँच जाता है। इस कारण इसको चर्म के ऊपर नहीं पहिनना चाहिए। रुई का एक विशेष वस्त्र, जिसको Cellular cloth कहते है, बनाया जाता है। वस्त्र के धागों के बीच में छेद रहते है जिनसे वायु भर जाती है जो ताप का उत्तम वाहक नहीं है। इस कारण रुई के साधारण वस्त्र की अपेक्षा यह वस्त्र उत्तम होता है। अतएव चर्म पर इस वस्त्र की बनियाथन या कुरती पहिनी जा सकती है। गर्मी के दिनों के लिए यह वस्तु उपयुक्त है। सूती वस्त्र ठण्ढा रहता है।
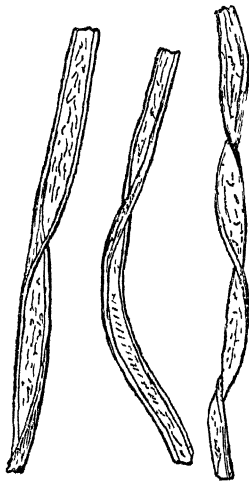
चित्र नं० ८०—रुई के सूत्र

रुई का वस्त्र सस्ता होता है और धोने से नहीं बिगड़ता। इस कारण हमारे देश में इसी का अधिक प्रयोग होता है।

सन—सन भी रुई के समान शरीर के ताप की रक्षा नहीं करता। इसलिए उसका भीतर पहिना जानेवाला वस्त्र नहीं बनाना चाहिए। इसके सूत्र में सूक्ष्म दर्शक यंत्र द्वारा देखने से गाँठें या जोड़ दिखाई देते हैं।

रेशम—यह रेशम के कीड़े के द्वारा बनाया जाता है। इसका वस्त्र ऊन के समान, किन्तु उससे कम, शरीर के ताप का रक्षक होता है। यह ताप का उत्तम वाहक नहीं है। इसलिए इससे नीचे पहिनने के वस्त्र बनाये जा सकते हैं। वास्तव में रेशमी वस्त्र की बनियायन इत्यादि सब ऋतुओं में पहिनी जा सकती

हैं। उनमें आर्द्रता के शोषण का भी गुण होता है। रेशमी वस्त्र बहुत मुलायम होता है और धोने से ऊन के समान सिकुड़ता भी नही, किन्तु उसका मूल्य अधिक होता है।
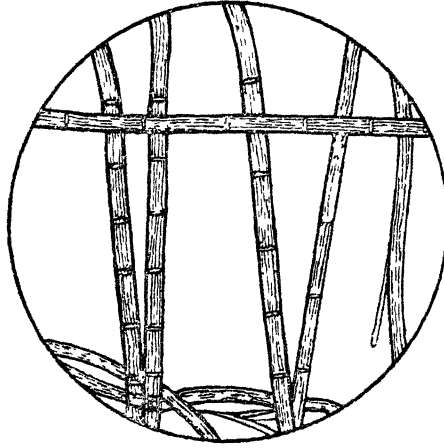
चित्र नं० ८१—सन के सूत्र

चमड़ा—हमारे देश में या अन्य उष्णता-प्रधान देशों में चमड़ा केवल जूते बनाने के काम में आता है। योरुप आदि शीतप्रधान देशों मे चमड़े के वस्त्र बनाए जाते हैं। उत्तरी ध्रुव के पास जो देश हैं उनमें चमड़ा वस्त्रो की प्रधान वस्तु है। उसके द्वारा तनिक भी वायु भीतर नहीं जा सकती। इस कारण चमड़े के वस्त्र अत्यन्त गरम होते हैं।

फ़र—योरुप की स्त्रियाँ फ़र का बहुत उपयोग करती है। वह उसको सौन्दर्य्य के लिए गले में लटकाती है। कोटों के कालर और बाहुओं मे भी उनका उपयोग किया जाता है। यह बहुत गरम होते हैं और शीत से शरीर की रक्षा करते हैं।

टोपी उत्तम शिरस्त्राण नहीं है। यह ऊन को जमाकर बनाई जाती है और बहुत गरम होती है। शिर पर जो पसीना आता है वह टोपी के भीतर जमा होता रहता है। पसीने से टोपी के किनारों पर, कुछ दिनों के प्रयोग के पश्चात्, मैल की एक रेखा बन जाती है। इसको धुलवाना भी कठिन है।

टोपी की अपेक्षा, दक्षिण में पहिनी जानेवाली, पगड़ी उत्तम है।

आजकल टोप कलकत्ते इत्यादि नगरों में बहुतायत से बनते हैं और बाज़ार में बहुत सस्ते मिलते हैं।

मोज़े—अँगरेज़ी की एक कहावत है कि keep feet warm and head cool, शिर को ठण्डा और पांवों को गरम रखना चाहिए। इसकी आवश्यकता जाड़ो में होती है, अतएव जहाँ तक हो सके जाड़ों में ऊन के मोज़े पहिनना चाहिए। उनका आकार पाँव के बराबर हो। आवश्यकता से बड़े अथवा छोटे दोनों प्रकार के मोज़े बुरे हैं। उनको नित्य प्रति धूप में सुखाना चाहिए। यदि मोज़े सूती हों तो उनको नित्य धोया जावे। ऊनी मोज़ों को भी समय-समय पर धुलवाना आवश्यक है।

जूते पाँव के आकार के समान होने चाहिएँ। उनका तला ठीक उसी प्रकार का हो जैसा कि पाँव का तला होता है। एड़ी $\frac{1}{2}$ से १ इंच ऊँची होनी चाहिए। अधिक ऊँची एड़ी से हानि होती है। जूते का चमड़ा भली भाँति कमाया हुआ और नरम होना चाहिए। तला भी बहुत कड़ा न हो। जूते का आगे का भाग या नोंक पतली न होनी चाहिए। चौड़ी नोंकवाले जूते उत्तम होते हैं।

जो जूते आकार में पाँव से छोटे होते हैं उनसे बहुत हानि पहुँचती है। अस्थियों की वृद्धि रुक जाती है और उनका आकार विकृत हो जाता है। बच्चों को छोटे जूतों से विशेष हानि पहुँचती है।

चौदहवाँ परिच्छेद

स्कूल-सम्बन्धी स्वास्थ्यवृत्त

बच्चों पर देश का भविष्य निर्भर रहता है। इस कारण प्रत्येक जाति के बच्चे उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति होते हैं। अतएव बच्चों की ओर पूर्ण ध्यान देना प्रत्येक जाति का कर्त्तव्य है। योरुप के देशों में राज्य की ओर से ऐसा प्रबन्ध है कि जिस समय से स्त्रियाँ गर्भ धारण करती हैं उसी समय से राज्य की ओर से नियुक्त स्वास्थ्य-निरीक्षक स्त्रियाँ उनकी देख-भाल आरम्भ कर देती हैं। वह उनके पास समय-समय पर आकर उनको स्वास्थ्य-सम्बन्धी अथवा बच्चे का किस प्रकार पोषण करना चाहिए, उसे क्या भोजन देना चाहिए और किस प्रकार सुलाना चाहिए, बच्चो के वस्त्र कैसे होने चाहिएँ इत्यादि बातों की पूर्ण शिक्षा देती हैं। बच्चे के जन्म के पश्चात् स्वास्थ्य-निरीक्षक उनके स्वास्थ्य को देखते रहते हैं। उनके बीमार होने पर उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध किया जाता है। इन सब साधनों का फल यह है कि जहाँ हमारे देश में १००० उत्पन्न हुए बच्चों में से २५२ मरते हैं वहाँ इंगलैंड में केवल ७६ की मृत्यु होती है। हमारे देश में इन सब बातों पर कितना ध्यान देने की आवश्यकता है, यह बताना आवश्यक नहीं।

इसी प्रकार बालकों की शिक्षा की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। शिक्षा का अर्थ यह नहीं है कि बालकों को पुस्तकें रटवाकर उनको परीक्षा में पास करा दिया जाय। शिक्षा से बालकों के ज्ञान, उनकी बुद्धि का विकास, शारीरिक स्वास्थ्य और चरित्र-सङ्गठन की वृद्धि होनी चाहिए। यदि इनमें से किसी भी एक बात का ह्रास और दूसरी बात की वृद्धि होती

है तो वह उचित शिक्षा नहीं है। उचित शिक्षा के द्वारा बालकों में इन सब गुणों का समान विकास होना चाहिए। बचपन में बच्चों पर प्रत्येक बात का बहुत ही शीघ्र और स्थायी प्रभाव पड़ता है। अतएव जहाँ उनको शिक्षा दी जाती है वहाँ पर प्रत्येक बात आदर्श होनी चाहिए। स्कूल का मकान, उसकी स्वच्छता, स्कूल का प्रबन्ध, शिक्षकों का बालकों के साथ व्यवहार इत्यादि सब के आदर्श-रूप होने की आवश्यकता है। साथ में ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि बालकों के ज्ञान के साथ उनके स्वास्थ्य, चरित्र और धार्मिक विचारो मे भी उन्नति होती रहे।

स्कूल के मकान की स्थिति—स्कूल को ऐसे स्थान पर बनाना चाहिए जो ऊँचा और खुला हुआ हो। ऊँचाई से उस स्थान के अध.स्थल जल का निकास उत्तम होगा और वायु के प्रवाह में भी कोई बाधा नहीं पड़ेगी। ऊँचे स्थान नीचे स्थानों की अपेक्षा अधिक शुष्क और इस कारण स्वास्थ्य-प्रद होते हैं। स्कूल के चारों ओर कोई गढ़े या तालाब इत्यादि न हों। खुली हुई मोरियों का होना भी उचित नहीं। स्कूल, जहाँ तक हो सके, नगर के किसी मध्यस्थ स्थान मे होना चाहिए; किन्तु नगर के कोलाहल से उसका सुरक्षित होना आवश्यक है। यदि ऐसा स्थान नगर के बीच में न मिल सके तो स्कूल को नगर से कुछ दूरी पर बनाया जा सकता है। नदी, नाले इत्यादि का स्कूल के समीप होना ठीक नहीं।

स्कूल का मकान—स्कूल के मकान की बनावट ऐसी होनी चाहिए कि जिससे बालकों के स्वास्थ्य की वृद्धि हो। मकान के नीचे, भूमि से कम से कम १ फुट ऊँचा, ईंट और चूने या कंक्रीट का एक चबूतरा होना चाहिए। यदि वहाँ की भूमि में सील रहती है तो चबूतरे की ऊँचाई अधिक होना आवश्यक है। मकान के चारों ओर का स्थान, जो मकान की चौड़ाई से कम से कम आधा हो, पक्का और ढलवाँ बनाना चाहिए। इसके चारो ओर एक पक्की चौड़ी नाली हो जिसके द्वारा जल स्कूल से दूर किसी प्रणाल इत्यादि में पहुँच जावे।

स्कूल का मकान दो खण्ड से अधिक ऊँचा न होना चाहिए। प्रायः स्कूलों में बहुत से कमरे होते हैं जो बीच के एक बड़े कमरे या 'हाल' के चारों ओर स्थित होते हैं। आजकल कमरों के इस प्रकार बनाने की रीति को उत्तम नहीं समझा जाता। कमरे एक ही रेखा में बनाये जायँ और उनके आगे की ओर एक चौड़ा बरामदा हो जिसमें होकर विद्यार्थी एक कमरे से दूसरे कमरे में जा सके। यदि 'हाल' की आवश्यकता हो तो वह कमरो से भिन्न बनाया जा सकता है। कमरों में खिड़कियाँ और दरवाज़े पर्याप्त संख्या मे होने चाहिएँ जिससे उनके द्वारा वायु और प्रकाश का स्वतन्त्र प्रवेश हो सके। इसलिए कमरे प्रवाहित वायु की दिशा में बनाने चाहिएँ; अर्थात् उनकी खिड़कियाँ उस ओर को हों जिधर से वायु का अधिक प्रवाह होता है।

क्लासों के कमरों को सदा उनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या का अनुमान करके बनाना चाहिए। कमरों की लम्बाई-चौड़ाई इतनी हो कि प्रत्येक विद्यार्थी को कमरे के फ़र्श का १२ से १५ वर्ग फुट स्थान मिल सके; अर्थात् यदि कमरे में ५० विद्यार्थी बैठते हैं तो वहाँ का फ़र्श ७५० वर्ग फुट होना चाहिए। प्रारम्भिक स्कूलों मे ६ वर्गफुट प्रति विद्यार्थी के हिसाब से फ़र्श बनाया जाता है। कमरों की ऊँचाई १० या १२ फुट से कम न हो; १५ फुट ऊँचाई उत्तम है। प्रत्येक विद्यार्थी के लिए कम से कम १५० वर्गफुट वायु-अवकाश होना चाहिए जिससे उसको १५०० से २००० वर्गफुट वायु प्रति घण्टा मिलती रहे।

कमरों में प्रकाश का उत्तम प्रबन्ध होना आवश्यक है। कमरों की बनावट इस प्रकार की होनी चाहिए कि प्रकाश विद्यार्थी की बाईं ओर से आवे। कुछ प्रकाश दाहिनी ओर से भी आना चाहिए जिससे विद्यार्थी की छाया उसके डेस्क पर न पड़े। कमरों में इतना प्रकाश हो कि विद्यार्थी छोटे पाइका टाइप को १ फुट की दूरी से सहज में पढ़ सकें। इससे कम प्रकाश से विद्यार्थी के नेत्रों को हानि पहुँचती है। यदि स्कूल के कमरे लम्बे बनाये जावें तो उनमें प्रकाश अधिक आवेगा और सबसे पीछे की बेंच पर बैठने वाले

विद्यार्थी को भी पढ़ने में कोई कठिनाई नहीं होगी। डाक्टर मोदी के अनुसार कमरा ३० फुट लम्बा और बीस फ़ुट चौड़ा होना चाहिए।

कमरों में वायु-प्रवेश का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए। दीवारो में बड़ी-बड़ी खिड़कियों का होना आवश्यक है जिनके ऊपर वायु-प्रवेश मार्ग हो। इस प्रबन्ध के सिद्धान्त का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। बड़े-बड़े नगरों मे, जहाँ स्थानाभाव के कारण स्कूल के मकान के लिए थोड़ा स्थान मिलता है वहाँ, कभी-कभी कमरों का आयाम आवश्यकता से छोटा बनाना पड़ता है। ऐसे स्थानों में वायु-प्रवेश का प्रबन्ध यन्त्रो द्वारा करना चाहिए।

स्कूल के कमरों का फ़र्श कंक्रीट, पत्थर के चौके, अथवा कंकड़ के ऊपर ईंट और सीमेंट लगाकर बनाया जा सकता है। उसमे दरारे न हों। कहीं-कहीं लकड़ी का भी फ़र्श बनाया जाता है। किन्तु इसमें व्यय अधिक होता है। कमरों की दीवारो पर हलका आसमानी रङ्ग होना चाहिए। यदि उनको चिकना किया जा सके तो और भी उत्तम है।

विद्यार्थियों के डेस्क और बेंच—विद्यार्थियों के बैठने का प्रबन्ध विशेषतया उत्तम होना चाहिए। उनको बैठने के लिए जो डेस्क और बेंच दिये जाते हैं उनकी ऊँचाई और बनावट ऐसी होनी चाहिए कि विद्यार्थी को अपना काम करने में किसी प्रकार की असुविधा न हो। डेस्क ऐसे होने चाहिएँ कि विद्यार्थी की आवश्यकता के अनुसार उनको ऊँचा या नीचा किया जा सके। अधिक आयुवाले विद्यार्थियों के लिए ऊँचे डेस्कों की और कम आयुवाले विद्यार्थियों के लिए नीचे डेस्कों की आवश्यकता होती है। सब विद्यार्थियों को एक समान डेस्क देना भूल है। डेस्क विद्यर्थियों के लिए होने चाहिएँ न कि विद्यार्थी डेस्कों के लिए। डेस्क नीचा होने के कारण विद्यार्थियों को झुककर लिखने और पढ़ने की आदत पड़ जाती है। इससे पृष्ठवंश में जो स्वाभाविक मोड़ होते हैं वह विकृत होने लगते हैं। कन्धे भी नीचे की ओर झुक जाते हैं और वक्ष तथा उदर में के अङ्ग दबते है।

डेस्क और बेंच कमरों में उनकी लम्बाई की ओर रखे रहने चाहिएँ जिससे दीवारों की खिड़कियाँ विद्यार्थियों के दाहिने और बाँयें रहें। दीवार और डेस्कों

मे लगभग दो फुट का अन्तर रहना चाहिए। उनको कमरे में इस प्रकार रखना चाहिए कि सब डेस्क लम्बी पंक्तियो मे रखे रहें और उनके बीच लगभग १५ इंच का अन्तर रहे। प्रत्येक डेस्क की चौड़ाई १५ से १८ इंच तक होनी चाहिए। उसके ऊपरी भाग में, जिसका लिखते समय उपयोग किया जाता है, १५° और नीचे के भाग मे, जो पुस्तक को पढ़ते समय रखने के लिए होता है, ४५° का ढाल हो। डेस्कों की ऊँचाई विद्यार्थी की ऊँचाई के अनुसार होनी चाहिए जिससे डेस्क पर बैठने पर विद्यार्थी की बाँह और कुहनियाँ डेस्क के ऊपर रहे किन्तु उसको झुकना न पड़े। डेस्क और बैठक में पर्याप्त अन्तर रहना चाहिए। बैठक की चौड़ाई नितम्बों से अधिक न होनी चाहिए। उसकी गहराई, अर्थात् आगे के किनारे से पीछे के किनारे का अन्तर, नितम्बों की चौड़ाई का $\frac{2}{3}$ भाग होना चाहिए। बैठक के नीचे इतना स्थान होना आवश्यक है कि विद्यार्थी बिना किसी असुविधा के अपने पाँवो को भूमि पर रखे रहें। साधारणतया बैठक की ऊँचाई १८ इंच के लगभग रखी जाती है, किन्तु प्रारम्भिक स्कूलों में यह ऊँचाई केवल १५ इंच रखनी चाहिए। यदि विद्यार्थियों के बैठने के लिए एक ही बेंच हो तो उसकी लम्बाई इतनी हो कि प्रत्येक विद्यार्थी को बैठने के लिए २० इंच लम्बा स्थान मिल सके। बैठक या बेंच के पीछे की ओर भी लकड़ी की पीठ लगी रहनी चाहिए जिसके सहारे विद्यार्थी पीछे की ओर को झुक सके। बैठक का यह भाग इस प्रकार पीछे की ओर को झुका दिया जाय कि वह कटि-प्रान्त के मोड़ के समान हो जावे, और इस प्रकार पृष्ठवंश के इस भाग को उचित आश्रय दे सके। इससे विद्यार्थी का शरीर ऊपर को तना रहेगा। यदि पीछे की ओर कटि प्रान्त पर आश्रय न देकर उससे ऊपर की ओर आश्रय दिया जायगा तो उसका कोई फल न होगा।

गाँवों के प्रारम्भिक स्कूलों में डेस्क और बेंच इत्यादि का प्रबन्ध करना कठिन होता है; वहाँ सदा धन का अभाव रहता है। प्रायः विद्यार्थियों को फ़र्श ही पर बैठना होता है। ऐसी दशा मे स्कूल के शिक्षको को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि लिखते समय विद्यार्थी अपनी एक टाँग

मोड़कर घुटने पर कापी को रखकर लिखे। ऐसा करने से उनको झुकना नहीं पड़ेगा।

क्लासों में जो काले बोर्ड रखे जाते हैं वह चिकने और चमकीले न हों। उनको क्लास के एक कोने में, जहाँ प्रकाश तीव्र न हो, रखना चाहिए।

स्कूल के कमरो मे चटाई या दरी न होनी चाहिए। उनके नीचे धूल एकत्र हो जाती है।

पीने के जल का प्रबन्ध—पीने के जल के सम्बन्ध में स्कूलों में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। यदि संक्रमण किसी प्रकार एक बार स्कूल मे पहुँच जाता है तो अनेकों परिवार रोग के शिकार बनते है।

नगरो मे, जहाँ म्यूनिसिपैलिटियों की ओर से शुद्ध जल के वितरण का प्रबन्ध होता है वहाँ, शुद्ध जल मिलने मे कोई कठिनता नहीं होती। ऐसे स्थानों में म्यूनिसिपैलिटी से आवश्यकतानुसार दो या चार नल स्कूल में उचित स्थान पर लगवा लेना चाहिए जिनसे पीने तथा दूसरे कामो के लिए जल मिलता रहे। विद्यार्थियो को नल की टोंटी मे मुँह लगाकर जल पीने की मनाही होनी चाहिए। नल के ऊपर एक व्यक्ति केवल विद्यार्थियों को जल देने के लिए ही नियुक्त होना चाहिए जो एक स्वच्छ लोटे में जल भरकर विद्यार्थियो को पिलाता रहे। पानी पीने के लिए मटकनों का प्रबन्ध हो सके तो उत्तम है। उपयोग करने के पश्चात् उनको फोड़ दिया जा सकता है। प्रायः विद्यार्थी हाथ की अँजुली बनाकर उसके द्वारा जल पीते हैं।

जिन स्थानों में म्यूनिसिपैलिटियों की ओर से जल-वितरण का प्रबन्ध नहीं है वहाँ पर जल के सम्बन्ध में अधिक सावधान होने की आवश्यकता है। सबसे उत्तम तो यह है कि स्कूल के अहाते मे एक गहरा कुआँ हो और उसकी, पूर्व में बताये अनुसार, देख-रेख की जावे। विद्यार्थियों के पीने का जल केवल इसी कुएँ से खींचना चाहिए। बाहर के लोगों को कुएँ से जल लेने की मनाही हो। यदि कुआँ स्कूल के अहाते के भीतर न हो तो एक गहरा उत्तम कुआँ चुन लेना चाहिए जिसको समय-समय पर साफ़ करवाना

आवश्यक है। जब लम्बी छुट्टियो के पश्चात् स्कूल खुले तो कुएँ को भले प्रकार स्वच्छ करवाये बिना जल को पीना उचित नहीं।

हमारे देश में, विशेषकर गरमी के दिनों में, जल को मिट्टी के घड़ों में भरकर रखना पड़ता है जिससे जल ठण्डा हो जाता है। इन बर्तनों को स्वच्छ रखना बहुत आवश्यक है। उनका मुँह एक ढक्कन द्वारा सदा ढका रहना चाहिए। घड़ों को नित्य प्रति भीतर से भली भाँति रगड़कर धो लिया जाय। सप्ताह में एक बार प्रत्येक घड़े में पोटाश परमैंगनेट डालना चाहिए। घड़ों को दो समूहों में रखना उत्तम है। प्रत्येक समूह को एक दिन छोड़कर प्रयोग करना चाहिए। जिस दिन उनमें जल न भरा जावे उस दिन उनको धूप में रख दिया जाय। इन घड़ों को बन्द कमरे या सीढ़ियों के नीचे या अन्य ऐसे ही स्थानो में रखना उचित नहीं है। उनके रखने के कमरे में वायु के आने-जाने का मार्ग होना आवश्यक है। घड़ों से निकालकर प्रत्येक विद्यार्थी को जल देने के लिए एक विशेष व्यक्ति नियुक्त होना चाहिए। जल पीने के पात्र को घड़े में कभी न डुबाना चाहिए और न एक ही पात्र से कई विद्यार्थी जल पीवें।

स्कूल की स्वच्छता—प्रत्येक दिवस स्कूल के समाप्त होने पर कमरों की खिड़कियो और दरवाज़ो को खुला छोड़ देना चाहिए। हमारे देश मे साधारणतया सींको की झाड़ू का प्रयोग किया जाता है। इससे धूल उड़ती है। इस कारण यदि झाड़ू लगाने से पूर्व कमरों के फ़र्श पर जल छिड़कवा दिया जावे तो धूल नहीं उड़ेगी। कमरो के फ़र्श को गीले वस्त्रों से पुछवाना बहुत उत्तम है। अस्पतालो में कमरों के फ़र्श इसी प्रकार स्वच्छ किये जाते हैं। सप्ताह में एक बार कमरे से सारा सामान निकलवाकर उसको जल से धुलवा देना चाहिए। न केवल फ़र्श ही किन्तु दीवारें और किवाड़ इत्यादि भी जल से स्वच्छ किये जायँ। महीने में कम से कम एक बार सिलिन या ईज़ाल के द्वारा कमरों का विसंक्रामण आवश्यक है।

बालकों का नाश्ता—बालकों के दोपहर या प्रातःकाल के नाश्ते का स्वयं स्कूल की ओर से प्रबन्ध होना बहुत उत्तम है। ऐसा करने से

विद्यार्थी उन हानिकारक पदार्थों से बच जायँगे जो वह ख़ोमचेवालों से लेकर खाते हैं। यदि ऐसा न हो सके तो विद्यार्थियों को स्वयं अपने-अपने घरों से नाश्ते का सामान लाना चाहिए। स्कूल के अधिकारियों का यह कर्तव्य है कि वह स्कूल में भोज्य पदार्थ लानेवालों का समय-समय पर निरीक्षण करते रहें। यदि किसी पदार्थ को ख़राब पावें तो उसको तुरन्त फिकवा दें और ऐसे पदार्थ लानेवाले पर जुर्माना करें अथवा उसका आना ही बन्द कर दें। स्कूल में भोज्य पदार्थ बेचनेवालों के पास लाइसेंस होना चाहिए और उनको इस बात की आज्ञा होनी चाहिए कि वह सब पदार्थों को सदा आलमारी के भीतर रखें; जिन ख़ोमचों में बेचें उनके चारों ओर जाली का ढक्कन लगा रहे। मक्खियों से उन पदार्थों की पूर्णतया रक्षा होनी चाहिए।

विद्यार्थियों के नाश्ता करने के लिए एक भिन्न कमरा होना चाहिए।

खेल का स्थान—स्कूलों का काम विद्यार्थियों को केवल पाठ पढ़ाना ही नहीं है, किन्तु उनके स्वास्थ्य की वृद्धि करना भी उनका धर्म है। अतएव प्रत्येक स्कूल में विद्यार्थियों के खेलने का स्थान होना चाहिए। जिन स्कूलों को आर्थिक सङ्कट नहीं है उनको फुटबाल, हाकी, क्रिकेट, टेनिस आदि खेलों के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों का प्रबन्ध करना चाहिए। एक स्थान देसी खेलों के लिए भी नियुक्त हो। जो स्कूल इन खेलों के लिए भिन्न-भिन्न स्थान न बना सकें उनको कम से कम एक स्थान अवश्य बनाना चाहिए।

यह स्थान खेलों की आवश्यकतानुसार नापकर बनाये जायँ। उनके चारों ओर तार इत्यादि का एक अहाता हो जिससे पशु या मनुष्य उसके भीतर आकर स्थान को गन्दा न कर सकें। समय-समय पर इस स्थान पर पानी छिड़कवाकर उसको स्वच्छ करवाना आवश्यक है।

लड़कियों के स्कूलों में भी खेल के स्थानों का होना अत्यन्त आवश्यक है; किन्तु उनके चारों ओर ऊँची दीवार का अहाता हो। लड़कियों के स्वास्थ्य की ओर लड़कों के स्वास्थ्य से अधिक ध्यान देना चाहिए। लड़कों

को बाहर जाकर टहलने इत्यादि का किसी न किसी प्रकार अवसर मिल ही जाता है, किन्तु लड़कियों को नहीं मिलता।

खेल के लिए साधारणतया खुला हुआ स्थान बनाया जाता है। किन्तु कुछ स्थान ऐसा भी होना चाहिए जिसके ऊपर छत हो। वर्षा ऋतु मे व्यायाम के लिए यह स्थान प्रयुक्त होता है। यहाँ पर व्यायाम के भिन्न-भिन्न उपकरण रहने चाहिएँ।

छात्रावास

जहाँ तक हो सके, प्रत्येक स्कूल के साथ एक छात्रावास या होस्टल हो। होस्टल में कमरो की संख्या स्थान की आवश्यकता के अनुसार बनाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त यह कार्य स्कूल की आर्थिक स्थिति पर बहुत कुछ अवलम्बित है।

होस्टल के प्रत्येक कमरे में एक या तीन विद्यार्थियों को रखना चाहिए। इस कारण कमरो की लम्बाई-चौड़ाई भी इसी के अनुसार बनाई जाय; इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि कमरे की लम्बाई-चौड़ाई इतनी हो कि उसमें रहनेवाले प्रत्येक छात्र को कम से कम ५० वर्ग फुट भूमि मिल सके। यदि कमरे में तीन विद्यार्थी रहें तो कमरे का फ़र्श १५० वर्ग फुट होना चाहिए। कमरे की ऊँचाई १५ फुट से कम होना ठीक नहीं।

कमरे में वायु-प्रवेश के लिए प्रत्येक दरवाज़े और खिड़की के ऊपर वायु-प्रवेश मार्ग होना चाहिए जो दो वर्ग फुट से कम न हो। प्रत्येक छात्र को एक कुर्सी, एक मेज़, एक तिपाई और एक चारपाई या पलँग देना चाहिए। साधारणतया मूँज, बान या निवाड़ का चारपाइयों मे प्रयोग किया जाता है। किन्तु इनमे कुछ समय के पश्चात् खटमल इत्यादि जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए तार की जालीवाले पलँग उत्तम होते हैं। उनका मूल्य अधिक होता है किन्तु वह बहुत समय तक चलते हैं। पलँगों को समय-समय पर धूप में सुखाना चाहिए। यदि वह निवाड़ या डोरी से बुने हुए हों तो वर्ष भर में कम से कम एक बार निवाड़ को धुलवाना आवश्यक है

यदि मूँज के बान प्रयुक्त किये गये हैं तो उनको वर्ष भर के पश्चात् बदल देना उचित है।

कमरों के प्रकाश का प्रबन्ध होस्टल के अधिकारियों को स्वयं करना चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी को एक लैम्प की आवश्यकता होती है। अधिकारियों को चाहिए कि स्वयं लैम्पो को चुनें। प्रत्येक लैम्प का प्रकाश ८ से १० बत्ती के बराबर होना आवश्यक है। लैम्पों के ऊपर एक हरे रङ्ग का ढक्कन रहना चाहिए जिससे विद्यार्थी के नेत्रों पर प्रकाश न पड़ने पावे। यदि बिजली के प्रकाश का प्रबन्ध हो तो विद्यार्थियों को इस प्रकार के लैम्प देने चाहिएँ जिनका आगे का भाग नीचे की ओर को झुकाया जा सके। १० बजे रात्रि को सब लैम्प बुझ जाने चाहिएँ।

प्रत्येक होस्टल में भोजन का कमरा पृथक् हो। सबसे मुख्य यह है कि एक ही कमरे मे सब छात्रगण मिलकर भोजन करें। किन्तु यदि जाति-भेद के कारण वह ऐसा करना पसन्द न करें तो हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों के लिए भिन्न-भिन्न कमरे होने चाहिएँ जहाँ पर आवश्यकता के अनुसार पट्टे और चौके अथवा मेज़ और बेंचें या कुर्सियाँ लगाई जा सकती हैं।

सहभोज सदा पारस्परिक प्रीति को बढ़ाता है। इसलिए छात्रों को आपस में मिलकर भोजन करने के लिए उत्साहित करना चाहिए। यदि वह नित्य प्रति ऐसा न करें तो कम से कम त्योहारों के अवसरों पर उनको अवश्य सहभोज में सम्मिलित होना चाहिए।

छात्रावास की पाकशालाओं की ओर विशेष ध्यान देना अधिकारियों का कर्तव्य है। फ़र्श का पक्का होना, धुएँ के निकलने के लिए उचित मार्ग का बनाना, वहाँ के जल का निकास, बर्तनों के माँजने का उचित प्रबन्ध, भोज्य पदार्थों का निरीक्षण इत्यादि सब बातों पर उचित ध्यान देना आवश्यक है। भोजन के द्वारा अनेक रोग फैलते हैं। छात्रों का स्वास्थ्य भोजन पर ही निर्भर रहता है। अतएव इस ओर जितना भी ध्यान दिया जावे, कम है।

प्रत्येक छात्रावास में स्नान करने के लिए विशेष स्थान होना चाहिए। एक बड़े कमरे में, जिसका फ़र्श बिलकुल पक्का हो, ४ × ४ फट के कई छोटे-छोटे कमरे बनाये जा सकते हैं जो ऊपर से खुले हुए हो और उनके आगे की ओर लोहे के तख्ते का एक किवाड़ लगा हो। इस प्रकार कई स्नानागार बन जायँगे। प्रत्येक स्नानागार में एक नल और वस्त्र टाँगने के लिए एक खूँटी होनी चाहिए।

जहाँ स्नान करने के लिए जल कुएँ से खींचना पड़े वहाँ स्नानागार कुएँ से पर्याप्त दूरी पर बनाना चाहिए। स्नानागार के पास एक टङ्की बनाई जा सकती है जिससे जल स्नानागारो में आसानी से पहुँच सकता है।

स्नानागारों के जल के निकास का उचित प्रबन्ध होना चाहिए।

यदि छात्रावास मे छात्रो के तैरने के लिए एक बड़ा तालाब बनाया जा सके तो बहुत उत्तम है। तैरने में व्यायाम के साथ-साथ मनोरञ्जन भी होता है। इन तालाबों का जल समय-समय पर बदलते रहना चाहिए।

शौच इत्यादि का प्रबन्ध—शौच-स्थानो के बनाने में नवें परिच्छेद में बताई हुई सब बातो का पूरा ध्यान रखना चाहिए। यदि नगर में जल-संवहन विधि का आयोजन हो तो स्कूल या होस्टल मे उसी के उपयुक्त शौचस्थान बनाये जा सकते है। शौचस्थानों की संख्या पर्याप्त हो। प्रत्येक २० लड़को और प्रत्येक १५ लड़कियो के लिए एक शौच-स्थान होना आवश्यक है। ऐसी संस्थाओं के लिए द्रोण्याकार शौच-स्थान उत्तम होता है। उनमें जल-प्रवाह का सन्तोषजनक प्रबन्ध होना चाहिए। यदि किसी कारण से इस प्रकार का शौच-स्थान उपयुक्त न हो तो लघु बहिर्निष्कासक स्थान बनाया जा सकता है।

किन्तु जिन नगरों या ग्रामो में जल-संवहन विधि का आयोजन नहीं होता वहाँ पर लोहे की चादरों के भिन्न-भिन्न शौच-स्थान बनाना ही उपयुक्त है। इनमें लोहे की ढलवाँ बैठक का प्रयोग करना चाहिए जो 'डोनल्डसन के शौच-स्थान' के नाम से बिकती है। इस बैठक के नीचे चौड़े मलपात्र, जिन पर अलकतरा लगा रहता है, रखे जाते हैं। सारा शौच-स्थान ईंट

और सीमेंट के पक्के प्लेटफ़ार्म पर बनाना चाहिए। इस प्रकार के स्कूल में प्रत्येक ४० विद्यार्थियों के लिए और होस्टल में प्रति २० छात्रों के लिए दो शौच स्थान पर्याप्त समझे जाते हैं। इन सब शौच-स्थानों के चारों ओर एक दीवार का अहाता बना देना चाहिए। इन शौच-स्थानो और स्कूल या होस्टल के बीच कम से कम २० फुट का अन्तर होना आवश्यक है। होस्टल में रात्रि के समय प्रयोग करने के लिए शौचस्थान पास ही या होस्टल के एक भाग में बनाये जाते हैं। रात्रि के अतिरिक्त दिन में इनका प्रयोग करने की मनाही होनी चाहिए। प्रातःकाल एक भङ्गी इन शौच-स्थानों को स्वच्छ करने के लिए नियुक्त हो; वह इनको स्वच्छ करके इनमें ताला लगा दे। रात्रि के समय ताला खोल देना चाहिए। इससे छात्र लोग इस शौच-स्थान का दिन में प्रयोग न कर सकेंगे।

मूत्र-स्थानों की ओर भी इसी प्रकार ध्यान देना आवश्यक है। मूत्र के पात्रो को अप्रवेश्य पदार्थ का बनाना चाहिए। जल-संवहन विधि के साथ चीनी के बने हुए पात्र प्रयुक्त हो सकते हैं। किन्तु इस विधि की अनुपस्थिति में पेटेंट स्टोन या ऐसे ही अन्य अप्रवेश्य पदार्थों के पात्र बनाये जाते हैं। स्कूल में प्रत्येक ४० विद्यार्थियों और होस्टल में प्रत्येक २० छात्रों के लिए एक मूत्र-स्थान होना चाहिए। इन स्थानों को नित्य प्रति किसी विसंक्रामक द्रव्य से धुलवाना चाहिए।

विद्यार्थियों को रात्रि के समय मूत्र स्थान या शौच-स्थान तक जाने में सदा आलस्य मालूम होता है और वह बोर्डिंग हाउस के अहाते में जहाँ-तहाँ मूत्र-त्याग के लिए बैठ जाते हैं। यह बहुत बुरी प्रथा है। अधिकारी लोग सदा ऐसे विद्यार्थियों को, जो स्थान को इस प्रकार दूषित करें, खोजते रहें और उनको दण्ड दें। इस आदत को मिटाने के लिए रात्रि के समय बोडिंग हाउस के अहाते में जहाँ-तहाँ बालटियों में लकड़ी का बुरादा भरकर रख देना चाहिए। यह बालटियाँ मेहतरों द्वारा प्रातःकाल ही हटवा दी जायँ। रात्रि के समय उनको फिर रखा जा सकता है।

स्कूल और बोर्डिंग हाउस के सारे स्थानों को स्वच्छ रखना अधिकारियों का काम है। इन स्थानों मे आदर्शरूप स्वच्छता होनी चाहिए; यहाँ से बालक प्रत्येक बात की शिक्षा ग्रहण करते हैं।

विद्यार्थियों का स्वास्थ्य

स्कूल में स्वास्थ्य-शास्त्र के नियमों के अनुसार प्रत्येक बात का प्रबन्ध करने के पश्चात् स्वयं विद्यार्थियों के स्वास्थ्य पर भी ध्यान देना चाहिए। यद्यपि विद्यार्थी के स्वास्थ्य पर उसके चारों ओर की स्थिति का प्रभाव अवश्य पड़ता है, किन्तु स्वयं उसके स्वास्थ्य-विषयक नियमो का पालन न करने से भी उसका स्वास्थ्य बिगड़ सकता है। इसलिए आज-कल विद्यार्थियों के स्वास्थ्य-निरीक्षण की विधि प्रचलित की गई है। योरुप इत्यादि देशों में यह रीति बहुत काल से प्रचलित थी; किन्तु हमारे प्रान्त में अभी थोड़े ही दिनों से विद्यार्थियों के स्वास्थ्य-निरीक्षण के लिए डाक्टरों की नियुक्ति हुई है।

स्कूल के विद्यार्थियों और होस्टल के छात्रों के स्वास्थ्य को उन्नत करना शिक्षकों और होस्टल के अधिकारियों का काम है। उनको चाहिए कि बालकों को वैयक्तिक स्वास्थ्यवृत्त में बताये हुए नियमों का सदा उपदेश करते रहें और स्वयं आदर्श-स्वरूप बनकर उनको नियमों का महत्त्व बतावें। वास्तव मे स्कूलों की पाठ-विधि मे स्वास्थ्य-विज्ञान का विषय सम्मिलित होना चाहिए। सौभाग्य से हमारे प्रान्त के शिक्षा-विभाग ने अब इस ओर ध्यान देना आरम्भ किया है।

विद्यार्थियों में बहुत सी बुरी आदतें पड़ जाती हैं जिनमें तम्बाकू पीना और हस्त-मैथुन विशेषकर हानिकारक हैं। शिक्षकगण को ध्यान-पूर्वक इस बात की जाँच करनी चाहिए कि कौन विद्यार्थी इन बुरी आदतों का ग्रास बना हुआ है। जिस पर उनका सन्देह हो उस विद्यार्थी को अपने पास एकान्त मे बुलाकर उपदेश देना चाहिए और उस आदत के बुरे परिणाम बताने चाहिएँ। कभी-कभी निषेध से विधान हो जाता है। इस कारण

बालकों के साथ व्यवहार करने में सदा बुद्धि और कौशल से काम लेना चाहिए। प्रथम अपने व्यवहार से बालकों का अपने ऊपर विश्वास जमा लेना आवश्यक है। तत्पश्चात् उपदेश, भर्त्सना और उचित निरीक्षण से उनकी बुरी आदतें छुड़ाई जा सकती हैं।

बाल-विवाह की प्रथा से बालकों को बहुत हानि पहुँचती है। इससे न केवल उनकी शिक्षा बन्द हो जाती है वरन् उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ जाता है। सौभाग्य से शिक्षा-विभाग का ध्यान इधर भी आकर्षित हुआ है और उसने बाल-विवाह को रोकने के लिए नियम भी बना दिये हैं। प्रत्येक शिक्षक का यह काम है कि वह अपने उपदेशों द्वारा बाल-विवाह के दुष्परिणाम समझाकर उसको रोकने की चेष्टा करे।

स्वास्थ्य-निरीक्षण

स्कूल के विद्यार्थियों की प्रत्येक वर्ष एक डाक्टर के द्वारा परीक्षा होनी चाहिए। परीक्षक का यह कर्तव्य है कि बालक के शरीर में जो रोग या विकार हो, जैसे दृष्टि-दोष या झुककर चलना इत्यादि, उन सबको मालूम करे और तत्पश्चात् स्कूल के अधिकारियों को बतावे। वास्तव में बालकों के दोष और उनकी उचित चिकित्सा के आयोजन के सम्बन्ध में माता-पिता और अभिभावकों को उचित सम्मत्रि देनी चाहिए। परीक्षक को उन सब विद्यार्थियों का एक रजिस्टर रखना चाहिए जिनमें किसी प्रकार का दोष मिले। इन विद्यार्थियों की समय-समय पर परीक्षा करना आवश्यक है जिससे मालूम होता रहे कि उनका दोष दूर हुआ या नहीं, अथवा दोष दूर करने के लिए उचित प्रयत्न भी किया गया या नहीं। शारीरिक दोषों की उचित समय पर चिकित्सा हो जाने से बालक जन्म भर के लिए दोष से मुक्त होता है, उसकी काम करने की शक्ति बढ़ जाती है और उसका स्वास्थ्य उन्नत हो जाता है। बङ्गाल में स्वास्थ्य-परीक्षा द्वारा मालूम हुआ है कि वहाँ पर केवल ३३ प्रतिशत विद्यार्थी दोषों से मुक्त हैं, ६७ % विद्यार्थी रोगों और विकारों से ग्रस्त हैं। बिहार में ६० % विद्यार्थी दोष-युक्त पाये गये; केवल ४० % दोष-रहित थे। संयुक्त प्रान्त में

दोष-युक्त विद्यार्थियों की संख्या कम है। नेत्र, दाँत और त्वचा-सम्बन्धी दोष अधिक पाये जाते हैं।

स्वास्थ्य-परीक्षक को स्कूल का निरीक्षण करना चाहिए। स्कूल या बोर्डिंग-हाउस की स्थिति, उसके जल का निकास, कमरों की बनावट और स्वच्छता इत्यादि का प्रबन्ध, प्रकाश, वायु-प्रवेश, डेस्क या बेंच इत्यादि की उपयुक्तता, पीने का जल और भोजन का प्रबन्ध, पाकशाला, शौच-स्थानों की स्वच्छता इत्यादि सब बातों का निरीक्षक को ध्यानपूर्वक निरीक्षण करना आवश्यक है। उसको जहाँ कहीं त्रुटि मालूम हो, वहीं नोट कर लेना चाहिए। इस प्रकार उसकी जो रिपोर्ट तैयार हो वह इन्सपेक्टर या ऊँचे अधिकारियों के पास भेजी जाय। साथ मे उसको हेडमास्टर का ध्यान इन सब त्रुटियों की ओर आकर्षित कर देना चाहिए। जब परीक्षक दूसरी बार स्कूल का निरीक्षण करने आवे तो उसके पास पहिली रिपोर्ट की एक प्रति हो जिससे उसको पहिली बार पाई हुई त्रुटियों का पता लग जावे और वह जान सके कि वह त्रुटियाँ दूर हुईं अथवा नहीं।

जिस विद्यार्थी में परीक्षक को एक बार दोष मिलें उसकी वर्ष भर में तीन बार परीक्षा होनी चाहिए; सब विद्यार्थियों की बार-बार परीक्षा करने का कोई फल नहीं है। किन्तु प्रत्येक वर्ष स्कूल मे जो नये विद्यार्थी आवें उनकी परीक्षा होना आवश्यक है।

प्रत्येक विद्यार्थी की उचित परीक्षा होनी चाहिए और परीक्षा-फल के कार्ड पर परीक्षा का फल लिख देना चाहिए। यह कार्ड स्कूल के दफ़्र में रहे। जब कभी विद्यार्थी की परीक्षा हो तब उसी पर सदा परीक्षा-फल लिखा जाय। यदि विद्यार्थी एक स्कूल को छोड़कर दूसरे स्कूल में जावे तो Transfer-Certificate के साथ-साथ यह कार्ड भी दूसरे स्कूल में जाना चाहिए।

संयुक्त प्रान्त के शिक्षा-विभाग ने इस कार्ड का एक स्थायी स्वरूप बना दिया है। कार्ड का स्वरूप निम्नलिखित प्रकार का है—

नाम ________________

जाति ________________

पिता का नाम ________________

पता ________________

स्कूल ________________

प्रवेश की तारीख़ ________________

प्रवेश के दिन की आयु ________________

चेचक का टीका लगा है या नहीं ________________

परीक्षा की तारीख़ ________________

	१९३	१९३	१९३	१९३	१९३
जनवरी					
फ़रवरी					
मार्च					
अप्रैल					
मई					
जून					
जुलाई					
अगस्त					
सितम्बर					
अक्टूबर					
नवम्बर					
दिसम्बर					

स्वास्थ्य-परीक्षक द्वारा विशेष विवरण

१—शरीर का भार और ऊँचाई—

	१९२	१९२	१९२	१९२	१९२	१९२
	भार	भार	भार	भार	भार	भार
जनवरी अप्रैल जुलाई अक्टूबर						
ऊँचाई						

२—विद्यार्थी की शारीरिक अवस्था—

परीक्षित अङ्ग अथवा रोग	दशा	१९२	१९२	१९२	१९२	१९२	१९२	
१. साधारण स्वरूप स्वच्छता २. दाँत–(१)कीड़ा लगा हुआ (२)पायरिया								

परीक्षित अङ्ग अथवा रोग	दशा	१६३	१६३	१६३	१६३	१६३	१६३
३. गला और नासिका							
(१) ऐडीनायड[1]							
(२) टांसिल[2]							
४. किसी ग्रन्थि की वृद्धि							
५ कर्ण							
(१) मध्यकर्णरोग							
(२) श्रवण-शक्ति							
६ नेत्र							
(१) पलकों के रोग							
(२) दृष्टि							
७ भाषण-शक्ति.							
८ विचार-शक्ति.							
९. कोई विशेष रोग.							
(१) श्वास-सम्बन्धी							
(२) रक्त-संवहन-सम्बन्धी							
(३) पाचन-सम्बन्धी							
(४) नाड़ीमण्डल सम्बन्धी							
१०. पाण्डु रोग							
(१) प्लीहा का आयाम							
(२) जीवाश्रयी कृमिज या अन्य रोगों के लक्षण							
११. अन्य कोई साधारण रोग जैसे गलग्रन्थि-वृद्धि या दाद इत्यादि.							

रोगो की परीक्षा के पश्चात् उनके सामने के स्तम्भ में पूर्ण शब्द न लिखकर निम्नलिखित अक्षर लिख दिये जाते हैं। यह कार्ड अँगरेज़ी में है। इस कारण अँगरेज़ी ही के अक्षर भी लिखे जाते हैं। किन्तु उन्हीं के समान नागरी लिपि के अक्षर लिखे जा सकते है।

१. Adenoids. २. Tonsils.

Normal = N—स्वास्थ्य = स्व.
Absent = A—अनुपस्थित = अ.
Disappeared = D—रोगमुक्त = रो. मु.
Present to Slight Degree = + —कुछ है = +
Present to Medium Degree = + + —अधिक है = + +

स्वास्थ्य-निरीक्षक को चाहिए कि ऊपर बताये हुए कार्ड पर प्रत्येक अङ्ग की दशा ठीक-ठीक लिखकर उस पर अपना हस्ताक्षर करे।

विद्यार्थी की परीक्षा—कार्ड मे जितने अङ्ग अथवा रोगों के नाम लिखे हैं उन सब की पूर्ण परीक्षा होनी चाहिए जिससे विद्यार्थी का कोई दोष छिपा न रह जावे। स्वास्थ्य परीक्षक को एक विशेष क्रम से परीक्षा करनी चाहिए।

परीक्षा करने के लिए एक भिन्न कमरा हो जिसमे परीक्षक एक-एक विद्यार्थी को बुलाकर उसकी परीक्षा कर सके। जिस समय विद्यार्थी कमरे के भीतर प्रविष्ट हो उस समय परीक्षक उसकी चाल को देखे। साथ में शरीर के अङ्गो मे रचना-सम्बन्धी यदि कोई विकार है तो वह भी परीक्षक को दीख जायगा। तत्पश्चात् परीक्षक को विद्यार्थी से उसका नाम, पता अथवा इसी प्रकार के एक या दो प्रश्न करने चाहिएँ। विद्यार्थी के उत्तर देने की तत्परता से परीक्षक को विद्यार्थी की मानसिक दशा का बहुत कुछ पता लग सकता है। यदि उस पर पक्षाघात का कुछ प्रभाव है तो वह भी मालूम हो जायगा। बात-चीत करते समय उसके मुख के दोनों ओर की पेशियाँ एक समान काम नहीं करेंगी; उसका मुख एक ओर को मुड़ जायगा।

इसके पश्चात् परीक्षक को विद्यार्थी के वस्त्र उतरवा देने चाहिएँ और सारे शरीर की रचना को ध्यान-पूर्वक देखना चाहिए। वक्ष के आकार, पृष्ठवंश और कन्धो का विशेषतया निरीक्षण करना चाहिए। चपटा वक्ष स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है। कन्धे ऊपर को उठे होने चाहिएँ। साथ में चर्म के रोगो और पाण्डुता को भी ध्यान से देखना चाहिए। उँगलियो के नखो के रङ्ग और पलकों के भीतरी भाग को देखकर पाण्डुता का ना चल सकता है। विद्यार्थियो मे प्रायः दाद बहुत पाया जाता है।

तत्पश्चात् विद्यार्थी का मुख खुलवाकर उसके दांत, मसूड़े, गला और मुख के भीतर की पूर्ण परीक्षा करनी चाहिए। दांतों पर प्रायः काला या भूरे रङ्ग का मैल जमा रहता है। मसूड़ों को दाबने से पायरिया में पूय निकलने लगती है। यदि दांत में कीड़ा लगा हो या वह खोखला हो तो उसको भी देखना चाहिए। यदि विद्यार्थी के मुँह से दुर्गन्धि निकल रही हो तो उसको भी नोट कर लेना चाहिए। पायरिया रोग में सदा मुँह से दुर्गन्धि निकला करती है। इस समय यह भी देखा जा सकता है कि विद्यार्थी मुँह से श्वास लेता है या नाक से। जब नासिका के पिछले भाग मे मांसवृद्धि या ग्रन्थिवृद्धि हो जाती है, जिसको 'ऐडीनायड' कहते है, तब बालक मुँह से श्वास लेने लगते हैं। जिह्वा को यन्त्र से दाबकर, गले के भीतर प्रकाश डालकर, सारे गले को देखना चाहिए। सम्भव है 'टांसिल्स' नामक ग्रन्थिया बढ़ी हो।

नेत्रो की परीक्षा विशेष महत्त्व की है। उन पर विद्यार्थी का सारा भविष्य निर्भर रहता है। प्रथम नेत्रो मे अभिष्यन्द या सूजन के चिह्न देखने चाहिएँ। तत्पश्चात् विद्यार्थी से सफ़ेद कार्ड-बोर्ड पर छपे हुए अक्षरों को २० फुट की दूरी से पढ़वाना चाहिए। यह Test Types कहलाते है और बाज़ार में बिकते हैं। जो विद्यार्थी अक्षरों को पढ़ने मे असमर्थ हो उनके प्रत्येक नेत्र की, चश्मे की सहायता से, परीक्षा होनी चाहिए और यदि आवश्यक हो तो विद्यार्थी को, चश्मे का उचित नम्बर देकर, चश्मे का प्रयोग करवाना चाहिए।

स्कूल से विद्यार्थी का बहिष्कार—स्वास्थ्य-निरीक्षक को इस बात का अधिकार होना चाहिए कि यदि वह किसी विद्यार्थी को संक्रामक रोग से ग्रस्त पावे अथवा यदि विद्यार्थी के गृह मे कोई मनुष्य विशेष संक्रामक रोग से पीड़ित हो और परीक्षक की सम्मति में उस विद्यार्थी के द्वारा दूसरे विद्यार्थियों में भी रोग के फैलने की आशंका हो तो वह, कुछ विशेष काल के लिए, उस विद्यार्थी को स्कूल आने से रोक दे। बालकों में ऐसी आदतें होती है जिनसे उनमें रोग बहुत जल्दी फैल जाता है। डिप्थीरिया इत्यादि रोग कई बार इस

प्रकार फैल चुके हैं। निरीक्षक को इस बात का भी अधिकार होना चाहिए कि यदि वह किसी विद्यार्थी को उसकी शारीरिक या मानसिक दशा के कारण शिक्षा के अयोग्य समझे तो, विद्यार्थी के हित के लिए, वह एक या दो वर्ष के लिए विद्यार्थी का स्कूल से बहिष्कार कर दे। बहुधा स्वास्थ्य के बिगड़ जाने पर विद्यार्थियों को कुछ समय के लिए स्कूल से उठा लिया जाता है और स्वास्थ्य के ठीक हो जाने पर फिर पूर्ववत् शिक्षा का आयोजन कर दिया जाता है।

निम्नलिखित सारिणी में यह दिखाया गया है कि किन-किन रोगों में विद्यार्थी का स्कूल से कितने दिन के लिए बहिष्कार करना चाहिए।

<table>
<tr><th>रोग</th><th>रोगग्रस्त विद्यार्थी का कितने समय के लिए बहिष्कार करना चाहिए?</th><th>विद्यार्थी के गृह मे किसी मनुष्य के रोगग्रस्त होने पर विद्यार्थी का कितने समय के लिए बहिष्कार आवश्यक है?</th></tr>
<tr><td>विशूचिका
शीतला</td><td>अस्पताल से छूटने तक अथवा चिकित्सक इस बात का प्रमाणपत्र दे कि रोगी रोगमुक्त हो गया है।</td><td rowspan="3">म्यूनिसिपैलिटी या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्वास्थ्याध्यक्ष के प्रमाणपत्र के उपस्थित करने अथवा रोगमुक्त होने के कम से कम ७ दिन पश्चात् तक विद्यार्थी का बहिष्कार करना चाहिए।</td></tr>
<tr><td>डिप्थीरिया</td><td>अस्पताल से छूटने के पश्चात् २ सप्ताह तक अथवा यदि घर पर चिकित्सा हुई है तो गले की जीवाणु-शास्त्र के अनुसार तीन बार परीक्षा के पश्चात् चिकित्सक का रोगमुक्त होने का प्रमाणपत्र मिलने तक।</td></tr>
<tr><td>अरुणज्वर</td><td>अस्पताल से छूटने तक अथवा चिकित्सक का प्रमाणपत्र मिलने पर।</td></tr>
</table>

रोग	रोगग्रस्त विद्यार्थी का कितने समय के लिए बहिष्कार करना चाहिए ?	विद्यार्थी के गृह में किसी मनुष्य के रोगग्रस्त होने पर विद्यार्थी का कितने समय के लिए बहिष्कार करना आवश्यक है ?
विसर्प और आन्त्रिक ज्वर	अस्पताल से मुक्त होने या चिकित्सक के प्रमाणपत्र पाने तक	आवश्यक नहीं है।
मसूरिका	४ सप्ताह	३ सप्ताह बच्चों के लिए, २ सप्ताह बड़ों के लिए।
कर्ण पश्चिम ग्रन्थि-शोथ अथवा कनफेर	३ सप्ताह	३ सप्ताह बच्चे के लिए, बड़े बालक का बहिष्कार आवश्यक नहीं है।
कुकुर खाँसी	जब तक बालक रोगग्रस्त रहे अथवा ६ सप्ताह तक।	रोगग्रस्त बालकों के अतिरिक्त अन्य के लिए २ सप्ताह।
राजयक्ष्मा	जब तक रोग रहे।	अन्य बालकों का बहिष्कार करना आवश्यक नहीं है।
इन्फ़्लुएंज़ा	२ से ३ सप्ताह	१० दिन
कुष्ठ	सदा के लिए बहिष्कार	इस रोग के रोगी के साथ एक ही मकान में बालकों को नहीं रहने देना चाहिए।
लघु मसूरिका	२ सप्ताह	२ सप्ताह
दाद, खाज, अभिष्यन्द	जब तक रोग-मुक्त होने का चिकित्सक का प्रमाणपत्र न मिले।	आवश्यक नहीं है।

नगर मे किसी महामारी के फैलने पर स्वास्थ्य-निरीक्षक उचित समय तक स्कूल को बन्द कर देने की आयोजना कर सकता है; किन्तु उसको अधिकारियों के साथ मिलकर ऐसा करना चाहिए।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

व्यवसाय-सम्बन्धी स्वास्थ्यवृत्त

आज-कल व्यवसाय की दिनों दिन उन्नति हो रही है। नये कारख़ाने और मिलें सदा खुलती रहती है। नवीन कलाओ के आविष्कार के साथ-साथ व्यवसाय की उन्नति होना भी अनिवार्य है। व्यवसाय ही पर प्रत्येक देश की समृद्धि निर्भर रहती है। ऐसी दशा मे संसार का प्रत्येक देश व्यवसाय की उन्नति मे एक दूसरे के साथ-साथ स्पर्धा कर रहा है। अतएव हमारे देश में भी कारख़ानों और उनके साथ-साथ कारख़ानों मे काम करनेवाले व्यक्तियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। देश के कई बड़े-बड़े व्यवसायी नगर केवल कारख़ानों मे काम करनेवालों ही के कारण बसे हुए हैं।

पश्चिमी देशों में यह युग हमारे देश की अपेक्षा बहुत पूर्व प्रारम्भ हो चुका है। वहाँ के रहनेवालों को व्यवसाय अथवा कारख़ानों से होनेवाले हानि-लाभ का भी अधिक अनुभव हुआ है। कारख़ानों से स्वास्थ्य पर जो बुरा प्रभाव पड़ता है उसको दूर करने के लिए भी उन्होंने बहुत प्रयत्न किया है। किन्तु हमारे देश में अभी तक इसकी ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया गया है। सन् १९११ मे सरकार की ओर से 'इंडियन फ़ैक्टरीज़ ऐक्ट' बना था। सन् १९२२ में इस ऐक्ट में फिर कुछ संशोधन किया गया। सन् १९२३ में इसमें फिर परिवर्तन हुए। इसका अभिप्राय कारख़ाने में काम करनेवालों को उन हानिकारक प्रभावो और स्वास्थ्यनाशक दशाओ से बचाने का था, जो कारख़ानों मे प्रायः उपस्थित होती है। इस ऐक्ट के अनुसार सरकार इंसपेक्टरों अथवा निरीक्षकों को नियुक्त कर सकती है जो कारख़ानों के भीतर जाकर वहाँ की स्वच्छता, जल इत्यादि का प्रबन्ध, कारख़ाने के मकान, रजिस्टर, और मशीनों इत्यादि का निरीक्षण कर सकते है। इस ऐक्ट के अनुसार प्रत्येक ज़िले के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को कारख़ानों पर पूरा अधिकार होता

है। वह जब चाहे तब वहाँ का निरीक्षण कर सकता है और आवश्यकतानुसार कार्य करने की आज्ञा दे सकता है।

कारख़ानो मे मशीनों से दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। वहाँ पर होने-वाले व्यवसाय के अनुसार व्यक्तियो को भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न हो जाते है जिनसे उनकी मृत्यु तक हो सकती है। निम्नलिखित तालिका में भिन्न-भिन्न व्यवसायों से उत्पन्न हुए रोगों से ग्रस्त व्यक्तियो की संख्या दिखाई गई है। अन्वेषणकर्ताओ द्वारा इँगलैंड मे यह अङ्क एकत्र किये गये हैं और यहाँ पार्क्स केनवुड की पुस्तक से उद्धृत हैं।

व्यवसाय	राजयक्ष्मा	नाड़ी मण्डल के रोग	हृदय और रक्त-सम्बन्धी रोग	श्वास-सम्बन्धी रोग	सब कारणों से रोगग्रस्त
पुरुष	१८६	१०५	१४४	१७०	१०००
कृषि-सम्बन्धी काम करनवाले	७५	५२	१०२	८०	५६७
कोयले की खानों के मज़दूर	९८	७७	१२१	२६१	९३९
ऊन-सम्बन्धी काम करनेवाले	१६१	९२	१५०	१५५	९१७
सूत ,, ,, ,, ,,	२१४	१००	१४०	१९०	१०१०
दर्ज़ी	२४३	८९	१२३	१४५	९५०
मोची	२७७	८३	१३६	१४०	९१६
कुम्हार	२९१	९८	१९९	४२५	१३७२
छापेख़ाने में काम करनेवाले	३२३	७१	१०७	११०	९९३
बावर्चीख़ाने में ,, ,, ,,	५०६	१०५	२०६	३००	१४६८
टीन के कारख़ाने में ,, ,, ,,	८५१	७७	१६१	७३५	२१६०

इन अङ्कों से स्पष्ट है कि कारख़ानो मे स्वास्थ्य-सम्बन्धी उन्नति की बहुत आवश्यकता है। यह अङ्क इँगलैंड के हैं जहाँ इस विषय की ओर बहुत समय से ध्यान दिया जा रहा है। हमारे देश में अभी तक इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। इस कारण हमारे देश में रोगग्रस्त व्यक्तियों के अङ्क ऊपर लिखे अङ्कों से कहीं अधिक समझने चाहिएँ।

कारख़ानों मे न केवल मज़दूरों की सुविधा और उनके स्वास्थ्य की ही ओर ध्यान देना आवश्यक है; किन्तु उनकी सामाजिक दशा के सुधार करने की भी उतनी ही आवश्यकता है।

कारख़ाने मे काम करनेवाले मज़दूरों अथवा अन्य कर्मचारियो के स्वास्थ्य को उत्तम बनाये रखने के लिए कारख़ाने की इमारत, उसकी स्थिति, प्रकाश और वायु-प्रवेश के प्रबन्ध, कारख़ाने के प्रत्येक भाग की स्वच्छता, कारख़ाने मे होनेवाले व्यवसाय, जल का प्रबन्ध, मज़दूरो के काम करने का समय, उनके मनोरञ्जन इत्यादि सब पर ध्यान देना आवश्यक है।

मकान—मकान के सम्बन्ध मे गवर्न्मेंट की ओर से नक़शे बना दिये गये है जिनके अनुसार इमारत को बनाया जा सकता है। यदि दूसरे प्रकार से कारख़ाने बनाने हो तो उनके नक़शो को गवर्न्मेंट के पास भेजकर स्वीकृत करवा लेना चाहिए।

कारख़ाने के कमरो की लम्बाई-चौड़ाई वहाँ पर काम करनेवालो की संख्या के अनुसार होनी चाहिए। इस बात का ध्यान रहे कि किसी स्थान पर आवश्यकता से अधिक व्यक्ति एकत्र न हो। प्रत्येक कमरे मे प्रति मज़दूर के लिए ३६ वर्ग फ़ुट स्थान और ५०० घन फ़ुट वायु-अवकाश होना चाहिए। प्रत्येक कमरे का अजन पूर्ण होना चाहिए। यदि वहाँ पर होनेवाली क्रियाओ से दुर्गन्धित वाष्प या गैसें उत्पन्न होती है तो उनके निकलने के लिए उचित प्रबन्ध होना चाहिए। ऐसे स्थानो में भीतर की अशुद्ध वायु को कमरे से बाहर निकालने के लिए आकर्षक यन्त्रो या पङ्खों का प्रयोग किया जा सकता है।

कारख़ानों मे प्राय दुर्घटनाएँ होती रहती है, इसलिए कमरोके दरवाज़े चौड़े होने चाहिएँ। उन पर जो किवाड़ लगाये जावें वह बाहर की ओर को खुलें।

कारख़ाने का मकान पक्का और दृढ़ होना चाहिए। उसके फ़र्श की दृढ़ता उसमें रहनेवाली मशीनो के अनुसार, जो फ़र्श पर लगाई जायँगी, होनी चाहिए। दीवारों और छतो का भी दृढ़ होना आवश्यक है। वहाँ पर एक ही साथ बहुत अधिक व्यक्ति एकत्र रहते हैं। छत या दीवार के, दुर्बल होने के कारण, टूट जाने से भयानक दुर्घटना होने की आशंका है।

शौच-स्थान इत्यादि—प्रत्येक कारख़ाने में काम करनेवालों की संख्या के अनुसार शौच और मूत्रस्थान पर्याप्त होने चाहिएँ। इनको बनाने के सम्बन्ध में उन सब बातों का, जिनका पूर्व परिच्छेदों में उल्लेख किया जा चुका है, ध्यान रखना चाहिए। वह पूर्ण अप्रवेश्य पदार्थ के बने हों। यदि नगर मे जल-संवहन विधि प्रयुक्त है तो इन स्थानों का उसके साथ सम्बन्ध कर देना चाहिए। किन्तु यदि ऐसा न हो तो साधारण लोहे या पत्थर के शौच स्थान बनाये जा सकते हैं जहाँ अलकतरे से पुते हुए लोहे के पात्रों का उपयोग हो। मल और मूत्र के लिए दो भिन्न-भिन्न पात्र होने चाहिएँ जिनमे रेत इत्यादि भरी रहे। यदि कारख़ाने मे स्त्रियां भी काम करती हो तो उनके लिए शौच और मूत्रस्थान भिन्न होने चाहिएँ जो अहाते के द्वारा भली भाँति सुरक्षित हो। प्रत्येक ५० मज़दूरों के लिए एक शौच-स्थान होना चाहिए। इन स्थानों को पूर्णतया स्वच्छ रखने की अत्यन्त आवश्यकता है। इस कारण जल का समुचित प्रबन्ध होना भी आवश्यक है।

जल का प्रबन्ध—जल की आवश्यकता न केवल पीने ही के लिए किन्तु स्थान को स्वच्छ करने के लिए भी होती है। इस कारण जल का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए। यतस्ततः आवश्यकतानुसार जल के नल लगे होने चाहिएँ। यदि नल का प्रबन्ध न हो तो पास के किसी कुएँ से जल खींच-कर देने का प्रबन्ध होना आवश्यक है। इसके लिए कुछ व्यक्तियों को विशेष-तया नियुक्त करना होगा। जल के सम्बन्ध मे उन सब बातों का, जो तीसरे परिच्छेद में बताई जा चुकी हैं, ध्यान रखना उचित है। जल के निकास का उत्तम प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है।

कारख़ाने के भीतर अथवा उसके अहाते में कहीं गन्दगी एकत्र न होनी चाहिए। सारे मकान को झाड़ने के लिए भङ्गी उचित संख्या में नियुक्त रहे। समय-समय पर दीवारों पर सफ़ेदी करवाना आवश्यक है।

कारख़ानों में काम करने का समय—अनुभव से यह पाया गया है कि किसी विशेष सीमा से अधिक काम करने से कार्य्य-कुशलता कम

हो जाती है और काम करनेवालों के स्वास्थ्य पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। थोड़े समय तक मुस्तैदी के साथ काम करना अधिक समय तक निरुत्साह के साथ काम से उत्तम है। इस कारण कारख़ानों में काम करनेवालों से आठ घण्टे काम करवाना चाहिए। साधारणतया प्रत्येक मनुष्य को आठ घण्टे काम, आठ घण्टे सोना और आठ घण्टे मनोरञ्जन, व्यायाम अथवा पारिवारिक अन्य कार्यों मे व्यय करना चाहिए जिससे उसकी शारीरिक, सामाजिक और धार्मिक उन्नति हो। छः दिन के पश्चात् एक दिन विश्राम अवश्य किया जाय।

इस सम्बन्ध मे कोई विशेष नियम बनाना कठिन है। कार्य्य का समय व्यवसाय के ऊपर निर्भर करता है। सन् १९२२ में इंडियन फ़ैक्टरी ऐक्ट पास हुआ था जिसके अनुसार १५ वर्ष से अधिक आयुवाले पुरुषो और स्त्रियों को ११ घण्टे काम करना पड़ता है। छ. घण्टे काम के पश्चात् एक घण्टे की छुट्टी दी जाती है। यह समय बहुत अधिक मालूम होता है। वास्तव मे आठ घण्टे समय पर्याप्त है। सूत के कारख़ानों में और खानों में, जैसे कोयले की खानो अथवा जिन कारख़ानों में धातुओं का काम होता है वहां, आठ घण्टे रहना पर्याप्त है। इन स्थानों के वायुमण्डल से स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इस कारण आठ घण्टे काम करवाने के पश्चात् मज़दूरों को छुट्टी दे देनी चाहिए। यह देखा गया है कि सूत इत्यादि के कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरो के वंश का तीन या चार पीढ़ियों में अन्त हो जाता है।

कारख़ानो मे स्त्रियों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि हो सके तो उनको भूम्यन्तर्गत खानों या कारख़ानों में काम न करने देना चाहिए। उनको प्रत्येक मास में साधारण छुट्टियो के अतिरिक्त, मासिक-धर्म के समय, तीन या चार दिन का अवकाश मिलना चाहिए। इसी प्रकार गर्भ के अन्तिम दो या तीन महीने उनसे काम न करवाना चाहिए। इस समय के लिए उनको हरजाना मिलना उचित है।

इसी प्रकार १५ वर्ष से कम आयुवालों के लिए भी काम का समय कम होना चाहिए। फ़ैक्टरी ऐक्ट के अनुसार १२ वर्ष से कम आयुवाले कारख़ानों

मे नियुक्त नहीं किये जा सकते। १२ से १५ वर्ष की आयुवालो से छः घण्टे काम ले सकते है जिसके पश्चात् उनको आध घण्टे की छुट्टी देनी चाहिए।

फैक्टरी के मालिको की ओर से फैक्टरी में काम करनेवाले बच्चों और मज़दूरो के बच्चों के लिए एक स्कूल होना चाहिए, जहाँ उनकी उचित शिक्षा का प्रबन्ध हो। स्कूल मे व्यायाम अथवा मनोरञ्जन का प्रबन्ध होना चाहिए। जिस समय छोटी आयुवाले लड़के या लड़कियाँ कारखाने में काम से छुट्टी पाये, उस समय स्कूल में उनकी उपस्थिति अनिवार्य हो। इसी प्रकार मज़दूरो के छोटी आयुवाले बच्चो के लिए भी—जो कारखाने में काम नही करते हैं—शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए।

कारखाने के मज़दूरों मे सामाजिक सुधार की बड़ी आवश्यकता है। यह लोग प्रायः अशिक्षित और नीच जाति के होते है जिनमे अनेकों दुर्व्यसन घुसे रहते हैं। इन व्यसनो से छुड़ाना और उनकी सामाजिक उन्नति करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक कारखाने मे एक समाज होना चाहिए जहाँ समय-समय पर सब मज़दूर एकत्र होकर कथा, उपदेश और भिन्न-भिन्न विषयों पर व्याख्यान इत्यादि सुन सकें। इसका सङ्गठन और सञ्चालन सामाजिक कार्यकर्ताओ की ओर से होना चाहिए। इसके साथ मे एक वाचनालय भी हो जहाँ देशी भाषा के कुछ पत्र रहें। जो शिक्षित मज़दूर हो वह उनको पढ़ें और दूसरे अशिक्षित लोगों को सुनावें।

कारखाने के अधिकारियों की ओर से मज़दूरो के मनोरञ्जन के लिए भी प्रबन्ध होना चाहिए। खेल-कूद, व्यायाम इत्यादि से मनोरञ्जन होता है और बल तथा शक्ति भी बढ़ती है जिससे काम भी उत्तम होता है। अतएव खेल के स्थान, उसके सामान, मज़दूरों में खेल की रुचि उत्पन्न करने इत्यादि का कारखानों के अधिकारी-वर्ग की ओर से आयोजन होना चाहिए।

दुर्घटनाएँ—कारखानों में प्राय: दुर्घटनाएँ हो जाया करती हैं। मशीनों से कभी कभी साङ्घातिक चोटें पहुँच जाती है। इसलिए प्रत्येक कारखाने मे साधारण 'प्रथम सहाय' का सामान तैयार रहना चाहिए। प्रत्येक बड़े कारखाने में एक डाक्टर की नियुक्ति आवश्यक है जो प्रातःकाल वहाँ के मज़दूरों

और उनके परिवार के रोगग्रस्त व्यक्तियों की चिकित्सा का आयोजन कर सके। तत्पश्चात् दिन मे यदि कोई दुर्घटना हो जावे तो तुरन्त डाक्टर को बुलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कारख़ाने मे काम करनेवालों मे से कुछ व्यक्तियों को 'प्रथम सहाय' की शिक्षा देनी चाहिए जिससे दुर्घटना होने पर रोगी को तुरन्त सहायता पहुँच सके।

स्वास्थ्य-नाशक व्यवसाय

ऐसे व्यवसाय जिनसे दुर्गन्धि-युक्त वाष्प निकलते है, स्वास्थ्य-नाशक व्यवसाय कहलाते है। इन व्यवसायों मे जान्तव पदार्थों का अधिक उपयोग होता है; अथवा स्वयं जन्तुओं ही का उपयोग किया जाता है। इससे उत्पन्न हुए गैस और वाष्प वायुमण्डल में व्याप्त होकर चारो ओर के रहनेवालों को कष्ट पहुँचाते है। इस कारण बहुत सी म्यूनिसिपैलिटियों की ओर से इन व्यवसायों के कारख़ानों की स्थिति के सम्बन्ध में नियम बना दिये गये है।

निम्नलिखित व्यवसाय मुख्यतया स्वास्थ्यनाशक है—

(१) पशुओ का पालना या अन्य उपयोगो के लिए रखना।
(२) पशुओ का वध करना।
(३) रक्त को उबालना या सुखाना।
(४) अस्थियों को एकत्र करना या उबालना।
(५) चर्बी को उबालना।
(६) चमड़े को कमाना।
(७) ताँत बनाना।
(८) ईंट और चूने का भट्ठा।
(९) काग़ज़ बनाना।
(१०) ऐसे व्यवसाय जिनमे धुआँ अधिक निकलता है।
(११) बाज़ार।

पशुओं को पालना या रखना—जिस स्थान में पशु रखे जाते है वहाँ पर उनका भोजन, जल, पशु का विष्ठा, मूत्र इत्यादि सब मिलकर सड़ने

लगते है जिससे अत्यन्त दुर्गन्धि उत्पन्न होती है। कुछ पशुओ के शरीर ही से दुर्गन्धि निकलती है जैसे सूअर। हमारे देश मे पुराने मकानो मे प्रायः नीचे के खण्ड में पशुओ को बांधा जाता है जिससे उत्पन्न होनेवाली हानियें का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। इससे न केवल मकान मे ही रहनेवालो को हानि पहुँचती है; किन्तु पास के मकानों में रहनेवालों को भी कष्ट होता है। ऐसे स्थानें मे मक्खी, मच्छर, कृमि इत्यादि उत्पन्न होकर रोग फैलाते है।

पशुशालाएँ रहने के मकानें से कम से कम १०० गज़ दूर होनी चाहिएँ। यह इतनी बड़ी होनी चाहिएँ कि वहाँ प्रत्येक घोड़े के लिए १२ × ६ .फुट और गौ, भैंस आदि के लिए १२ × ४ .फुट स्थान हो। इन स्थानो की ऊँचाई भी १२ .फुट से कम न होनी चाहिए। पशुशाला के चारों ओर कम से कम १५ .फुट चौड़ा स्थान खुला छोड़ देना उचित है।

पशुशाला की दीवारें का छत तक ऊँचा होना आवश्यक नहीं है। उसका फ़र्श चारो ओर की भूमि से एक .फुट ऊँचा और उसका कुछ भाग सीमेंट से पक्का बना होना चाहिए जहाँ पशुओ को नहलाया जा सके। फ़र्श के उचित ढाल की ओर ध्यान रखना आवश्यक है जिससे वहां पर पड़ा हुआ जल स्वयं ही बहकर एक पक्की मोरी में चला जावे। यह मोरी फ़र्श के चारो ओर बनी हो और इसके द्वारा बहा हुआ जल पशुशाला से पर्याप्त दूरी तक पहुँचना चाहिए। पशुशाला मे जल का पूर्ण प्रबन्ध होना आवश्यक है जिससे स्थान स्वच्छ रखा जा सके। पशुओं की विष्ठा को हटाने का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए। पशुओं का भोजन, पशुशाला का कूड़ा इत्यादि ऐसे पात्रो में रखा रहना चाहिए जो पूर्णतया अप्रवेश्य हो और जिन पर ढक्कन लगा हो। यह पात्र जलाशय से दूर होने चाहिएँ और पीने का जल भी उनके पास न रखना चाहिए। जहाँ भूसे को एकत्र किया जाता है वहाँ से असह्य दुर्गन्धि निकलने लगती है। इस कारण यह स्थान रहने के मकानें से दूर और पशुशाला से भी पृथक् होना चाहिए।

जिस स्थान में सूअर रखे जाते है वह विशेषतया कष्टदायक होते है। इस कारण वहाँ पर स्वच्छता, पशुओ के भोजन, जल आदि के

प्रबन्ध की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। इन स्थानों का सारा फर्श पक्का होना चाहिए।

(२) पशुओं का वध करना—मांसाहारियों के भोजन के लिए प्रत्येक नगर मे पशुओ का वध किया जाता है। जैसा भोजन के सम्बन्ध मे बताया जा चुका है, रोगग्रस्त पशु के मांस से अथवा उचित प्रकार से न रखने से दूषित हुए मांस के द्वारा रोग फैल सकते हैं। इस कारण पशुओं का वध करने के स्थानों का सरकार के द्वारा नियन्त्रण होना आवश्यक है। म्यूनिसिपेलिटी का स्वास्थ्याध्यक्ष इस स्थान की देख-रेख करता है। कहीं-कहीं पर क़साई स्वयं अपने ही घरों मे पशुओ का वध करते हैं। इसकी आज्ञा न होनी चाहिए। इसमे स्वास्थ्य-निरीक्षकों द्वारा पशुओ के निरीक्षित न होने के कारण रोगग्रस्त पशुओं के वध और उनके मांस के विक्रय का बहुत अवसर रहता है।

वध करने का स्थान काफ़ी बड़ा होना चाहिए। उसकी लम्बाई-चौड़ाई नगर की जनसंख्या के अनुसार रखी जाती है। ३००० जनसंख्या के नगर में ६½ वर्ग फुट प्रति व्यक्ति के हिसाब से लम्बा-चौड़ा वधागार बनाया जाता है। किन्तु जनसंख्या की अधिकता के अनुसार स्थान की लम्बाई-चौड़ाई को बराबर कम करते जाते हैं। ३००० से ५००० जनसंख्या के नगर में ५½ वर्ग फुट, ५००० से ७००० के नगर में ४½ वर्ग फुट, ७००० से अधिक जनसंख्यावाले नगर में ४ वर्ग फुट, १०००० के नगर के लिए ३½ वर्ग फुट और इससे अधिक संख्या होने पर २½ वर्ग फुट प्रति व्यक्ति के हिसाब से वधागार बनाना चाहिए।

यह स्थान ऊँची भूमि पर नगर से पर्याप्त दूर होना चाहिए। वह किसी भी निवासस्थान से १०० गज़ से कम दूर न हो। उसके चारों ओर ऊँची दीवारों का एक अहाता हो जिसके चारों ओर कम से कम २० फुट चौड़ा खुला हुआ स्थान छूटा रहे। स्थान की स्वच्छता का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए। जल इत्यादि का भी उचित प्रबन्ध होना आवश्यक है। यहाँ पर पशुओं का वध करने, वध से पूर्व उन्हें रखने, वध के पश्चात् मांस को रखने, बचे

हुए निकृष्ट भागों को जलाने इत्यादि के लिए भिन्न-भिन्न स्थान होने चाहिएँ। उनके निरीक्षण के लिए भी एक भिन्न स्थान होना चाहिए जहाँ पर निरीक्षक उनका निरीक्षण कर सके।

वधागार—प्रत्येक बड़े नगर में सरकार या म्यूनिसिपेलिटी की ओर से वधागार होना चाहिए जो स्वास्थ्याध्यक्ष के नियन्त्रण में हो। क़साइयों को अपने घरों में वध की आज्ञा देना सर्वथा वर्जनीय है।

वधागार के दरवाज़े बारीक जाली के दुहरे बने होने चाहिएँ जो खोलने पर स्वयं ही बन्द हो जावें। खिड़कियों पर भी बारीक जाली लगी हो। यह स्थान इस प्रकार से बनाना चाहिए कि न तो कटते हुए पशु बाहर से दिखाई दें और न उनका चिल्लाना ही सुनाई पड़े। वधागार का फ़र्श किसी उत्तम अप्रवेश्य पदार्थ का बना होना चाहिए। उसमें उचित ढाल होना आवश्यक है। जल का पूरा प्रबन्ध हो। किनारे पर मोरियाँ होनी चाहिएँ जिनके द्वारा वहाँ गिरी हुई वस्तुएँ जल के द्वारा सहज में बह जावें। कमरों के कोने गोल होने चाहिएँ। कमरों की दीवारों को, कम से कम १० फुट ऊपर तक, किसी अप्रवेश्य और चिकनी वस्तु से ढक देना चाहिए। पशु का वध करने के तीन घण्टे के भीतर कमरे के फ़र्श और दीवारों को, तीन फुट ऊँचाई तक, कड़े ब्रुश से रगड़कर धो दिया जाय।

वध करने के पश्चात् पशु का मांस, उसका रक्त, इत्यादि उत्तम अप्रवेश्य पदार्थों के पात्रों में एकत्र करके उचित स्थान में रखा जावे। पात्रों पर ढक्कन लगे रहने चाहिएँ। जो कुछ अवशेष हो उसको चौबीस घण्टे में वधागार से हटा देना आवश्यक है।

वधागार के ऊपर कोई मकान न बनाना चाहिए। क़साइयों के रहने के लिए कमरे, शौचस्थान या मूत्रस्थान वधागार से दूर होने चाहिएँ।

(३) रक्त को उबालना—पशुओं का वध करने से जो रक्त निकलता है उससे (१) रक्त की खाद, (२) एक रङ्ग (टर्की रेड) और (३) रक्त-अलब्यूमिन बनाये जाते हैं, (४) उसको शर्करा को शोधने

के काम मे भी लाया जाता है। इस कारण कसाई लोग रक्त को एकत्र करके उसको उबालकर गाढ़ा कर लेते है या सुखा लेते है और आवश्यकता के समय उसको काम मे लाते है या बेच देते हैं।

जिस स्थान पर रक्त उबाला जावे वह नगर के घने भाग से दूर होना चाहिए। मकान पक्का हो अथवा ऊपर एक टीन का छप्पर हो। रक्त को उबालने के लिए उत्तम अप्रवेश्य पदार्थ के बर्तन होने चाहिएँ। रक्त के उबलने से जो गैस या वाष्प निकले उनके घनीभवन के लिए उचित प्रबन्ध करना आवश्यक है। जो गैस एकत्र न की जा सके उनके, ऊपर वायु में, निकलने के लिए उचित चिमनी इत्यादि होनी चाहिए जिसके द्वारा वह मकानों से ऊपर जाकर वायु मे मिल सके। यह गैस और वाष्प दुर्गन्धित और स्वास्थ्यनाशक होते हैं।

(४) अस्थियों को एकत्र करना और उबालना—

अस्थियों को उबालकर उनसे चाकू के दस्ते इत्यादि बनाये जाते है। उबलने से अस्थि से जो पदार्थ निकलते हैं उनसे जिलैटीन, एक प्रकार की बसा और एक प्रकार का गोंद बनाया जाता है।

एकत्र करने के पश्चात्, विशेषकर गर्मी और वर्षा के दिनो मे, अस्थियों से बहुत थोड़े समय में अत्यन्त तीव्र दुर्गन्धि निकलने लगती है। इस कारण रहने के मकानों के पास अस्थियों को एकत्र करने की कभी आज्ञा न देनी चाहिए। वास्तव मे ऐसे स्थान नगर से पर्याप्त दूरी पर होने चाहिएँ।

अस्थियों को उबालने के लिए उचित प्रकार से बना हुआ मकान होना चाहिए जहाँ से निकृष्ट अपद्रव्यो के निकास का ठीक प्रबन्ध हो। जहाँ पर अस्थियों को उबाला जावे उसके ऊपर एक चौड़ी लोहे की कुप्पी या फ़नेल होना चाहिए जिसका एक ऊँची चिमनी से सम्बन्ध हो। इससे अस्थियों को उबालने से उत्पन्न हुए दुर्गन्धि-युक्त वाष्प सीधे वायु में चले जावेंगे।

स्थान को स्वच्छ रखने का विशेष प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। उबालने के पश्चात् जो कुछ बचे उसको तुरन्त ही हटा कर अस्थियों पर चूना डाल देना चाहिए। तत्पश्चात् उनको एकत्र किया जा सकता है।

(५) चर्बी को उबालना—मोमबत्ती बनाने के लिए, मशीनों में लगाने के लिए अथवा कुछ अन्य कामों के लिए चर्बी को पिघलाते हैं। यह चर्बी पशुओं की, विशेषतया सूअर, भेड़ या बैल के मांस की चर्बी होती है जो प्रायः सड़ी हुई अवस्था मे मिलती है। उसको भट्ठी के ऊपर चौड़ी कढ़ाइयों में पिघलाया जाता है। पिघलाने या उबालने की कई रीतिया है। (१) चर्बी को भट्ठी पर खुली हुई कढ़ाई मे पिघलाया जा सकता है, अथवा (२) कढ़ाई या किसी दूसरे उचित आकार के बर्तन मे रखी हुई चर्बी में गन्धकाम्ल मिलाकर उस पर भाप की क्रिया करवाते है, अथवा (३) बिना गन्धकाम्ल मिलाये हुए ही भाप का उपयोग करते हैं। (४) इस प्रकार के बर्तनो का प्रयोग किया जाता है जो एक विशेष कोष्ठ से घिरे रहते है। इस कोष्ठ मे भाप पहुँचती रहती है। चर्बी बीच के भाग मे रहती है।

चर्बी के उबालने से दुर्गन्धि-युक्त वाष्प निकलते है। इस कारण यह कर्म बस्ती के पास न होना चाहिए। कढ़ाइयों के ऊपर उचित आकार की चिमनी और फ़नेल होने चाहिएँ जिनके द्वारा वाष्प बाहर चले जावें। वास्तव मे गन्धकाम्ल के साथ चर्बी को भाप के द्वारा पिघलाना उत्तम है। इस विधि में दुर्गन्धित वाष्पो का नाश हो जाता है।

(६) चमड़े को कमाना—चमड़ा कमाने मे कई विधियों का उपयोग करना पड़ता है। प्रथम नई खाल को चमारों इत्यादि से लेकर, जो उसको पशुओं के शरीर से उतार लेते हैं, स्वच्छ करते हैं। उसको पीटकर उसकी धूल इत्यादि झाड़ दी जाती है। तत्पश्चात् उसको जल में भिगो दिया जाता है। जब खाल जल में भली भाँति भीग चुकती है तब उस पर चूने की क्रिया करवाई जाती है जिससे खाल के बाल ढीले होकर गिरने लगते हैं। इस प्रकार खाल के बाल निकाल दिये जाते हैं। पुरानी खालों को प्रथम कुछ समय तक जल मे भिगोया जाता है जिससे वह नरम हो जाती हैं। तत्पश्चात् उनको लटका दिया जाता है जिससे वह सड़ने लगती है। इससे बाल ढीले होकर निकल आते है और खाल मुलायम हो जाती है।

इन क्रियाओं के पश्चात् कई रासायनिक वस्तुओं की क्रिया द्वारा चमड़े को कमाया जाता है। इस विधि में कई वृक्षों की छाल का उपयोग किया जाता है जिससे खाल गन्ध-रहित और मुलायम हो जाती है।

इस विधि में जो क्रियाएँ होती है उनसे बहुत से दुर्गन्धित वाष्प निकलते है। इस कारण चमड़े के कारख़ानों को नगर से दूर बनाना चाहिए। मकान पक्का हो। कमरों की दीवारें भीतर की ओर से कम से कम आठ फुट की ऊँचाई तक सीमेंट से ढकी और चिकनी हो। फ़र्श भी इसी प्रकार सीमेंट के पक्के ढलवाँ और चिकने होने चाहिएँ। जिन गढ़ों मे खाल को जल मे भिगोया जावे वह भी पक्के हो। इसी प्रकार जो बर्त्तन रासायनिक क्रियाएँ करने के लिए काम में लाये जावे वह भी अप्रवेश्य पदार्थ के और ढक्कनदार होने चाहिएँ।

(७) ताँत बनाना—यह क्रिया अत्यन्त दुर्गन्धि उत्पन्न करने-वाली है। ताँत सूअर और भेड़ की अन्त्रियों से बनाई जाती है। प्रथम अन्त्रियो को स्वच्छ करके साधारण लवण-मिश्रित जल मे भिगो दिया जाता है। तीन या चार दिन के पश्चात् उनको जल से निकालकर एक लकड़ी के टुकड़े से खुरचा जाता है। इससे सारी श्लैष्मिक कला दूर हो जाती है और केवल मांस-स्तर का कुछ भाग और ऊपर की औदर्य्या कला रह जाती है।

जिस मकान में क्रिया की जाय वह पक्का और, जहाँ तक हो सके, बस्ती के बाहर होना चाहिए। मकान का फ़र्श कंक्रीट का बना हुआ और पक्का हो। उसमें पर्याप्त ढाल होना आवश्यक है। कमरो की दीवारें भीतर की ओर से कम से कम आठ फुट ऊँचाई तक चिकनी अथवा 'पेटेंट स्टोन' की बनी होनी चाहिएं। अन्त्रियों को खुरचने के लिए पत्थर अथवा सङ्गमरमर की मेज़ें होनी चाहिएँ और उनको रखने के लिए भी पत्थर या किसी उत्तम धातु के पात्र होने चाहिएँ।

(८) ईंट और चूने का भट्टा—इन भट्टों से कार्बन-डाई-आक्साइड और कार्बन-मानो-आक्साइड इत्यादि विषैली गैसें निकलती है। सल्फ़र-डाई-आक्साइड और हाइड्रोजन-सल्फ़ाइड भी उत्पन्न होती है।

यह गैसे स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव डालनेवाली हैं। भट्ठों मे प्राय. सब प्रकार का कूड़ा डाला जाता है। ऐसा करने की मनाही होनी चाहिए। ऐसे किसी भी पदार्थ का जिससे विषैले वाष्प निकलें, भट्ठे में उपयोग न करना चाहिए। भट्ठे नगर से बाहर हों। वहां पर वाष्पों के निकल जाने के लिए उत्तम और उचित चिमनी इत्यादि का प्रबन्ध होना चाहिए। जल का भी वहां पर यथेष्ट प्रबन्ध होना आवश्यक है।

भट्ठो को केवल रात्रि मे प्रदीप्त करने की आज्ञा होनी चाहिए।

(९) **काग़ज़ बनाना**—पुराने वस्त्र, चिथड़े, कागज़ों के टुकड़े, लकड़ी का बुरादा, घास, ऐस्पार्टो नाम की घास इत्यादि से कागज़ बनाया जाता है। वस्त्रों के टुकडे, जो सदा पुराने मैले और दुर्गन्धियुक्त होते हैं, जल मे भिगो दिये जाते है। यदि वस्त्र बड़े होते है तो उनको छोटे-छोटे टुकड़ो में विभक्त करने के पश्चात् जल में भिगोया जाता है। ऐस्पार्टो घास को क्षार के साथ उबाला जाता है। इससे जो तरल द्रव्य निकलता है वह अत्यन्त दुर्गन्धि-युक्त और हानिकारक होता है। इससे निकलनेवाले वाष्प भी दुर्गन्धि-युक्त होते है। इन वाष्पो के निकलने के लिए एक ऊँची चिमनी होनी चाहिए। जो दुर्गन्धित तरल पदार्थ इससे निकले उसको नगर के समीप किसी नदी में न डालना चाहिए।

(१०) **धुएँ से कष्ट**—जिन नगरों में कारख़ाने और मिलें अधिक होती हैं वहाँ का वायुमण्डल, मिलों की चिमनियों से निकले धुएँ के द्वारा, दूषित हो जाता है। ऊँची चिमनियो की अपेक्षा छोटी चिमनियों से अधिक कष्ट और हानि होती है। उनसे निकला हुआ धुआँ और कोयले के छोटे-छोटे कण वायु मे पर्याप्त ऊँचाई पर न पहुँचकर नीचे ही रह जाते हैं। कारख़ाने और मिलें नगर से दूर होनी चाहिएँ। कलकत्ता और हवड़ा में इस प्रकार के नियम बना दिये गये हैं। इसी प्रकार कारख़ानों की चिमनियों के सम्बन्ध मे भी नियम होने चाहिएँ कि वह पर्याप्त ऊँची बनाई जायँ। यदि हो सके तो कोयले के स्थान में गैस अथवा विद्युत् का प्रयोग करना चाहिए।

यह पाया गया है कि नगर के उस भाग में, जहाँ मिलें और कारख़ाने अधिक होते हैं, रहनेवालों को श्वास और फुस्फुस-सम्बन्धी रोग अधिक होते हैं।

(११) **बाज़ार**—प्रत्येक नगर में उन बाज़ारों को—जहाँ अनाज, शाक, तरकारी या मांस इत्यादि बिकते है—दूसरे बाज़ारों से भिन्न बनाना चाहिए। यह बाज़ार सड़क के पास ही, एक चौकोर अहाते के भीतर, हो। इस अहाते का मुख्य दरवाज़ा सड़क पर हो और उसके साथ कोनों पर दो और छोटे द्वार हो। इस अहाते के भीतर भिन्न-भिन्न लम्बाई-चौड़ाई की दूकाने क्रम से बनानी चाहिएँ। अनाज की दूकानों का मुख सड़क की ओर अथवा मुख्य द्वार की ओर होना चाहिए। अनाज की दूकानो पर तख़्ते या टीन की चादरें लगी रहें जो हटाई जा सकें। सामने की ओर एक प्लेटफ़ार्म हो जिस पर दूकानदार अपनी वस्तुएँ रख सके और ऊपर की ओर एक सायबान होना चाहिए जिसके नीचे ग्राहक खड़े हो सकें। जिन कमरों मे अनाज रखा जावे उनमें वायु और सूर्य्य-प्रकाश के प्रवेश का पूरा प्रबन्ध रहे। साथ ही दीवारें और फ़र्श इस प्रकार बनाये जायँ जिसमे कमरे मे चूहे न आ सकें।

बाज़ार के उस भाग को जहाँ शाक इत्यादि बिकने है प्रायः अनाजवाले भाग से भिन्न कर दिया जाता है। इसके लिए द्वार भी दूसरा ही होता है। इस भाग के पीछे की ओर मांस, मछली इत्यादि के बिकने के लिए दूकानें बना दी जाती है। किन्तु इस भाग को भी भिन्न ही बनाना उत्तम है। प्रायः प्रत्येक स्थान मे निरामिष-भोजियों की संख्या अधिक होती है जो मांस इत्यादि को देखना भी पसन्द नही करते।

जिन दूकानों मे मांस इत्यादि बेचा जावे उन पर तार की बारीक जाली के किवाड़ लगे हो। दूकानों की पंक्तियों के बीच आने-जाने के लिए छः फुट चौड़ा मार्ग होना चाहिए।

इन स्थानो में जल का उत्तम और पूर्ण प्रबन्ध होना आवश्यक है। मांस का बाज़ार दिन में कम से कम एक बार केनवास के नल द्वारा,

जिसको 'होज़' कहते है, धो देना चाहिए। बाज़ार के अन्य भागों को भी इसी तरह धोना आवश्यक है।

यह बाज़ार पूर्णतया स्वास्थ्याध्यक्ष के निरीक्षण मे होने चाहिएँ। व्यक्तियों को अपनी-अपनी दूकाने बनवाने की आज्ञा देना उचित नहीं। स्वास्थ्याध्यक्ष या उसके सहायकों को समय-समय पर इन स्थानो का निरीक्षण करते रहना चाहिए।

व्यवसायों से उत्पन्न होनेवाली स्वास्थ्य-नाशक गैसें और वाष्प

(१) कार्बन-डाई-आक्साइड—इसका उल्लेख वायु के सम्बन्ध मे किया जा चुका है। यह गैस कोयले या लकड़ी के जलने, रासायनिक क्रियाओ तथा अलकोहल के बनाने मे उत्पन्न होती है। यह चूने के भट्ठो के पास भी बहुत पाई जाती है। मिलो की चिमनियों से इस गैस की बहुत अधिक मात्रा प्रत्येक समय निकलती रहती है जिससे वायुमण्डल दूषित होता है। इस गैस का स्वास्थ्य पर जो प्रभाव होता है वह पूर्व ही बताया जा चुका है।

(२) कार्बन-मानो-आक्साइड—यह गैस कोयले या लकड़ी के पूर्णतया न जलने से उत्पन्न होती है। इस कारण इसकी उत्पत्ति जहाँ गैस बनाई जाती है वहाँ, कोक, चूने तथा धातुओ के कारखानों के भट्ठे इत्यादि मे बहुतायत से होती है।

यह गैस अत्यन्त विषैली होती है। ०·४ प्रतिशत गैस को एक घण्टे तक सूँघने से मृत्यु हो सकती है। एक या दो प्रतिशत गैस से तत्काल मृत्यु होती है। चलने-फिरने या हिलने की शक्ति का भी तत्काल नाश हो जाता है। तत्पश्चात् अचैतन्यता उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाती है।

(३) कार्बन-डाई-सल्फ़ाइड—इसकी दुर्गन्धि अत्यन्त तीव्र होती है। रबड़, फ़ास्फ़ोरस, गटापार्चा इत्यादि के व्यवसायों में इसका बहुत उपयोग होता है। इन व्यवसायों के कारख़ानों में काम करनेवाले प्राय: इस गैस से विषाक्त हो जाते हैं।

(४) **हाइड्रोजन सल्फ़ाइड**—इसकी सड़े हुए अण्डों की सी दुर्गन्धि होती है। शुद्ध गैस अत्यन्त विषैली होती है। इससे तुरन्त मृत्यु हो सकती है।

(५) **सल्फ़र-डाई-आक्साइड**—गन्धक या सल्फुरिक-अम्ल के कारख़ाने में, अथवा जहाँ रुई को रङ्ग-रहित किया जाता है वहाँ पर, इसकी उत्पत्ति अधिक होती है। जो व्यक्ति श्वास-सम्बन्धी रोगो से ग्रस्त रहते हैं उन पर इसका अधिक प्रभाव पड़ता है।

(६) **अमोनिया**—रासायनिक कारख़ानो में, जहाँ यह वस्तु या इसके लवण बनाये जाते हैं, अथवा प्रयोगशालाओं मे इसकी उत्पत्ति होती है। इसके वाष्प नेत्रों को बहुत हानि पहुँचाते है।

(७) **नाइट्रस वाष्प**—जहाँ नाइट्रिक या सल्फुरिक अम्ल बनाये जाते है, वहाँ यह वाष्प उत्पन्न होते है। इनसे मृत्यु तक हो सकती है।

(८) **क्लोरीन अथवा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल**—रासायनिक प्रयोगशालाओं अथवा कारख़ानों मे इन वाष्पो से सारा वायु-मण्डल परिपूरित रहता है। इन वाष्पो से नेत्र और गले की श्लैष्मिक कला को बहुत हानि पहुँचती है।

जिन कारख़ानों मे रङ्ग बनते हैं वहाँ भी दुर्गन्धित वाष्पो की उत्पत्ति होती है।

(९) **रेत**—कारख़ानों मे जिन वस्तुओं का अधिक उपयोग होता है अथवा जिनका काम किया जाता है उनके अत्यन्त सूक्ष्म कण वहां के वायुमण्डल मे फैल जाते है। यदि कारख़ानों के कमरों में वायु के प्रवेश और उसके निकास का उचित प्रबन्ध नहीं होता तो कमरों में इनकी अधिक मात्रा एकत्र हो जाती है। जो व्यक्ति इन कमरों में काम करते है उनके श्वास के साथ यह कण फुस्फुस के भीतर पहुँचकर रोग उत्पन्न करते है। यह कण जितने अधिक सूक्ष्म और नोक़ीले होते है उतनी ही अधिक उनसे हानि पहुँचती है। टीन के कारख़ानो में काम करनेवाले, यद्यपि वह खुले हुए स्थानों

में काम करते है, कोयले की खानें मे काम करनेवाले मज़दूरो की अपेक्षा, जिनको पृथ्वी के नीचे गैसों और कोयले की रेत से संचरित वायुमण्डल मे काम करना पड़ता है, श्वास-सम्बन्धी रोगों से अधिक ग्रस्त होते हैं। टीन के कण नोकीले और सूक्ष्म होते है। कोयले के कण गोल होते हैं। ऐसे कारखानों मे, जहाँ वायु प्रवेश और प्रकाश का पूरा प्रबन्ध नहीं होता, मज़दूरों को अधिक रोगग्रस्त होते हुए देखा गया है।

धातुओ के कारखानों में काम करनेवाले प्रायः धातुओ से विषाक्त हो जाते है। इनमें निम्नलिखित मुख्य हैं।

सीस—अन्य धातुओ की अपेक्षा व्यक्तियो को इस वस्तु से अधिक बार विषाक्त होते देखा गया है। सीस का विशे उपयोग सीस के कारखानो, चीनी और तामचीनी के बर्त्तनों तथा विद्युत् के कारखानों में होता है। तरुण विष की अपेक्षा जीर्ण विष होते हुए अधिक देखा गया है। यह इस धातु के बहुत काल तक शरीर में शोषित होने से उत्पन्न होता है। कोष्ठ-बद्धता, उदर का शूल, पेशियों में ऐंठन, मसूड़ों पर नीली रेखा, बाहु और टाँगों की प्रसारक पेशियों का पक्षाघात, जिससे हाथ और पाँव नीचे को झुक जाते है, विशेष लक्षण हैं। स्त्री और बच्चों को यह रोग अधिक होता है। गर्भवती स्त्रियाँ विशेषतया इस रोग से ग्रस्त होती हैं।

स्त्री और बच्चों, विशेषतया गर्भवती स्त्रियों, को सीसे के कारख़ाने मे काम न करना चाहिए। कुछ विद्वानो की सम्मति है कि सीस का चर्म के द्वारा शोषण नहीं होता। वह केवल भोजन के द्वारा शरीर के भीतर पहुँचता है। इसलिए कारख़ाने में काम करनेवालों को कारख़ाने के भीतर भोजन करना उचित नहीं। अन्य प्रकार से भी उनको पूर्णतया स्वच्छ रहना चाहिए। पीने के लिए जल का कारख़ाने से बाहर प्रबन्ध होना चाहिए। कारख़ाने की भी पूर्ण स्वच्छता अत्यन्त आवश्यक है। कारख़ाने के कमरे बड़े हों और उनमें वायु-प्रवेश और प्रकाश का पूर्ण आयोजन हो। कारख़ाने में जो गैस या वाष्प तथा रेत, धूल इत्यादि उत्पन्न हो, उनको वहाँ से तुरन्त हटाने का प्रबन्ध हो।

काम करनेवालों को लेमनेड का, जो सल्फ़ुरिक अम्ल से तैयार किया जाय, बराबर सेवन करते रहना चाहिए। इससे सीस का एक अन-घुलनशील लवण बन जाता है जिससे किसी प्रकार की हानि नहीं होती।

यदि कोई व्यक्ति विषाक्त हुआ पाया जाय तो उसकी उचित चिकित्सा का आयोजन होना चाहिए।

पारद—यह धातु साधारण तापक्रम पर भी उड़ने लगती है। इसका उपयोग अनेक व्यवसायों में होता है। इस कारण इस वस्तु से विषाक्त होनेवालों की अधिक संख्या पाई जाती है। यह धातु श्वास, मुख की श्लैष्मिक कला और चर्म के द्वारा शोषित होती है। विष के लक्षण मसूड़ों का सूजना और उनसे रक्त का निकलना, दाँतों का गिरना, मुख से राल टपकना, अतिसार, श्वास और मुख से दुर्गन्धि का निकलना तथा पक्षाघात हैं।

कारख़ाने में काम करनेवालों को पूर्ण शुद्धि का ध्यान रखना उचित है। मुख और दाँतों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि कोई टूटा या घुना हुआ दाँत हो तो उसको निकलवा देना चाहिए। नित्यप्रति किसी विसंक्रामक से मुख का प्रक्षालन उचित है।

पारद को बन्द बर्त्तनों में अथवा ढककर रखना चाहिए। जिस स्थान में वह रखा जावे वहाँ का फ़र्श इस प्रकार का होना चाहिए कि यदि कुछ पारद वहाँ गिर पड़े तो उसको तुरन्त ही एकत्र किया जा सके। जिस समय वहाँ काम करनेवाले उपस्थित न हों उस समय कमरों में अमोनिया के वाष्प छोड़ देने चाहिएँ।

फ़ास्फ़ोरस—इस वस्तु का दियासलाइयों के बनाने में प्रयोग किया जाता है। इस कारण जहाँ दियासलाई के कारख़ाने होते हैं वहाँ के वायुमण्डल में इस वस्तु के वाष्प पाये जाते हैं। अतएव दियासलाई के कारख़ानों में काम करनेवाले इस धातु के विष से ग्रस्त हो जाते हैं। विष के मुख्य लक्षण शिर-पीड़ा, पाण्डुता, कृशता, पेशियों में पीड़ा और अधोहन्विका का गलना है। अन्य अस्थियों, विशेषकर शरीर की दीर्घ अस्थियों, पर भी प्रभाव पड़ता है। उनमें भग्न की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

लाल फ़ास्फ़ोरस के प्रयोग के पूर्व, जिस समय श्वेत या पीला फ़ास्फ़ोरस प्रयुक्त होता था उस समय, विष से अधिक व्यक्ति ग्रस्त होते थे। किन्तु जब से सरकारी नियम द्वारा पीले फ़ास्फ़ोरस का उपयोग बन्द कर दिया गया है और केवल लाल फ़ास्फ़ोरस काम मे आता है तब से यह रोग प्रायः बन्द सा हो गया है। आजकल जो 'सेफ्टीमैचेज़' बनाई जाती है उनसे किसी प्रकार की हानि नहीं होती।

फ़ास्फ़ोरस तथा दियासलाइयों के कारख़ाने खुले स्थानों में होने चाहिएँ। उनके कमरे बड़े तथा वायुयुक्त हों। स्वच्छता का पूर्ण ध्यान रखा जावे। काम करनेवाले भी स्वच्छ रहे। कमरो में तथा बाहर, जहाँ फ़ास्फ़ोरस का उपयोग होता हो, चौड़ी तश्तरियो में तारपीन का तेल भरकर रखना चाहिए। यह वस्तु फ़ास्फ़ोरस की मारक कही जाती है। अतएव ऐसा आयोजन करना चाहिए जिससे काम करनेवाले तारपीन के वाष्पो को सूँघते रहें।

संखिया—अनेक रासायनिक वस्तुओं, दीवार पर चिपकाये जानेवाले काग़ज़ और काग़ज़ के फूल इत्यादि बनाने मे इस वस्तु का उपयोग होता है। इस वस्तु के विष के लक्षण वमन, विरेचन, नाड़ीशोथ, अङ्गो में पीड़ा, नेत्राभिष्यन्द इत्यादि है।

अन्य वस्तुओ की भाँति इस वस्तु के कारख़ानो में भी स्वच्छता का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए। इसके जो वाष्प उत्पन्न हो उनको एकत्र करके नष्ट कर देने का आयोजन भी बहुत आवश्यक है।

———

सोलहवाँ परिच्छेद

संक्रमण

अन्वेषण द्वारा यह पाया गया है कि बहुत से रोग एक व्यक्ति से दूसरे को हो जाते है। यह रोग न केवल मनुष्य ही से मनुष्य को हो सकते है किन्तु जन्तुओं से भी मनुष्यों को हो जाते है। चेचक, विशूचिका, प्लेग, अतिसार, प्रतिश्याय, राजयक्ष्मा, मैलेरिया ज्वर, ऐन्थ्रैक्स इत्यादि ऐसे ही रोग है जो रोगी के द्वारा स्वस्थ व्यक्तियों को हो जाते हैं। इन रोगों के विष को, जिसके शरीर में प्रविष्ट होने से रोग उत्पन्न होते हैं, **संक्रमण** कहते हैं और इन रोगों को **संक्रामक रोग** कहा जाता है। इन रोगों को उत्पन्न करनेवाले कारण वायु, जल, भोजन; अथवा किसी अन्य ऐसे ही साधन के द्वारा एक व्यक्ति के शरीर से दूसरे के शरीर मे पहुँचते है। कुछ रोग ऐसे होते हैं जो संसर्ग अथवा सम्पर्क से उत्पन्न होते है। इनको 'संसर्गज' रोग कहा जाता है, जैसे सिफ़िलिस (फिरङ्ग रोग), दद्रु, कच्छु इत्यादि। किन्तु आजकल इन रोगों की गणना भी साधारणतया संक्रामक रोगों मे की जाती है।

यह रोग सूक्ष्म जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होते है। रोगी के शरीर से जीवाणु निकलकर जब किसी दूसरे स्वस्थ व्यक्ति को आक्रान्त करते हैं तब उसके रोग उत्पन्न होता है। अनेकों रोगोत्पादक जीवाणुओं का पता लगाया जा चुका है। किन्तु कुछ रोगों के विशिष्ट जीवाणु अभी तक नहीं पाये गये हैं। ऐसे रोगों के कारण को केवल 'विष' के नाम से सम्बोधन किया जाता है, जैसे चेचक। इस रोग का विष रोगी के नाक और मुख से निकले हुए स्राव और शरीर पर के दानों के सूखने से उनसे पृथक् होनेवाले खुरण्डो में रहता है, और उन्हीं के द्वारा फैलता है।

मोतीझरा, विशूचिका इत्यादि के जीवाणु शरीर से निकलनेवाले स्रावों, जैसे मल इत्यादि, मे रहते है और जल, भोजन तथा कीड़ो के द्वारा स्वस्थ व्यक्तियों के शरीर में पहुँचकर रोग उत्पन्न करते हैं।

रोगों का फैलना—यह सदा देखा जाता है कि जब किसी स्थान पर बड़े मेले होते है—जैसे कुम्भ या ग्रहण पर प्रयाग, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार इत्यादि मे होते है—तब वहाँ पर प्रायः विशूचिका रोग फैलता है। रोग से आक्रान्त होकर बहुत से व्यक्ति मृत्यु के मुँह में चले जाते हैं। किन्तु ऐसे व्यक्तियों की भी काफ़ी संख्या होती है जो रुग्णावस्था मे ही अपने घर को चल देते हैं। यह लोग बीच मे जहाँ-जहाँ ठहरते हैं वहाँ पर रोग के बीज बोते हुए चले जाते है। और, इस प्रकार रोग फैलता जाता है। प्राचीन काल में जब एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिए इतने सुलभ साधन नहीं थे, उस समय रोग एक ही स्थान मे परिमित रहता था। किन्तु आजकल व्यक्तियों के साथ इन रोगों को भी एक स्थान से दूसरे स्थान मे पहुँचाने में रेल, मोटर इत्यादि से बहुत सहायता मिलती है। इसी प्रकार जहाज़ो के द्वारा एक देश से दूसरे देश में रोग शीघ्रता से फैलते है। सन् १९१८ का इन्फ़्लुएंज़ा, जिसने सारे संसार को थोड़े ही समय मे आक्रान्त कर दिया था, इसका उदाहरण है।

रोग का कारण—यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है कि संक्रामक रोग जीवाणुओं ही के कारण उत्पन्न होते हैं। जब यह जीवाणु किसी रोगी के शरीर से वायु, भोजन, जल, कीड़ों आदि के द्वारा किसी स्वस्थ मनुष्य के शरीर में पहुँच जाते है तब वह उसी रोग को उत्पन्न करते हैं जिससे प्रथम व्यक्ति जिसके शरीर से वह आये थे आक्रान्त था। इस सम्बन्ध में महाशय कौक ने कई नियम बनाये है। इन नियमों की जब तक पूर्ति न हो तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक जीवाणु अमुक रोग उत्पन्न करता है। यह नियम इस प्रकार हैं—

(१) वह जीवाणु जिनको रोग का कारण बताया जाता है, रोगी के रक्त, लसीका या रोग से आक्रान्त अङ्ग के धातु में मिलने चाहिएँ। यदि

किसी जीवाणु को निमोनिया का जीवाणु बताया जावे तो वह जीवाणु निमोनिया के प्रत्येक रोगी के फुस्फुसों में उपस्थित होना चाहिए।

(२) यह जीवाणु रुग्ण अङ्ग से भिन्न किये जा सकें और उचित पोषक माध्यमों में उनकी वृद्धि हो और सन्तति बढ़े। साधारणतया यदि किसी जीवाणु को उचित पोषक माध्यम में रखकर कुछ विशिष्ट समय तक एक विशेष ताप पर रखें तो उसकी संख्या में वृद्धि होने लगती है; एक जीवाणु से लाखों बन जाते है। अतएव जीवाणु का रोग के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए रुग्ण अङ्ग की धातु या रक्त इत्यादि को पोषक माध्यम में मिलाकर रखने के पश्चात् जीवाणुओ की संख्या मे वृद्धि होनी चाहिए।

(३) इस प्रकार से उत्पन्न हुए जीवाणु, जिनमें किसी दूसरे प्रकार के जीवाणु न मिले हो, जब किसी ऐसे जन्तु के शरीर मे, जिसमें रोग की प्रवृत्ति हो, प्रविष्ट किये जावें तो उसमें वही रोग उत्पन्न होना चाहिए जिससे प्रथम रोगी आक्रान्त था। कुछ ऐसे रोग होते है जो एक जन्तु को तो होते हैं किन्तु दूसरे को नहीं होते। इस कारण जीवाणुओं को जन्तु के शरीर में प्रविष्ट करते समय यह ठीक प्रकार से मालूम होना चाहिए कि जन्तु मे रोग की प्रवृत्ति है या नही।

(४) जिस जन्तु में जीवाणुओ को प्रविष्ट किया जाता है उसके रक्त या अन्य धातुओ में वह जीवाणु उपस्थित मिलने चाहिएँ और रोग के लक्षण भी उत्पन्न हो जाने चाहिएँ।

किसी भी जीवाणु को रोग का कारण बताने के पूर्व प्रयोगों द्वारा उपरिलिखित चारो नियमो की पूर्ति करना आवश्यक है।

जीवाणु—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, संक्रामक रोग जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न होते हैं। यह जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म होते है और सूक्ष्मदर्शक यन्त्र की सहायता के बिना नहीं देखे जा सकते। कुछ जीवाणु तो इतने छोटे होते हैं कि उनको देखने के लिए विशेष साधनों की आवश्यकता होती है। इनके शरीर की लम्बाई $\frac{१}{५०००}$ से $\frac{१}{५००}$ इंच तक होती है।

भिन्न-भिन्न जीवाणुओं के आकार भिन्न होते हैं। कोई केवल बिन्दु की भाँति होते है, कुछ के शरीर लम्बे और वेल्लीतक होते है। कुछ एक छोटे डण्डे की भाँति दीखते हैं; कुछ का आकार अण्डे की भाति होता है। उनको आकार के अनुसार तीन बड़े समूहो में विभाजित किया गया है—

(१) कोकाई—गोल आकारवाले जीवाणु।

(२) बैसिलाई—डण्डे के समान आकारवाले जीवाणु।

(३) स्पिरिल्ला—वेल्लीतक या मुड़े हुए आकार वाले जीवाणु।

यह जीवाणु प्रकृति मे सब स्थानों पर पाये जाते हैं। जल मे, साधारण वस्तुओ के तल पर, भोज्य पदार्थ इत्यादि मे इनकी बहुत बड़ी संख्या मिल सकती है। घने नगर की वायु में इनकी बहुतायत होती है। पर्वत के शिखर की वायु तक मे जीवाणु पाये गये हैं। हमारे शरीर के चर्म पर, मुख मे, और विशेषकर अन्त्रियों मे, इनकी बहुत बड़ी संख्या पाई जाती है।

जितने जीवाणु संसार में पाये जाते है वह सब रोग उत्पन्न करनेवाले नहीं होते। बहुत से जीवाणुओ से हमको लाभ पहुँचता है। जब कोई ऐन्द्रिक वस्तु निकृष्ट होकर सड़ने लगती है तब वह सड़ना इन जीवाणुओ ही की क्रिया का फल होता है। जल और मलनाश के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार यह जीवाणु अस्वच्छ वस्तु को स्वच्छ कर देते हैं। इसी प्रकार हमारी अन्त्रियों में रहनेवाले कुछ जीवाणु पाचन मे सहायता देते हैं।

जीवित सृष्टि के विकास-क्रम में इन जीवाणुओं का स्थान सबसे नीचे है। यह जीव का अत्यन्त साधारण रूप हैं जो सृष्टि में पाया जाता है। इनकी गणना वनस्पतियों में की जाती है; किन्तु इनमें क्लोरोफ़िल नहीं होता। इनमें उत्पत्ति **साधारण विभजन** से होती है। एक जीवाणु का दो में विभाग हो जाता है। उनमें से प्रत्येक जीवाणु फिर दो-दो भागों में विभक्त होता है। इस प्रकार इनकी संख्या बढ़ती रहती है।

रोगोत्पादन की शक्ति या अन्य गुणों के अनुसार जीवाणुओ के दो विभाग किये गये हैं—जीवाश्रयी और मृताश्रयी। जीवाश्रयी जीवाणु जीवित

मनुष्य, जन्तु अथवा वृक्षों पर आश्रित रहकर उनसे अपना भोजन प्राप्त करते हैं। यह अधिकतर रोगोत्पादक होते है। मृताश्रयी वह जीवाणु हैं जो रोग उत्पन्न नहीं करते। यह प्रायः मृत या नष्ट ऐन्द्रिक पदार्थों पर आक्रमण करके उनको सामान्य अवयवों मे विभक्त कर देते है। इस प्रकार गूढ़ ऐन्द्रिक पदार्थों से अनैन्द्रिक अवयव भिन्न होकर प्रकृति में मिल जाते हैं। अलकोहल, दही इत्यादि के बनाने मे इन्हीं जीवाणुओ की सहायता अपेक्षित होती है।

जीवाणुओ के अन्य गुणो के अनुसार उनको वायवीय, अवायवीय, वायूत्पादक, विषोत्पादक इत्यादि कहा जाता है। **वायवीय** वह जीवाणु हैं जो केवल आक्सिजन मे ही वृद्धि कर सकते है। उसकी अनुपस्थिति मे उनकी वृद्धि नहीं होती। वह जीवाणु जो आक्सिजन की अनुपस्थिति में ही वृद्धि करते हैं और उसकी उपस्थिति से उनकी वृद्धि बन्द हो जाती है **अवायवीय** कहे जाते है। जो जीवाणु पोषक माध्यम में रखे जाने पर गैस उत्पन्न करते है, **वायूत्पादक** कहलाते है। कुछ जीवाणु ऐसे होते हैं जो आक्सिजन की उपस्थिति और अनुपस्थिति दोनों दशाओं मे वृद्धि करते है।

इसी प्रकार कुछ जीवाश्रयी भी मृत ऐन्द्रिक वस्तुओ पर आश्रित रहकर वृद्धि कर सकते है। इसके विरुद्ध कुछ मृताश्रयी जीवित वस्तुओ से अपना पोषण ग्रहण करते हैं।

जब रोगोत्पादक जीवाणु शरीर मे प्रवेश करते हैं तो वह दो प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। कुछ रोग एकदेशीय होते हैं और कुछ सर्वदेशीय। जिन जीवाणुओं से फोड़े-फुंसी उत्पन्न होते हैं उनकी क्रिया एकदेशीय होती है। वह उतने ही स्थान में परिमित होती है जितने में फोड़ा निकलता है। किन्तु प्रवाहिका, आन्त्रिक ज्वर, निमोनिया इत्यादि रोग उत्पन्न करनेवाले जीवाणु अपने विषो से सारे शरीर को विषाक्त कर देते हैं। यद्यपि यह जीवाणु किसी एक प्रान्त मे परिमित रहते हैं, जैसे आन्त्रिक ज्वर या प्रवाहिका के जीवाणु केवल अन्त्रियो में ही रहते हैं; किन्तु वह एक प्रकार का विष बनाते है जो सारे शरीर में व्याप्त होकर शारीरिक लक्षण उत्पन्न करता है।

प्रायः जीवाणुओं की एकदेशीय और सर्वदेशीय दोनों प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। प्रवाहिका और आन्त्रिक ज्वर मे एकदेशीय क्रिया द्वारा अन्त्रियों की श्लैष्मिक कला मे व्रण उत्पन्न हो जाते हैं और जीवाणुओ द्वारा उत्पन्न हुए विष का शरीर मे सञ्चार होने से ज्वर या अन्य लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार ज्वर इत्यादि मे जो शारीरिक लक्षण उत्पन्न होते हैं वह जीवाणुओ द्वारा बनाये हुए विष के फल है।

यह विष किस प्रकार बनते है, इसका अभी तक कुछ ठीक पता नहीं चला है। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि जीवाणु के शरीर के प्लाज़्मा ही से यह विष बनते हैं। किन्तु दूसरे विद्वानों की सम्मति है कि इनकी उत्पत्ति जीवाणु द्वारा शरीर की आक्रान्त प्रोटीन पर क्रिया होने से होती है। अतएव जीवाणु तीन प्रकार से शरीर पर प्रभाव डाल सकते हैं—(१) अपने विषों के शोषण द्वारा, जैसे विशूचिका मे; (२) स्वयं शरीर के भीतर प्रविष्ट होकर वृद्धि और विष उत्पन्न करने से, जैसे आन्त्रिक ज्वर में; (३) शरीर के किसी स्थान पर धातुओं का नाश करके, जैसे प्रवाहिका और आन्त्रिक ज्वर मे।

जब कोई स्वस्थ मनुष्य किसी संक्रामक रोग से आक्रान्त होता है तब किसी पूर्व रोगी के शरीर से किसी वाहक के द्वारा रोग के जीवाणु उसके शरीर में प्रवेश करते हैं। यह जीवाणु आक्रान्त व्यक्ति के शरीर के भीतर सन्तानोत्पत्ति करते हैं और उनकी वृद्धि जारी रहती है जिससे वह विष भी बनाते रहते हैं। इस प्रकार रोगोत्पादक जीवाणु के शरीर में प्रविष्ट होने के कुछ समय के पश्चात् रोग के लक्षण प्रकट होते हैं; वह जीवाणु के शरीर में प्रविष्ट होने पर तुरन्त ही उत्पन्न नहीं होते। यह समय **सम्प्राप्ति-काल** कहलाता है। यह वह समय है, जिसमें जीवाणु वृद्धि करते और विष उत्पन्न करते हैं। जब विष की मात्रा पर्याप्त हो जाती है तो ज्वर इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। जब विष की मात्रा अधिक होती है और जीवाणु प्रबल होते हैं तो रोग तीव्र होता है। जब जीवाणुओ का ह्रास होने लगता है तो रोग के लक्षणों का भी घटना आरम्भ हो जाता है।

भिन्न-भिन्न रोगो में सम्प्राप्ति-काल भिन्न होता है। प्रत्येक रोग के साथ इसका वर्णन किया जायगा।

रोगोत्पादन-विधि—रोगो के जीवाणु निम्नलिखित प्रकार से शरीर मे पहुँच सकते हैं।

(१) व्रण या भेदन—शरीर पर चोट इत्यादि के लगने से चर्म विदीर्ण होकर क्षत बन जाता है। टिटेनस, ग्लैंडर्स, ऐन्थ्रैक्स इत्यादि के जीवाणु इसी प्रकार शरीर के भीतर प्रविष्ट होते है। सिफ़िलिस और पूयमेह रोगो के जीवाणु भी चर्म के क्षत होने से शरीर मे प्रविष्ट होते है। मैलेरिया ज्वर का जीवाणु मच्छर के काटने से शरीर में प्रवेश करता है। प्लेग के जीवाणुओं को पिस्सू अपने डङ्क से चर्म को भेदकर शरीर मे पहुँचाता है।

(२) वायु—राजयक्ष्मा का जीवाणु रोगी के शरीर से अत्यन्त सूक्ष्म थूक के कणों के साथ दूसरे मनुष्य के शरीर मे पहुँचता है। इसी प्रकार शुष्क धूल के साथ वायु अन्य रोगों के जीवाणुओ को उड़ाकर फैला सकती है।

(३) भोजन—आन्त्रिक ज्वर, विशूचिका, प्रवाहिका इत्यादि रोग प्रायः सदैव भोज्य पदार्थ या जल द्वारा फैलते हैं। रोगी के मल से इन रोगो के जीवाणु भोज्य पदार्थों में पहुँच जाते हैं। जब उन पदार्थों का उपयोग होता है तो रोग उत्पन्न हो जाता है।

(४) शोषण—श्लैष्मिक कलाओ द्वारा शोषण होता है। डिप्थीरिया के जीवाणु से जो विष बनते हैं वह गले की श्लैष्मिक कला द्वारा शोषित हो जाते हैं। स्वयं जीवाणु कला ही पर रुक जाता है।

संक्रमण का संवहन—रोगों को उत्पन्न करनेवाले जीवाणु और विष कई प्रकार से फैल सकते हैं। चेचक, छोटी माता या ख़सरा का विष सदा वायु के द्वारा फैलता है। कुछ रोग जल और भोजन के द्वारा फैलते हैं। अतएव वाहकों के अनुसार रोगों को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—

(१) वायु द्वारा फैलनेवाले रोग—जैसे चेचक, ख़सरा, लघु मसूरिका।

(२) जल द्वारा फैलनेवाले रोग—मोतीझरा, प्रवाहिका इत्यादि रोग जल या भोजन के द्वारा फैलते हैं। दूषित जल से उत्पन्न होनेवाले रोगों का जल के सम्बन्ध मे वर्णन किया जा चुका है।

(३) भोजन और दूध—प्रवाहिका, विशूचिका, मोतीझरा इत्यादि रोग भोज्य पदार्थो द्वारा फैल सकते है। स्वयं भोज्य पदार्थों के दोष से कुछ रोग उत्पन्न हो जाते है। भोज्य पदार्थवाले प्रकरण मे उनका उल्लेख किया गया है।

(४) कृमियो के द्वारा फैलनेवाले रोग—कुछ रोगो को काटनेवाले कृमि फैलाते है, जैसे मैलेरिया मच्छर के काटने से उत्पन्न होता है। प्लेग, टाइफ़स, निद्रालु रोग, पीत-ज्वर इत्यादि भी इसो प्रकार फैलते हैं। किन्तु जो कीड़े नहीं काटते है वह भी रोग के वितरण मे सहायता देते हैं। साधारण मक्खियाँ अपने शरीर के द्वारा रोग के जीवाणुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाती हैं। इस प्रकार वह संक्रमण को भोज्य पदार्थों मे पहुँचा देती है।

(५) संसर्ग से उत्पन्न होनेवाले रोग—जैसे सिफ़िलिस, पूयमेह, कच्छु, दाद, खुजली इत्यादि।

रोगवाहक व्यक्ति—कुछ व्यक्तियों के शरीर में रोग से मुक्त होने के पश्चात् भी रोग के जीवाणु उपस्थित रहते हैं और मल-मूत्र या स्रावों के द्वारा शरीर से निकलते रहते हैं। इन व्यक्तियों को जीवाणुओं से किसी प्रकार की हानि होती हुई नहीं प्रतीत होती। मोतीझरा, विशूचिका या डिप्थीरिया इत्यादि रोगों के जीवाणु बिना किसी प्रकार के लक्षण उत्पन्न किये हुए श्लैष्मिक कला पर पाये गये हैं। रोग से आक्रान्त होने के पश्चात् कुछ समय तक यह जीवाणु प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में पाये जाते हैं। भिन्न-भिन्न जीवाणुओं के सम्बन्ध में यह समय भिन्न होता है। विशूचिका का जीवाणु रोग के पश्चात् केवल कुछ ही दिन तक रोगी के मल में पाया जा सकता है, किन्तु मोतीझरे का जीवाणु बहुत समय तक बना रहता है।

कुछ ऐसे व्यक्ति भी पाये जाते है जिनमे रोग के लक्षण कदापि प्रगट नहीं हुए हैं। किन्तु उनके शरीर मे रोग के जीवाणु उपस्थित मिलते हैं। किसी-किसी में रोग का हलका सा आक्रमण होना पाया जाता है, किन्तु शेष में इसका कोई भी प्रमाण नहीं मिलता।

इस प्रकार के व्यक्ति 'वाहक' कहलाते हैं। कुछ व्यक्ति थोड़े ही समय तक वाहक रहते है; अन्य व्यक्तियों में यह काल बहुत लम्बा होता है। तीसरी श्रेणी उन व्यक्तियों की है जिनमें रोग के लक्षण उत्पन्न हुए बिना ही जीवाणु पाये जाते है। ऐसे व्यक्ति समाज के लिए अत्यन्त भयङ्कर होते हैं। उनको रसोइये के काम पर कभी नियुक्त नहीं करना चाहिए।

सम्प्राप्ति-काल—जैसा पहिले बताया जा चुका है, रोगोत्पादक जीवाणुओ के शरीर मे प्रविष्ट होने पर कुछ समय के पश्चात् रोग के लक्षण प्रगट होते है। यह जीवाणु के प्रवेश और रोग उत्पन्न होने के बीच का समय सम्प्राप्ति-काल कहलाता है। प्रत्येक संक्रामक रोग मे सम्प्राप्ति-काल पाया जाता है। भिन्न-भिन्न रोगों मे उसकी अवधि भिन्न होती है। कुछ रोगों का सम्प्राप्ति-काल और संक्रामक काल—वह समय जिसमें रोगमुक्त व्यक्ति से दूसरे व्यक्तियों को रोग हो सकता है—नीचे दिया जाता है।

रोग	सम्प्राप्ति-काल	संक्रामक काल
विशूचिका	कुछ घण्टे से ३ या ४ दिन	२ सप्ताह
प्लेग	३ से १० दिन	३ ”
आन्त्रिक ज्वर या मोतीझरा	५ से २० ”	६ ”
डिफ्थीरिया	१ से ८ ”	६ ”
चेचक	१२ ”	६ ”
छोटी माता	१० से १२ ”	३ ”
कर्ण फेर	१२ से २२ ”	३ ”
खसरा	८ से १५ ”	४ ”
इन्फ़्लुएंज़ा	१ से ४ ”	२ ”
कुक्कुर खाँसी	४ से १४ ”	८ ”

सम्प्राप्ति-काल मे आक्रान्त व्यक्ति को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता—किसी-किसी रोग मे शिर-पीड़ा, जी का मिचलाना इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते है।

रोग-क्षमता

रोग-क्षमता का अर्थ है शरीर की रोग को रोकने या उसके निवारण करने की शक्ति। यदि व्यक्तियों के शरीर के भिन्न-भिन्न भागो की परीक्षा की जाय तो प्रायः प्रत्येक के शरीर पर रोगोत्पादक जीवाणु उपस्थित मिलेंगे। राजयक्ष्मा, इन्फ्लुएंज़ा, डिप्थीरिया या अन्य रोगों के जीवाणु अनेकों के गलों मे पाये जायेंगे। किन्तु उनके शरीर में इन जीवाणुओ से रोग नहीं उत्पन्न होता। कुछ मनुष्यों और जन्तुओ को कुछ विशेष रोग नही होते। उनके शरीर मे उन रोगों के जीवाणु प्रवेश करके भी रोग नहीं उत्पन्न कर सकते।

यह साधारण अनुभव है कि यदि किसी व्यक्ति को आन्त्रिक ज्वर या मोतीझरा एक बार होता है तो फिर दूसरी बार उसका आक्रमण नहीं होता। इसका कारण यह है कि रोग के एक बार आक्रमण से शरीर के भीतर कुछ ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो रोग के जीवाणुओं को, यदि वे शरीर में फिर प्रवेश करते हैं तो, बेकाम कर देती हैं। इस प्रकार रोग का आक्रमण नहीं होने पाता। यदि होता भी है तो बहुत हलका। इस प्रकार शरीर में रोग के आक्रमण से रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

व्याख्या के लिए रोग-क्षमता का इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है—

रोग-क्षमता
- १. स्वाभाविक
- २. लब्ध—
  - १. रोग से लब्ध
    - १. स्थायी
    - २. चिरकालिक
    - ३. अल्पकालिक
  - २. कृत्रिम —
    - १. सक्रिय
    - २. निष्क्रिय

स्वाभाविक क्षमता समस्त जाति मे पाई जाती है। बकरी, भेड़ और चूहो को राजयक्ष्मा नहीं होता; मुर्गियों को टिटेनस रोग नहीं होता। कुछ व्यक्ति भी ऐसे पाये जाते हैं जो किसी विशेष रोग के द्वारा आक्रान्त

नहीं होते। मनुष्यों में कुछ ऐसी जातियाँ पाई जाती है जिनको कोई विशेष रोग नहीं होता। नीग्रो जातिवालों को पीत-ज्वर नहीं होता। यह स्वाभाविक रोग-क्षमता कहलाती है।

वास्तव में प्रत्येक रोग के प्रति प्रत्येक मनुष्य मे कुछ रोग-क्षमता होती है जिसके द्वारा वह रोग को रोकने की चेष्टा करता है। इसी कारण यद्यपि हमारे शरीर पर रोगों के जीवाणु पाये जाते हैं तो भी हम प्रायः रोग से बचे रहते है। यह शक्ति किसी व्यक्ति मे अधिक होती है और किसी में कम। जिसमे कम होती है वह सहज ही में रोग से आक्रान्त हो जाता है।

स्वाभाविक रोग-क्षमता किसी जाति या व्यक्ति मे जन्म ही से होती है। जन्म के पूर्व या वृद्धि-काल मे शरीर में कुछ ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो शरीर को रोग-निवारण की शक्ति से सम्पन्न कर देती हैं।

यह शक्ति सदा असीम नहीं होती। शरीर के स्वास्थ्य के अनुसार इसमें घटा-बढ़ी होती रहती है। शरीर के दुर्बल होने पर यह शक्ति कम हो जाती है। श्रम, ठण्ड, क्षुधार्त्तता, रोग के पश्चात् इत्यादि दशाओं मे रोग-क्षमता का ह्रास हो जाता है। इसके अतिरिक्त रोग के विष की मात्रा के अत्यधिक होने पर भी शरीर आक्रान्त हो जाता है।

लब्ध रोग-क्षमता—यदि किसी व्यक्ति को कोई रोग होता है तो उसमे उस विशेष रोग के प्रति रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है, जिससे रोग का दूसरा आक्रमण नहीं होने पाता। इस प्रकार प्राप्त की हुई रोग-क्षमता की सीमा मे भिन्नता पाई जाती है। (१) चेचक के आक्रमण से जो क्षमता उत्पन्न होती है वह बहुत प्रबल होती है और बहुत काल तक, प्राय. आयु पर्यन्त, रहती है। इसको **स्थायी** क्षमता कहते हैं। (२) रोमान्तिका, डिप्थीरिया इत्यादि में जो क्षमता उत्पन्न होती है वह यद्यपि बहुत समय तक रहती है, किन्तु चेचक की अपेक्षा दुर्बल होती है। इसको **चिरकालिक** कहते हैं। (३) **अल्पस्थायी** उस क्षमता को कहते है जो बहुत थोड़े समय तक रहती है; जैसे विशूचिका या इन्फ्लुएंज़ा मे।

कृत्रिम रोग-क्षमता कृत्रिम साधनों द्वारा उत्पन्न की जाती है। वह दो प्रकार की होती है, सक्रिय और निष्क्रिय।

सक्रिय क्षमता—शरीर मे निम्नलिखित वस्तुग्रो को प्रविष्ट करने से सक्रिय रोग-क्षमता उत्पन्न हो सकती है।

(१) रोग के प्रबल जीवित जीवाणु और विष—इससे स्वाभाविक रोग के समान रोग का भयङ्कर आक्रमण होता है। इस कारण इस विधि से भयङ्कर हानि होने की आशङ्का रहती है। चेचक के टीके का अन्वेषण होने से पहले चेचक को रोकने के लिए इसी विधि का उपयोग किया जाता था।

(२) जीवित जीवाणु और विष की प्रबलता को रासायनिक वस्तुओं द्वारा घटाकर शरीर में प्रविष्ट करना—ऐसा कई प्रकार से किया जा सकता है। (१) जीवाणुओ मे कुछ विसंक्रामक वस्तु को मिलाकर पोषक माध्यम में रखने से, (२) अधिक ताप पर जीवाणुओ को रखने से, (३) जीवाणुओं को प्रथम क्षम्य जन्तुओं में प्रविष्ट करने और उनसे नये जीवाणु बनाने से, और (४) शुष्क वायु मे सुखाने से।

(३) मृत जीवाणु और विष को शरीर में प्रविष्ट करने से।

(४) जीवाणुओं के शरीर से उत्पन्न हुए विष।

(५) जीवाणुओं के शरीर से निकली हुई अन्य वस्तुएँ।

जब शरीर के भीतर कोई बाह्य वस्तु पहुँचती है तो शरीर उसको नष्ट करने का उद्योग करता है। ऐसा करने में वह इस प्रकार की वस्तुएँ बनाता है जो उन आगन्तुक वस्तुओं का नाश कर दें। जब ऊपर लिखी हुई वस्तुओं को शरीर मे इंजेक्शन द्वारा प्रविष्ट किया जाता है तो शरीर उनकी प्रति-वस्तुएँ तैयार करना आरम्भ करता है। जो मात्रा प्रथम शरीर में प्रविष्ट की जाती है वह बहुत थोड़ी होती है। अतएव शरीर की प्रतिक्रिया भी हलकी होती है। जब शरीर इस मात्रा को सहन कर लेता है तो दूसरी बार अधिक मात्रा दी जाती। इस प्रकार मात्रा को धीरे-धीरे बढ़ाकर बहुत अधिक रोग-क्षमता उत्पन्न की जा सकती है।

यह विधि केवल रोग को रोकने के काम में लाई जा सकती है; उससे रोग-क्षमता उत्पन्न होने में अधिक समय लगता है। रोग की चिकित्सा करने में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। किन्तु यह निष्क्रिय रोगक्षमता की अपेक्षा अधिक स्थायी होती है।

जो वस्तु शरीर मे प्रविष्ट की जाती है उसको **वैक्सीन** कहते हैं।

निष्क्रिय रोग-क्षमता—यदि किसी जन्तु के शरीर में किसी रोग के जीवाणु और विष प्रविष्ट किये जायँ तो उस पर रोग का आक्रमण होगा। यदि जीवाणु और विष की मात्रा अधिक है तो जन्तु पर रोग प्रबल होगा और सम्भव है कि जन्तु की मृत्यु हो जाय। किन्तु यदि उसके शरीर में थोड़ी मात्रा प्रविष्ट की गई है तो रोग का साधारण आक्रमण होगा जिससे उसके शरीर मे रोग के प्रति-विष बनेंगे और रोगक्षमता उत्पन्न हो जायगी। यदि कुछ दिन के पश्चात् उसी जन्तु के शरीर में जीवाणु और विष की अधिक मात्रा प्रविष्ट की जाय तो वह उसको भी सहन कर लेगा; उसके शरीर मे प्रति-विषो की अधिक मात्रा बन जायगी। इस प्रकार जन्तु के शरीर में समय-समय पर जीवाणु और विष की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्रा को प्रविष्ट करने से बहुत उच्च कोटि की रोग-क्षमता उत्पन्न की जा सकती है, यहाँ तक कि जन्तु कई सौ घातक मात्राओ को सहन कर सकता है। 'घातक मात्रा' वह है जिससे जन्तु की मृत्यु हो जावे। भिन्न-भिन्न जन्तुओं के लिए यह मात्रा भिन्न होती है। बड़े जन्तु के लिए अधिक मात्रा की आवश्यकता है। छोटे जन्तु, जैसे ख़रगोश इत्यादि, के लिए उससे कहीं थोड़ी मात्रा 'घातक' होगी।

जब इस प्रकार जन्तु में उच्च कोटि की क्षमता उत्पन्न हो जाती है तब उसके शरीर से यन्त्रों द्वारा थोड़ा रक्त निकाला जाता है। इस रक्त को कुछ समय तक उचित दशाओं मे रखने से उससे, गाढ़े स्वच्छ द्रव्य के समान, **'सीरम'** भिन्न हो जाता है। इस सीरम में वह सब प्रति-विष उपस्थित होते हैं जो जन्तु के शरीर में उत्पन्न हुए थे। चिकित्सा के लिए यही सीरम शरीर में प्रविष्ट किया जाता है।

यह सीरम रोग को रोकने के लिए प्रयुक्त नहीं किया जाता; इससे शरीर मे प्रति-विष उत्पन्न नहीं होते; केवल पूर्वजात प्रति-विष शरीर मे पहुँच जाते है। इस कारण इनकी आयु थोड़ी होती है। थोड़े ही समय के पश्चात् यह नष्ट हो जाते है।

यह सीरम दो प्रकार का होता है। यदि जन्तु के शरीर में जीवाणु प्रविष्ट किये गये हैं तो सीरम में जीवाणु-नाशक शक्ति होगी। किन्तु जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुए विषों पर उसकी क्रिया न होगी। इसके विरुद्ध यदि केवल विषो ही को जन्तु में प्रविष्ट किया जायगा तो सीरम में विषनाशक शक्ति होगी।

सीरम को शरीर मे प्रविष्ट करने पर कभी-कभी एक प्रकार की दुर्घटना देखने मे आती है। उसको **विचत्रता** कहते हैं। यह केवल उन व्यक्तियों को होता है जिनको उसी सीरम का दो या तीन दिन पूर्व इंजेक्शन दिया गया हो। यदि किसी व्यक्ति के प्रथम टीके के दो या तीन दिवस पश्चात् दूसरा टीका लगाया जावे तो कभी-कभी टीके के स्थान के चारों ओर चर्म लाल हो जाता है और वहाँ तीव्र खुजली होने लगती है। इसका कारण यह बताया जाता है कि प्रथम इंजेक्शन से शरीर मे जो वस्तुएँ बनी थीं वह दूसरे इंजेक्शन द्वारा शरीर में प्रविष्ट हुए जीवाणुओं को थोड़े ही समय में नष्ट कर देती हैं। इससे जीवाणुओं के शरीरों से जो प्रोटीन वस्तुएँ निकलती है वह शरीर पर प्रभाव डालकर खुजली इत्यादि के लक्षण उत्पन्न कर देती हैं।

शरीर में होनेवाली इस घटना का फल 'सीरम रोग' होता है। यह सीरम के इंजेक्शन से उत्पन्न होता है। इसके दो स्वरूप देखने मे आते हैं। प्रथम स्वरूप में केवल इंजेक्शन के स्थान के चारों ओर शोथ उत्पन्न हो जाता है। किन्तु दूसरा स्वरूप अत्यन्त भयङ्कर होता है। वह इंजेक्शन देने के पश्चात् तुरन्त ही प्रकट होता है। हृदयावसाद उत्पन्न होकर तत्काल मृत्यु हो जाती है। सौभाग्य से यह घटना बहुत ही कम देखने में आती है।

विचत्रता में यह विशेषता है कि वह केवल उसी सीरम से उत्पन्न होती है जिसको पहिली बार शरीर में प्रविष्ट किया गया था।

यह घटना दो प्रकार की होती है; एक सक्रिय और दूसरी निष्क्रिय। निष्क्रिय विघ्नता कुछ सप्ताह के पश्चात् समाप्त हो जाती है; किन्तु सक्रिय कई वर्षों तक बनी रहती है।

जीवाणु-भक्षण—प्रवाहिका के शीगा जीवाणु पर अन्वेषण करते हुए फ्रांस मे पेरिस के एक वैज्ञानिक ने, जिनका नाम D'Herelle है, यह पता लगाया है कि प्रवाहिका'के मल के अथवा शीगा जीवाणुओं के...में एक ऐसी वस्तु होती है जो जीवाणुओं को नष्ट कर देती है। इसके द्वारा वह द्रव्य जिसमें शुद्ध जीवाणु उपस्थित हों, जीवाणु-रहित हो जाता है। यदि उसको किसी पोषक माध्यम मे मिलाकर जीवाणुओं को उत्पन्न करना चाहे तो जीवाणु उत्पन्न नहीं होगे; क्योंकि वह प्रथम ही नष्ट हो चुके है। अन्वेषक ने इस वस्तु को, जो जीवाणुओं का नाश कर देती है, 'जीवाणु-भक्षक' का नाम दिया है। उनका विचार है कि यह साधारण जीवाणुओ की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म जीव होते हैं जो सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र के द्वारा नहीं दिखाई देते।

अन्वेषक के विचारों के अनुसार यह जीव मनुष्यो और पशुओ की अन्त्रियों मे उपस्थित हैं। वह मल में भी उपस्थित रहते हैं और पृथ्वी पर या अन्य सब स्थानें में भी पाये जाते हैं। अन्त्रियों से वह रक्त में या अन्य भागों में जा सकते हैं। इनमें जीवाणु-नाशक शक्ति बहुत तीव्र होती है जो शरीर को आक्रान्त करनेवाले सब जीवाणुओ पर क्रिया करती है।

अभी तक इस जीवाणु-भक्षक के सम्बन्ध में अधिक खोज नहीं हो सकी है; किन्तु इस खोज के द्वारा भविष्य में चिकित्सा के सम्बन्ध मे बहुत कुछ आशा की जा सकती है। जिस समय जीवित जीवाणु-भक्षक का रोग की चिकित्सा के लिए प्रयोग करना सम्भव होगा, उस समय इसके द्वारा बहुत कुछ उत्तम परिणामो की संभावना है।

सत्रहवाँ परिच्छेद

रोग को फैलने से रोकने के उपाय

प्रत्येक नगर मे स्वास्थ्याध्यक्ष और स्वास्थ्य-विभाग के कर्मचारियों का यह कर्तव्य होता है कि जब वहाँ पर कोई भी रोग फैले तो उसको रोकने का तत्काल उचित प्रबन्ध करें। इसके लिए जो लोग रोग से आक्रान्त हो चुके है उनको स्वस्थ मनुष्यो से पृथक् करना, स्वस्थ व्यक्तियों की रक्षा करना और रोग के वाहक कीड़ों इत्यादि का नाश करना आवश्यक है।

रोग के फैलने पर निम्नलिखित साधनों का उपयोग किया जाता है—

(१) विज्ञप्ति,
(२) पृथक्करण,
(३) कारंटीन,
(४) शिक्षा,
(५) संक्रन्नाश।

(१) **विज्ञप्ति**—संक्रामक रोग से किसी व्यक्ति के आक्रान्त होने पर स्वास्थ्य-विभाग के कर्मचारियों को तत्काल सूचना देना विज्ञप्ति कहलाता है। रोग को रोकने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि ज्योंही नगर या गाँव में कोई भी व्यक्ति रोगग्रस्त हो त्योंही उसकी सूचना कर्मचारियों को दे दी जाय। रोगी ही से स्वस्थ व्यक्तियों को रोग होता है; रोग के जीवाणु रोगी के मल-मूत्र इत्यादि के द्वारा जलाशय या कुएँ को गन्दा कर देते हैं अथवा उनके नाश का समुचित प्रबन्ध न होने से उनमें उपस्थित जीवाणुओं को मक्खियाँ फैला देती हैं।

रोग को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि रोग की सूचना तुरन्त ही कर्मचारियों को दी जाय जिससे वह उचित प्रबन्ध कर सके। रोग के

प्रारम्भ होने पर रोग को रोकना कठिन नहीं होता। किन्तु फैल चुकने के पश्चात् उसका नियन्त्रण असम्भव है।

पाश्चात्य देशों में इसके सम्बन्ध मे क़ानून बना हुआ है। वहाँ पर प्रत्येक डाक्टर अथवा साधारण व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह स्वास्थ्य-विभाग को संक्रामक रोगी की तुरन्त ही सूचना दे। ह्विटलेग के अनुसार तत्काल विज्ञप्ति के निम्नलिखित लाभ हैं जिनको महाशय दास ने अपनी पुस्तक मे लिखा है—

(१) कर्मचारियों को शीघ्र ही नगर और ज़िले में रोग के फैलने का ज्ञान हो जाता है। उनको यह मालूम हो जाता है कि किन-किन स्थानों में कितने रोगी है। इससे उनको तत्काल उपयुक्त प्रबन्ध करना सुगम होता है।

(२) रोगी के पृथक्करण अस्पताल में भेजने या विसंक्रमण का समुचित प्रबन्ध हो सकता है। साथ मे स्वास्थ्य-विभाग के कर्मचारी रोगी की चिकित्सा का भी उचित प्रबन्ध कर सकते है।

(३) अन्य व्यक्तियों को टीका लगवाना या ऐसे ही अन्य आवश्यक प्रबन्ध किये जा सकते हैं।

(४) विज्ञप्ति से रोग के प्रारम्भ और फैलने की पूरी तरह खोज की जा सकती है।

(५) नगर में वितरित किये जानेवाले जल अथवा वहाँ पर आनेवाले दूध इत्यादि की परीक्षा द्वारा रोग के प्रारम्भ का पता लगाने का अवसर मिलता है। साथ मे यदि रोग स्कूल के पास कहीं आरम्भ हुआ है तो स्कूल के बच्चों की रक्षा का शीघ्र ही प्रबन्ध किया जा सकता है। स्कूल के द्वारा रोग के सारे नगर मे फैलने का भय रहता है।

(६) रोगग्रस्त परिवारो के बच्चो को स्कूल में आने से रोका जा सकता है।

हमारे देश में अभी तक कोई इस प्रकार का नियम नहीं है। प्रथम तो कर्मचारियों के पास रोग की सूचना पहुँचती ही नहीं। यदि पहुँचती भी है तो उस समय जब रोग फैल चुकता है। संयुक्त-प्रान्त आगरा और अवध की

(४) रोगी के कमरे में केवल उन्हीं लोगों को जाना चाहिए जो रोगी की सेवा-शुश्रूषा करते हैं। ऐसे व्यक्तियो की संख्या जितनी आवश्यक हो केवल उतनी ही होनी चाहिए। इन व्यक्तियों को उचित है कि जब कभी रोगी को स्पर्श करें तभी अपने हाथों को किसी विसंक्रामक द्रव्य से धो डालें। उनके वस्त्र भी अलग हों जिनको प्रतिदिन बदलना चाहिए।

(५) रोगी के उपयोग मे आनेवाले बर्तन भिन्न होने चाहिएँ। इन बर्तनों को विसंक्रामक द्रव्य से धोना उचित है।

(६) रोगी के भोजन के पश्चात् जो कुछ भी बचे उसको किसी विसं-क्रामक द्रव्य या अग्नि मे डाल देना चाहिए। इसी प्रकार रोगी के मल-मूत्र को भी विसंक्रामक या अग्नि के द्वारा नष्ट कर देना उचित है।

(७) रोगी के वस्त्रो को धोबी को देने के पूर्व कम से कम २४ घण्टे तक किसी तीव्र विसंक्रामक द्रव्य, जैसे कारबोलिक द्रव्य १. २०, मे भिगोकर रखना चाहिए।

(८) रोगी के कमरे के दरवाज़े पर १: २० शक्तिवाले कारबोलिक द्रव्य में भिगोकर परदे को टाँग देना चाहिए। ऐसा करने से रोग के जीवाणु बाहर नहीं फैलने पाते।

(९) जब रोग का संक्रमण-काल समाप्त हो जावे और चिकित्सक कह दे कि रोगी से दूसरों को रोग होने की सम्भावना नहीं है तब उसको दूसरों से मिलने देना चाहिए।

(१०) जो लोग रोगी को देखना चाहें वे केवल खिड़की इत्यादि के द्वारा उसको देख सकते हैं। उनको कमरे के भीतर जाने की आज्ञा नहीं देनी चाहिए।

(११) मक्खी, मच्छर इत्यादि कीड़ों को रोगी के कमरे से जितना दूर रखा जा सके उतना ही उत्तम है।

महाशय दास ने अपनी पुस्तक मे ऊपर लिखे हुए नियमों का उल्लेख किया है; किन्तु परिवार के भीतर रहकर उनका पूर्ण पालन असम्भव सा प्रतीत

होता है। अतएव सबसे उत्तम यह है कि रोगी को संक्रामक रोगो के अस्पताल में ले जाकर रखा जावे।

जो लोग ग़रीब है वह अपने मकान में पृथक्करण का प्रबन्ध नहीं कर सकते। उनके मकानो में कमरो की संख्या बहुत थोड़ी होती है। अतएव उनके लिए पृथक्करण अस्पतालों में रोगी को रखना बहुत आवश्यक है। अस्पताल में परिचर्या, शुश्रूषा, चौबीसों घण्टे की देख-भाल और चिकित्सा का जितना उत्तम प्रबन्ध हो सकता है उतना मकान पर नहीं किया जा सकता। किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश मे रोगी को अस्पताल में रखना उत्तम नहीं समझते। रोगी को अस्पताल में केवल उसी समय ले जाया जाता है जब रोग असाध्य हो जाता है। इस कारण रोगी के बचने की आशा भी कम हो जाती है।

पृथक्करण अस्पताल—यह ऐसे अस्पताल होते है जहाँ पर संक्रामक रोग के रोगियों को पृथक् कर सकते हैं। चेचक, प्लेग, विशूचिका इत्यादि रोग के रोगियों को यहा रखा जाता है।

यह अस्पताल बस्ती से पर्याप्त दूरी पर होने चाहिएँ। जिस स्थान पर यह बनाये जावें वहाँ की भूमि शुष्क, ऊँची और स्वास्थ्यप्रद हो। अस्पताल के चारों ओर एक दीवार होनी चाहिए। अस्पताल के भीतर प्रत्येक रोगी के लिए भिन्न कमरा होना आवश्यक है। कम से कम भिन्न भिन्न रोगों के लिए भिन्न वार्ड होना तो अनिवार्य्य ही है। वार्ड में प्रत्येक रोगी के लिए १४४ वर्गफुट स्थान होना चाहिए और उसको प्रति घण्टे ६००० वर्ग फुट वायु मिलनी चाहिए। रोगी के मल-मूत्र के नाश अथवा उसकी चिकित्सा और शुश्रूषा आदि का उचित प्रबन्ध होना चाहिए।

प्रत्येक पृथक्करण अस्पताल में रोगी को घर से लाने के लिए एक गाड़ी होनी चाहिए। साधारण इक्के या किराये की गाड़ी पर रोगी को लाना उचित नहीं। रोगी के उपयोग के पश्चात् किराये की सवारी का विसंक्रामण नहीं किया जाता। अतएव उसके द्वारा रोग फैल सकता है। इन सवारियों मे रोगी को आराम से लाया भी नहीं जा सकता। अतएव चार

पहियेवाली गाड़ी, जिसमें रोगी को लाया जा सके, अस्पताल ही में रहनी चाहिए। इस प्रकार की गाड़ियाँ प्रत्येक अस्पताल और पुलिस की चौकी पर रहें। इनके पहियों पर रबड़ चढ़ी रहे और प्रत्येक बार उपयोग के पश्चात् उनका विसंक्रामण होना चाहिए।

(३) **कारंटीन**—यह विधि विशेषकर समुद्र के बन्दरों में प्रयुक्त होती है। जब कोई जहाज़ ऐसे देश से आता है जहाँ विशूचिका, प्लेग इत्यादि रोग फैल रहे हों तो जहाज़ को बन्दर में ४० दिन तक रोक लिया जाता है। उसके पश्चात् यात्रियों को उतरने की आज्ञा दी जाती है। इस समय में प्रत्येक रोग का संक्रामक काल समाप्त हो जाता है। यदि यात्रियों में से कोई रोग से संक्रामित होता है तो उसमें रोग के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति को अस्पताल में पृथक् कर दिया जाता है। (इन यात्रियों के साथ भी, जो उन नगरों से—जहाँ रोग फैला हुआ हो—आते हैं, ऐसा ही किया जाता है। कारंटीन कैंप बना दिये जाते हैं जहाँ यात्रियों को उस समय तक रखा जाता है जब तक उस रोग का संक्रामक काल, जो उस नगर में जहाँ से वह लोग आ रहे हैं फैला हुआ है, समाप्त नहीं हो जाता।)

प्लेग इत्यादि रोगों के फैलने पर इस विधि को कई बार काम में लाया गया है; किन्तु इससे आशातीत परिणाम नहीं निकले। हरिद्वार या कई अनेक रेल के जंकशनों पर इसी प्रकार की कारंटीन स्थापित की गई थीं। यात्रियों को वहाँ दस दिन तक ठहरना पड़ता था। उसके पश्चात् उनका और उनके असबाब का विसंक्रामण करके उनको नगर में भेजा जाता था। किन्तु इससे रोग का फैलना बन्द नहीं हुआ।

इस विधि से यात्रियों को बहुत असुविधा होती है; जिन लोगों को व्यापार-सम्बन्धी या अन्य किसी प्रकार का आवश्यक कार्य होता है उनको बड़ी कठिनाई होती और हानि पहुँचती है। इसके अतिरिक्त छोटे कर्मचारियों को मनमानी करने का अवसर मिलता है जिससे उनको आर्थिक लाभ होता है। इसी कारण रोग फैलने से रुकता भी नहीं। कुछ स्थानों पर कारंटीन के कारण बलवे तक हो चुके हैं।

यदि नगर में स्वास्थ्य-रक्षा का प्रबन्ध उत्तम हो तो कारंटीन की कोई आवश्यकता नहीं। जल, भोज्य पदार्थों की स्वच्छता, मल के निकास इत्यादि का उत्तम प्रबन्ध होने से रोगी के नगर में आ जाने पर भी रोग नहीं फैल सकता। यदि नगर का यह सब प्रबन्ध ऐसा सन्तोषजनक हो तो जहाज़ो या रेल से आनेवाले यात्रियों मे से केवल रोगग्रस्त यात्रियों को अस्पताल में भेजना पर्याप्त होगा।

कारंटीन के विरुद्ध विशेषकर निम्नलिखित आपत्तियाँ की जाती हैं—

(१) यात्रियों को बहुत असुविधा होती है और उससे व्यापार इत्यादि में बाधा पड़ती है।

(२) किसी-किसी रोग के संक्रामक काल इतने लम्बे है कि उनके समाप्त होने तक लोगों को कारंटीन में रखना सम्भव नहीं है। ऐसी दशा में वह रोग के वाहक की भाँति कार्य करेंगे।

(३) कारंटीन के समय रोगग्रस्त और स्वस्थ मनुष्यों के एक ही साथ एक स्थान में रहने से स्वस्थ मनुष्य को भी रोग होने का डर रहता है। और इससे रोग रुकने की अपेक्षा बराबर बढ़ता ही रहता है।

(४) कारंटीन के भय से रोगग्रस्त व्यक्ति भी अपना रोग छिपाने का उद्योग करते हैं।

(४) **शिक्षा**—हमारे देश की जनता में शिक्षा के अभाव और अनेक अन्ध-विश्वासों के कारण संक्रामक रोगों को रोकना कठिन होता है। इस कराण स्वास्थ्य-विभाग का यह कार्य होना चाहिए कि वह जनता में स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियम और सामान्य संक्रामक रोगों के सम्बन्ध में ज्ञान फैलावे। (इसके लिए छोटे-छोटे ट्रैक्ट—जिनमें रोगों के उत्पन्न होने के कारण, लक्षण, रोकने के उपाय, चिकित्सा, रोगी की चिकित्सा इत्यादि का पूरा वर्णन हो—बाँटने चाहिएँ। गाँवों में, जहाँ अधिक लोग पढ़ भी नहीं सकते, स्वास्थ्य-विभाग के इंसपेक्टर या सफ़री दवाखाने के डाक्टरों से मैजिक लालटैन के द्वारा रोगो के सम्बन्ध की तसवीरें दिखाकर लेक्चर दिलवाये जायँ नगरो के प्रत्येक मोहल्ले मे भी ऐसा ही होना चाहिए।) जब

तक जनता में रोग और स्वास्थ्य-सम्बन्धी ज्ञान नही फैलेगा तब तक रोगो को रोकना असम्भव है। बिना जनता की सहायता के इस सम्बन्ध मे सफलता नही हो सकती।

(५) **विसंक्रामण**—इस शब्द का अर्थ है संक्रमण को नाश करना। इसके द्वारा रोगों को उत्पन्न करनेवाले जीवाणु और विष दोनों नष्ट किये जाते है। जिन वस्तुओ का विसंक्रामण के लिए प्रयोग किया जाता है वह **विसंक्रामक** कहलाती हैं। यह रासायनिक वस्तुएँ होती है जिनकी क्रिया जीवित वस्तुओं पर घातक होती है। इनको प्रयोग करने के लिए केवल इतना जान लेना कि अमुक वस्तु विसंक्रामक है पर्याप्त नहीं है। इस बात का ज्ञान भी हो कि उसकी कितनी मात्रा किस शक्ति में प्रयोग करनी चाहिए जिससे अमुक रोग के जीवाणु नष्ट हो जावें।

कुछ वस्तुएँ केवल जीवाणुओ की वृद्धि को रोकती है; उनका नाश नहीं करतीं। उनके प्रयोग से वस्तुएँ नहीं सड़तीं। इनको विषहर कहते हैं। कुछ वस्तुएँ केवल गन्ध-नाशक होती है। वह जीवाणुओं का नाश नही करतीं। उनकी क्रिया केवल दुर्गन्धित गैसो को दूर कर देती है। यू-डी-कोलोन, कपूर, यूकलिप्टस तैल इत्यादि ऐसी ही वस्तुएँ हैं। इनका प्रयोग करना उचित नही। यह कारण को नष्ट किये बिना ही केवल लक्षण को ढक देती है। इसलिए इनके प्रयोग से किसी प्रकार का लाभ नहीं है।

जब परिवार मे कोई व्यक्ति संक्रामक रोग से ग्रस्त हो तो उसके मल, मूत्र, वस्त्र इत्यादि का नित्य प्रति विसंक्रामण करते रहना चाहिए। उसके स्वास्थ्य-लाभ के पश्चात् सारे मकान का विसंक्रामण होना चाहिए। कम से कम वह कमरे, जिसमें वह रहता था, अथवा जहाँ उसके उपयोग की वस्तुएँ रखी जाती थीं अवश्य ही विसंक्रमित हों। इससे रोग के जो जीवाणु वस्त्र, मल, कमरे की दीवार, फ़र्श, मेज़, कुर्सी या अन्य वस्तुओ मे पहुँच गये है, नष्ट हो जायँगे और उनको फैलने का अवसर न मिलेगा।

सन्तोषजनक विसंक्रामण के लिए यह आवश्यक है कि जो लोग इस क्रिया को करें उनको क्रिया की विधि और रोगवाहको या जीवाणुओं की

उत्पत्ति, उनके रहने के स्थान, कैसे वह एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते है इत्यादि का पूरा ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए थोड़े वेतन पानेवाले नौकरों पर विश्वास न किया जाय। यह विभाग जिस व्यक्ति के अधीन हो उसको स्वयं विसंक्रामण के समय उपस्थित रहना चाहिए।

प्रयोग की दृष्टि से विसंक्रामकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है—

(१) प्राकृतिक,
(२) भौतिक,
(३) रासायनिक।

(१) प्राकृतिक विसंक्रामक—सूर्य्य-प्रकाश और शुद्ध वायु दोनों प्राकृतिक विसंक्रामक हैं। सूर्य्य-प्रकाश से जीवाणु नष्ट होते हैं। प्रयोगों से यह पाया गया है कि आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु सूर्य्य की किरणों के द्वारा ½ से २ घण्टे मे मर जाते हैं। इसी प्रकार कौक के मतानुसार राजयक्ष्मा के जीवाणु कुछ मिनटों से लेकर आध घण्टे के भीतर नष्ट होते हैं। यदि सूर्य्य की किरणें सीधी जीवाणुओं पर पड़ेंगी तो वह शीघ्र ही नष्ट हो जायँगे। किन्तु यदि जीवाणु किसी वस्तु में कुछ गहराई पर स्थित हैं तो उनके नष्ट होने में अधिक समय लगेगा। इसी प्रकार अन्य जीवाणु भी सूर्य्य की किरणो से नष्ट होते हैं। जीवाणुओं के अस्तित्व के लिए आर्द्रता आवश्यक है। इस कारण सूर्य्य-प्रकाश में कुछ समय तक रहने से वह शुष्क होकर नष्टप्राय हो जाते हैं। उनकी रोगोत्पादक-शक्ति बहुत कम हो जाती है। इसलिए वस्त्रों को समय-समय पर धूप में सुखाने से बहुत लाभ होता है।

सूर्य-प्रकाश मे जो अल्ट्रावायलेट किरणें होती हैं उनका जीवाणुओं पर विशेष प्रभाव होता है।

शुद्ध वायु मे उपस्थित आक्सिजन की जीवाणुओं पर इस प्रकार की रासायनिक क्रिया होती है कि उनकी वृद्धि की शक्ति नष्ट हो जाती है। इस कारण शुद्ध वायु विसंक्रामक की भाँति क्रिया करती है।

किन्तु प्रत्येक वस्तु को विसंक्रामण के लिए सूर्य्य-प्रकाश और शुद्ध वायु पर निर्भर नहीं किया जा सकता। मोटे-मोटे गद्दे या अन्य वस्त्र, कमरे की दीवारें, मकान की नालियाँ, मल-मूत्र इत्यादि के विसंक्रामण के लिए सूर्य-प्रकाश और वायु पर्याप्त नहीं है। इसलिए हमको अन्य विसंक्रामक वस्तुओं का उपयोग करना पड़ता है जिनका आगे चलकर वर्णन किया जायगा।

(२) भौतिक विसंक्रामक—(विशेष भौतिक विसंक्रामक उष्णता है। उष्णता का कई रूपों मे उपयोग किया जाता है। विसंक्रामण के लिए शुष्क और आर्द्र उष्णता दोनों काम मे आती है।

(अ) शुष्क उष्णता—

१. जलाना,

२. शुष्क उष्ण वायु।

(क) आर्द्र उष्णता—

१ उबालना,

२. भाप।)

(अ) शुष्क उष्णता

(१) जलाना—(विसंक्रामण की भिन्न विधियों में जलाना सबसे उत्तम है। इससे रोग के जीवाणु सम्पूर्णतः तुरन्त ही नष्ट हो जाते हैं और रोग के फैलने की कोई आशङ्का नही रहती।) जहाँ सम्भव हो सके, इस विधि का उपयोग करना चाहिए। जिन छोटे-छोटे वस्त्रो मे रोगी का मल-मूत्र लगा हो उनको जला देना चाहिए। रोगी के मल को भी, उसमें कुछ लकड़ी का बुरादा मिलाकर, जलाना ही सबसे उत्तम है। विशेषतया विशूचिका में ऐसा ही करना चाहिए। जिन फूस की झोपड़ियों में संक्रामक रोग का कोई रोगी रहा हो उनको भी जलाना ही ठीक है।

(वस्त्र इत्यादि के जलाने के लिए एक छोटा बन्द स्थान होना चाहिए।) म्युनिसिपैलिटी के विसंक्रामक विभाग में एक छोटा कमरा इस प्रकार का

भी हो जहाँ वस्त्र या वस्तुएँ जलाई जा सकें। खुले हुए स्थान में जलाने पर वस्तु के छोटे-छोटे कण वायु के द्वारा चारों ओर फैल सकते हैं।

×(२) शुष्क उष्ण वायु—१५० सेंटीग्रेड तक तप्त करने से सब जीवाणुओं का नाश हो जाता है। किन्तु उष्ण वायु द्वारा सब वस्तुओं का विसंक्रामण नहीं किया जा सकता। ऐसी वायु में किसी मोटी वस्तु के भीतर प्रवेश करने की शक्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त ऊनी या इसी प्रकार के अन्य वस्त्र भी शुष्क वायु से नष्ट हो जाते है अथवा बिगड जाते है। इस कारण शुष्क वायु का आजकल विसंक्रामण के लिए उपयोग नहीं किया जाता। ऐसी वस्तुएँ—जैसे काँच के बर्तन, चमड़ा, पुस्तकें, रबड़ की बनी हुई वस्तुएँ—जो जल के प्रयोग से विकृत हो जाती है शुष्क वायु के द्वारा शुद्ध की जा सकती है। शुष्क वायु के द्वारा तप्त हो जाने पर इन वस्तुओं को धीरे-धीरे ठण्डा करना चाहिए, जिससे ये ख़राब न हों।

(क) आर्द्र उष्णता

(१) उबालना—विसंक्रामण की यह एक अत्यन्त उत्तम और विश्वसनीय विधि है। उबालने से सामान्यतया प्रत्येक प्रकार के जीवाणु नष्ट हो जाते है। आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु १४० फ़ैरनहाइट की उष्णता से १० मिनट में और विसूचिका के जीवाणु १२६° फ़ैरनहाइट की उष्णता से ५ मिनट मे नष्ट होते है। राजयक्ष्मा, ऐंथ्रैक्स अथवा प्रसवज्वर के स्ट्रिप्टोकौकस जीवाणुओं का नाश करने के लिए आध घण्टे तक उबालने की आवश्यकता होती है। तौलिए, पहिनने के वस्त्र तथा अन्य छोटे-छोटे वस्त्रों को घर पर ही उबालकर शुद्ध किया जा सकता है। अन्य वस्तुओं के लिए उबलता हुआ जल काम में लाना चाहिए। इस प्रकार चारपाई, मेज़, कुर्सी इत्यादि सबका विसंक्रामण किया जा सकता है। (यदि जल मे २% सोडा कार्बोनेट मिला दिया गया हो तो जीवाणु-नाशक शक्ति और भी अधिक हो जायगी।) किन्तु वस्त्रों मे यदि रक्त या किसी अन्य वस्तु के धब्बे लगे हो तो उनको उबालने से पूर्व साबुन से धोकर धब्बों को मिटा देना चाहिए। उबालने के पश्चात यह धब्बे स्थायी हो जाते है।

(२) भाप—(अनुभव और प्रयोगो से सिद्ध हुआ है कि भाप सबसे उत्तम और सन्तोषजनक विसंक्रामक है।) इसमें वस्तु के भीतर प्रवेश करने की शक्ति शुष्क वायु से कहीं अधिक है। इसके द्वारा कुछ मिनटों ही मे जीवाणुओं का नाश हो जाता है।) इससे जीवाणु अथवा स्पोर दोनों २१२° फ़ैरनहाइट पर ५ मिनट में नष्ट होते है। शुष्क वायु २५०° फ़ैरनहाइट पर ४ घण्टे लेती हैं।

भाप कई प्रकार से उपयोग में आती है। जब जल को गरम करने से उस पर बिना किसी प्रकार दाब बढ़ाये हुए भाप उत्पन्न की जाती है तो वह **धारा भाप** कहलाती है। साधारण केतली या किसी बर्तन मे, जिसमे भाप के बाहर निकलने के लिए एक नली लगी हो, जल को गरम करने से जो भाप बनती है वह नली के द्वारा बाहर निकलने लगती है। इससे उस पर वायुमण्डल की दाब नहीं बढ़ने पाती। यह धारा भाप कही जाती है। किन्तु यदि नलीदार बर्तन न लेकर किसी बन्द बर्तन में जल को उबालें जिससे भाप बाहर न निकल सके तो वह **संतृप्त भाप** कहलावेगी। अधिक दाब के कारण भाप का आयतन कम हो जावेगा और तापक्रम अधिक होगा। इस प्रकार की भाप मे वस्तुओ के भीतर प्रवेश करने की बहुत शक्ति होती है।

यदि बर्तन के सारे जल के भाप मे परिवर्तित होने के पश्चात् भी बर्तन को गरम किया जावे तो भाप का तापक्रम बहुत बढ़ जायगा। यह **अतितप्त भाप** कहलाती है। विसंक्रामण के लिए इस प्रकार की भाप अधिक लाभदायक नहीं है। यह एक साधारण गैस की भांति आचरण करती है। अतएव वह ताप की उत्तम वाहक नहीं होती। इसके अतिरिक्त वह वस्त्र इत्यादि वस्तुओं के सम्पर्क मे आकर जमती भी नहीं, जिससे वहाँ अधिक भाप नहीं पहुँच सकती।

भाप के सम्बन्ध में 'अति दाब' और 'न्यून दाब' शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। अतिदाब से १५ पाउंड प्रति घन इंच से अधिक भार से प्रयोजन है। इससे कम न्यून दाब कही जाती है।

संतृप्त भाप की सदा अति दाब होती है। विसंक्रामण के लिए यही सबसे उत्तम है। जब यह वस्त्र या अन्य वस्तुओं के सम्पर्क में आती है तो जम जाती है जिससे इसका आयतन केवल $\frac{१}{१६००}$ रह जाता है। इससे एक प्रकार का शून्य स्थान उत्पन्न हो जाता है जिससे वहाँ तुरन्त ही अधिक भाप पहुँचती है। इस प्रकार वहाँ भाप बार-बार पहुँचती रहती है, जब तक कि पूर्ण विसंक्रामण नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त यह भाप वस्तु के सब आन्तरिक भागों में प्रवेश करके उस वस्तु को पूर्णतया शुद्ध कर देती है। इन सब कारणों से संतृप्त भाप ही का उपयोग किया जाता है।

विसंक्रामण करते समय सदा भाप को अति दाब पर प्रयोग करना चाहिए। धारा भाप भी विसंक्रामण करती है। उससे भी आधे या एक घण्टे के लगभग समय में जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। किन्तु अति दाब पर भाप को प्रयोग करने से जीवाणुओं का नाश उससे भी थोड़े समय में और पूर्ण होता है। साधारणतया २० मिनट या आध घण्टे तक ११५° से १२०° सेंटीग्रेड के तापक्रम की भाप मे रखने से प्रत्येक प्रकार के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार किया हुआ विसंक्रामण सन्तोषजनक होता है।

विसंक्रामण करने के लिए जो पात्र बनाये जाते हैं वह अति दाब और न्यून दाब के लिए भिन्न होते हैं। अति दाबवाले पात्रों में जल को उबालने के लिए कोष्ठ भिन्न होता है। उस कोष्ठ से भाप दूसरे कोष्ठ में जाती है जहाँ विसंक्रामण के लिए वस्तुएँ रहती हैं। न्यून दाबवाले पात्रों में नीचे की ओर जल के उबलने के लिए स्थान होता है जिसके नीचे स्टोव इत्यादि रखे जा सकते है। उसके ऊपर की ओर वस्त्र इत्यादि रखे जाते हैं। यह पात्र यद्यपि सस्ते होते हैं किन्तु सन्तोषजनक नहीं होते।

विसंक्रामक यन्त्र—जिन यन्त्रों द्वारा विसंक्रामण किया जाता है उनमें से 'वाशिंगटन लायन[१]', 'ईक्वीफेक्स[२]', 'थ्रेश करेंट स्टीम

---

१. Washington Lyon. २. Equifex.

डिसिंफ़ैक्टर[1]', 'नौटिंघम स्टोव[2]' और 'थैले का विसंक्रामक[3]' अधिक प्रयोग किये जाते है।
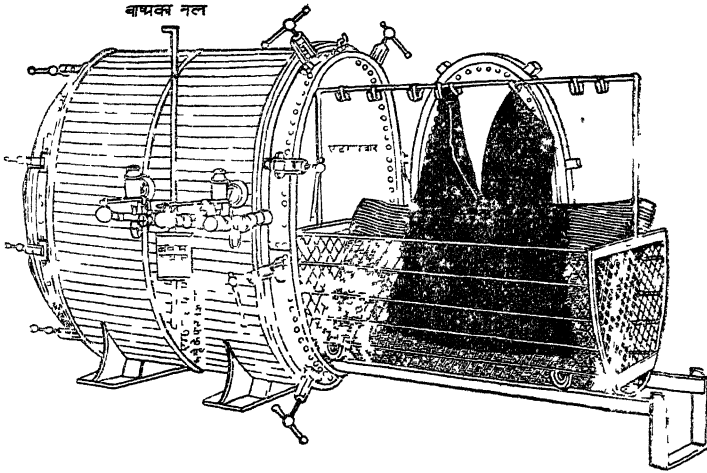
चित्र नं० ८३

(१) **वाशिंगटन लायन** यन्त्र लम्बा और वर्त्तुलाकार होता है। उसके भीतर एक लम्बी बड़ी कोठरी होती है जहाँ वस्तुओ का विसंक्रामण होता है। इस यन्त्र के बाहर की ओर इसको चारों ओर से वेष्टित करती हुई एक जाकट रहती है जिसके द्वारा यन्त्र की उष्णता का ह्रास नहीं होने पाता और वस्त्रो के सूखने में भी सहायता मिलती है। यन्त्र की भीतरी कोठरी में भाप पहुँचाने के पूर्व उसको इस जाकट मे भर दिया जाता है जिससे कोठरी गरम हो जाती है। तत्पश्चात् उसमे भाप छोड़ी जाती है। यंत्र के दोनों ओर द्वार रहते हैं। इसके साथ एक ऐसा यन्त्र जुड़ा होता है जिससे भाप और वायु दोनों को खींचकर शून्य स्थान उत्पन्न किया जा सकता है। जल को उबालकर भाप बनानेवाला

१. Thresh current steam disinfector. २. Nottingham stove. ३. Sack steam disinfector.

यन्त्र भी भिन्न होता है। वहाँ से भाप एक नली के द्वारा इस यन्त्र में लाई जाती है। इसके भीतर भाप की दाब १० से २० पौंड प्रति वर्ग इंच होती है। वस्त्रों को यन्त्र के भीतर भरकर भाप को जाकट के भीतर प्रविष्ट किया जाता है। तत्पश्चात् भाप कोठरी के भीतर पहुँचाई जाती है। १५ से २० मिनट में वस्तुओं का पूर्ण विसंक्रामण हो जाता है। तत्पश्चात् कोठरी ठण्डी होने के लिए खोल दी जाती है। जब वस्त्र अथवा अन्य वस्तुएँ ठंढी हो जाती है तो उनको वहाँ से हटा लिया जाता है।

(२) ईक्वीफ़ेक्स यन्त्र—इसका आकार पूर्व यन्त्र के बहुत कुछ समान होता है; किन्तु इसमे कोई जाकट नहीं होती और भाप की दाब ७ से १० पौंड प्रति वर्ग इंच होती है। भाप को उत्पन्न करने का यन्त्र भी भिन्न होता है। इसमें ऊपर और नीचे की ओर धातु के बने हुए कई नल रहते है। इनके भीतर भी भाप रहती है, जिसके कारण यह तप्त हो जाते हैं। इससे यन्त्र के भीतर की भाप वस्त्रों पर शीघ्र नहीं जमने पाती और विसंक्रामण के पश्चात् वस्त्रों के सूखने में भी सहायता देती है। इस यन्त्र के द्वारा विसंक्रामण में लगभग आधा घण्टा लगता है। इसके भीतर तार और लोहे की बनी हुई एक बड़ी डलिया रहती है। इसके नीचे पहिये लगे रहते हैं जिनके द्वारा उसको लोहे की पटरियों पर भीतर या बाहिर खींचा जा सकता है। इस डलिया में वस्त्रों को भर दिया जाता है और तत्पश्चात् उसको यन्त्र के भीतर पहुँचाकर यन्त्र के द्वार को बन्द कर दिया जाता है।

(३) थ्रेश का यन्त्र—इसमें धारा भाप का प्रयोग किया जाता है। यह न्यून दाब विसंक्रामक है। इसके बीच में विसंक्रामक कोठरी होती है और उसके चारों ओर एक जाकट रहती है जिसमे जल भर दिया जाता है। इस जल में केलशियम क्लोराइड को मिला देने से जल का क्वथनांक बढ़ जाता है और वह १०६° सेंटीग्रेड पर उबलता है। जल को उबालने के लिए जाकट के नीचे की ओर एक छोटी सी भट्ठी रहती है जिसमें अग्नि जला करती है। जल के उबलने से जो भाप बनती है वह बीच की कोठरी में पहुँचकर वस्त्रों का विसंक्रामण करती है। जल के १०६° सेंटीग्रेड पर उबलने से

भाप अति तप्त हो जाती है। यह भाप जब बीच की कोठरी में पर्याप्त समय तक पहुँच चुकती है तो विसंक्रामक की चिमनी को खोलकर उसको निकाल दिया जाता है। तत्पश्चात् तप्त वायु कोठरी के भीतर प्रविष्ट की जाती है। इससे वस्त्र इत्यादि सूख जाते हैं। प्रथम आध या पौन घण्टे के लगभग भाप का उपयोग करना चाहिए। तत्पश्चात् तप्त वायु का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार लगभग एक घण्टे में वस्तुओं का पूर्ण विसंक्रामण हो जाता है। यह यन्त्र सस्ता और उत्तम है। इसके द्वारा विसंक्रामण भी सन्तोषजनक होता है। इसके प्रयोग करने में भी किसी विशेष कौशल की आवश्यकता नहीं होती। छोटे-छोटे अस्पतालों के लिए यह एक उपयोगी यन्त्र है।

(४) **नौटिंघम स्टोव**—इसमे भी बाहर की ओर एक जाकट होती है जिसके नीचे के भाग में जल भरा रहता है। इसके भीतर की कोठरी चौखूटी होती है। जाकट के नीचे की ओर भट्टी रहती है जिसके कारण जाकट मे जल के उबलने से भाप बनकर कोठरी मे आया करती है। इस यन्त्र मे भाप की दाब २० पौंड प्रति वर्ग इंच होती है।

इसको काम में लाने से पूर्व कोठरी मे तप्त वायु प्रविष्ट की जाती है। वस्तुओं का विसंक्रामण हो चुकने पर एक बार तप्त वायु फिर कोठरी में लाई जाती है। इससे वस्त्र आदि सब सूख जाते हैं। इस यन्त्र द्वारा विसंक्रामण में २० मिनट के लगभग समय लगता है।

(५) **थैले का विसंक्रामक**—यह सस्ता, सरल और सन्तोषजनक यन्त्र है। २ फुट लम्बा और ४½ फुट व्यास का ऐसे पदार्थ का एक थैला बनाया जाता है जो भाप के द्वारा विकृत नहीं होता। इसके पास ही स्थित एक दूसरे पात्र में जल उबलता रहता है। इस पात्र से एक नली या हौज़ के द्वारा भाप थैले के ऊपरी भाग में पहुँचाई जाती है। यह भाप, अपने भार के कारण, ठण्डी वायु को नीचे की ओर ठेलकर निकाल देती है। वस्त्र आदि, जिनका विसंक्रामण करना होता है, थैले में भर दिये जाते हैं और भाप को ऊपर से प्रविष्ट किया जाता है। इस यन्त्र से १५ मिनट के लग-

भग समय मे पूर्ण विसंक्रामण हो जाता है। वस्त्रों को निकालने के पश्चात् १५ मिनट में वह सूख जाते हैं।

इसी प्रकार अन्य यन्त्र भी बनते हैं जो इन मशीनों की बड़ी दुकानों पर मिल सकते हैं।

विसंक्रामण का स्थान—अस्पतालों के अतिरिक्त प्रत्येक नगर मे एक विसंक्रामक स्थान होना चाहिए जहाँ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की वस्तुओं का, जो करवाना चाहे, विसंक्रामण किया जा सके। इसके लिए उनसे कुछ मूल्य लिया जा सकता है। इस प्रकार का प्रबन्ध हुए बिना संक्रामक रोगों के संक्रमित वस्त्रों का विसंक्रामण असंभव है और रोग फैलने की अधिक संभावना है।
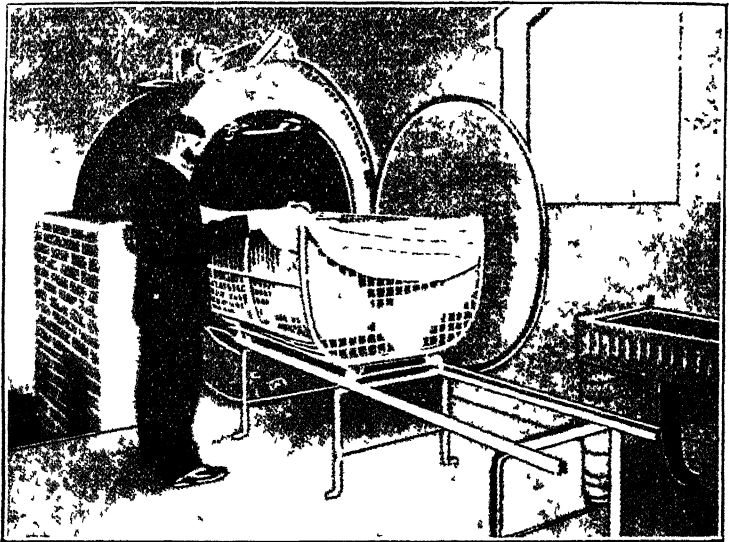
चित्र नं० ८४

विसंक्रामण करने के लिए दो ऐसे कमरे बनाने चाहिएँ जिनके बीच में केवल एक दीवार हो। इस दीवार में विसंक्रामक यन्त्र को लगाना

चाहिए जिससे यन्त्र का एक द्वार एक कमरे में और दूसरा दूसरे कमरे में रहे। दोनों कमरों के बीच मे किसी प्रकार का मार्ग या खिड़की इत्यादि न होनी चाहिए जिससे वे कमरे एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् रहें। एक कमरे के द्वारा केवल उन संक्रमित वस्त्रों को जिनका विसंक्रामण करना है प्रविष्ट करना चाहिए। यन्त्र के भीतर प्रविष्ट करने और उनको विसंक्रमित कर चुकने पर वस्त्र इत्यादि को यन्त्र के दूसरे द्वार से दूसरे कमरे में निकालना चाहिए। दोनों कमरों मे काम करनेवाले व्यक्ति भी भिन्न होने चाहिएँ। इससे विसंक्रमित वस्त्रों में संक्रमण के पहुँचने की तनिक भी आशङ्का नहीं रहेगी।

इन कमरों के फ़र्श, छत या दीवार किसी अप्रवेश्य पदार्थ के बने होने चाहिएँ; दीवारें चिकनी हों। कमरे मे जितने कोने हों सब गोल बनवाये जायँ। समय-समय पर किसी विसंक्रामक को जल में मिलाकर उससे दीवारों को रगड़ना बहुत आवश्यक है। कमरे में वायु और प्रकाश के प्रवेश का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए।

इन कमरों से कुछ दूरी पर एक छोटा दाहक भी होना चाहिए जिसमे निकृष्ट या अधजली वस्तुओं को पूर्णतया जलाया जा सके। इससे उन वस्तुओं के संक्रमण-युक्त कण चिमनी के द्वारा न फैलने पावेंगे।

विसंक्रमित और उन संक्रमित वस्त्रों को, जो विसंक्रामण के लिए लाये जाते हैं, रखने के लिए तथा उन गाड़ियों के खड़े होने के लिए, जिनमें भरकर यह वस्त्र लाये गये हैं या भेजे जायँगे, भिन्न स्थान होने चाहिएँ। दोनों को एक दूसरे के पास कभी न रखना चाहिए।

इसी स्थान में एक ऐसा कमरा भी होना चाहिए जहाँ वस्त्र धोये जा सकें; अथवा वहाँ पर काम करनेवाले काम करके अपने शरीर को स्वच्छ कर सकें।

विसंक्रामण करनेवालों को प्रत्येक बार विसंक्रामण कर चुकने पर अपने वस्त्रों को बदलना चाहिए। स्नान करके अथवा कम से कम शिर, मुख, हाथ इत्यादि अङ्गों को, जो खुले रहते हैं, स्वच्छ करके दूसरे वस्त्र पहिनकर दूसरी बार विसंक्रामण करना चाहिए।

रासायनिक विसक्रामक—इन वस्तुओं से रोगोत्पादक जीवाणु प्रायः नष्ट हो जाते है अथवा उनकी शक्ति का ह्रास हो जाता है और वृद्धि रुक जाती है। साथ मे उनकी रोगोत्पादक शक्ति नष्टप्राय हो जाती है। इनकी संख्या बहुत अधिक है। इनका प्रयोग ठोस रूप मे, द्रव या तरल रूप मे अथवा गैस के रूप मे किया जाता है।

विसक्रामक को चुनते समय निम्नलिखित बातो का ध्यान रखना चाहिए—

(१) उत्तम विसंक्रामक में जीवाणुओ को नष्ट करने की विशेष शक्ति होनी चाहिए; उसकी क्रिया तीव्र हो जिससे जीवाणु थोड़े ही समय में नष्ट हो जावें।

(२) प्रयोगों द्वारा मालूम हुआ है कि भिन्न-भिन्न जीवाणुओं पर भिन्न-भिन्न रासायनिक वस्तुओं की विशेष क्रिया होती है। विशूचिका के जीवाणु पर पोटाशियम परमैंगनेट की विशेषकर तीव्र क्रिया होती है; किन्तु प्लेग के जीवाणु पर नहीं होती। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। अतएव विसंक्रामक ऐसा हो कि जिस जीवाणु के लिए उसका प्रयोग किया जावे उस पर उसकी विशेष क्रिया हो।

(३) विसंक्रामक की क्रिया केवल जीवाणु ही तक परिमित रहनी चाहिए। मनुष्य के चर्म अथवा उन वस्तुओ पर, जिन पर उसका प्रयोग किया जावे, उसकी कोई क्रिया न होनी चाहिए।

(४) कुछ रासायनिक वस्तुएँ पूय, रक्त, मल इत्यादि के सम्पर्क में आने से निष्क्रिय हो जाती हैं। ऐसी वस्तुएँ उत्तम विसंक्रामक नहीं हैं।

(५) धातु—जैसे लोह, ताँबा इत्यादि—पर विसंक्रामक की क्रिया न होनी चाहिए।

(६) वह वस्तु जल में पूर्णतया घुलनशील होनी चाहिए जिससे उसका उत्तम मिश्रण बन सके।

(७) उस वस्तु में बसा को घोलने का गुण होना चाहिए।

(८) अन्त मे वह वस्तु सस्ती भी होनी चाहिए।

निम्नलिखित वस्तुओं को जल में घोलकर तरल स्वरूप में प्रयोग किया जाता है—

(१) **रस-कपूर**—यह एक पारद का लवण है जो तीव्र और विश्वसनीय विसंक्रामक है। इसका बहुत उपयोग किया जाता है। इसमें तीव्र जीवाणु-नाशक शक्ति है। १ भाग रसकपूर और १००० भाग जल के मिलाने से जो घोल बनाया जाता है उसकी क्रिया से आन्त्रिक ज्वर, डिफ्थीरिया, ऐंथ्रेक्स और विशूचिका के जीवाणु दस मिनट में नष्ट हो जाते है। किन्तु जो जीवाणु स्पोर उत्पन्न करते है उनके लिए अधिक शक्ति के घोल (५०० भाग जल में १ भाग रस-कपूर) की आवश्यकता होती है।

जल के साथ मिलाने से इसका घोल रङ्ग, स्वाद और गन्ध-रहित बनता है जो देखने में बिलकुल जल की भाँति होता है। जीवाणुओं का नाश करने के लिए १:१००० शक्ति का घोल पर्याप्त है। किन्तु इसमे कई दुर्गुण भी हैं। प्रथम तो वह रक्त आदि ऐन्द्रिक वस्तु के सम्पर्क में आते ही निष्क्रिय हो जाता है, ऐन्द्रिक पदार्थ के मिलने से पारद-ऐल्ब्यूमिनेट[१] अवक्षिप्त हो जाता है और घोल की अधिक क्रिया नहीं होने पाती। दूसरे वह धातुओं पर—जैसे लोहा, ताँबा, इत्यादि पर—क्रिया करता है। तीसरे वह एक तीव्र विष है जिसके पी जाने से भयङ्कर परिणाम होते है।

यदि घोल में कुछ अम्ल मिला दिया जावे तो इसका प्रथम अवगुण बहुत कुछ कम हो जाता है। यद्यपि उस दशा में भी वह कुछ न कुछ अवक्षेप बनाता है किन्तु वह इतना थोड़ा होता है कि लवण की क्रिया मे बाधा नही पड़ती। तीसरे, अवगुण से बचने के लिए उसके घोल में कुछ रङ्ग, प्रायः नीला रङ्ग,[२] मिला दिया जाता है और जिस बोतल में वह रखा जाता है उस पर विष लिख दिया जाता है। इसको रखने के लिए प्रायः नीले रङ्ग की बोतलों का उपयोग किया जाता है।

---

१. Mercury albuminate. २. Anniline blue.

रस-कपूर का, १: १००० शक्ति का घोल बनाने के लिए ½ औंस रस-कपूर को तीन गैलन जल में घोल देते हैं। इस घोल में १ औंस हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और १ ग्रेन ऐनिलीन ब्ल्यू (नीला रङ्ग) मिला देते हैं। यह अत्यन्त उत्तम विसंक्रामक द्रव्य है।

आजकल बाज़ार में इस वस्तु की टिकियाँ बिकती हैं जिनमें २० ग्रेन लवण होता है। १० छटाँक जल में एक टिकिया के घोलने से लगभग १ १००० शक्ति का घोल बन जाता है। यह वस्तु सस्ती है।

(२) पारद-आयोडाइड—यह वस्तु रस-कपूर से कम विषैली है। किन्तु उसमे विसंक्रामक गुण कम से कम ४ गुणा अधिक है। यह वस्तु ऐन्द्रिक पदार्थों के साथ मिलकर गाढ़ा अवक्षेप नही बनाती। वस्तुओं के भीतर प्रवेश करने की भी इसमें अधिक शक्ति है; किन्तु धातुओं के ऊपर इसकी भी क्रिया होती है। यह जल में घुलनशील है। किन्तु जब तक इसके साथ जल में पोटाशियम आयोडाइड नहीं मिलाया जाता तब तक यह नहीं घुलती। शस्त्र-कर्म मे हाथ आदि के विसंक्रामण के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। १: ४००० की शक्ति का घोल मकान के फ़र्श इत्यादि के विसंक्रामण के लिए काम मे लाया जाता है।

(३) पारद-सायनाइड—यह रस-कपूर के ही समान प्रबल है। इसके प्रयोग से पारद-अल्ब्यूमीनेट का अवक्षेप नहीं बनता। मिट्टी के तेल को इस वस्तु के १: ५० की शक्ति के घोल में मिलाकर प्लेग से आक्रान्त मकानों के फ़र्श इत्यादि के ऊपर प्रयोग किया गया है।

(४) कारबोलिक अम्ल—यह अम्ल अलकतरा के अभिस्रवन से बनता है। तत्पश्चात् इसको शुद्ध कर लिया जाता है। शुद्ध करने के पूर्व इसका रङ्ग लाली लिये हुए भूरा होता है जो खुला रहने पर गाढ़ा हो जाता है। शुद्ध कारबोलिक अम्ल के रङ्ग-रहित लम्बे कण होते है जिनका रङ्ग वायु और प्रकाश के सम्पर्क से गुलाबी हो जाता है। गरमी पाकर यह कण पिघल जाते हैं और एक हलके लाल रङ्ग का तरल द्रव्य बन जाता है।

शस्त्र-कर्म में इसका बहुत उपयोग होता है। मल-मूत्र, श्लेष्मा, वस्त्र या बिस्तर इत्यादि पर इसका प्रयोग अधिक किया जाता है। इसके सम्पर्क से ऐन्द्रिक पदार्थों का अलब्यूमिन अवक्षिप्त नहीं होता।

इस अम्ल के २ % का घोल साधारण जीवाणुओं को कुछ मिनट से लेकर ५ घण्टे मे नष्ट कर देता है। स्पोर-उत्पादक जीवाणुओं के लिए ५ % का घोल आवश्यक होता है। विसंक्रामण के लिए ५ % शक्ति का घोल प्रयोग करना चाहिए। यदि इसमें हाइड्रोक्लोरिक अम्ल या साधारण नमक मिला दिया जावे तो इस घोल की विसक्रामक शक्ति बढ़ जायगी। इसका प्रयोग अधिक समय तक करना आवश्यक है।

धातुओं पर इस वस्तु की कोई क्रिया नहीं होती। इसका मूल्य भी थोड़ा है।

'कारबोलिक पाउडर' एक लाल रंग की बुकनी या चूर्ण होता है जो कारबोलिक अम्ल को कुछ अन्य वस्तुओं में मिलाकर बनाया जाता है। यह अपनी गन्ध से दूसरी वस्तुओं की गन्ध को ढक देता है; किन्तु इसमें विसंक्रामक शक्ति नहीं होती।

अलकतरे के अभिस्रवण से कई अन्य पदार्थ बनाये जाते हैं जिनको विसंक्रामकों की भाँति प्रयोग किया जाता है। इनमें फ़िनाइल, क्रियोसैाल, आईज़ाल, लाईसोल, सिल्लिन और हाईकैाल मुख्य हैं।

(५) **फ़िनाइल**—इसमें कारबोलिक अम्ल की अपेक्षा दुगुनी विसंक्रामक शक्ति है। इसका मूल्य भी कम है। इस कारण इसका बहुत उपयोग किया जाता है। मकान की मोरियों और शौच-स्थान इत्यादि को धोने के लिए जल में फ़िनाइल को मिलाकर प्रयोग करते हैं।

(६) **क्रियोसैाल**—इस वस्तु का उपयोग सैनिक विभाग में अधिक होता है। यह कारबोलिक अम्ल की अपेक्षा तिगुना अधिक प्रबल है। सैनिक अस्पताल या स्वास्थ्य-विभाग में २½ % का घोल प्रयोग किया जाता है। ५० भाग जल में इसका १ भाग घुलता है। यदि इस घोल में अलकोहल या ग्लिसरिन मिला दिया जावे तो उसकी घुलनशीलता और भी बढ़ जाती है

(७) आईज़ाल—इस वस्तु मे विसंक्रामक शक्ति बहुत अधिक है। वस्त्र इत्यादि पर इसका किसी भाँति का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। जल के साथ इसे मिलाने पर कुछ श्वेत रंग का मिश्रण तैयार हो जाता है। १: ५०० की शक्ति के घोल से आन्त्रिक ज्वर का मल १५ मिनट मे और १: ६०० के घोल से आन्त्रिक ज्वर का मूत्र ५ मिनट में पूर्णतया विसंक्रमित हो जाता है। १: ८०० का घोल, डिप्थीरिया, विशूचिका, आन्त्रिक ज्वर और विसर्प[1] के जीवाणुओं को ५ मिनट मे नष्ट कर देता है। १० % के घोल से ऐन्थ्रेक्स के जीवाणु १५ मिनट मे मर जाते हैं।

(८) लाईसोल—इसका भी शस्त्र-कर्म मे उपयोग होता है। कारबोलिक अम्ल की अपेक्षा यह वस्तु अधिक प्रबल है; किन्तु जल के साथ मिलाने से इसका हलके भूरे रंग का मिश्रण बनता है। अलब्यूमन से भी इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। २५ भाग जल में १ भाग लाईसोल मिलाना चाहिए।

(९) सिल्लिन—यह वस्तु कारबोलिक अम्ल से १७ गुना अधिक प्रबल है। वस्त्र इत्यादि पर भी इसका कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। आजकल इसका बहुत उपयोग होता है। जिन मकानों में प्लेग के रोगी रहे हों उनका विसंक्रामण इस वस्तु से किया जा सकता है। मकान की मोरी इत्यादि को धुलवाने के लिए यह अत्यन्त उत्तम वस्तु है। १६० भाग जल और १ भाग सिल्लिन का घोल मल, श्लेष्मा इत्यादि के लिए और ३२० भाग जल में १ भाग सिल्लिन का घोल वस्त्र इत्यादि के विसंक्रामण के लिए उपयुक्त है।

(१०) हाईकौल तथा क्रियोलीन—यह सिल्लिन ही के समान हैं और कारबोलिक अम्ल से २० गुना अधिक शक्तिशाली हैं। जल के साथ मिलाने से इनका एक भूरे रंग का द्रव्य बनता है। २०० भाग जल में एक भाग हाईकौल के मिश्रण का प्रयोग किया जाता है।

चिनोसौल और सेप्रोल भी प्रयोग किये जाते हैं।

---

१ Erysepelas.

(११) फ़ारमेलीन—यह फ़ारमैल्डीहाइड का बाज़ारू नाम है। इससे किसी वस्तु पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। मल, श्लेष्मा आदि के विसंक्रामण के लिए १० ड्राम फ़ारमेलीन को १६ सेर जल मे मिलाकर प्रयोग किया जाता है। इसको छिड़कते भी हैं।

निम्नलिखित वस्तुएँ ठोस या चूर्ण के रूप में प्रयुक्त होती है। इनको संक्रमित पदार्थ के ऊपर छिड़क देते है अथवा इसके कणों ही को मिला देते है।—

(१) पोटाशियम परमैंगनेट—इसके गहरे बैंगनी रंग के कण होते है जिनको जल मे मिलाने पर जल का रंग लाल हो जाता है। घड़े भर जल को लाल करने के लिए इस वस्तु की एक छोटी सी चुटकी पर्याप्त है। इसकी विशेष क्रिया विशूचिका के जीवाणुओं पर होती है; इसलिए हैजे के दिनों मे कुँवो मे डालने के लिए इस वस्तु का विशेष उपयोग किया जाता है। साधारण कुँवे के लिए आधा औंस पोटाश परमैंगनेट पर्याप्त है। इस वस्तु को प्रथम एक बालटी के भीतर जल में घोल लिया जाता है। उस बालटी को दो या तीन बार कुँवे के जल में ऊपर से नीचे को खींचा जाता है। इससे बालटी का सारा द्रव्य कुँवे के जल में मिल जाता है, और कुँवे का जल हलका लाल हो जाता है। यदि यह लाली या गुलाबीपन शीघ्र ही जाता रहे तो कुँवे में अधिक पोटाश परमैंगनेट डालना चाहिए।

(२) चूना तथा बुझा हुआ चूना—गन्दे जल और विशूचिका के मल को विसंक्रमित करने के लिए चूने का प्रयोग किया जाता है। मल में मुट्ठी भर चूना मिलाकर उस पर इतना गरम जल डाल देना चाहिए कि चूना और मल जल से ढक जावें। तत्पश्चात् एक लकड़ी से मल, चूने और जल को मिला देना चाहिए। ऐसा करने से २ घण्टे में मल पूर्णतया विसंक्रमित हो जायगा। चूने को कुछ दिनों तक रखने से उसका विसंक्रामक गुण नष्ट हो जाता है। इसलिए, जहाँ तक सम्भव हो, ताज़ा चूना काम में लाना चाहिए।

जल स्वच्छ करने के लिए भी चूने का उपयोग किया जाता है। इसका पूर्ण वर्णन जल के प्रकरण में किया जा चुका है।

जब ताजे चूने पर जल डाला जाता है तो उससे उष्णता निकलती है और वह कार्बन-डाई-आक्साइड का शोषण करती है। इसको बुझा हुआ चूना कहते है। इसमें जीवाणुओं को नष्ट करने की, साधारण चूने की अपेक्षा, अधिक शक्ति होती है। इसके ३ % घोल से विशूचिका के जीवाणु एक घण्टे में नष्ट हो जाते है। इसको सदा ताज़ा बनाना चहिए। कुछ समय तक रखने से यह केलशियम कार्बोनेट मे परिवर्तित हो जाता है जिसमे किसी प्रकार की विसंक्रामक शक्ति नहीं होती।

चूने की सफ़ेदी करवाने से दीवारें इत्यादि बहुत से जीवाणुओ से मुक्त हो जाती हैं। किन्तु सफ़ेदी के पूर्व दीवारों को खुरचवा देना चाहिए। यद्यपि साधारण जीवाणुओ पर चूने की क्रिया होती है; किन्तु अधिक प्रबल जीवाणुओ पर इस वस्तु का कुछ भी प्रभाव नहीं होता।

बुझे हुए चूने को उससे आठ गुना जल में मिलाकर चूने का पानी, जिसको Milk of lime कहते हैं, बनाया जाता है। विसंक्रामण के लिए यह प्रयुक्त होता है।

(३) **ब्लीचिंग पाउडर**—यह श्वेत रंग का चूर्ण साधारण चूने और क्लोरीन गैस का एक योग है। इसको हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ मिलाने से क्लोरीन गैस निकलती है जो तीव्र विसंक्रामक होती है। जब इस वस्तु को जल के साथ मिलाया जाता है तो केलशियम हाइपोक्लोराइट $Ca(Ocl)_2$ बन जाता है। यह वस्तु सहज में केलशियम क्लोराइड और आक्सिजन में विभंजित हो जाती है। $Ca(Ocl)_2 = Cacl_2 + O_2$। इस प्रकार जो शुद्ध आक्सीजन निकलती है वह ऐन्द्रिक पदार्थ पर क्रिया करके उसको नष्ट कर देती है। जीवाणुओं पर इस आक्सिजन की विशेष क्रिया होती है। यह क्रिया इतनी प्रबल होती है कि इस वस्तु की थोड़ी सी मात्रा से बहुत अधिक जल पूर्णतया शुद्ध हो सकता है।

ब्लीचिंग पाउडर एक अत्यन्त उत्तम, विश्वसनीय और सस्ता विसंक्रामक है; किन्तु इसमें सबसे बड़ा अवगुण यह है कि वायु, धूप और सील से इसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। इस कारण, विशेषकर वर्षा ऋतु में, यह

थोड़े ही समय में निष्क्रिय हो जाता है। उत्तम ब्लीचिंग पाउडर में कम से कम ३५ % क्लोरीन होनी चाहिए। किन्तु जो वस्तु साधारणतया बाज़ार में मिलती है उसमें केवल २५ % क्लोरीन होती है। यह देखा गया है कि चूर्ण की बोतल या पीपे को खोल देने के पश्चात् ३ सप्ताह में उसकी शक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है। इस कारण उसको सदा बन्द बोतल और पीपों में रखना चाहिए। किन्तु यदि उसमें २० %, अर्थात् उसका पांचवां भाग, चूना मिला दिया जावे तो उसका यह अवगुण बहुत कुछ कम हो जाता है और उसको अधिक काल तक रखा जा सकता है। चूना पाउडर की आर्द्रता का शोषण कर लेता है। चूने को मिलाने के पश्चात् पाउडर को बन्द टीन के पीपों में, जहाँ आवश्यकता हो, ले जाया जा सकता है।

विसंक्रामण करने के लिए पाउडर को कमरों के फ़र्श पर छिड़क दिया जाता है। शौच-स्थानों में भी इसका उपयोग किया जाता है। जिन कमरों में रोगी रह चुके हैं उनके विसंक्रामण के लिए १ पौंड पाउडर को ३ गैलन जल में घोलकर एक प्रबल द्रव्य बनाया जाता है और उससे कमरे का फ़र्श, दीवारें इत्यादि धोई जाती है। कुँवों के जल को शुद्ध करने के लिए भी इसको काम में लाया जा सकता है। प्रथम कुँवे के जल का अनुमान कर लेना चाहिए। प्रत्येक १००० गैलन जल के लिए आधा औंस या २½ तोला चूर्ण पर्याप्त है। चूर्ण को एक बालटी मे जल के साथ मिला देते है। तत्पश्चात् बालटी को कई बार कुँवें के जल में ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर को खींचा जाता है जिससे चूर्ण का घोल कुँवे के जल में भली भांति मिल जाता है। आध घण्टे के पश्चात् इस बात की परीक्षा करनी चाहिए कि कुँवे का जल विसंक्रमित हो चुका या नहीं। यह विसंक्रामण क्लोरीन के ऊपर निर्भर करता है। अतएव जल की क्लोरीन के लिए परीक्षा करनी चाहिए।

थोड़े जल को किसी प्याले या परीक्षा-नलिका मे लेकर उसमे पोटाशियम आयोडाइड के कुछ कण मिला दो। तत्पश्चात् उसमें थोड़ा सा स्टार्च का घोल (साधारण आटे को जल में मिलाकर गरम करने से बनता है) डाल दो। यदि जल मे पर्याप्त क्लोरीन पहुँच गई है तो जल का रङ्ग हलका

हरा हो जायगा। यदि ऐसा न हो तो फिर से विसंक्रामण की आवश्यकता है। इसी प्रकार तालाबों का भी विसंक्रामण किया जा सकता है। चूर्ण को कपड़े मे बाँधकर तालाब के जल में चारों ओर एक रस्सी के द्वारा खींचना चाहिए।

(४) **क्लोरोस**—यह सोडियम हाइपोक्लोराइट का घोल है जिसमें १० से १५ % तक क्लोरीन होती है।

(५) **क्लोरोजिन**—यह भी सोडियम हाइपोक्लोराइट का घोल है जिसको स्थायी बनाने के लिए क्षारीय कर दिया जाता है। ताज़ा बने हुए द्रव्य में ४ % से ६ % तक क्लोरीन होनी चाहिए; किन्तु साधारणतया ३ % या २·५ % क्लोरीन मिलती है। इसको फोडे, घाव इत्यादि के धोने के काम मे भी लाया जाता है। इसका शरीर पर किसी प्रकार का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

(६) **क्लोर-एमिन-टी**—यह भी उत्तम विसंक्रामक है। इससे शरीर पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। इस कारण इसको शस्त्र-चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है।

निम्नलिखित वस्तुओं का गैस के रूप मे विसंक्रामण के लिए उपयोग होता है,—

(१) **फार्मैल्डीहाइड**—यह वस्तु तरल और गैस दोनों रूपों में उपयुक्त होती है। इसका १ % या २ % का घोल तीव्र विसंक्रामक और दुर्गंधिनाशक होता है।

गैस के रूप में भी यह वस्तु जीवाणुओं को नष्ट करती है। इससे नेत्र और मुख मे क्षोभ उत्पन्न होता है; नेत्रो से जल निकलने लगता है। रेशमी, ऊनी या सूती वस्त्र अथवा धातु की बनी हुई वस्तुओं पर इसका किसी प्रकार का बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुओं का रङ्ग भी नहीं बिगड़ता। इस कारण इस वस्तु को प्रायः प्रत्येक वस्तु के विसंक्रामण के लिए प्रयोग किया जा सकता है। इसमें कार्बोलिक या सल्फ्यू-रिस अम्ल दोनों की अपेक्षा विसंक्रामक शक्ति अधिक है। इसके द्वारा

कमरे का पूर्ण विसंक्रामण होता है। किन्तु कमरे के किवाड़ पूर्णतया बन्द रहने चाहिएँ जिससे इसके वाष्प कमरे से बाहर न निकल सकें। यदि किवाड़ो की सन्धि के द्वारा थोड़े बहुत निकल भी जावें तो उनसे विशेष हानि नहीं। इस गैस की सबसे उत्तम क्रिया उस समय होती है जब कमरे की वायु का तापक्रम ७०° फ़ैरनहाइट और आर्द्रता भी ७०° होती है। ताप और आर्द्रता के कम होने पर विसंक्रामण विश्वासजनक नहीं होता।

यह गैस कई प्रकार से उत्पन्न की जा सकती है। पैराफ़ार्म[1] टिकियाँ बाज़ार मे बिकती हैं। प्रत्येक टिकिया लगभग ४ से १५ ग्रेन की होती है। इन टिकियो को गरम करने या जलाने के लिए उनके साथ ही एक लम्प आता है जिसको पैराफ़ार्म लम्प कहा जाता है। यह इस प्रकार का बना होता है कि लैम्प के जलने से उत्पन्न होनेवाले उष्ण और आर्द्र पदार्थ इन टिकियों के सम्पर्क में आते हैं जिससे टिकियों से फ़ारमेल्डीहाइड के वाष्प निकलने लगते है।

जब गैस की बहुत अधिक मात्रा की आवश्यकता हो तो उसके लिए विशेष यन्त्र जैसे ट्रिलाट[2] का यन्त्र प्रयोग किया जाता है। इस यन्त्र मे फ़ारमेलीन को गरम किया जाता है और उस पर वायु की दाब रहती है। फ़ारमेलीन के साथ थोड़ा केलशियम क्लोराइड मिला दिया जाता है जिससे क्वथनांक बढ़ जाता है। इस कारण द्रव्य १०० शतांश से ऊपर उबलता है। किन्तु ऐल्डीहाइड के वाष्प इससे पूर्व ही निकलने लगते हैं। इस कारण वह पूर्णतया शुष्क होते हैं। साथ में वायु-दाब भी बढ़ी रहती है। जब यह दाब ४० पौंड हो जाती है तब एक तांबे की नली द्वारा, जिसको किवाड़ो के छिद्र से कमरे के भीतर पहुँचा दिया जाता है, गैस के वाष्पो को कमरे मे छोड देते है। आध घंटे तक यह वाष्प कमरे के भीतर रहने चाहिएँ। १००० घनफुट स्थान के लिए $\frac{1}{2}$ से १ लिटर फ़ारमेलिन और केलशियम क्लोराइड का घोल, जिसको 'फ़ार्मोक्लोरल' कहा जाता है, पर्याप्त है। किन्तु यन्त्र के भीतर

---

१. Paraform Tabelets. २. Trillat's Apparatus.

अधिक द्रव्य रहना चाहिए। घोल के एक लिटर को वाष्पों मे परिणत होने में लगभग २० मिनट लगते हैं।

यद्यपि फ़ार्मेल्डीहाइड का उपयोग करने के लिए यह सबसे उत्तम यन्त्र है, किन्तु इसके बड़े आकार, भार और यन्त्र को कार्य के लिए तैयार करने मे अधिक समय लगने के कारण इसको प्रत्येक स्थान पर प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

पोटाशियम परमैंगनेट पर फ़ारमेलीन डालने से भी फ़ारमेल्डीहाइड के वाष्प उत्पन्न होते हैं। इसकी विधि इस प्रकार है— १००० घनफुट स्थान के विसंक्रामण के लिए १ बालटी में ४ औंस पोटाशियम परमैंगनेट लो; उस पर १० औंस फ़ारमेलीन को धीरे-धीरे छोड़ दो। एक या दो मिनट के पश्चात् रासायनिक क्रिया होने लगेगी जिससे इतनी उष्णता उत्पन्न होगी कि बालटी की शेष वस्तु भी वाष्पो मे परिणत हो जायगी। जिस कमरे या स्थान का विसंक्रामण करना हो वहाँ पर ऊपर लिखे अनुसार परमैंगनेट के कण और फ़ारमेलीन को मिलाकर कमरे से तुरन्त बाहर निकल आना चाहिए; कमरे के किवाड़ पूर्णतया बन्द रहे। इस विधि से उत्पन्न होनेवाली गैस के द्वारा कमरे के विसंक्रामण के लिए ६ घंटे की आवश्यकता है। इस कारण कमरे को कम से कम ६ घंटे तक नहीं खोलना चाहिए।

इस गैस से कमरे की दरी या अन्य वस्तुओं पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। इस कारण उनको कमरे से हटाने की आवश्यकता नहीं। किन्तु बालटी गहरी होनी चाहिए जिससे यदि उसमें की वस्तुएँ उफनें तो दरी पर गिरने न पावें।

(२) सलफ़र-डाई-आक्साइड अथवा सलफ्यूरस अम्ल—यह गन्धक की बत्तियों को, जैसी बाजार में बिकती हैं, जलाने से उत्पन्न होती है। यह एक रङ्ग-रहित गैस है जिसकी गन्ध से दम घुटने लगता है। इस गैस की क्रिया रोगों के जीवाणुओं पर इतनी पूर्ण नहीं होती जितनी कि जीवाणु-संवाहक कीटों पर। इस कारण आजकल साधारण विसंक्रामण में

इसके स्थान में फ़ारमेल्डीहाइड ही का उपयोग किया जाता है, जो सस्ती है और जिससे विसंक्रामण भी उत्तम होता है। जहाँ प्लेग के चूहे, पिस्सू और खटमल इत्यादि को नष्ट करना हो वहाँ इस वस्तु का अवश्य प्रयोग करना चाहिए। इसकी क्रिया से रेशम, ऊन अथवा अन्य वस्तुओं का रङ्ग जाता रहता है।

साधारणतया बाज़ार की गन्धक की बत्तियों को जलाकर यह गैस उत्पन्न की जाती है। जिस कमरे का इस गैस के द्वारा विसंक्रामण करना हो उसके दरवाजे और खिड़कियां पूर्णतया बन्द कर देनी चाहिएँ। किवाड़ों के बीच की सन्धि को भी पूर्णतया बन्द कर देना आवश्यक है। १००० घन-फ़ुट स्थान के कमरे के लिए डेढ़ से दो सेर तक गन्धक जलाना आवश्यक है। वायुमंडल के आर्द्र होने से इसकी क्रिया उत्तम होती है। इसलिए जिस बर्त्तन मे गन्धक जलाई जावे उसको एक ऐसे लोहे या अन्य धातु के बर्तन के भीतर रखना चाहिए जिसमे जल भरा हो। यह बर्तन एक चौड़ी गहरी थाली के समान होना चाहिए जिसके बीच मे एक ईंट पर वह बर्तन रखा रहे जिसमें गन्धक जल रही है। ऐसा करने से जल से भी कुछ वाष्प उत्पन्न होंगे अथवा गन्धक से उत्पन्न हुई गैस जल से कुछ आर्द्रता ले लेगी। इस सारे पात्र को कमरे में ऊँचे स्थान पर रखना चाहिए। यह गैस वायु से अधिक भारी होती है। इस कारण इसमे नीचे की ओर को जाने की प्रवृत्ति होती है। यदि कमरे मे दो या तीन स्थानों पर गन्धक जलाई जावे तो उत्तम है। किन्तु गन्धक के नीचे जल रहना आवश्यक है। आर्द्रता से गैस की प्रवेश करने की शक्ति बढ़ जाती है।

गैस को उत्पन्न करने का एक और भी सुगम उपाय है। समान भाग गोबर और पिसी हुई नीम की पत्तियों के मिश्रण में गन्धक मिला दी जावे; तत्पश्चात् उनके उपले बना लिये जावें। गन्धक की इतनी मात्रा होनी चाहिए कि प्रत्येक उपले में कम से कम एक तोला गन्धक आ जावे। इन उपलों को जलाने से भी गैस उत्पन्न होती है। इनका बिहार में बहुत उपयोग होता है।

इस गैस को उत्पन्न करने के लिए एक विशेष यन्त्र आता है जिसको 'क्लेटन डिसिन्फ़ैक्टर' कहते है।

(३) **हाइड्रोसियेनिक एसिड**—यह गैस जीवन के लिए अत्यन्त घातक है। इसलिए प्रयोग-कर्त्ताओं को इसके सम्बन्ध में अत्यन्त सावधान होना चाहिए। इस गैस की क्रिया जीवाणुओं पर सन्तोषजनक नहीं होती। इसका प्रयोग ऐसे अवसर पर करना चाहिए जब चूहे, पिस्सू या अन्य कीटो को नष्ट करना अभीष्ट हो। जिन स्थानों मे अनाज संग्रह किया जाता है, अथवा रेल के डब्बे, जहाज़ो का निचला भाग—जहाँ सामान भरा रहता है—और नौकरो के रहने की कोठरियाँ, तथा गोदाम इत्यादि को शुद्ध करने के लिए इसको प्रयोग किया जा सकता है।

यह गैस वायु से हलकी होने के कारण कमरे मे शीघ्र ही चारो ओर फैल जाती है। बम्बई की प्रयोगशाला में जो प्रयोग किये गये थे उनसे यह परिणाम निकला कि १००,००० भाग वायु में इस गैस के ५० भाग उपस्थित होने से आध घण्टे मे कीड़े मर जाते है।

इसको उत्पन्न करने के लिए विशेष प्रकार के यन्त्र आते हैं। पोटाशियम अथवा सोडियम सायनाइड पर हलके गन्धकाम्ल की क्रिया से भी यह गैस उत्पन्न की जाती है। कुछ विद्वान् कैलशियम सायनाइड से गैस उत्पन्न करना उत्तम समझते है। इस वस्तु के साथ किसी दूसरे रासायनिक पदार्थ को प्रयोग करने की आवश्यकता नही होती। केवल केलशियम सायनाइड को खुली वायु मे रख देने से हाइड्रोसियेनिक एसिड के वाष्प निकलने लगते हैं। १०० घनफुट स्थान के लिए एक औंस केलशियम सायनाइड पर्याप्त है। कमरे के भीतर केलशियम सायनाइड को रखकर कमरे को बन्द करने के पश्चात् उसको ४ घण्टे तक न खोलना चाहिए।

(४) **क्लोरीन**—ब्लीचिंग पाउडर की क्रिया इसी गैस पर निर्भर करती है। यह गैस हरे रंग की और वायु से भारी होती है। इसकी गन्ध अत्यंत तीव्र और असह्य होती है। नाक, नेत्र और गले की

* Clayton Disinfector

श्लैष्मिक कला में इसके द्वारा चोभ उत्पन्न हो जाता है। जिन व्यक्तियों को इस गैस से काम करना पड़ता है वह गले या नाक के किसी रोग से ग्रस्त रहते हैं।

सल्फ़्यूरस अम्ल की भांति भारी होने के कारण इसका भी व्यापन भली भांति नहीं होता। इसको भी क्रिया करने के लिए आर्द्रता की आवश्यकता होती है। इसकी क्रिया का कारण इस गैस का हाइड्रोजन के साथ सम्मेलन होता है। इस कारण जल के हाइड्रोजन के साथ इस गैस का संयोग हो जाता है जिससे आक्सिजन स्वतन्त्र होकर जीवाणु और अन्य ऐन्द्रिक पदार्थों पर आक्रमण करती है।

$$Cl_2 + H_20 = 2HCl + O$$
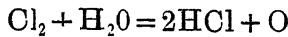
इससे हाइड्रोजन सल्फ़ाइड और अमोनिया भी विभञ्जित हो जाते हैं।

$$H_2S + Cl_2 = 2\ HCl + S.$$

$$3Cl_2 + 8\ NH_3 = 6\ NH_4Cl + N_2.$$
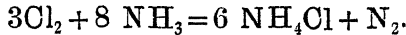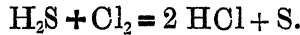
ब्लीचिंग पाउडर पर हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के डालने से यह गैस उत्पन्न होती है। हाइपोक्लोराइट आफ़ लाइम पर गन्धकाम्ल या पोटाशियम बाइक्रोमेट के साथ हाइड्रोक्लोरिक अम्ल को मिलाने से भी यह गैस उत्पन्न हो जाती है। यदि आठ औंस सोडियम क्लोराइड, २ औंस मैंगनीज़ डाई आक्सा-इड, २ औंस गन्धकाम्ल और २ औंस जल मिला दिये जावें तो क्लोरीन उत्पन्न होने लगेगी।

$$MNO_2 + 2\ Nacl + 2\ H_2\ SO_4 =$$
$$M_4SO_4 + Na_2SO_4 + 2\ H_2O + cl_2.$$
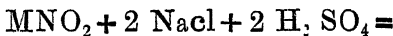
१००० घनफुट स्थान के लिए २ पौंड ब्लीचिंग पाउडर और १ पौंड हाइड्रोक्लोरिक अम्ल प्रयोग करना चाहिए। यदि चूना प्रयोग करना हो तो १½ पौंड हाइपोक्लोराइट आफ़ लाइम और ६ औंस गन्धकाम्ल आवश्यक है। इन वस्तुओं को मिलाकर कमरे में कई ऊँचे स्थानों पर या ऊँची स्टूलों पर रख देना चाहिए जिससे गैस का व्यापन पूर्ण हो। कमरे मे गैस कम

से कम १ % अवश्य उपस्थित होनी चाहिए। इससे कम मात्रा से सन्तोष-जनक विसंक्रामण नहीं होगा।

कमरे से रेशम, ऊन या अन्य रङ्गीन वस्तुएँ हटा देनी चाहिएँ। यह गैस रङ्ग का बिल्कुल नाश कर देती है। कमरे को खोलने के समय अमोनिया के हलके विलयन मे एक तौलिया भिगोकर उसे मुँह के चारों ओर लपेट लेना चाहिए। इससे कमरे से निकलनेवाली गैस से नेत्र और नासिका को हानि नहीं पहुँचने पावेगी।

कीट-नाशक वस्तुएँ

जितनी विसंक्रामक वस्तुओं का ऊपर उल्लेख किया गया है उनके प्रयोग से जीवाणुओं का नाश होता है। साथ में बहुत से कीटाणु भी नष्ट हो जाते है। यह कीट ही जीवाणुओं के वाहक होते हैं। मैलेरिया के पराश्रयी को मच्छर रोगी के शरीर से स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट करता है। प्लेग के जीवाणुओं का वहन पिस्सू द्वारा होता है। अतएव इन कीटों का नाश करना भी उतना ही, अथवा उससे अधिक, आवश्यक है जितना कि रोगों के जीवाणुओं का।

निम्न-लिखित वस्तुओं की क्रिया विशेषकर कीटों पर होती है:—

(१) पायरेथ्रम—मच्छर या अन्य कीड़ों को मारने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। यह एक चूर्ण होता है जिसको कमरों में छिड़क दिया जाता है। जहाँ तक हो सके उसको कीड़ों के ऊपर छिड़कना चाहिए। इसकी गन्ध से मच्छर, मक्खी इत्यादि कीड़े मूर्छित हो जाते हैं जिससे उनमें चलने की शक्ति नहीं रहती। चूर्ण को जलाया भी जा सकता है। इसके जलने से जो वाष्प उत्पन्न होते हैं उनकी भी यही क्रिया होती है। यदि उसमें तनिक सा अलकोहल मिला दिया जावे तो वह भली भाँति जलता है। १००० घनफुट स्थान के लिए २ पौंड पायरेथ्रम की आवश्यकता होती है। बाज़ार में यह 'पर्शियन इन्सैक्ट पाउडर'

के नाम से बिकता है। मनुष्य अथवा जानवरों पर इसका बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

(२) **पेट्रोल**—इसकी विशेष क्रिया पिस्सू या प्लेग की मक्खी पर होती है। इसके लगते ही वह तुरन्त मर जाते हैं। इसके वाष्प से भी वह एक मिनट में मरते हैं। जिन मकानों में प्लेग से कोई व्यक्ति रोगग्रस्त हुआ हो उनको सिल्लिन और पेट्रोल को समान भाग मिलाकर धोना चाहिए। एक भाग पेट्रोल, दो भाग बज़ीन और तीन भाग साधारण (अस्वच्छ) पेट्रोलियम मिलाने से एक उत्तम कीट-नाशक द्रव्य तैयार हो जाता है।

(३) **किरासिन तेल का एमल्शन**—यह इस प्रकार बनाया जाता है। ३ भाग जल में १५ भाग साबुन मिलाकर दोनों को उबालो। जब साबुन जल मे घुल चुके तो उसको काठ की एक नाँद में डाल दो और उसमें धीरे-धीरे ८२ भाग किरासीन तेल को मिलाओ। मिलाते समय मिश्रण को एक लकड़ी के डण्डे से चलाते जाओ। अन्त में तेल मिश्रण मे मिल जायगा। इसके प्रयोग से पिस्सू दो मिनट में मरते हैं।

(४) **पैस्टरीन**—यह अस्वच्छ पेट्रोलियम तेल होता है। इससे पिस्सू, मच्छर या अन्य कीट—जिनके ऊपर यह वस्तु पड़ती है—मर जाते है। साबुन और जल के साथ मिलाकर पैस्टरीन का एक मिश्रण बना लिया जाता है जिसको दीवारों पर छिड़कने या पोतने के काम में लाया जाता है। चूहों को मारने के लिए पेस्टरीन को उनके बिलों में डाल देना चाहिए।

(५) **फ़िनैल-कैंफ़र**—यह द्रव्य फ़िनैाल के कण और कपूर के समान भागों को मिलाकर बनाया जाता है। इसको गरम करने से जो वाष्प निकलते हैं वह मच्छर मक्खी इत्यादि को मूर्छित कर देते हैं। किन्तु वह भारी होने के कारण कमरे में धीरे-धीरे फैलते हैं। इस वस्तु को केवल इतना गरम करना चाहिए कि उससे वाष्प निकलने लगें; पर वह जले नहीं। उसके जलने से किसी भाँति की

क्रिया नहीं होगी। १००० घनफुट के लिए ४ औंस फ़िनौल-कैंफ़र पर्याप्त है।

विसंक्रामण की विधि

भाप के द्वारा विसंक्रामण की विधि का पहिले वर्णन किया जा चुका है। पहिनने के वस्त्र, दरी, गद्दे, लिहाफ़ या अन्य ऐसे ही वस्त्रों का भाप के द्वारा पूर्ण विसंक्रामण किया जा सकता है। उनके लिए प्रायः रासायनिक वस्तुओं का प्रयोग नहीं किया जाता। किन्तु भाप के द्वारा विसंक्रामण से पूर्व उनको भी किसी रासायनिक वस्तु के घोल मे भिगो देना चाहिए। जिस स्थान पर भाप के द्वारा विसंक्रामण किया जाता है, वहाँ तक वस्तुओं को भेजने में कुछ समय अवश्य लगेगा; और न नित्य प्रति विसंक्रामण के लिए वस्तुएँ भेजी ही जा सकती हैं। यदि घर मे कोई विशूचिका या प्लेग का रोगी है तो उसके उपयोग में आनेवाली प्रत्येक वस्तु का नित्य प्रति भाप के द्वारा विसंक्रामण नहीं हो सकता। इस कारण उन वस्तुओं को कुछ समय तक रासायनिक वस्तु के घोल में रखना पड़ता है। जिन वस्त्रो में विशूचिका के रोगी का मल या वमन लगे हुए हैं उनको रस-कपूर के घोल में भिगो देना चाहिए। जब अन्य वस्त्र भाप के द्वारा शुद्ध होने के लिए भेजे जावें तो उन भीगे हुए वस्त्रों का भी विसंक्रामण करवाया जा सकता है।

कमरे की दीवारो, फ़र्श, दरवाज़े, मेज़, कुर्सी इत्यादि के विसंक्रामण के लिए ऊपर बताये हुए रासायनिक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में और भिन्न-भिन्न रोगों में भिन्न वस्तुएँ प्रयुक्त होती हैं।

विसंक्रामण करते समय उस वस्तु के—जिसको प्रयोग किया जा रहा है—उन सब गुणों को याद रखना चाहिए जिनका पहले वर्णन किया जा चुका है। उनके अनुसार उपयुक्त वस्तु को चुनकर उससे विसंक्रामण करना चाहिए। विसंक्रामण का पूर्ण और उत्तम होना अत्यन्त आवश्यक

है। किसी भी वस्तु से और किसी भी विधि के द्वारा विसंक्रामण किया जावे, किन्तु वह पूर्ण होना चाहिए। इसके लिए यह ध्यान में रहे कि कौन सी दशाओं मे विसंक्रामक की क्रिया उत्तम होती है और किन दशाओं से उनकी शक्ति का ह्रास होता है। सब विसंक्रामक अधिक तापक्रम पर उत्तम क्रिया करते हैं। तापक्रम के कम होने से उनकी क्रिया सन्तोष-जनक नहीं होती। जिस जल में उनको घोला जावे उसकी ओर भी ध्यान देना चाहिए। कठोर जल से विसंक्रामकों की शक्ति कम हो जाती है। इसलिए कोमल जल का प्रयोग करना उचित है।

भिन्न-भिन्न वस्तुओ और स्थानों के उचित विसंक्रामण की विधि संक्षेप से नीचे लिखी जाती है। आवश्यकता के अनुसार इनमे परिवर्तन किया जा सकता है।

वस्त्र—गद्दे, लिहाफ़, चादर, तौलिया और कम्बल या अन्य ऐसे ही वस्त्र भाप के द्वारा विसंक्रमित हो सकते हैं। किन्तु यदि संक्रमित होने के पश्चात् तुरन्त ही वह विसंक्रामण के लिए न भेजे जा सकें तो उनको रस-कपूर के १:१००० शक्ति के द्रव्य या कारबोलिक अम्ल के ४%, फ़ारमेलिन के १०% अथवा सिलिन के १ : ३२० की शक्ति के घोल मे भिगो दें। तत्पश्चात् अवसर मिलने पर सब वस्त्रों को घोल से निकालकर उनका विसंक्रामण करवा लें। यदि नगर में कहीं पर विसंक्रामण का प्रबन्ध नहीं है तो बारह घण्टे तक ऊपर कहे हुए किसी भी विसंक्रामक के घोल में वस्त्रों को पड़ा रहने दें। तत्पश्चात् उनको निकालकर साधारण जल में आधे घण्टे तक उबालकर सुखा लें। यदि वस्त्रो में रक्त, मूत्र, या मल लगे हुए हैं तो उबालने के पूर्व उनको साबुन और जल से भली भाँति धो डालना चाहिए। ऐसा न करने से वस्त्र पर रक्त इत्यादि के चिह्न सदा के लिए रह जायँगे।

पहिनने के सब वस्त्रो को नहीं उबाला जा सकता। ऊन या रेशम के वस्त्रो को उबालने से वह बिगड़ जाते है। उनको फ़ारमेल्डीहाइड के द्वारा शुद्ध किया जा सकता है। किन्तु ऐसा करने से पूर्व उनको धूप में सुखा लेना चाहिए।

फटे पुराने चिथड़ों को, जो प्रायः बच्चों के मल पोंछने के काम में आते हैं, जला देना उत्तम है।

मकानों का विसंक्रामण—संक्रामक रोग के पश्चात् सारे मकान का विसंक्रामण करवाना उत्तम है। किन्तु उस कमरे को, जिसमें रोगी रहता था, अवश्य ही विसंक्रमित करवाना चाहिए। यदि कमरे से—रोगी के रहने के पूर्व—फ़र्श, कुर्सी, मेज़, तख्त या तसवीरें इत्यादि नहीं हटा दी गई हैं तो उनका विसंक्रामण भी आवश्यक है। कमरे के विसंक्रामण के समय इन वस्तुओं को कमरे से हटा देना चाहिए· उनका विसंक्रामण पृथक् होना चाहिए। इस प्रकार कमरे को बिलकुल ख़ाली करके उसका विसंक्रामण प्रारम्भ करना उचित है।

कमरे की दीवारों और फ़र्श इत्यादि को विसंक्रमित करने की तीन मुख्य विधिया हैं—

(१) यन्त्र से विसंक्रामक द्रव्य की फुहारों द्वारा—इसके लिए विशेष यन्त्र आते हैं जिनमे विसंक्रामक द्रव्य भर दिया जाता है। जब यन्त्र को चलाया जाता है तो यन्त्र से द्रव्य की अत्यन्त सूक्ष्म फुहारें निकलती हैं। इस प्रकार विसंक्रामक पदार्थ दीवारों, फ़र्श और छत के प्रत्येक भाग के सम्पर्क में आकर उसको शुद्ध कर देता है।

(२) कमरे की दीवारों इत्यादि को विसंक्रामक द्रव्य से पोतना अथवा द्रव्य में भीगे हुए वस्त्र से रगड़ना।

(३) कमरे की वायु को विसंक्रामक गैस या वाष्पों से संतृप्त कर देना—इसके लिए कमरे के दरवाज़ों, खिड़कियों, रोशनदान, किवाड़ों के बीच की सन्धियों और मोरियों इत्यादि को बिलकुल बन्द कर देना आवश्यक है जिससे वाष्प कमरे से बाहर न निकल सकें। यदि ऐसा न होगा तो पूर्ण विसंक्रामण नहीं हो सकेगा। कमरे में जो अलमारियाँ रखी हों उनके दरवाज़ों को खोल देना चाहिए। वहाँ पर जो वस्त्र हों उनको रस्सी बाँधकर उस पर फैला देना चाहिए। इस प्रकार ६ से २४ घण्टे तक कमरे में वाष्प भरे रहने चाहिएँ। कमरे के दरवाज़े खोलने के पश्चात् जब तक कमरे में

वाष्प या गैस की गन्ध रहे तब तक उसके भीतर किसी व्यक्ति को न जाना चाहिए।

कमरे की दीवारों और फ़र्श को विसंक्रामक से धोना और रगड़ना भी उत्तम है। जर्मनी में इसी विधि का प्रयोग किया जाता है। प्रथम दीवारों को खुरच दिया जाता है, तत्पश्चात् कारबोलिक अम्ल के घोल से उनको धोया जाता है। द्रव्य की इतनी मात्रा प्रयोग की जाती है कि उससे दीवारें संतृप्त हो जाती हैं।

जब इस विधि का प्रयोग करना हो तो प्रथम दीवारों, फ़र्श और छत को कड़े बालों या तार के ब्रुश से रगड़ना चाहिए। जब कमरे का प्रत्येक स्थान रगड़ा जा चुके तो उस पर एक कूँची से विसंक्रामक द्रव्य पोतना चाहिए। प्रत्येक स्थान को दो बार पोतना आवश्यक है। एक बार कूँची ऊपर से नीचे की ओर और दूसरी बार एक ओर से दूसरी ओर ल जानी चाहिए। इस प्रकार कमरे की दीवारों, छत और फ़र्श का प्रत्येक स्थान विसंक्रामक से संतृप्त हो जाना चाहिए।

विसंक्रामक का, फुहारों के स्वरूप में, फ्रांस में बहुत प्रयोग किया जाता है। इस विधि के कार्य्यकरी होने के लिए यह आवश्यक है कि यन्त्र के द्वारा द्रव्य की अत्यन्त सूक्ष्म फुहारें निकलें। 'ईक्वीफ़ेक्स स्प्रेयर'[1] नामक यन्त्र इसके लिए उपयुक्त है।

जब इस विधि का उपयोग किया जाय तो दीवारों और फ़र्श तथा छत के प्रत्येक स्थान पर ध्यान देना आवश्यक है। यह अनुमान किया जाता है कि ८०० वर्गफ़ुट दीवार के लिए २ घण्टे समय की आवश्यकता है।

इस विधि में निम्नलिखित वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिए—फ़ारमेलीन, सोडियम हाइपोक्लोराइट और रस-कपूर।

जब कमरे में रोगी रहे तो उसके दरवाज़े पर विसंक्रामक द्रव्य में भीगा हुआ एक परदा टँगा रहना चाहिए। इससे संक्रमण के कमरे से बाहर

१. Equifex sprayer.

पहुँचने मे बाधा पड़ती है। कमरे का फ़र्श सदा विसंक्रामक में भीगे वस्त्र से स्वच्छ होना चाहिए। प्रयोगों द्वारा मालूम हुआ है कि रोगी के खाँसने, छींकने या केवल बात करने से उसके थूक के सूक्ष्म कणों के साथ रोग के जीवाणु ४ फुट की दूरी तक जा सकते है।

कुछ ऐसे भी यन्त्र बने हैं जिनके भीतर दाब के अधिक होने से फुहारें अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती हैं। इन यन्त्रो मे द्रव्य को पम्प करने की आवश्यकता नहीं होती। लूम्ले का 'इन्विक्टा स्प्रेयर' ऐसा ही है। इसके भीतर ४५ पौंड प्रति वर्गइंच की दाब रहती है।

कमरे के विसंक्रामण के पश्चात् उसकी दीवारो और छत पर चूने की सफेदी करवाकर कुछ दिनों तक उसे खुला छोड देना चाहिए।

मकान का विसंक्रामण बहुत कुछ रोग के ऊपर निर्भर करता है। यदि मकान में विशूचिका रोग से कोई व्यक्ति ग्रस्त हुआ है तो रोगी के मल, वमन, मूत्र या अन्य स्रावों और उसके प्रयुक्त वस्त्रो के विसंक्रामण की ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। प्लेग के रोग मे मकान के चूहे, प्लेग की मक्खियाँ, भोजनालय और गोदाम इत्यादि के विसंक्रामण की अधिक आवश्यकता है। किन्तु मकान के विसंक्रामण में शौच-स्थान और मोरियों की शुद्धि अवश्य होनी चाहिए। इसी प्रकार नौकरों के रहने की कोठरियों का भी विसंक्रामण आवश्यक है।

कमरों के विसंक्रामण के पश्चात् उन मेज़, कुर्सी इत्यादि पर ध्यान देना चाहिए जो कमरे से बाहर निकाल दी गई थीं। चारपाइयों को गरम जल और साबुन, रस-कपूर के विलयन अथवा फ़ारमेलीन से रगड़ना चाहिए। कुर्सी मेज़ इत्यादि भी इन्हीं वस्तुओं से स्वच्छ की जा सकती हैं।

कमरे को विसंक्रमित करने में सबसे प्रथम फ़र्श की ओर ध्यान देना चाहिए। वमन, थूक, मल इत्यादि प्रायः फ़र्श ही पर गिरता है। चेचक का विष भी फ़र्श ही पर अधिक पाया गया है। निर्धन लोग मकानों के फ़र्श पर ही सोते हैं। इस कारण संक्रमण दीवारों की अपेक्षा फ़र्श ही पर अधिक रहता है। फ़र्श के पश्चात् दीवारों की बारी आती है। उस कमरे के

अतिरिक्त, जिसमें रोगी रहा हो, शेष कमरे की दीवारों को ७ या ८ फुट ऊँचाई तक विसंक्रमित करना पर्याप्त है।

शौच-स्थान के लिए सिलिन उपयुक्त वस्तु है। दीवारों को खुरचकर उनको इस पदार्थ से पोत देना चाहिए। मोरियाँ भी इसी वस्तु से शुद्ध की जा सकती हैं। इसके स्थान में ब्लीचिंग पाउडर का प्रयोग भी किया जा सकता है। इज़ाल का भी ऐसे स्थानों में प्रयोग किया जाता है।

कच्चे मकानों का विसंक्रामण कठिन है। उनमें प्रायः दीवारों में दरारें होती हैं। रोशनदान यदि होते भी हैं तो ऐसे कि उनको बन्द नहीं कर सकते। खिड़कियों में कभी-कभी केवल लोहे की शलाकाएँ ही लगी होती हैं। इस कारण उनके उपयुक्त विसंक्रामण में बड़ी कठिनाई होती है।

कच्चे मकानों का विसंक्रामण सदा फुहारों के द्वारा करना चाहिए। जो विधि बताई जा चुकी है उसी के अनुसार कमरों को खाली करके और दीवारों को खुरचकर उनका विसंक्रामण करना ठीक है। इन मकानों में दीवारों या फ़र्श पर पक्के मकानों से भी अधिक ध्यान देने और उनको अधिक समय तक फुहारों से भिगोने की आवश्यकता है। १००० वर्गफुट स्थान के लिए २ गैलन द्रव्य की आवश्यकता होती है।

मल मूत्र अथवा अन्य स्राव का विसंक्रामण—रोगी के जीवाणु मल-मूत्र तथा शरीर से निकलनेवाले अन्य स्रावों में उपस्थित रहते हैं। विशूचिका, आन्त्रिक ज्वर और प्रवाहिका के जीवाणु वमन और मल के द्वारा शरीर से निकलते हैं। राजयक्ष्मा, डिप्थीरिया, निमोनिया, इन्फ़्लुएंज़ा आदि के जीवाणु श्लेष्मा में रहते हैं। कुक्कुर खाँसी के जीवाणु भी श्लेष्मा के साथ शरीर से निकलते हैं। अतएव इन्हीं के द्वारा यह रोग फैलते हैं। इस कारण मल-मूत्र और श्लेष्मा इत्यादि का विसंक्रामण भी आवश्यक है।

रोगी के मल-मूत्र को एकत्र करने के लिए विशेष पात्र होने चाहिएँ। रोगी को इन पात्रों के अतिरिक्त और कहीं भी मल-मूत्र त्याग न करने दिया जाय। इसी प्रकार बलग़म के लिए भी एक भिन्न पात्र रहे जिस पर एक ढक्कन लगा हो, और जो श्लेष्मा थूकने के पश्चात् बन्द किया जा सके।

इन सब पात्रों में कोई विसंक्रामक भरा रहना चाहिए। कारबोलिक अम्ल का १० % का घोल, सिल्लिन का १:१६० का घोल, चिनोसोल, फ़ारमेल्डी-हाइड, ब्लीचिंग पाउडर ४ % चूने की समान मात्रा सहित, पात्रों मे रखे जा सकते है। रोगी जब कभी थूके या मल-मूत्र त्यागे तो उसको इन्हीं पात्रों का प्रयोग करना चाहिए। पात्रो मे विसंक्रामक की पर्याप्त मात्रा रहे और उनकी शक्ति भी पर्याप्त हो। मल-मूत्र या बलग़म को त्यागने के पश्चात् बर्त्तन को बन्द करके तीन घण्टे तक रख देना चाहिए। तत्पश्चात् उनको लकड़ी के बुरादे में मिलाकर जला दिया जावे। यदि ऐसा न करे तो विसंक्रामक मिश्रित मल या श्लेष्मा को कुँवे अथवा अन्य जलाशय से दूर भूमि मे गाड़ दे।

———

अट्ठारहवाँ परिच्छेद

संक्रामक रोग

संक्रामक रोगो की संख्या बहुत है। यहा पर केवल उन्हीं रोगों का उल्लेख किया जायगा जो जनता के स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक महत्व के हैं। यह सब रोग ऐसे है जो स्वच्छता का पूर्ण ध्यान रखने और स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमो के पूर्ण पालन से समूल नष्ट किये जा सकते है। अमरीका और योरुप के कुछ देशों में स्वास्थ्य-विभाग को अपने रजिस्टरो में विशूचिका, आन्त्रिक ज्वर और चेचक के लिखने की आवश्यकता नहीं रही है। वहां पर इन रोगो से किसी व्यक्ति की मृत्यु नहीं होती। जर्मनी मे आजकल चेचक रोग का पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया है। यदि सरकार इसकी ओर पूर्ण ध्यान दे और जनता उसके साथ सहयोग करे तो इसी प्रकार हमारे देश मे भी इन रोगो में से बहुतों का पूर्णनाश किया जा सकता है। किन्तु स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जनता का पूर्ण शिक्षित होना आवश्यक है। यह तभी हो सकता है जब प्रथमै उसको साधारण शिक्षा मिल चुकी हो।

मैलेरिया

इस रोग के नाम से हमारे देश मे बच्चा-बच्चा परिचित है। साधारणतया ग्रामो में इसको तिजारी का बुख़ार कहा जाता है। नगरो में अशिक्षित समुदाय भी इसी नाम से रोग का सम्बोधन करता है। कुछ लोग इसे जूड़ी का बुख़ार या ज्वर भी कहते हैं। देश के किसी किसी भाग में तो यह इतना अधिक होता है कि वहा बारहों मास बना रहता है। बंगाल का नीचे का भाग, आसाम और तराई तो मानो इसका घर है।

यों तो यह रोग सारे संसार में फैला हुआ है, किन्तु भूमध्य रेखा के पास-वाले देशों में, जहां गर्मी अधिक पड़ती है और वायु आर्द्र होती है, यह रोग अधिक पाया जाता है। इस रोग के फैलने के लिए कम से कम सोलह घण्टे तक वायु-मंडल का तापक्रम ६० फ़ैरनहाइट और आर्द्रता ६३% होनी चाहिए। इस कारण यह ज्वर नदियों के किनारे और डेल्टाओ के पास, तराई, झीलो के चारो ओर अथवा नीचे स्थान मे जहां जल एकत्र होकर सड़ता रहता है, अधिक फैलता है। कहा जाता है कि मैलेरिया अधिक ऊँचाई पर नहीं होता। किन्तु क्रिस्टोफर के अनुसार भूमध्य रेखा पर ९००० फुट की ऊँचाई पर स्थित क्विटो नामक ग्राम में मैलेरिया होता है। इसी भांति महाशय पेरीमाल का अनुमान है कि कोनूर पर्वत पर भी, जो समुद्र-तल से ५६०० से ६००० .फुट ऊँचा है, मैलेरिया होता है। अनुसंधान से इस बात का समर्थन होता है। पंजाब में लेफ्टिनेंट कर्नल सी० ए० गिल, आई० एम० एस० ने इस सम्बन्ध में खोज की थी जिससे मालूम हुआ था कि ५००० से ६००० .फुट तक ऊँचाई के स्थानो मे मैलेरिया होता है। किन्तु इससे अधिक ऊँचे स्थान, जो ७००० या ८००० .फुट ऊँचे हैं वह, मैलेरिया से मुक्त है। शिमला, मरी, कसौली इत्यादि मे यह रोग नहीं फैलता। इसका कारण यह हो सकता है कि वहाँ पर वायुमंडल का तापक्रम और आर्द्रता इस रोग के उत्पन्न होने के लिए उपयुक्त नहीं है।

मैलेरिया ज्वर में प्रायः तीसरे दिन जाड़े के साथ ज्वर आता है। प्रथम जाड़ा लगता है; तत्पश्चात् ज्वर बढ़ जाता है। दो या तीन घण्टे अथवा इससे अधिक समय तक ज्वर रहता है। अन्त को स्वेद आकर ज्वर उतर जाता है। उचित चिकित्सा न होने से इसी भाँति बहुत समय तक ज्वर आता रहता है जिससे शरीर कृश हो जाता है और उदर में प्लीहा बढ़ जाती है। शरीर दुर्बल हो जाता है; रक्त की कमी के कारण शरीर का रङ्ग श्वेत दिखाई देने लगता है। परिश्रम करने की सामर्थ्य नहीं रहती जिसके कारण रोगी को अपने जीविकोपार्जन में भी कठिनाई होती है।

हमारे देश की कितनी जनता इस रोग के कारण अपनी काम करने की शक्ति खो बैठती है; कम से कम शक्ति का ह्रास तो बहुत बड़ी संख्या में होता है। जिन लोगो को यह रोग अधिक ाता है उन पर यह अपनी छाप सदा के लिए लगा देता है। चित्त मे कार करने का उत्साह नहीं रहता। मस्तिष्क मे किसी प्रश्न के ऊपर पूर्णतया विच र करने की शक्ति नही रहती। उनका आत्मविश्वास नष्ट हो जाता है और इस प्रकार देश की आर्थिक और सामाजिक हानि होती है।

रोग का वितरण—यद्यपि यह रोग सारे संसार मे फैला हुआ है और लगभग चालीस लाख जीवन प्रति वर्ष इसके अर्पित होते हैं, तो भी भूमध्य रेखा के समीपवर्त्ती देशों में इसका अधिक प्रकोप पाया जाता है। योरुप में यह रोग उतना प्रचंड नहीं होता जितना एशिया के बहुत से भागों में। भारत-वर्ष, दक्षिणी चीन, बर्मा, लका, मेसोपोटामिया, और मलाया प्रायद्वीप इत्यादि में यह रोग बहुत होता है। हमारे देश मे भी पंजाब, मध्य प्रान्त और राजपूताने की अपेक्षा बंगाल, आसाम और बंबई में अधिक होता है। आसाम और निम्न बंगाल का तो इसको आदिम निवासी ही समझना चाहिए। अफ्रीका मे पश्चिमी किनारे का प्रान्त सबसे अधिक रोगग्रस्त समझा जाता है। वास्तव मे इस प्रान्त को संसार भर मे सबसे अधिक रोगग्रस्त मानते है।

हमारे देश में अधिकतर रोग अगस्त और सितंबर मे फैलता है। अक्तूबर से दिसंबर तक इसका प्रकोप अत्य-त तीव्र होता है। जनवरी से जुलाई तक शांति रहती है। रोग नगरो की अपेक्षा ग्रामो में अधिक फैलता है। इसका कारण ग्रामो की अस्वच्छता और उनके जल-निकास के प्रबन्ध का अपूर्ण होना है। गावो मे चारो ओर गढ़े होते हैं जहां पर जल एकत्र हो जाता है। वहाँ पर जल के निकलने का कोई उचित मार्ग नही होता। इससे वहाँ का वायुमंडल सदा आर्द्र रहता है।

जैसा आगे चलकर मालूम होगा, इस रोग के फैलने और मच्छरों मे अभिन्न सम्बन्ध है। इस कारण जहां कही जल एकत्र होता है वही स्थान रोग के फैलने में सहायता देते हैं। मच्छर सदा जल मे, विशेषकर बँधे

हुए जल में—जैसे तालाब, नदी या झील के किनारों पर—अण्डे देते हैं। इस कारण तराई इत्यादि में रोग अधिक होता है। धान के खेतों से भी रोग के फैलने मे बहुत सहायता मिलती है। जिन स्थानो मे सन तैयार किया जाता है वहाँ से भी रोग के फैलने की सम्भावना होती है। जिन तालाबों या खेतों में सन को जल में भिगोया जाता है वह मच्छरों के उत्पत्ति-स्थानो की भाँति काम करते हैं।

रोग के फैलने में स्वयं भूमि कोई विशेष योग नहीं देती; किन्तु जिस भूमि मे जल के शोषण की उत्तम शक्ति नहीं होती वहाँ पर जल एकत्र हो जाता है और मच्छरो को अण्डे देने की सुविधा होती है। जिस भूमि में नीचे चिकनी मिट्टी और ऊपर बालू या भुरैरी मिट्टी होती है वहाँ पर जल एकत्र हो जाता है।

रेलो से मैलेरिया ज्वर के फैलने मे यथेष्ट सहायता मिलती है। रेल की लाइन डालते समय मज़दूर चारों ओर की मिट्टी खोदकर वहाँ पर गढ़े बना देते हैं। लाइन के नीचे मिट्टी इत्यादि के डालने से वह स्थान ऊँचा हो जाता है जिससे जल का स्वाभाविक प्रवाह रुक जाता है। इन दोनों कारणो से जल एकत्र हो जाता है और उसमें मच्छर बहुतायत से उत्पन्न होकर मैलेरिया फैलाते है।

जिन कारणों से भी शरीर की शक्ति का ह्रास होगा—जैसे क्षुधार्त्त रहना, ठण्ड लगना, दुर्बलता इत्यादि—वह सब रोग के आक्रमण मे सहायता देने-वाले हैं। शरीर के दुर्बल होने पर रोग सहज में उत्पन्न हो जाता है।

रोग-क्षमता—कुछ विद्वानों का विचार है कि मैलेरिया के कुछ आक्रमणों के पश्चात् शरीर मे रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इसका कोई विशेष प्रमाण नहीं है। यह देखा जाता है कि एक बार आक्रमण के पश्चात् फिर भी रोग के आक्रमण होते रहते हैं। किन्तु रोगग्रस्त प्रान्तों में ऐसे बहुत से मनुष्य पाये जाते है जो रोग से मुक्त रहते हैं। योरुप से भारतवर्ष में प्रथम बार आनेवालों को इस रोग से अधिक कष्ट होता है; किन्तु कुछ समय के पश्चात् उनको रोग नहीं होता। यह भी देखा जाता है कि रोग के आक्रमण बाल्यकाल मे अधिक होते हैं। किन्तु वही बालक जब बड़े हो

जाते है तो उन पर आक्रमण होने बन्द हो जाते है। सम्भव है रोग के आक्रमणों से कुछ रोग-क्षमता उत्पन्न होती हो और युवावस्था तक इतनी बढ़ जाती हो कि उसके द्वारा व्यक्ति रोग से मुक्त रहते हों।

रोग का कारण

मैलेरिया ज्वर का कारण एक पराश्रयी होता है जो रक्त में पाया जाता है। सबसे पूर्व इस पराश्रयी को 'लैवरेन' ने सन् १८८० में पहचाना था। उससे पूर्व भी कुछ वैज्ञानिकों ने मैलेरिया ज्वर के रोगियों के रक्त में विशेष आकार और रङ्ग के कण देखे थे। इन कणों का आकार अर्धचन्द्राकार था। इनमें किसी प्रकार की गति नहीं होती थी। इस कारण उन्होंने इनको रक्त के किसी अवयव के मृत कण समझा था। किन्तु लैवरेन ने निरीक्षण के द्वारा मालूम किया कि कुछ समय के पश्चात् इन अर्धचन्द्राकार कणों के शरीर से लम्बे-लम्बे तीन, चार या इससे भी अधिक तन्तु निकलते है। कुछ वैज्ञानिकों ने इनको पराश्रयी की अन्तिम अवस्था समझा। सबसे पहिले महाशय मैन्सन ने इस अवस्था को पहिचाना था। उनके विचार के अनुसार रक्त के लाल कण से निकलने के पश्चात पराश्रयी की दशा में यह प्रथम परिवर्त्तन था। मैन्सन ही ने प्रथम यह विचार प्रकट किया था कि एक रोगी से दूसरे व्यक्ति के शरीर में यह पराश्रयी मच्छर के द्वारा जाता है। सन् १८९४ और ९६ में मैन्सन ने इस विचार को प्रकट किया कि पराश्रयी को दो आश्रयदाताओं की आवश्यकता होती है। जब वह मनुष्य के रक्त के लाल कण से बाहर निकल आता है तो कुछ समय के पश्चात् उसको किसी दूसरी जाति के जन्तु के शरीर मे कुछ समय तक रहना आवश्यक है। ऐसा न होने से उसकी मृत्यु हो जाती है।

अन्त में सन् १८९५ में रौनाल्ड रौस ने अपने प्रयोगों द्वारा यह मालूम किया कि रक्त के अर्धचन्द्राकार कण मच्छर के शरीर मे पहुँचकर आकार मे परिवर्त्तित होते हैं और उनसे कई लम्बे तन्तु निकल आते हैं। सन् १८९७ में उसने मच्छर के आमाशय की भित्ति मे इन पराश्रयियों को

स्वयं देखा। उसने कुछ चिड़ियों को, जिनके रक्त मे मैलेरिया के सदृश पराश्रयी उपस्थित थे, मच्छरो से कटवाया। ऐसा करने पर मालूम हुआ कि चिड़ियों के रक्त से पराश्रयी मच्छर के शरीर मे पहुँचकर उनके आमाशय की भित्ति में प्रविष्ट हो गये। यदि ये मच्छर दूसरी चिड़ियो को काटते है तो उन चिड़ियों मे रोग उत्पन्न हो जाता है।

इसके पश्चात् रौस के सिद्धान्त की जाँच करने के लिए अनेक प्रयोग किये गये। जिन रोगियों के शरीर मे यह अर्धचन्द्राकार कण मिले उनको मच्छरो से कटवाया गया। इन मच्छरों को ऐसे स्थानों मे ले जाया गया जो मैलेरिया से मुक्त थे और वहाँ पर ऐसे व्यक्तियों को कटवाया गया जिनको कभी मैलेरिया नहीं हुआ था। कुछ ही दिनों मे यह व्यक्ति मैलेरिया ज्वर से ग्रस्त हो गये और उनके रक्त मे उसी प्रकार के पराश्रयी पाये गये जैसे उन रोगियों के रक्त मे थे, जिनको मच्छरों ने प्रथम बार काटा था।

इन सब प्रयोगों और अनुसन्धानों से यह पूर्णतया प्रमाणित हो चुका है कि मैलेरिया रोग का कारण एक पराश्रयी होता है जिसका एक जीवन-चक्र मनुष्य के शरीर मे और दूसरा चक्र एक विशेष जाति के मच्छर (जिसको अनाफ़िलीज़ कहते है) के शरीर मे पूर्ण होता है। जब यह मच्छर स्वस्थ व्यक्ति को काटते हैं तो पराश्रयी उनके शरीर से व्यक्ति के शरीर मे जाकर रोग उत्पन्न कर देते है। 'उनके जीवन का अमैथुनी[१] चक्र मनुष्य के शरीर में पूर्ण होता है। मच्छर के शरीर में होनेवाला 'मैथुनी चक्र[२]' कहलाता है। मैलेरिया उत्पन्न करनेवाले पराश्रयी का संवहन केवल ऐनोफ़िलीज़ जाति का मच्छर कर सकता है।

यह पराश्रयी अत्यन्त सूक्ष्म एक कोषाणु-निर्मित जीव होता है। यह स्पोरोज़ुआ[३] जाति का सदस्य है। इसको 'प्लैज़्मोडियम मैलेरी[४]' कहा जाता है। यह अमीबा के सदृश गति करता है। उसमे वृद्धि होती है

---

१. Asexual cycle. २, Sexual cycle ३, Sporozoa. ४, Plasmodium Malariae.

श्रौर वह उत्पत्ति करता है। मनुष्य के शरीर के भीतर केवल विभजन के द्वारा उत्पत्ति होती है। एक जीव के दो, दो के चार, चार के आठ हो जाते है। इसी भांति उत्पत्ति होती रहती है। यह मनुष्य, पत्ती, कुत्ता, भेंड़ या गाय, भैंस इत्यादि में भी पाया जाता है।

मनुष्य मे जो पराश्रयी पाया जाता है वह तीन प्रकार का होता है— (१) प्लैज़्मोडियम वाइवैक्स. (२) प्लै मैलेरी श्रौर (३) प्लै. फ़ैल्सीपैरम। इनमें से प्रथम दोनों प्रकार के पराश्रयियो से साधारण तृतीयक श्रौर चतुर्थक ज्वर उत्पन्न होते हैं जो तीसरे श्रौर चौथे दिवस पर आते हैं। तीसरी जाति का पराश्रयी, जो घातक पराश्रयी भी कहलाता है, ऐसा ज्वर उत्पन्न करता है जिसमे किसी प्रकार का क्रम नहीं होता। यह तीनो जातियाँ एक दूसरे से भिन्न है। यदि एक प्रकार के ज्वर के रोगी के रक्त की एक या दो सी. सी., जो ज्वर के प्रारम्भ में रोगी के शरीर से निकाली गई हैं, एक स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट की जायँ तो उस व्यक्ति को भी उसी प्रकार का ज्वर आवेगा जैसा रोगी को आता है।

(१) 'प्लैज्मोडियम वाईवेक्स'[1]—इसको सामान्य तृतीयक पराश्रयी कहते हैं। यह पराश्रयी प्रारम्भ मे एक छोटी कुण्डली या मुद्रिका की भाति दिखाई देता है। यह कुण्डली कभी कभी चपटी या अण्डाकार होती है। मुद्रिका के नग की भाँति एक स्थान पर वह कुछ मोटी हो जाती है अथवा उस पर कुछ कण एकत्र हो जाते है जिससे वह मोटी दिखाई देती है। यह मुद्रिका रक्त के लाल कण पर चिपटी रहती हैं। उनके भीतर खाली स्थान होता है। यह पराश्रयी अत्यन्त क्रियाशील श्रौर गति-सम्पन्न होता है। रक्त कण के भीतर यह बढ़ता है श्रौर अन्त को इतना बढ़ जाता है कि वह सारे कण को घेर लेता है। यह अर्धचन्द्र रूप नहीं बनाता। इसका ज्वर प्रत्येक ४८ घण्टे के पश्चात् आता है। रोगी ४८ घण्टे तक ज्वर से मुक्त रहता है।

---

१. Plasmodium Vivax.

४८ घण्टे में इसका जीवन-चक्र समाप्त होता है। उस समय रोगी को ज्वर का आक्रमण होता है।

(२) प्लैज़्मेडियम मैलेरी[१]—इसको चतुर्थक पराश्रयी भी कहते हैं। इसका जीवन-चक्र ७२ घण्टे में समाप्त होता है। इस कारण रोगी को ज्वर का चैाथे दिवस पर आक्रमण होता है। इसके अतिरिक्त ये पूर्व पराश्रयी ही की भाति होते है। किन्तु इन पर कुनैन की क्रिया अधिक होती है। यह पराश्रयी न तो गति-सम्पन्न होता है और न इतना क्रिया-शील ही होता है। इसकी कुण्डली का आकार बड़ा होता है। रक्त-कण के भीतर वृद्धि के पश्चात् यह आठ या दस छोटे-छोटे गोल भागों में विभक्त हो जाता है जो कण के भीतर चारो ओर क्रमानुसार स्थित रहते है। बीच मे 'मिलेनिन[२]' नामक वस्तु के कण रहते हैं। ७२ घण्टे के पश्चात् जब चक्र समाप्त होता है तो यह सब भाग, जो मीरोज़ाइट[३] कहलाते है, कण से बाहर निकल आते हैं और नवीन कणो पर आक्रमण करते हैं। इनमे मैथुनी चक्र नहीं होता।

(३) प्लैज़्मोडियम फ़ैल्सीपैरम[४]—इनको 'घातक तृतीयक[५]' भी कहते हैं। इनका स्वरूप अर्धचन्द्र के समान होता है। वह ऊपर लिखित दोनों प्रकार के पराश्रयियों से बिल्कुल भिन्न होते हैं। जिन रक्तकणो के भीतर वह प्रविष्ट होते है उन कणों के आकार में कुछ वृद्धि नहीं होती। केवल उनमें दरारें सी पड़ जाती हैं। इनमें स्त्री और पुरुष दोनो जातियों के पराश्रयी होते है। पुरुष[६] छोटा किन्तु बीच से अधिक मोटा होता है। केन्द्र बीच मे स्थित रहता है। स्त्री[७] जाति का पराश्रयी अधिक लम्बा और रक्त कण के शरीर के बीच में स्थित होता है। जिस रक्त कण के भीतर

---

१. Plasmodium malariae. २. Melanin. ३. Merozoite. ४. Flasmodium Falciparum. ५. Malignant Tertian. ६. Microgametocyte. ७. Macrogametocyte.

यह रहते हैं उसको भीतर से खोखला कर देते है, उसका बाह्यावरण इनके ऊपर एक कला की भाँति लगा रह जाता है। इस जाति में केवल मैथुनी चक्र पाया जाता है। जो पराश्रयी मच्छर के द्वारा शरीर में प्रविष्ट किये जाते है वह इसी जाति के होते हैं। प्रथम दो जातियो का जीवन-चक्र मनुष्य के शरीर के भीतर ही समाप्त हो जाता है।

इस जाति के द्वारा उत्पन्न ज्वर अत्यन्त क्रमहीन होता है और उसके लक्षण भी अनिश्चित होते हैं। कभी-कभी इन पराश्रयियों द्वारा नष्ट हुए रक्त कण मस्तिष्क की केशिकाओं में पहुँचकर रक्त के मार्ग को अवरुद्ध कर देते हैं जिससे अत्यन्त भयङ्कर परिणाम होते है। यह रक्त का बहुत नाश करते हैं।

पराश्रयी का जीवन-चक्र—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस पराश्रयी मे दो प्रकार के जीवन-चक्र पाये जाते है। एक अमैथुनी और दूसरा मैथुनी।
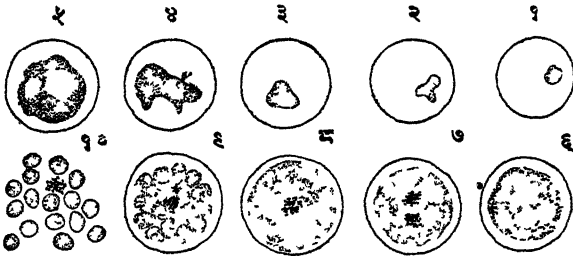
चित्र नं० ८५—पराश्रयी की वृद्धि की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ;

अमैथुनी चक्र मानव शरीर के भीतर होता है। इससे पराश्रयियों की संख्या बढ़ती है और वह नवीन रक्त-कणों को आक्रान्त करते हैं। मैथुनी चक्र मच्छर के शरीर मे पूर्ण होता है। इसके द्वारा पराश्रयी अपनी जाति का संरक्षण करता है और वह एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के शरीर में पहुँचता है।

अमैथुनी चक्र—यदि मच्छर की लाला-ग्रन्थियों के भीतर स्थित पराश्रयी का निरीक्षण किया जावे तो वह लम्बा और तर्क्वाकार दिखाई देगा। उसकी लम्बाई मनुष्य मे १ से २ μ और मच्छर मे ८ से ४० μ[1] तक होती है। इनको स्पोरोज़ाइट[2] कहते है। जब मच्छर काटता है तो उसके थूक के साथ यह भी मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इनके आकार मे कुछ परिवर्त्तन होता है और यह गति करते हैं। तत्पश्चात् वह एक रक्त के लाल कण पर आक्रमण करके उसके भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं। यदि इस समय रक्त की परीक्षा की जावे तो रक्त-कणों के भीतर छोटी मुद्रिकाएँ दिखाई देंगी। इस अवस्था को ट्रोफ़ोज़ाइट[3] कहा जाता है। धीरे-धीरे इनका बढ़ना आरम्भ होता है। मुद्रिका का आकार जाता रहता है। वह कुछ गोल, किन्तु क्रमहीन, हो जाते है और कण के भीतर की वस्तु को खाते रहते है। अन्त मे वह इतने बड़े हो जाते है कि कण के भीतर पराश्रयी के अतिरिक्त कुछ भी वस्तु नहीं रहती। कण के भीतर हीमोग्लोबिन गहरे रङ्ग के हीमोज़ोइन[4] के कणो मे परिवर्त्तित होकर पराश्रयी के शरीर के भीतर एकत्र हो जाती है। इस अवस्था मे आश्रयी को शाईज़ौन्ट[5] कहा जाता है। तत्पश्चात् उसका शरीर कई समान भागों में विभक्त हो जाता है। यह भाग मीरोज़ाइट[6] कहलाते हैं। कुछ समय तक यह रक्त-कण के भीतर ही एक साथ रहते हैं। किन्तु अन्त को रक्त-कण की भित्ति को फाड़कर वह सब बाहर निकल आते हैं और स्वतन्त्र जीवन आरम्भ करते है। प्रत्येक मीरोज़ाइट एक लाल रक्त-कण को ढूँढ़ लेता है जिसके भीतर प्रविष्ट होकर वह फिर पूर्ववत् अपना जीवन चक्र आरम्भ कर देता है। जिस समय ज्वर के आक्रमण मे रोगी को शीत लगता है उस समय यह मीरोज़ाइट रक्त-कण को फाड़कर बाहर निकलते हैं। रक्ताणु के कण, जो मिलेनिन कण

---

१. यह सङ्केत 'म्यू' कहलाता है। जीवाणु अथवा रक्त-कण इत्यादि की लम्बाई-चौड़ाई इसी के अनुसार नापी जाती है। २. Sporozoite. ३. Trophozoite. ४ Haemozoin. ५. Schizont. ६. Merozoite.

कहलाते है, प्लीहा मे एकत्र हो जाते हैं। अथवा वह श्वेत कणों के द्वारा चर्म मे पहुँच जाते है जिससे चर्म कृष्णवर्ण हो जाता है।
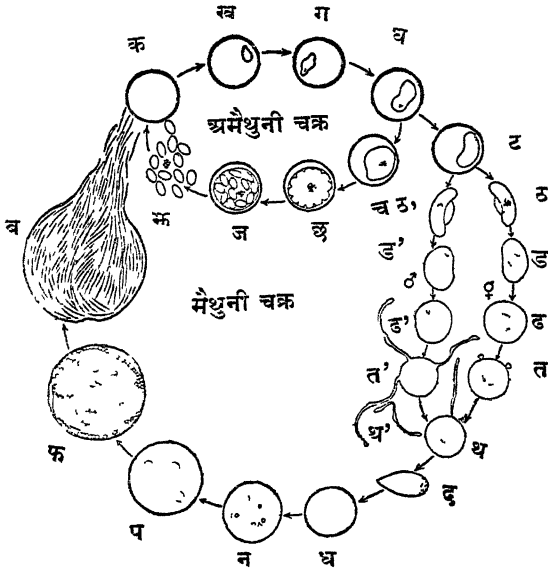
चित्र नं० ८६ मैलेरिया पराश्रयी का अमैथुनी और मैथुनी जीवन चक्रो का कल्पित चित्र। क, रक्त का लाल कण; ख, ग, घ, कण के भीतर पराश्रयी की भिन्न अवस्थाएँ; च, छ, ज, झ, स्पोरोज़ाइट की उत्पत्ति। ट, व्यवायक; ठ, ड, ढ, त, थ, पुरुष व्यवायक; ठ,' ड,' ढ,' त,' थ,' स्त्री व्यवायक; द, ऊकाइनीट; ध, ज़ाइगोट; न, प, ऊसिस्ट जिनमें पराश्रयियों की उत्पत्ति हो रही है; फ, परिपक्व ऊसिस्ट; ब, पक्व ऊसिस्ट के फटने से नवीन पराश्रयी निकल रहे हैं।

मैथुनी चक्र—कुछ समय तक इस प्रकार अमैथुनी चक्र चलता है। तत्पश्चात् पराश्रयियों में विभक्त होने की शक्ति नहीं रहती। कुछ जन्तुओं, जैसे

पेरामीशियम[१], में भी ऐसा होता है। कुछ समय के पश्चात् विभजन बन्द हो जाता हैं। उस समय मैथुनीरूप जीव उत्पन्न होकर जाति को जीवित रखते है।

जब पराश्रयी विभजन के द्वारा उत्पत्ति नहीं कर पाते तो वह मैथुनी रूपों को उत्पन्न करते है जो व्यवायक[२] कहलाते हैं। इनमे पुरुष और स्त्री दोनों जाति के जीव होते है जो 'स्त्री और पुरुष व्यवायक[३]' कहे जाते है। इनका आकार क्रमहीन गोल या अर्धचन्द्र अथवा लम्बोतरा होता है। इसके पश्चात् मनुष्य के शरीर मे इनकी और वृद्धि नहीं होती। इस अवस्था पर उनको मच्छर के शरीर की आवश्यकता होती है। यदि वे मच्छर के शरीर में नहीं पहुँच सकते तो नष्ट हो जाते है। यदि ऐनोफ़िलीज़ जाति का मच्छर इस समय पर रोगी को काटता है तो वे, उस रक्त के साथ जिसको वह चूसता है, रोगी के शरीर से मच्छर के आमाशय मे पहुँच जाते है।

वहाँ पर पहुँचते ही सबसे प्रथम रक्त-कण का आवरण, जो पराश्रयी पर लगा रहता है, आमाशय के रसों मे घुल जाता है। तत्पश्चात् स्त्री और पुरुष दोनो पराश्रयियों के शरीर लम्बोतरे से कुछ गोल हो जाते है। स्त्री का शरीर बिल्कुल स्वच्छ होता है। किन्तु पुरुष के शरीर में रङ्ग के बहुत से कण एकत्र होते हैं। यह कण एक बार बड़ी शीघ्रता से हिलते हैं और पराश्रयी के शरीर से कई लम्बे तन्तु निकल आते हैं। प्रायः इनकी संख्या तीन या चार होती है। अन्त को यह तन्तु शरीर से भिन्न हो जाते हैं और आमाशय के रस में प्रवाह करते हैं। वहाँ पर जब वह स्त्री व्यवायक के गोल शरीर के सम्पर्क में आते हैं तो एक तन्तु एक स्त्री शरीर को भेदकर उसके भीतर प्रविष्ट हो जाता है। यह तन्तु ही पुरुष का वास्तविक भाग है जो स्त्री कोषाणु के साथ संयोग करता है। इस संयोग के पश्चात् सेल का आकार गोल अथवा तकुं के समान हो जाता है जिसका एक सिरा नोकीला होता है। इसको **ऊकाइनीट**[४] कहते हैं।

---

१. Paramaecium. २. Gametocyte. ३. Macro and microgametocyte. ४. Ookinete.

यह अपने नोकीले सिरे से आमाशय की भित्ति को छेदकर उसके भीतर पहुँचकर आमाशय की उपकला और पेशियो के बीच में स्थित हो जाता है। इस समय यह **ज़ायगोट**[1] कहलाता है।

यह ज़ायगोट धीरे-धीरे बढ़ना प्रारम्भ होता है और इसके भीतर अनेकों सूक्ष्म भाग बन जाते हैं। इनको स्पोरोज़ाइट[2] कहते हैं। कुछ समय के पश्चात् पूर्ण वृद्धि कर चुकने पर ज़ायगोट के ऊपर की उपकला फट जाती है। इससे सारे सूक्ष्म स्पोरोज़ाइट मच्छर की शरीरगुहा में पहुँच जाते हैं। वहाँ से रासायनी और रक्तप्रवाह के द्वारा वह मच्छर की लाला ग्रन्थियों में पहुँचते हैं। जब मच्छर किसी व्यक्ति को काटता है तो यह पराश्रयी लाला के साथ ग्रन्थियों से निकलकर मच्छर के मुख के द्वारा उस व्यक्ति के रक्त मे पहुँच जाते हैं जहाँ वह लाल कण पर आक्रमण करते हैं और स्पोरोज़ाइट के रूप में परिणत हो जाते है। क्यूनीन की क्रिया इस रूप या शाइज़ोंट[3] पर होती है। उसकी क्रिया से मैथुनी रूप नहीं बनने पाते। कभी-कभी कुछ समय तक यह बिना किसी क्रिया के निश्चेष्ट भी पड़े रहते हैं।

साधारणतया मच्छर में पराश्रयी का जीवनचक्र दस बारह दिन में समाप्त हो जाता है। इस समय मे पूर्ण नवीन पराश्रयी बनकर तैयार हो जाते हैं जो अवसर मिलते ही अपना काम आरम्भ कर देते है। किन्तु तापक्रम का इस पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। २२° सेंटीग्रेड से कम होने पर पराश्रयी की वृद्धि मन्द हो जाती है; कभी-कभी ५० दिन तक लग जाते हैं। यह पाया गया है कि २२° सेंटीग्रेड पर पराश्रयियों की उत्पत्ति सबसे उत्तम होती है।

मच्छर

मच्छर और मैलेरिया में इतना अभिन्न सम्बन्ध प्रमाणित हो चुका है कि इस रोग को रोकने का कोई भी प्रयत्न, जिसका लक्ष्य मच्छरों का नाश नहीं है, कभी भी सफल नहीं हो सकता। जब तक मच्छरो की संख्या कम न होगी

---

१. Zygote. २. Sporozoite. ३. Schizont.
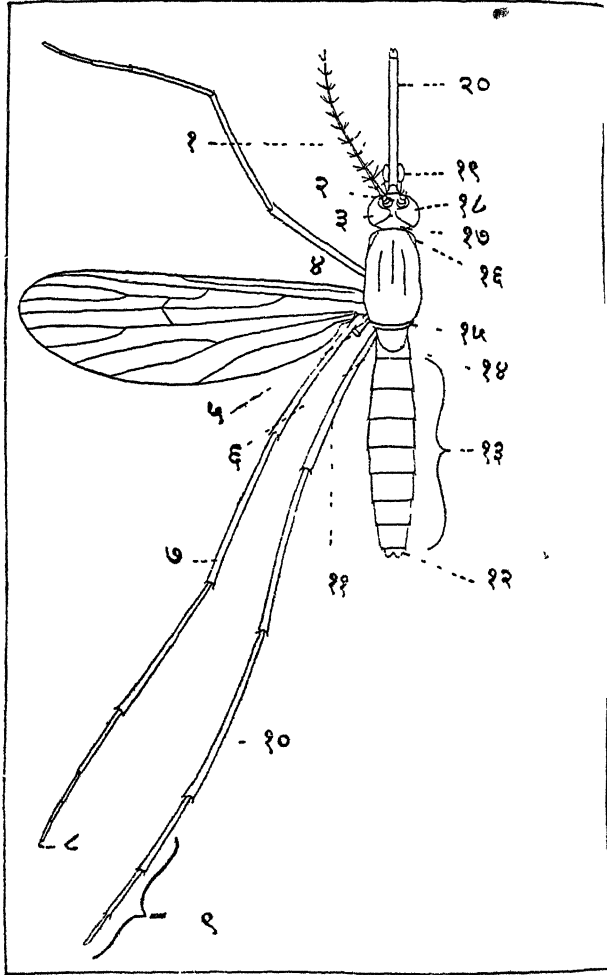
१. ज्ञापक। २. पूर्व भाग। ३. कपाल। ४. मध्य वक्ष। ५. पक्षावशिष्ट। ६. उदर का प्रथम खंड। ७. जंघिका। ८. टाँग का अन्तिम खंड। ९. प्रपादिका के खंड। १०. उर्वीका का खंड। ११. उर्वीका। १२. अंडविधायक। १३. उदर। १४. पश्चात् वक्ष। १५. शा'ाविका। १६. पूर्ववक्षिक भाग। १७. पश्चादिका। १८. नेत्र। १९. संपर्चक। २०. शुंडिका।

चित्र नं० ८७

तब तक यह रोग भी कम न होगा। प्रतिवर्ष जिन महीनों में मच्छरों की उत्पत्ति और उनकी संख्या में वृद्धि होती है उन्हीं महीनों में रोग भी अधिक प्रबल होता है। इस कारण मच्छरों का जितना भी नाश हो सके करना आवश्यक है।

मच्छर डिप्टरा[1] श्रेणी का एक कीट है और इसका परिवार क्यूलिसिडी[2] है। इसके विशिष्ट आकार के कारण इसको सहज ही में पहिचाना जा सकता है। सबसे स्पष्ट शरीर के दोनों ओर दो लम्बोतरे पर होते हैं जिनके भीतर ध्यान से देखने से नसें दिखाई देती हैं जैसी वृक्ष की पत्तियों में होती हैं। पर चमकीले श्वेत होते हैं। इनके शरीर के आगे की ओर एक छोटा गोल शिर होता है जिस पर दो छोटे चमकते हुए नेत्र स्थित होते हैं। नेत्रों के बीच शिर के नीचे से लम्बा, सूँड़ के समान, सीधी नली के आकार का, एक अङ्ग निकला रहता है जिसके द्वारा मच्छर रक्त को चूसता है। यह शुंडिका[3] कहलाता है। इसके दोनों ओर इसी के समान दो लम्बे अङ्ग होते हैं जिन पर अत्यन्त सूक्ष्म तन्तु लगे रहते हैं। इनके द्वारा मच्छर टटोलने और स्पर्श करने का काम करता है। इनको ज्ञापक[4] कहते हैं। इनकी जड़ों के पास दो छोटे ओष्ठ प्रक्ष[5] होते हैं। जब मच्छर काटता है तो प्रथम ओष्ठों के द्वारा अपने मुख को स्थित कर लेता है। तत्पश्चात् रक्त चूसनेवाले तीव्र अङ्ग को मांस में प्रविष्ट करता है। इनके पीछे की ओर दो नेत्र होते हैं। नेत्रों के पीछे शिर रहता है। उसके पीछे एक चौड़ा वक्ष होता है जिसके दोनों ओर से दो पर निकले रहते हैं। वक्ष के पीछे लम्बा उदर होता है जो कई भागों में विभक्त होता है। वक्ष और गात्र के दोनों ओर से तीन-तीन टाँगें निकली होती हैं जिनमें जोड़ होते हैं।

मच्छर कई जातियों के होते हैं। किन्तु स्वास्थ्य और रोगों के सम्बन्ध में केवल तीन प्रकार के मच्छर विशेष महत्त्व के हैं। इनको ऐनोफ़िलीज़,[6] क्यूलैक्स[7] और स्टेगोमाया[8] कहते हैं। इनमें से ऐनोफ़िलीज़ श्रेणी के मच्छर मैलेरिया का

---

१. Diptera Order २. Culicidae ३. Probocis ४. Antennae ५. Palpi ६. Anopheles. ७. Culex. ८. Stegomyia.
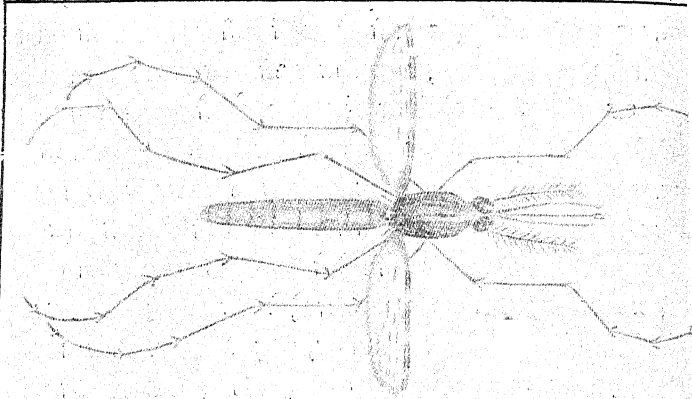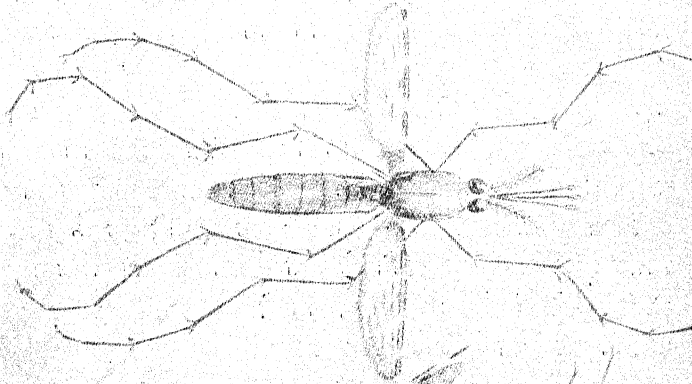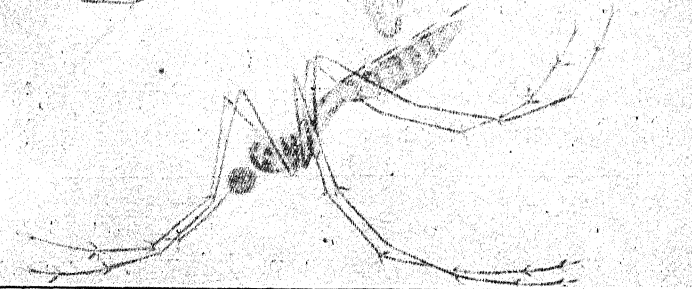
चित्र नं० ८८

ऐनोफ़िलीज़ जाति के मच्छर (From Dunn & Pandya)

संवहन करते हैं। इस श्रेणी में कई भाँति के सदस्य होते है। किन्तु वह सब रोग फैलाने मे भाग नहीं लेते। भारतवर्ष में ऐनोफ़िलीज़ जाति के निम्न सदस्य रोग का संवहन करते हुए पाये गए हैं—ऐनोफ़िलीज़ मैक्यूलीपेनिस[१], ऐ० क्यूलीसीफ़ेसीज़[२], ऐ० टर्खुडी[३], ऐ० रोसाई,[४] ऐ० थियोबाल्डी,[५] ऐ० लिस्टोनाई[६], ऐ० स्टिफ़ेन्साई,[७] ऐ० फ़्यूलिजिनोसस,[८] ऐ० अम्ब्रोसस[९] ऐ० साइनेन्सिस[१०], ऐ० बारबिरोस्ट्री[११] और ऐ० जेपोनेन्सिसो[१२]। इनमें से ऐ० क्यूलीसीफ़ेसीज़, ऐ० लिस्टोनाई, ऐ० स्टिफ़ेन्साई और ऐ० फ़्यूलिजिनोसस रोग के फैलाने मे विशेष भाग लेते हैं।

ऐनोफ़िलीज़ जाति के मच्छर मकानों के पास बहुत पाये जाते है। खेतों, तराइयो, झीलों के पास, पुराने जल-संग्रहो के पास और जहाँ जल सड़ता हो वहाँ भी यह मिलते हैं।

क्यूलैक्स जाति का मच्छर बिल्कुल घरेलू है। यह घरो अथवा अन्य स्थानो में भी मिलता है। इसकी दो विशेष उपजातियाँ हैं, एक क्यूलैक्स फ़ैटीजैन्स[१३] और दूसरा क्यूलैक्स पाईपीन्स[१४]। प्रथम प्रकार का मच्छर श्लीपद रोग[१५] उत्पन्न करता है। किन्तु दूसरी प्रकार का मच्छर किसी प्रकार का उपद्रव नहीं करता।

स्टेगोमाया सारे संसार में पाया जाता है। यह बिल्कुल ही घरेलू है। मकान में या मकान के पास जब टूटे हुए पीपों, घड़ों, छोटे-छोटे हौज़, गड्ढों इत्यादि मे जल एकत्र हो जाता है तो यह मच्छर उनमें अपने अण्डे देते हैं। यह अण्डे ताप और शुष्कता का बहुत कुछ सहन कर सकते हैं। वह छोटे, काले रङ्ग के, और पेंसिल की भाँति कुछ लम्बे और पतले होते हैं। इनको

---

१ Anopheles Maculipenis. २. A. Culicifacies. ३. A. Turkhudi. ४. A Rossi. ५. A. Theobaldi. ६. A. Listoni. ७ A. Stephensi. ८. A. Fuliginosus. ९. A. Umbrosus. १०. A Sinensis. ११. A. Barbirostri. १२. A. Japonensis. १३. Culex Fatigens. १४. C. Pipiens. १५. Filariasis.
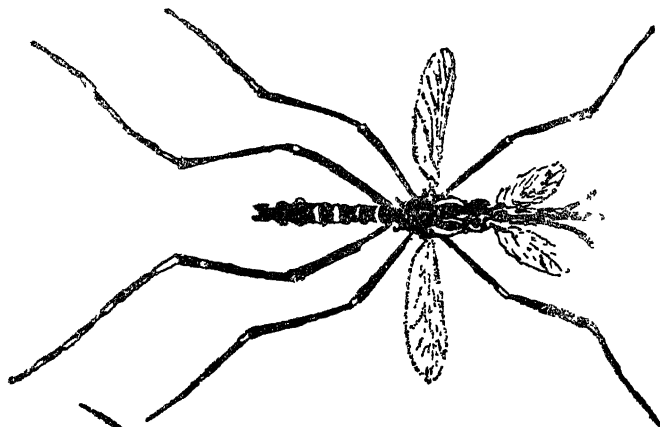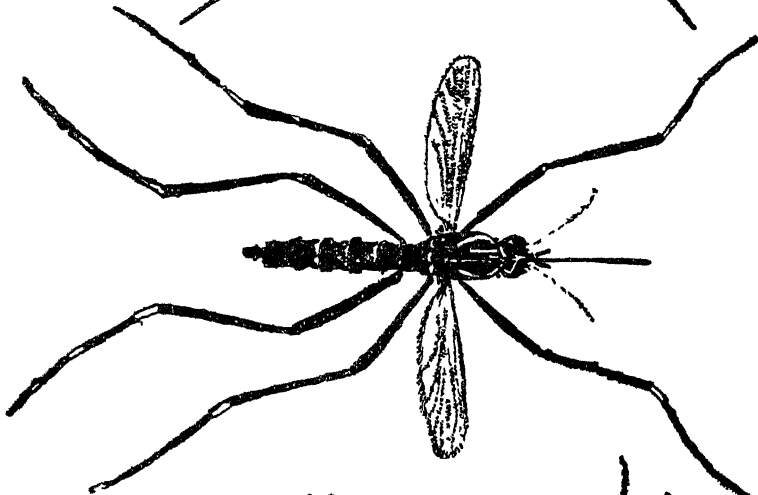
चित्र नं० ८६
क्यूलैक्स जाति के मच्छर

जल पर तैरते हुए देखा जा सकता है। शेष दोनों जातियों के अण्डे आपस में मिले रहते हैं। किन्तु स्टेगोमाया के अण्डे एक दूसरे से पृथक् होते है।
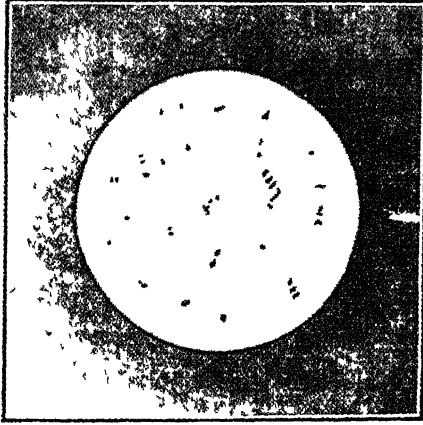
चित्र नं० ६०—ऐनोफ़िलीज़ के अण्डे, जैसे साधारण नेत्रो से दीखते हैं।

स्टेगोमाया के शिर और उदर पर श्वेत, चमकीले, कुछ रेखा-युक्त डैने[1] पाये जाते हैं। इनकी विशेष उपजाति स्टेगोमाया फ़ेसियेटा है जो पीतज्वर और डेंगू रोग का संवहन करती है।
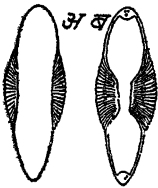
चित्र नं० ६१—ऐनोफ़िलीज़ के अण्डे (बढ़ाकर दिखाये गये है)
अ—नीचे की ओर से
ब—ऊपर की ओर से

मच्छरों की उत्पत्ति—मच्छर बँधे हुए जल में अण्डे देते हैं। इस कारण नदियों के किनारों के पास, मोरियों में, तालाबों के किनारो पर या अन्य ऐसे ही स्थानों में यह अण्डे पाये जाते हैं। इन अण्डों की संख्या बहुत होती है। एक स्त्री (मच्छर) एक बार में ५० से ४०० तक अण्डे दे सकती

1. Scales

है। ऐनोफिलीज़ और क्यूलैक्स दोनों जाति के अण्डों में भिन्नता होती है। ऐनोफ़िलीज़ के अण्डे पतले और लम्बे होते हैं। उनका आकार कुछ सिगार की भाँति होता है। वह एक दूसरे से भिन्न रहते हैं। प्रथम उनका रङ्ग श्वेत होता है। किन्तु कुछ समय के पश्चात् काला हो जाता है। स्त्री एक बार में प्रायः १०० से १५० तक अण्डे देती है। यह जाति प्रायः स्वच्छ जल में अण्डे रखती है। इन अण्डों को साधारणतया देखना कठिन होता है। यह ०·७ से १·० मि० मीटर लम्बे होते है। यह लैंस की सहायता से जलाशयों या जलसंग्रहों के किनारे पर देखे जा सकते हैं।

क्यूलैक्स जाति के अण्डे एक दूसरे के साथ जुड़े रहते हैं। कई सौ अण्डे एक साथ मिलकर एक छोटी नौका की भाँति स्थित हो जाते हैं। इन पर एक गाढ़ा लेसदार पदार्थ चढ़ा रहता है। इस प्रकार के आकार के अण्डों के गुच्छे जल में तैरते हुए देखे जा सकते हैं। प्रथम उनका रङ्ग भी श्वेत होता है, किन्तु थोड़े ही समय में भूरा या कुछ काला हो जाता है। इन अण्डों का आकार चौड़ा और जाम्बव होता है।

चित्र नं० ६२—क्यूलैक्स के अण्डे

स्टेगोमाया के अण्डे छोटे और पतले होते हैं। वह एक दूसरे से भिन्न रहते है और जल पर तैरते हुए देखे जा सकते हैं। प्रथम उनका रङ्ग भी पीलापन लिये हुए श्वेत या क्रीम होता है। किन्तु शीघ्र ही वह बिल्कुल काले हो जाते हैं। इनके चारो ओर कुछ वायु के गुल्म लगे रहते है। ऐनो-फ़िलीज़ के अण्डों के केवल एक ओर इस प्रकार का वायु-गुल्म रहता है; किन्तु वह बड़ा होता है। यह गुल्म अण्डो को डूबने नहीं देते। स्टेगोमाया के अण्डों में सहनशक्ति बहुत होती है। बहुत दिनों तक पड़े रहने पर भी उनसे उत्पत्ति हो सकती है। कीचड़ में भी यह जीवित रह सकते हैं। किन्तु ऐनोफ़िलीज़ और क्यूलैक्स के अण्डे जल की अनुपस्थिति में नष्ट हो जाते हैं।

लार्वा—अण्डों से लार्वे उत्पन्न होते हैं। दो या तीन दिन में अण्डों से जल के लम्बे कीड़ों के समान शीघ्रता से रेंगनेवाले जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं।

इनको लार्वा[1] कहते हैं। बिना किसी लैंस की सहायता के, साधारण नेत्रों द्वारा उनको देखा जा सकता है। इनका शरीर लम्बा होता है। सबसे आगे की ओर शिर होता है; उसके नीचे वक्ष और उदर होते हैं। उदर लम्बा होता है और उसमें कई भाग होते हैं। शिर के आगे की ओर दो जबड़े होते हैं जिनसे लार्वा कुतरता है। वक्ष में तीन भाग होते है जो प्रायः मिलकर एक हो जाते हैं। उदर में नौ भाग दिखाई देते हैं, आठवें भाग के नीचे की ओर एक छिद्र होता है जिसके द्वारा लार्वा वायु ग्रहण करता है। नवें भाग के अन्त पर मल-द्वार होता है। प्रथम छिद्र अथवा वायु-छिद्र पर कपाट लगे होते है जो खोले और बन्द किये जा सकते है। इसके पीछे और नीचे की ओर मछली के डैने के समान एक अङ्ग होता है, जैसा चित्र मे दिखाया गया है। वक्ष और उदर दोनों पर तन्तु लगे रहते हैं।

ऐनोफ़िलीज़, क्यूलैक्स और स्टेगोमाया तीनो के लार्वों में भिन्नता होती है। **ऐनोफ़िलीज़ के लार्वा** का शिर काला और शेष शरीर स्वच्छ तथा पारदर्शी होता है। शिर कुछ गोल होता है। उदर के आठवें भाग के पृष्ठ पर दो वायु-छिद्र होते हैं जिनके द्वारा वायु लार्वा के शरीर के भीतर प्रवेश करती
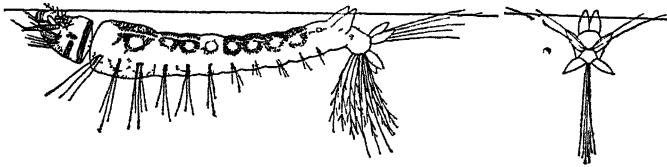
चित्र नं० ६३

है। इन वायु-छिद्रो की स्थिति के कारण लार्वा जब वायु लेने को जल के पृष्ठ पर आता है तो वह बिलकुल अनुपस्थ दिशा मे जलपृष्ठ के समानान्तर रहता है। यदि जल में इसकी गति का निरीक्षण किया जाय तो यह झटके के साथ जल में प्रवाह करता हुआ दिखाई देगा। कभी वह, यदि जल केवल २ या ३ इंच गहरा

---

१. Larva.

है तो, उसकी तलहटी में बैठ जाता है। फिर एक साथ झटके के साथ जल-पृष्ठ पर आ जाता है। यह जल के भीतर उगनेवाली हरी दूब या काई खाता है।

क्यूलैक्स जाति का लार्वा ऐनोफ़िलीज़ के लार्वे से अधिक तीव्र होता है। वह अधिक शीघ्रता से गति करता है और दौड़ता फिरता भी अधिक है।
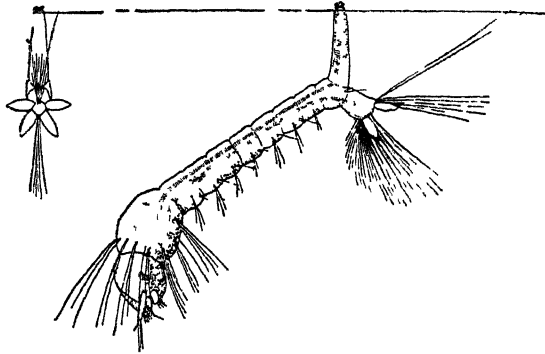
चित्र नं० ६४—क्यूलैक्स का लार्वा

क्यूलैक्स गन्दे जल को अधिक पसन्द करता है। इस कारण वह टूटे फूटे बरतनों मे एकत्र हुए जल में, छोटे छोटे गढ़ों और मोरियों इत्यादि में अधिक मिलते हैं। भोजन के लिए भी ये लार्वे सब प्रकार की वस्तुओं को प्रयोग करते प्रतीत होते हैं। उनको मल और ऐन्द्रिक पदार्थ विशेष रुचिकर होते है। ऐनोफ़िलीज़ के लार्वे की अपेक्षा यह भोजन भी अधिक करते हैं। कभी कभी वह भोजन की खोज में ५ या ६ फुट की गहराई तक चले जाते हैं।

ऐनोफ़िलीज़ के लार्वों से इनमें विशेष अन्तर यह होता है कि इनके शरीर में वायु ग्रहण करने के लिए उदर के आठवें भाग के पृष्ठ पर, छिद्रों के स्थान में, एक लम्बी नलिका होती है जिसके किनारे पर एक छिद्र होता है। इसके द्वारा लार्वा वायु ग्रहण करता है। इस नलिका की स्थिति और दिशा के कारण लार्वा जल में ऐनोफ़िलीज़ के लार्वे की भाँति सीधा नहीं तैर सकता। उसका शिर नीचे और उदर का पीछे का भाग ऊपर और पीछे की ओर रहता है जिससे वायु-

नलिका जल के पृष्ठ तक पहुँच जाती है। यह नलिका लार्वा के शरीर के साथ लगभग १२०° डिगरी के कोण पर जुड़ती है। इस कारण लार्वा का शरीर जल में सदा टेढ़ा रहता है।

स्टेगोमाया के लार्वे में भी वायु-नलिका होती है। किन्तु वह लार्वे के शरीर से एक कोण पर न जुड़कर सीधी पीछे की ओर निकली रहती है। इस कारण लार्वा जल-पृष्ठ से सीधा नीचे की ओर को लटका रहता है। जल मे किसी प्रकार की हलचल होने से वे सीधे नीचे को डुब्बी मार जाते हैं और कुछ समय के पश्चात् फिर श्वास लेने को जल-पृष्ठ पर आते हैं। ऐनोफ़िलीज़ और क्यूलैक्स दोनो की अपेक्षा यह लार्वा अधिक सहनशील होता है। गन्दे, स्वच्छ अथवा खारी जल सबों मे उनकी एक समान वृद्धि होती है। किन्तु अम्ल से उनकी मृत्यु हो जाती है। यह लार्वा वानस्पतिक और जान्तव दोनो प्रकार के पदार्थों का भोजन करता है।

स्टेगोमाया के लार्वा का रङ्ग शेष दोनो लार्वों की अपेक्षा बहुत हलका होता है।

प्यूपा—गर्म देशों मे ८ से १० दिन और ठण्डे देशो में १४ से २० दिन के पश्चात् लार्वा की दशा मे परिवर्तन होता है। इन दिनों मे उसका आवरण दो या तीन बार फटकर गिर जाता है। उसकी गति और भक्षण-शक्ति बढ़ जाती है। इसके पश्चात् यह शक्ति कम होने लगती है और लार्वा चुपचाप एक स्थान में ठहर जाता है। कुछ समय के पश्चात् उसका आवरण पीछे की ओर से फटता है और भीतर से एक जन्तु, जिसका आकार? के समान होता है, निकल आता है। यह 'प्यूपा' कहलाता है। इसका शरीर गोल और बडा तथा पूँछ मुड़ी हुई और पतली होती है। इसकी गति-शक्ति बड़ी तीव्र होती है। बड़ी शीघ्रता के साथ
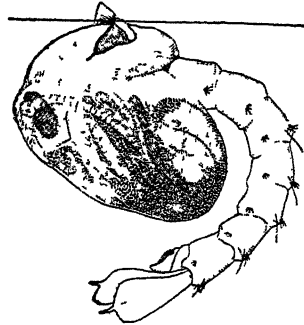
चित्र नं० ६९—ऐनोफ़िलीज़ का प्यूपा

यह जल में चारों ओर को दौड़ता है। यदि जल के पृष्ठ पर तनिक सी भी हलचल होती है तो यह एकदम नीचे की ओर को चला जाता है, किन्तु शरीर के हलके होने के कारण फिर ऊपर आ जाता है।

प्यूपा को भोजन की आवश्यकता नहीं होती। इस कारण इसके शरीर मे मुख भी नहीं होता। इसमें श्वास लेने का प्रबन्ध लार्वा से भिन्न होता है। वक्ष के दोनों पार्श्वों से दो नलिकाएँ बाहर को निकली रहती हैं। इन नलिकाओं के द्वारा वायु प्यूपा के शरीर में पहुँचती है। ऐनोफ़िलीज़, क्यूलैक्स और स्टेगोमाया मे इन नलिकाओं के आकार भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐनोफ़िलीज़ के प्यूपा में यह नलिकाएँ छोटी और मोटी होती हैं और उनके आगे का भाग फ़नेल या कुप्पी की भाँति फैला हुआ रहता है। क्यूलैक्स के प्यूपा की वायु-नलिका लम्बी, पतली और आगे की ओर से नफ़ीरी की भाँति होती है। स्टेगोमाया मे नलिका का अग्रभाग त्रिकोणाकार होता है। उसका पहिला भाग भी चौड़ा होता है।
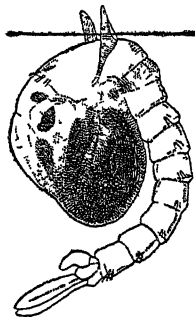
चित्र नं० ६६
क्यूलैक्स का प्यूपा

प्यूपा की अवस्था दो या तीन दिन तक रहती है। तत्पश्चात् प्यूपा का शरीर सीधा हो जाता है और वह जल पर निश्चेष्ट होकर पड़ जाता है। प्यूपा का आवरण वक्ष के प्रान्त मे पीछे की ओर फट जाता है और उसके भीतर से एक पूर्ण, किन्तु छोटा, मच्छर निकलता है।

पूर्ण मच्छर—यह मच्छर प्यूपा के आवरण पर एक घण्टे के लगभग बैठा रहता है। जब उसके पर भली भाँति खुलकर शुष्क हो जाते हैं तो वह उड़ जाता है। इस मच्छर के शरीर में वह सब भाग उपस्थित होते हैं जिनका पहिले वर्णन किया जा चुका है।

इस प्रकार मच्छर के जीवन-चक्र में चार अवस्थाएँ होती हैं। (१) प्रथम अवस्था में अण्डे बनते है। (२) दूसरी अवस्था लार्वे की होती है। यह अवस्था भोजन और वायुमण्डल के तापक्रम के अनुसार ८

से २० दिन तक रह सकती है। (३) तत्पश्चात् लार्वा प्यूपा में परिवर्तित होता है। (४) अन्त को दो या तीन दिन के पश्चात् प्यूपा से पूर्ण मच्छर बन जाता है।
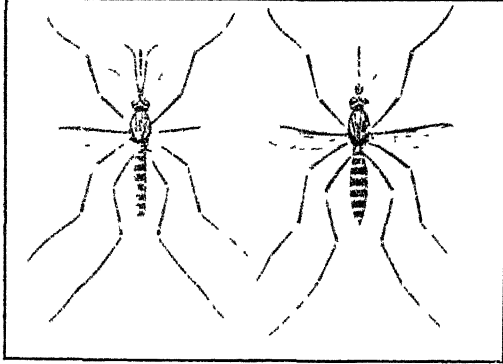
चित्र नं० ६७—ऐनोफ़िलीज़ जाति के मेक्यूलीपेनिस और क्यूलिजिनासस मच्छर।

मच्छरों का वर्गीकरण—भिन्न-भिन्न जाति, उपजाति और श्रेणियों के मच्छरों का वर्गीकरण उनके शरीर के भागों के आकार, विशेषकर परों और परों पर उपस्थित रेखाओं, मुख के भाग, शिर, वक्ष और उदर पर उपस्थित रेखाओं इत्यादि के अनुसार किया जाता है। साधारणतया ऊपर बताई हुई तीनों जातियों, और उनमें भी ऐनोफ़िलीज़ और क्यूलैक्स, को पहिचानना विशेष महत्त्व का है। इन्हीं के द्वारा मनुष्य में रोग फैलता है। निम्न-लिखित आपेक्षिक सारणी से इसमे सहायता मिलेगी।

	ऐनोफ़िलीज़	क्यूलैक्स
शुंडिका	मोटी और लम्बी	पतली और मुड़ी हुई
संपर्चक	लम्बे, जोड़दार और आगे से मोटे, लम्बाई में शुंडिका के बराबर या उनसे लम्बे।	साधारणतया शुंडिका से लम्बे किन्तु कभी-कभी छोटे। स्त्रियों में सदा शुंडिका से छोटे।

	ऐनोफ़लीज़	क्यूलैक्स
टाँगें,	लम्बी और अत्यन्त पतली	लम्बी किन्तु मोटी
पर	छोटे हलका रङ्ग, किन्तु उनपर धब्बे; परों की नसो पर श्वेत और गहरे रङ्ग के बिन्दु।	हलके भूरे, या हरियाली लिये हुए हलके काले रङ्ग के, जिन पर कोई धब्बे नहीं होते।
दीवार पर बैठने के समय	शरीर सीधा, दीवार और पृष्ठ के साथ समकोण, शुंडिका शरीर से सीधी रेखा में आगे की ओर को निकली हुई।	शरीर टेढ़ा, बीच में से ऊपर को उठा हुआ; दीवार या पृष्ठ के साथ प्रायः समानान्तर; शुंडिका शरीर के साथ सीधी न रहकर एक कोण बनाती है। अंगों में और वक्ष पर श्वेत रेखाएँ होती हैं।
अण्डे	साधारणतया स्वच्छ जल मे, नहर, नदी, तालाब, कुवें, वर्षा-जल संग्रह इत्यादि में पाये जाते हैं। एक दूसरे से भिन्न रहते हैं।	प्रायः अशुद्ध जल में, टूटे हुए बर्तनों में एकत्र जल, गढ़े, मोरी इत्यादि में; कभी-कभी शुद्ध जल में भी पाये जाते हैं। आपस में मिले रहते हैं।
लार्वा	उदर के आठवें भाग पर दो वायुछिद्र; वायु-नलिका अनुपस्थित; तैरने या श्वास लेने के समय अनुप्रस्थ स्थिति।	वायु-नलिका उपस्थित। श्वास लेने के समय जल में टेढ़ी स्थिति।

	ऐनाफ़िलीज़	क्यूलेक्स
	साधारणतया भेद करना कठिन है।	
प्यूपा	वक्ष से निकलनेवाली वायु-नलिकाएँ छोटी और कुप्पी के आकार की।	वायु-नलिकाएँ नफ़ीरी के समान।
पूर्ण मच्छर	शरीर सरल	शरीर बीच से मुड़ा हुआ।
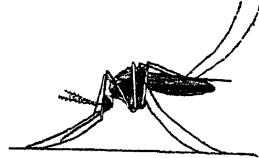
चित्र नं० ९८—ऐनोफ़िलीज़ जाति का मच्छर (बैठा हुआ)

चित्र नं० ९९—क्यूलेक्स जाति का मच्छर (बैठा हुआ)

मच्छरों का स्वभाव—मच्छर तालाब, जलाशय, जल से भरे हुए गढ़े या नदियों के किनारो पर के जल मे अण्डे रखते हैं। साधारणतया उत्पन्न होने के दस दिन के पश्चात् स्त्री अण्डे देने योग्य हो जाती है। प्रत्येक ऋतु में वह कई बार अण्डे देती है और प्रत्येक बार कई सौ अंण्डे देती है। इस प्रकार एक ही ऋतु में मच्छरो के एक जोड़े से सहस्रों मच्छर उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु प्रकृति में अन्य सब जीवों की भांति इनके भी स्वाभाविक शत्रु मौजूद हैं। जल के भीतर जो छोटी-छोटी मछलियाँ रहती हैं वह इनकी शत्रु होती हैं और लार्वो को खा जाती हैं। बहुत से कीड़े मच्छरो को खाते हैं। चिड़ियाँ, छिपकली, मकड़ी या अन्य इसी प्रकार के कीड़े मच्छरों का नाश करते है। इससे उनकी संख्या बढ़ने नहीं पाती।

मच्छर बहुत ही कोमल जन्तु है। तनिक से आघात से उसकी मृत्यु हो जाती है। न तो वह तीव्र वायु को सहन कर सकता है और न उड़कर बहुत दूर ही जा सकता है। उत्पत्ति-स्थान से आधे मील से अधिक दूरी

पर उनको नहीं पाया गया है। साधारणतया वह ४० या ५० गज़ से अधिक दूरी तक उड़कर नहीं जाते। इस कारण निवास-स्थान के चारों ओर आध मील तक जितने गढ़े इत्यादि हो उनको भरवा देना चाहिए। मच्छरों का एक यह विशेष स्वभाव होता है कि वह उसी जलाशय में अण्डे देते हैं जहाँ उनकी उत्पत्ति हुई थी। इस प्रकार एक ही जलाशय मे मच्छरों की अनेकों सन्ततियाँ उत्पन्न होती हैं।

मच्छर शरद् ऋतु को सहन नहीं कर सकते। इस कारण बहुत से अन्य जन्तुओं की भाँति वह किसी छिपे हुए स्थान में, जहाँ वह तीव्र वायु इत्यादि से सुरक्षित रहें, निवास करते हैं। सारी शरद् ऋतु भर निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। जब वायु का ताप-क्रम कम होने लगता है और जाड़े का प्रायः अन्त हो जाता है तब वह अपने विश्राम-स्थान से निकलकर फिर अपना जीवन पूर्ववत् आरम्भ करते हैं। इसी कारण दिसंबर, जनवरी और फ़रवरी के महीनों में मच्छरों से इतना कष्ट नहीं मिलता। फ़रवरी के अन्त मे मच्छर फिर क्रियावान् हो जाते हैं।

मच्छर, विशेषकर पुरुष, वनस्पति-भोजी होते हैं और घास, वृक्ष, लता इत्यादि को खाते हैं। किन्तु स्त्री जाति का मच्छर रक्त चूसता है। वास्तव में उसको अण्डे देने के लिए रक्त की आवश्यकता होती है। बिना रक्त के अण्डों की वृद्धि नहीं होती। यदि अण्डे देने के पूर्व वह रक्त न चूस ले तो अण्डे देने के पश्चात् उसकी मृत्यु हो जाती है। मच्छर प्रायः रात्रि के समय रक्त चूसते हैं। दिन में वह कमरे के कोनों में, वस्त्रों के पीछे, आलमारियों में, किताबों के पीछे या किसी मेज़, कुर्सी के नीचे जहाँ कुछ अँधेरा हो, बैठे रहते हैं। वहाँ से वह सूर्यास्त पर निकलते है और कमरे में जिस किसी को पाते हैं उसका रक्त चूसते हैं।

मच्छरों का स्वभाव होता है कि सूर्यास्त पर जब कुछ अँधेरा हो जाता है तो वह कमरे से बाहर जाते हैं। किन्तु थोड़े ही समय के पश्चात् जब अँधेरा अधिक हो जाता है तो फिर कमरे मे लौट आते हैं। इसलिए सूर्यास्त के समय कमरे के परदों या चिकों को उठा देना चाहिए, किन्तु थोड़े ही समय के पश्चात् उनको फिर खोल देना चाहिए।

मच्छरो को श्वेत हलका रङ्ग पसन्द नहीं होता। वह काला रङ्ग बहुत पसन्द करते हैं। जितने भी गहरे रङ्ग हैं वह सब उनको प्रिय है। वह दिन में प्रायः काले या गहरे रङ्ग के वस्त्रों पर बैठे रहते है; श्वेत रङ्ग की दीवारों की अपेक्षा गहरे रङ्ग से पुती हुई दीवारों पर अधिक बैठे हुए मिलते हैं। रसोईघर मे, जिसकी दीवारो का रङ्ग धुएँ के कारण मैला हो जाता है, मच्छर अधिक रहते हैं।

जाति के अनुसार मच्छरो के जीवनकाल की दीर्घता में भेद पाया जाता है। प्रायः पुरुष एक से तीन सप्ताह तक जीवित रहते है। किन्तु स्त्रियों का जीवन लम्बा होता है। वह चार मास या इससे भी अधिक जीवित रह सकती है।

ऐनोफ़िलीज़ के स्वभाव की कुछ विशेषताएँ—अन्य जातियों की अपेक्षा इस जाति के मच्छर अधिक घरेलू हो गये हैं। इस कारण वह मकानों के पास किसी भी जलाशय इत्यादि में उत्पन्न होते पाये जाते हैं। मकान के जल की टङ्कियों तथा मकान के पास या उसके भीतर के गढ़ों में जो जल एकत्र हो जाता है उसमे यह मच्छर अपने अण्डे दे देते हैं। इसी प्रकार हौज़, सड़क के पास की मोरियों और गढ़ों इत्यादि में भी इनकी उत्पत्ति होती है।

इस जाति की स्त्रियों में यह विशेषता है कि वह एक ही समय में, एक के पश्चात् कई व्यक्तियों को काटती हैं। अन्य जाति की स्त्रियाँ साधारणतया एक बार रक्त चूसकर किसी स्थान पर जा बैठती है और जब तक फिर क्षुधार्त्त नहीं होतीं तब तक नहीं काटतीं। किन्तु इस जाति की स्त्रियाँ लगातार कई व्यक्तियों को काटती हैं। इससे यदि उनमें मैलेरिया के पराश्रयी उपस्थित होते हैं तो वह उन सबों के शरीर मे पहुँच जाते हैं।

साधारणतया सभी मच्छर रात्रि के समय ही घूमते और काटते हैं, किन्तु ऐनोफ़िलीज़ जाति विशेषतया प्रकाश को पसन्द नहीं करती। इस कारण यह मच्छर दिन में कमरों मे ऐसे स्थान को खोज लेते हैं जहाँ पर प्रकाश बहुत

कम पहुँचता है। यह अलमारियों के भीतर, वस्त्रो से ढके हुए कोने अथवा गहरे रङ्ग के वस्त्रों के भीतर छिपे रहते हैं। वहाँ से वह रात्रि के समय अपने भोजन की खोज मे निकलते हैं। इसी समय स्त्री मनुष्य का रक्त चूसती है और उसके शरीर मे रोग के बीज प्रविष्ट करती है। इस कारण रोग की उत्पत्ति केवल रात्रि के ही समय होती है। दिन मे रोग होने का भय नहीं होता। अतएव रात्रि में रोग से बचने के लिए अथवा मच्छरों से अपनी रक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध करना आवश्यक है। उष्ण प्रदेश के देशों मे मच्छर उत्पन्न होने के पश्चात् ४८ घण्टे के भीतर रक्त चूसना प्रारम्भ कर देते हैं।

इस जाति के मच्छरों में एक और विशेषता यह है कि वह उड़ते समय किसी प्रकार का शब्द नहीं करते। अन्य जातियों के मच्छरो के उड़ते समय एक विशेष प्रकार की ध्वनि होती है। किन्तु इस जाति का स्त्री-मच्छर इतने धीरे से आता है कि उसका आना और कभी कभी काटना तक नहीं मालूम होता।

ऐनोफ़िलीज़ की सब जातियाँ मैलेरिया नहीं उत्पन्न करतीं। रोग उत्पन्न करनेवाली जातियों के नाम पहिले दिये जा चुके हैं। उनमे भी चार जातियाँ विशेष हैं। कुछ जातियाँ रोग को फैलाने में तनिक भी भाग नही लेतीं। इस जाति की लगभग १५० उपजातियाँ मालूम की जा चुकी हैं। किन्तु उनमें से अधिकांश ऐसी है जिनका मैलेरिया से कोई सम्बन्ध नहीं।

रोग को रोकने के उपाय

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि मैलेरिया बिना ऐनोफ़िलीज़ जाति के मच्छर के नहीं फैल सकता। उसके फैलने के लिए यह मच्छर अत्यन्त आवश्यक है। रोग को रोकने या उसका नाश करने के लिए यह खोज अत्यन्त महत्त्व की है। इस खोज के द्वारा कुछ देश, जहाँ भयङ्कर मैलेरिया फैलता था और जो मृत्यु का घर कहे जाते थे, रोग से बिलकुल मुक्त कर दिये गये हैं।

मैलेरिया के पराश्रयियों को नष्ट करने के लिए क्यूनीन एक विशेष वस्तु प्रमाणित हुई है। इसके प्रयोग से यह पराश्रयी शीघ्र ही निश्चेष्ट हो जाते

हैं। उनकी वृद्धि और उत्पत्ति की शक्ति जाती रहती है और थोड़े ही समय में वे स्वयं भी समूल नष्ट हो जाते हैं। किन्तु यह रोग की चिकित्सा की एक औषधि है; रोग को जनता मे फैलने से रोकने का उचित साधन नहीं है। इसके लिए जितनी क्यूनीन की आवश्यकता होगी उतनी मात्रा सारे संसार मे उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि उत्पन्न की भी जा सके तो जनता इसको नित्य प्रति खावेगी नहीं। साधारणतया लोगों को चिकित्सा मे भी क्यूनीन को खाने मे आपत्ति होती है। इस कारण रोग के रोकने के जो उपाय किये जा सकते हैं वह मच्छरों के नाश के उपाय होने चाहिएँ।

यह उपाय निम्नलिखित चार भागों मे विभक्त किये जा सकते हैं,—

अ—मच्छरों से बचने के उपाय।

(१) ऐसे मकानों द्वारा जिनमें मच्छर प्रवेश न कर सकें।

(२) मच्छरों से स्वयं अपने शरीर की रक्षा।

१—मसहरी से।

२—ऐसे वस्त्रों द्वारा जिनमें मच्छर प्रवेश न कर सके।

३—मच्छर-नाशक और तीव्र गंधयुक्त वस्तुओं के प्रयोग से।

क—मच्छर और उनके लार्वों के नाश के उपाय।

(१) स्थायी उपाय।

(२) अस्थायी उपाय।

(३) लार्वा-नाशक वस्तुएँ।

च—क्यूनीन के द्वारा चिकित्सा।

ब—शिक्षा।

इन सब उपायों में यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि मैलेरिया से कोई व्यक्ति रोगग्रस्त नहीं होगा तो मच्छरो के शरीर में रोग के पराश्रयी भी नहीं पहुँचेंगे। और उस दशा में वह दूसरे व्यक्तियों को काटने पर भी उनको रोग-ग्रस्त नहीं कर सकेंगे। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति को, जो रोगग्रस्त हो, रोग-मुक्त करना और रोगी और स्वस्थ व्यक्ति दोनों की मच्छरों से रक्षा करना

आवश्यक है। यदि रोगी को मच्छर न काटने पायेंगे तो वह रोग का संवहन भी न कर सकेंगे।

अ—मच्छरों से बचने के उपाय।

(१) निवास के लिए इस प्रकार के मकान बनाने चाहिएँ जिनमें मच्छर प्रवेश न कर सकें। मकान ऊँचाई पर बनाना चाहिए। उसके पास जल के गढ़े, जलाशय या तराई इत्यादि न हो। मकान के चारों ओर, किन्तु उससे पर्याप्त दूरी पर, ऊँचे वृक्षों को एक रेखा मे लगाना उत्तम है। इससे मच्छर या अन्य कीड़ों के मार्ग में बहुत कुछ रुकावट हो जायगी। किन्तु उनको बहुत पास-पास लगाना उचित नहीं। ऐसा करने से उनमे कीड़े रहने लगेंगे और स्थान गन्दा हो जायगा।

मकान को मच्छरो के लिए अभेद्य बनाने का सबसे उत्तम उपाय यह है कि सारे मकान के या मकान के किसी भाग के चारों ओर लोहे की बारीक जाली लगा दी जावे। दक्षिणी अमरीका में यह उपाय बहुत समय तक काम मे लाया गया है। पनामा के प्रान्त मे भी पीतज्वर और मैलेरिया से बचने के लिए ऐसा ही प्रबन्ध किया गया है जिसमें बहुत सफलता हुई है। किन्तु इसमें व्यय बहुत अधिक होता है।

यदि मकानो के बरामदो और खिड़कियों मे बारीक जाली और दरवाज़ो पर जाली के दुहरे किवाड़ लगा दिये जावें, जो स्वयं बन्द हो सकें, तो इससे भी मच्छर मकान मे प्रविष्ट न हो सकेंगे। बरामदो में जो जाली लगाई जावे उसमे भी बाहर आने-जाने के लिए दुहरे दरवाज़े लगा देने चाहिएँ।

(२) मच्छरों से शरीर की रक्षा।

१—मसहरी—सर रोनल्ड रोस का विचार है कि यदि मसहरी का उचित प्रयोग किया जावे तो रोग से बचने का ६० प्रतिशत अवसर बढ़ जाता है। मसहरी को इस प्रकार लगाना चाहिए कि बिस्तर और मसहरी के बीच में तनिक भी अन्तर न रहने पावे। मसहरी का नीचे का भाग बिस्तरों के नीचे दाब देना चाहिए। मसहरी कहीं से कटी हुई या उसमें कोई

छिद्र न होना चाहिए। जो व्यक्ति मैलेरिया रोग से ग्रस्त हों उनको मसहरी से बाहर नहीं सोने देना चाहिए।

यद्यपि इसके प्रयोग का महत्त्व स्कूल, कालेज या होस्टलों के छात्रों को भली भाँति बताया जा चुका है, किन्तु अभी तक इसका प्रयोग अनिवार्य्य नहीं किया गया है। ऐसा करने की बहुत आवश्यकता है। कुछ लोगों को मसहरी के भीतर सोने में आपत्ति होती है। कुछ लोग केवल लापरवाही के कारण मसहरी का उपयोग नहीं करते। स्कूल और कालेज के होस्टलों में मसहरी का प्रयोग अनिवार्य्य होना चाहिए।

२—मच्छर-अभेद्य-वस्त्र—मोटे वस्त्रों द्वारा मच्छर नहीं काट सकता। वह साधारण मलमल इत्यादि बारीक वस्त्रों द्वारा काट लेता है। इस कारण जिस समय मैलेरिया फैले उस समय मोटे वस्त्र पहिनने चाहिएँ। हाथों पर भी दस्ताने पहिने जावें और टाँग और पाँव जूते या बूट से ढके रहें। जिन लोगों को ऐसे स्थानों में रहना या कार्य्यवश जाना पड़ता है, जहाँ मैलेरिया अधिक होता है उनको सूर्यास्त के पश्चात् सूर्योदय तक बाहर नहीं जाना चाहिए। यदि जाना पड़े तो सारे शरीर को मोटे वस्त्रों से ढक-कर जावें। मुख पर भी एक नक़ाब लगा लेना उत्तम है। पनामा नहर बनाते समय अथवा योरप के महायुद्ध में जिन सैनिकों को मैलेरिया-ग्रस्त स्थानों में काम करना पड़ा था, उनके लिए एक विशेष प्रकार का नक़ाब तैयार किया गया था। वह लोहे के तार पर जाली लगाकर बनाया गया था। इसको टोप पर लगाया जा सकता है। नीचे के भाग को गले के चारों ओर बाँध दिया जाता है।

३—मच्छर-नाशक वस्तुएँ—गन्धक का इसके लिए बहुत प्रयोग किया जाता है। कमरों को बन्द करके नीम की पत्ती और गोबर के उपलों को मिलाकर कमरे के भीतर जला देते हैं। किन्तु वह पूर्णतया जलने नहीं पाते। उनसे केवल धुवाँ निकलता है। उसी में गन्धक भी मिला देते हैं। इसके वाष्प और गन्ध से मच्छर मर जाते हैं अथवा बहुत कुछ भाग जाते हैं। फारमेल्डीहायड, तारपीन इत्यादि का भी उपयोग किया जाता है।

४—मच्छरों को भगानेवाली वस्तुएँ—इनके प्रयोग से मच्छर नष्ट नहीं होते, केवल भाग जाते है। ये वस्तुएँ प्रायः तीव्र गन्धवाली होती हैं जिनको मच्छर सहन नहीं कर सकते। कपूर, युकलिप्टस तैल, सन्दल का तैल और पिपरमेट, अलकतरा, सिरका, नींबू का रस इत्यादि वस्तुएँ मच्छरों को असह्य होती हैं। सिट्रोनैला का तैल और पायरेथ्रम चूर्ण इस काम के लिए बहुत प्रयोग किये जाते है। बाज़ार में इस प्रकार के कई भांति के पदार्थ बिकते है। इनको शरीर पर मरहम की भाँति मला जा सकता है अथवा उनकी कुछ बूँदें बिस्तर पर भी छिड़की जा सकती हैं। किन्तु इनकी क्रिया बहुत ही अल्पस्थायी होती है। जब इनकी गन्ध उड़ जाती है तो वह कुछ भी क्रिया नहीं कर सकते।

बिजली के या साधारण पङ्खे अथवा ताड़ के पङ्खे मच्छर को भगाने के काम में लाये जा सकते है। इनके उपयोग से शरीर भी ठण्डा होता है, कमरे का तापक्रम कम होता है और मच्छर भी वायु-वेग के कारण कमरे से बाहर निकल जाते है।

क—मच्छर और उनके लार्वों के नाश के उपाय।

(१) स्थायी उपाय—स्थायी या अस्थायी उपाय, जो केवल थोड़े ही समय के लिए किये जाते हैं, दोनो का प्रयोजन ऐसे स्थानों से, जहाँ पर जल एकत्र हो जाता है, जल का निकास करना है, जिससे किसी भी स्थान पर जल एकत्र न हो सके और मच्छरों की उत्पत्ति बन्द हो जावे। स्थायी उपाय वे है जो एक बार कर देने पर सदा काम करते रहते हैं। इनमें कुछ काम छोटे-छोटे होते हैं, जैसे छोटे-छोटे गढ़ों को भरना, पक्की नाली बनाकर जल के निकास का प्रबन्ध करना, गीली भूमि को सुखाना, जलाशय, स्रोतों और नदियों के किनारों को ठीक करना जिससे उनका जल किनारों के पास के छोटे-छोटे गढ़ों में न भरा रहे; बड़ी मोरियों को स्वच्छ कराना इत्यादि। यह ऐसे छोटे छोटे उपाय है जो एक बार कर देने से बहुत समय तक बने रहते हैं।

किन्तु जहाँ पर भूमि अधिक सीलयुक्त होती है, जैसे तराई या नीची भूमि, वहाँ पर बडे-बडे काम करने पड़ते हैं। यद्यपि उनमें एक बार व्यय अधिक होता है किन्तु वह सदा के लिए स्थायी हो जाते हैं। सीलयुक्त भूमि को उत्तम बनाने का उपाय यह है कि वहाँ पर जल से सिंचाई करवाकर खेती कराई जावे। जिस स्थान में जल अधिक आता है, किन्तु उसका निकास पूर्ण होता है, वहाँ मैलेरिया नहीं होता। बंगाल के जिन भागों मे बाढ़ अधिक आती है और उसके साथ में मिट्टी भी बह आती है वहाँ मैलेरिया कम फैलता है।

इसी प्रकार बड़े-बड़े गढ़े, अस्वच्छ और गन्दे कच्चे तालाब, हौज़, नाबदान इत्यादि को भरवाकर उनको समतल करवा देना चाहिए। जो स्थान भरवाये न जा सके वहाँ से मोरियों इत्यादि द्वारा जल के निकास का उचित प्रबन्ध करना आवश्यक है।

(२) अस्थायी उपाय वे हैं जो प्रति वर्ष करने पड़ते है। मकान के भीतर या उसके पास के छोटे-छोटे गढ़े, छोटी हौज़ें, टूटे हुए बर्तन या पीपे—जिनमें जल एकत्र हो गया हो—इत्यादि को भर देने या नष्ट कर देने का प्रयत्न मैलेरिया आरम्भ होने से पूर्व प्रत्येक वर्ष करना चाहिए। इन सब प्रबन्धो के करने का सबसे उत्तम समय सितंबर और अक्तूबर है। ऐसे प्रबन्धों का गाँवो में होना अत्यन्त आवश्यक है। वहाँ पर मकानों के आध मील के भीतर जो जङ्गल या सघन वृत्त, लता और घास हो उसको काट डालना चाहिए। ऐसे स्थान मच्छरो को आश्रय देकर मैलेरिया फैलने में सहायता देते हैं। मलाया स्टेट में बस्ती के पास के जङ्गल को कटवाने का कई बार प्रबन्ध किया जा चुका है। जभी जङ्गल कटवा दिया गया है, तभी मैलेरिया बहुत कम फैला है।

डाक्टर दास की सम्मति है कि इस काम के लिए कई दल बना लेने चाहिएँ। प्रत्येक दल में एक जमादार और उसके अधीन ८ या १० मजदूर हों। इन दलो का काम मैलेरिया की ऋतु में और इससे पूर्व प्रत्येक मकान में जाकर वहाँ की स्वच्छता का निरीक्षण

होना चाहिए। यदि वे कहीं पर एकत्रित जल देखें, या टूटे-फूटे बर्तन या पीपे इत्यादि पड़े हों जिनमें वर्षा का जल एकत्र हो या एकत्रित हो सके तो उनको वे नष्ट करके स्थान को स्वच्छ और समतल कर दें। इन दलों का जमादार एक साधारण शिक्षित व्यक्ति होना चाहिए जिसको मच्छरों के लार्वों को पहिचानने और मच्छरों के नाश के उपायों की शिक्षा मिल चुकी हो। उसका यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह गांव-वालों को एकत्र करके मच्छरों के द्वारा मैलेरिया का फैलना, मच्छरों और लार्वों की पहिचान और उनके नाश के उपायों को बतावे। साधारण जनता के सहयोग के बिना मैलेरिया के विरुद्ध जो प्रबन्ध किये जायँगे वह पूर्णतया सफल नहीं होंगे।

लार्वों को मारने का एक उपाय यह भी है कि जिस जलाशय में उनकी उत्पत्ति हो रही हो उस पर मिट्टी का तेल फैला दिया जावे। इन दलों का यह काम भी होना चाहिए कि वह जिन तालाब, गढ़े इत्यादि में लार्वों की उत्पत्ति होती देखे, उनको नष्ट कर दे। यदि उनको भर न सके तो उनमें मिट्टी का तेल डाल दें।

(३) **मच्छर और लार्वा-नाशक वस्तुएँ**—इसके लिए मिट्टी के तेल का उपयोग किया जाता है। अनुभव से यह वस्तु लार्वों के नाश में बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। इसको जल के ऊपर डाल देने से यह शीघ्र ही एक स्तर के रूप में फैल जाती है। लार्वा समय-समय पर जल-पृष्ठ पर श्वास लेने के लिए आता है। किन्तु वह इस वस्तु के स्तर को भेदकर ऊपर नहीं आ सकता। इस कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। अनुभव से केवल मिट्टी के तेल की अपेक्षा मिट्टी के तेल और अस्वच्छ या ताज़ा पेट्रोलियम का मिश्रण अधिक प्रबल पाया गया है। कुछ लोग ३ भाग साबुन को १५ भाग उबलते जल में घोलकर और उसमें २२ भाग मिट्टी का तेल मिलाकर एक मिश्रण बना लेते है। कहीं-कहीं पर कारबोलिक एसिड और तेल के समान भागों को मिलाकर प्रयोग किया जाता है। कारबोलिक एसिड, कास्टिक सोडा और गन्दा बिरोजा मिलाकर एक मिश्रण

बनाया जाता है। इन वस्तुओं को मिलाकर उबालने से एक काले रङ्ग का साबुन बनता है। ५००० भाग जल में इस वस्तु के एक भाग को मिलाकर प्रयोग करने से लार्वा १६ मिनट में नष्ट हो जाते हैं। इसके प्रयोग से कीचड़, दूब या घास में छिपे हुए लार्वे तक जीवित नहीं रहते।

क्रिज़ोल, सिल्लिन, इज़ाल इत्यादि का भी लार्वों के नाश करने के लिए प्रयोग किया जाता है। हाल ही में पैरिस-ग्रीन नामक वस्तु का अधिक प्रयोग होने लगा है। यह ताँबे और सङ्खिये का एक योग है, जिसको 'ऐसिटो-आर्सिनाइट-आफ़-कापर' कहते है। इसको साधारण खड़िया, लकड़ी का बुरादा या साधारण धूल के साथ मिलाकर प्रयोग किया जाता है। इन वस्तुओं के १०० भाग मे इस योग का एक भाग मिलाना पर्याप्त है। धूल और लकड़ी के बुरादे में यह अवगुण है कि वह जलाशय की तलहटी में पहुँचकर बैठ जाते हैं। खड़िया मे यह अवगुण नहीं है। इसके साथ मिलाकर जल के ऊपर डाल देने से यह चूर्ण जल के पृष्ठ पर तैरता रहता है। 'फ्रेंच चाँक' के नाम से जो खड़िया बिकती है उसमे यह गुण अधिक होता है। वह कम से कम चार दिवस तक ज्यों का त्यों जल के पृष्ठ पर पड़ी रहती है, जल को हिलाने से भी नीचे नही बैठती। यह बाज़ार में 'संगज़ीरे' के नाम से बिकती है। जल के ५०० वर्गफुट के लिए ४० ग्रेन पैरिसग्रीन और ८ औंस संगज़ीरा पर्याप्त हैं। इनको मिलाकर जल के ऊपर छिड़क देना चाहिए।

तीस वर्गफुट जल-पृष्ठ के लिए २ औंस या एक छटाँक मिट्टी का तेल पर्याप्त है। किन्तु उसको इस प्रकार डालना चाहिए कि वह जल के सारे पृष्ठ पर फैल जावे। जब छोटे गढ़ों में तेल डालना हो तो एक लम्बी लकड़ी में एक वस्त्र का टुकड़ा बाँधकर और उसको तेल में भिगोकर गढ़े के जल मे चारों ओर घुमाना चाहिए। किन्तु जब किसी बड़े जलाशय या तालाब मे तेल डालना हो तो जलाशय के दोनों किनारों पर दो मनुष्य खड़े होकर एक लम्बी रस्सी को, जिसके दोनों सिरों को वह व्यक्ति पकड़े हो, जलाशय मे डालें। इस रस्सी के बीच मे वस्त्र का एक बड़ा टुकड़ा बँधा हो जिसको मिट्टी के तेल में

भिगोकर जलाशय के एक किनारे से दूसरे किनारे की ओर खींचा जा सके। समय समय पर इस वस्त्र को तेल मे भिगोते रहना आवश्यक है। प्रत्येक ७ या ८ दिन पर जलाशयों मे इस प्रकार तेल डालना उचित है। साथ मे जलाशयों के किनारों को भी ठीक करवा देना चाहिए जिससे वह गहरे हो जावे।

हाइड्रोक्लोरिक तथा अन्य अनैन्द्रिक अम्ल, पोटाशियम परमैंगनेट अथवा पोटाशियम परमैंगनेट और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, नीला तूतिया, रसकपूर, कारबोलिक अम्ल इत्यादि सब लावों को नष्ट करनेवाले हैं। किन्तु यह विषैली वस्तुएँ हैं। इस कारण इनका प्रयोग ऐसे स्थानो मे करना चाहिए जहाँ का जल पीने के काम मे न आता हो।

मछली—छोटी-छोटी मछलियाँ, जो जल मे पाई जाती हैं, लावों को खाती है। इस जाति की मछलियाँ बड़े आकार की नही होतीं। दूसरे देशों में बारबोडोस[1] नामक मछलियाँ इस सम्बन्ध मे अत्यन्त उपयोगी पाई गई है। यह लावों का अत्यन्त शीघ्र नाश करती हैं। भारतवर्ष मे भी इनको लाया गया है। किन्तु यह जल के परिवर्तन को अधिक सहन नहीं कर सकती। इस कारण इनसे अधिक सफलता नहीं हुई। यहाँ पर पीकू[2] और टकाकी[3] नामक मछली अधिक उपयोगी प्रमाणित हुई हैं। इनको एक स्थान से दूसरे स्थान मे सुगमता से ले जा सकते है। १ से २ फ़ुट जल-पृष्ठ के लिए दो मछलियां पर्याप्त हैं। अन्य मछलियां, जिनका प्रयोग लावों के नाश करने के लिए किया जा सकता है, खोल्सी[4], भेदो[5], कोई[6], छेला,[7] डाकोना, चूँटी इत्यादि जातियों की हैं। इन मछलियों को जलाशय में छोड़ देना चाहिए।

हाल ही में इटली के एक वैज्ञानिक ने एक ऐसी वनस्पति मालूम की है जो जल को मच्छर के लावों से मुक्त करती है। इस वनस्पति का नाम

---

१ Barbodos. २ Haplochalus Lineolatus, ३ Haplochalus Panchax, ४ Trichogaster Fasciatus ५ Bedis ६ Anabas Scandens ७ Chela Agertia

चाना हायोपिडा[1] है। यह गहरे या उथले दोनों प्रकार के जल में उग सकती है। प्रथम बार निरीक्षण से यह पाया गया कि जिन गढ़ों या जलाशयों में यह पौदा उगा हुआ था वह लार्वों से बिल्कुल मुक्त थे। तत्पश्चात् जब उसको दूसरे जलाशयों में लगाया गया तो वहाँ पर भी कोई लार्वे नहीं उत्पन्न हुए।

च—**क्यूनीन**—प्रयोगों से और अनेक वर्षों के अनुभव से क्यूनीन मैलेरिया की सबसे उत्तम और अचूक ओषधि प्रमाणित हुई है। इसकी क्रिया से रक्त में उपस्थित पराश्रयी का नाश होता है। क्यूनीन देने का सबसे उत्तम समय वह है जब रोगी को स्वेद आता हो। उस समय रक्त मे पराश्रयी के वह रूप, जिन पर क्यूनीन की बहुत उत्तम क्रिया होती है, स्वतन्त्रतया उपस्थित होते हैं। अतएव इस समय क्यूनीन की क्रिया से उनका नाश सहज होता है और फिर रोग का दूसरा आक्रमण नहीं होता। रक्त मे उपस्थित पराश्रयियों का पूर्ण नाश करने के लिए रोगी को तीन या चार महीने तक क्यूनीन खिलाना आवश्यक है। किन्तु इसको कार्य्यरूप में परिणत करना अत्यन्त कठिन है। शिक्षित व्यक्ति भी रोगमुक्त होते ही क्यूनीन खाना छोड़ देते हैं जिससे उनके रक्त में रोग के कुछ न कुछ पराश्रयी बने रहते है।

रोग के रोकने मे भी क्यूनीन उत्तम प्रमाणित हुई है। एक सप्ताह में लगातार दो दिन १० ग्रेन क्यूनीन खाने से रोग का आक्रमण नहीं होता। इस कारण जिन स्थानों मे मैलेरिया अधिक होता है वहाँ क्यूनीन का बराबर उपयोग करते रहना चाहिए। साधारणतया लोगों को क्यूनीन के प्रति आपत्ति होती है और वह उसके तिक्त होने से उसको खाना पसन्द नही करते। अशिक्षित समुदाय तो उसके नाम से घबराता है। किन्तु धीरे-धीरे ओषधि के गुण के कारण यह द्वेष कम हो रहा है।

रोग को रोकने की दृष्टि से भी रोगी को पराश्रयियों से पूर्णतया मुक्त करना बहुत आवश्यक है।

---

1 Chana Hiopida

रोग के प्रतिषेध के लिए क्यूनीन रात्रि के समय खाना चाहिए जिससे वह रात्रि में, जिस समय मच्छर काटते है, रक्त में उपस्थित हो। जो लोग क्यूनीन के प्रयोग से गरमी या उष्णता का अनुभव करते है, उनको दूध और फलों का अधिक प्रयोग करना चाहिए। क्यूनीन न केवल मैलेरिया पराश्रयियों को ही नष्ट करती है, किन्तु भूख बढ़ाकर शरीर के बल की भी वृद्धि करती है। प्रतिषेध के लिए क्यूनीन का प्रयोग तीन प्रकार से किया जाता है। (१) ५ ग्रेन प्रति दिवस, (२) १० ग्रेन सप्ताह में लगातार दो दिनों पर और (३) १५ ग्रेन सप्ताह मे एक बार। क्यूनीन के स्वाद के कड़वे होने से बहुत लोग इसका प्रयोग नहीं करते। बच्चो को विशेषकर क्यूनीन खिलाना अत्यन्त कठिन है। इस कारण उनको क्यूनीन की ताज़ा गोली बनाकर खिलाना चाहिए। बाज़ार में जो गोलियाँ बिकती हैं उन पर विश्वास नही किया जा सकता। वह बहुत पुरानी होती हैं और प्राय. शरीर के भीतर नहीं घुलतीं, जिससे वह उसी भाँति मल के द्वारा शरीर से निकल जाती हैं।

क्यूनीन को पान मे रखकर भी खाया जा सकता है। पान के साथ उसकी कड़ुवाहट जाती रहती है अथवा नाम मात्र को रह जाती है। साधारण क्यूनीन को खाने के या मिक्सचर पीने के पश्चात् पान खाने से भी कड़ुवाहट नहीं प्रतीत होती।

सिनकोना भी, जिससे क्यूनीन बनाई जाती है, क्यूनीन ही के समान उपयोगी प्रमाणित हुआ है। अतएव क्यूनीन के स्थान में आजकल सिनकोना बहुत प्रयोग किया जाता है। इसका मूल्य क्यूनीन से बहुत कम है।

(ब) शिक्षा—अन्य सामाजिक सुधारों की भाँति स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुधार भी करना सहज नहीं है। कोई भी सुधार क्यों न हो, जब तक जनता का सहयोग नहीं हो, वह कभी सफल नहीं होता। मैलेरिया के नाश के लिए जितने उपाय ऊपर लिखे जा चुके हैं उन सबका सफल होना जनता के सहयोग पर बहुत कुछ निर्भर करता है। साधारण-

तथा जनता में प्रत्येक सुधार के विरुद्ध कुछ द्वेष होता है। वह किसी नये काम को जल्दी करने को तैयार नहीं होती। इस कारण जनता में साधारण शिक्षा और जिस काम को करना चाहते है उसके सम्बन्ध में पूर्ण शिक्षा फैलाने का प्रयत्न करना चाहिए। स्वास्थ्य-विभाग के कर्मचारी, सैनीटरी इंस्पेक्टरों इत्यादि का यह कार्य होना चाहिए कि वह जनता मे रोगों को रोकने के उपायों का प्रचार करें और उनको बतावें कि अमुक काम क्यो किया जा रहा है। साथ मे स्वास्थ्य-विभाग की ओर से समय-समय पर रोगों, रोगों के रोकने के उपाय और वैयक्तिक स्वास्थ्य-संबंधी छोटे-छोटे ट्रैक्ट जनता में बटने चाहिएँ। अन्य कार्यों के साथ-साथ इंस्पेक्टरों और स्वास्थ्याध्यक्षों को जनता मे समय-समय पर लेक्चर देने का भी आदेश होना चाहिए जिनमे जादू की लालटैन द्वारा तसवीरें भी दिखाई जावें। इससे जनता लेक्चर सुनने के लिए आकर्षित होगी और उन पर प्रभाव भी उत्तम होगा।

मैलेरिया के प्राबल्य का अनुमान—जब किसी स्थान मे मैलेरिया को रोकने के उपाय किये जाते हैं तो प्रथम यह मालूम करना आवश्यक होता है कि उस प्रान्त या स्थान में कितना मैलेरिया फैलता है। वैज्ञानिक खोज की दृष्टि से भी बहुधा ऐसा करना पड़ता है। यह चार प्रकार से मालूम किया जाता है। (१) जिन व्यक्तियों की प्लीहा बढ़ी हुई हो उनकी संख्या या निष्पत्ति से—यह विधि उन स्थानों में उपयुक्त है जो कालाज़ार से मुक्त हैं। (२) बहुत से व्यक्तियों के रक्त की परीक्षा द्वारा यह मालूम किया जाता है कि कितने व्यक्तियों के रक्त में मैलेरिया के पराश्रयी उपस्थित हैं। (३) ऐनोफ़िलीज़ जाति के मच्छरों को पकड़कर उनका छेदन करके और सूक्ष्म-दर्शक के द्वारा परीक्षा कर यह पता लगाया जाता है कि कितने मच्छरों के शरीर में पराश्रयी उपस्थित हैं। (४) अस्पताल और गाँवों के छोटे-छोटे दवाखानों से आये हुए नक़्शों से भी सहायता ली जाती है।

(१) प्रथम विधि अत्यन्त सहज है और इसमें अधिक व्यय भी नहीं है। साधारण इंस्पेक्टर इत्यादि इस काम को कर सकते हैं। उनको बढ़ी हुई प्लीहा की जाँच करने की विशेष प्रकार से शिक्षा देनी चाहिए। २ से १०

वर्ष तक के बच्चों की परीक्षा करना आवश्यक है। इस अवस्था में रोग मे सदा प्लीहा बढ़ी हुई मिलती है। ज्यों-ज्यो अवस्था अधिक होती जाती है त्यो त्यो प्लीहा के बढ़ने का अवसर कम होता जाता है। प्लीहा के द्वारा रोग के प्राबल्य को जानने के लिए बहुत से बच्चो की परीक्षा करनी चाहिए। स्कूल मे जाकर वहाँ के बच्चों की परीक्षा की जा सकती है। इस प्रकार रोग-ग्रस्त बच्चों की जो संख्या निकलती है उसकी निष्पत्ति को 'मैलेरिया का प्लीहाङ्क'[१] कहते है।

(२) जिस स्थान या प्रान्त में रोगाक्रान्त व्यक्तियों की संख्या का अनुमान करना होता है वहाँ पर कई स्थानों में बहुत से मनुष्यों और बच्चों के रक्त की परीक्षा करके यह देखा जाता है कि कितने व्यक्तियों के रक्त में मैलेरिया के पराश्रयी उपस्थित है। यह विधि अत्यन्त विश्वसनीय और पूर्ण है। किन्तु इसके लिए बहुत से पूर्ण शिक्षित डाक्टरो और प्रयोगशाला तथा यन्त्र इत्यादि की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक रोगाक्रान्त व्यक्ति के रक्त के उसी बिन्दु मे, जिसकी सूक्ष्म-दर्शक के द्वारा जाँच की गई है, पराश्रयी उपस्थित मिलें। अतएव इस विधि से रोगाक्रान्त व्यक्तियों की पूर्ण संख्या का पता नहीं लगता।

इस विधि में भी बच्चों के रक्त की परीक्षा पर अधिक भरोसा किया जा सकता है। ५०, ६० या इससे भी अधिक बच्चो के रक्त के स्लाइड तैयार करके उनकी सूक्ष्मदर्शक के द्वारा परीक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार रोगाक्रान्ति के जो अङ्क मिलते हैं वह 'मैलेरिया के पराश्रयी अङ्क'[२] कहलाते हैं।

यद्यपि इस विधि मे ऊपर बताये हुए अवगुण हैं किन्तु तो भी वह अन्य विधियों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है।

(३) तीसरी विधि में ऐनोफ़िलीज़ जाति के मच्छरों को पकड़कर उनका छेदन करने के पश्चात् सूक्ष्म-दर्शक के द्वारा यह देखा जाता है कि उनके शरीर में पराश्रयी हैं या नहीं, और यदि हैं तो उनकी कितनी संख्या है।

---

१ Splenic index of Malaria. २. Parasitic index of Malaria.

(४) अस्पतालों और दवाखानों से जो नक्शे प्रतिमास बनाकर भेजे जाते है उन पर रोगाक्रान्ति का अनुमान करने के लिए अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता। प्राय अन्य प्रकार के ज्वर भी मैलेरिया मे लिख दिये जाते हैं। कभी-कभी मैलेरिया को दूसरे रोग मे लिख दिया जाता है। सब अस्पतालों में न तो इतना सामान ही रहता है और न वहाँ काम करनेवाले डाक्टरो को इतना समय ही मिलता है कि प्रत्येक बुख़ार के रोगी के रक्त की परीक्षा कर सके।

इन सब विधियों द्वारा रोगाक्रान्त-व्यक्तियो की संख्या मालूम की जा सकती है। उसके मालूम करने पर जनता की संख्या के अनुसार प्रतिशत रोगियों की संख्या निकाल ली जाती है।

मैलेरिया से मृत्यु

मैलेरिया से प्राय मृत्यु नहीं होती। साधारण रूप का मैलेरिया ज्वर क्यूनीन से शांत हो जाता है। यह देखने में आया है कि जिन रोगियों को क्यूनीन नहीं मिलती, जैसे कि दूरवर्ती गाँवों इत्यादि में, वह भी कुछ समय के पश्चात् ज्वर से मुक्त हो जाते हैं। किन्तु उनकी प्लीहा बढ़ जाती है और रक्त मे पराश्रयी बने रहते हैं। कदाचित् कुछ समय के लिए वह अकर्मण्य हो जाते हैं। जब वह सक्रिय होते हैं तो रोगी को फिर से ज्वर आने लगता है। इस प्रकार वह बहुत समय तक रोग से छुटकारा नहीं पाता। उसके बल का धीरे-धीरे क्षय होता जाता है और दुर्बलता के कारण उसको कोई दूसरा भयङ्कर रोग, जैसे निमोनिया इत्यादि, दबा लेता है जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है।

जिन प्रान्तों मे मैलेरिया रोग अधिक होता है, जैसे बङ्गाल या आसाम, वहाँ के निवासियों के शरीर रोग के कारण दुर्बल और क्षीण हो जाते हैं। उनके बार-बार रोग से आक्रान्त होने से शरीर की शक्ति का क्षय हो जाता है। उनमे कार्य्य-क्षमता नहीं रहती। इस कारण उनको जीवनोपार्जन मे भी कठिनाई होती है। इसका प्रभाव केवल उन व्यक्तियों और व्यक्तियों के परिवारो ही पर नहीं पड़ता, किन्तु सारे देश पर पड़ता है। रोगग्रस्त प्रान्तों या देशो के लोग

इतना परिश्रम नहीं कर सकते जितना रोगमुक्त देशों के निवासी कर सकते हैं। इस कारण व्यापार इत्यादि मे रोगग्रस्त देश को हानि उठानी पड़ती है।

इन सब बातो को देखते हुए देश की आर्थिक उन्नति के सम्बन्ध से देश को मैलेरिया रोग से मुक्त करना बहुत आवश्यक है। यह सरकार का काम है कि वह मैलेरिया-ग्रस्त प्रान्तों मे पूर्ण अन्वेषण कराके उनको रोगमुक्त करने का प्रयत्न करे। यद्यपि इसमे एक बार व्यय अधिक है किन्तु यह ऐसा कार्य्य है जो जातीय उन्नति के लिए आवश्यक है। ऐसे स्थानों के निवासी न केवल दुर्बल और परिश्रम के अयोग्य होते है, किन्तु वहां बाल-मृत्यु की संख्या भी बहुत अधिक होती है। इस कारण जाति की उन्नति के लिए रोगग्रस्त स्थानों मे प्रत्येक प्रकार के साधन द्वारा रोग को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए।

डेंगू—अस्थिभञ्जक ज्वर

इस रोग के प्रायः मरक फैला करते हैं। यह रोग शुष्क और उष्ण काल मे फैलता है और समुद्र-तट पर स्थित अथवा नदियों के मुहानों पर स्थित नगरो मे अधिक होता है। किन्तु कभी-कभी सारे देश मे एक साथ फैल जाता है। सन् १९२३ के जुलाई और अगस्त में इसी प्रकार का एक मरक फैला था। प्रत्येक जाति और प्रत्येक अवस्था के व्यक्तियों पर यह रोग एक समान आक्रमण करता है।

लक्षण—ज्वर अकस्मात् आरम्भ होता है। शिर में तीव्र पीड़ा होती है। सारे शरीर मे और विशेषकर सन्धियों और अस्थियों मे बहुत अधिक दर्द होता है। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि कोई सारे शरीर की अस्थियों को तोड़ रहा है। इसी कारण इसको अस्थिभञ्जक ज्वर भी कहते हैं। ज्वर १०२° से १०५° तक रहता है। दुर्बलता अत्यन्त मालूम होती है। हाथ-पाँव हिलाने को भी रोगी का जी नहीं चाहता। ४८ घण्टे के लगभग रहकर ज्वर जाता रहता है। तत्पश्चात् एक या दो दिन तक रोगी ज्वर से मुक्त रहता है; दर्द भी नहीं होता।

तत्पश्चात् ज्वर और शरीर का दर्द फिर आरम्भ हो जाता है, किन्तु पूर्व की अपेक्षा कम होता है। इसके साथ शरीर लाल हो जाता है और जहाँ-तहाँ रोमान्तिका के समान छोटे लाल दाने निकल आते हैं। यह लालिमा और दाने हाथों से प्रारम्भ होते हैं। एक या दो दिन में लालिमा कम हो जाती है जिसके पश्चात् चर्म से श्वेत परत से उतरने लगते हैं। रोगी ज्वर से मुक्त हो जाता है, किन्तु उसको दुर्बलता बहुत अधिक होती है जो बहुत समय तक बनी रहती है।

इस रोग का सम्प्राप्ति-काल २ दिन से लेकर १ सप्ताह तक है। एक आक्रमण के पश्चात् रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

रोग का कारण—रोग को उत्पन्न करनेवाले विशिष्ट जीवाणु का अभी तक पता नहीं लग सका है। किन्तु इतना मालूम हो गया है कि वह रोगी के चर्म के अन्तर्गत नलिकाओं के रक्त में रहता है। यदि रोगी के रक्त को किसी जन्तु के शरीर में प्रविष्ट किया जावे तो उसको रोग उत्पन्न हो जायगा। प्रयोगों द्वारा कई विद्वानों ने इस बात का पता लगाया है कि यह विष रोग के आक्रमण के ६६ घण्टे पश्चात् तक रक्त में उपस्थित रहता है और बर्फ़ के भीतर रखने से उसकी रोगोत्पादक शक्ति सात दिवस तक बनी रहती है।

रोग का संवहन—सन् १६०३ में ग्रैहेम महाशय ने यह खोज की थी कि क्यूलैक्स फ़ैटीजैनस जाति का मच्छर इस रोग का संवहन करता है। उसके द्वारा रोग का विष रोगी के शरीर से स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में पहुँचकर उसको रोगाक्रान्त कर देता है। कुछ दूसरे विद्वानों ने भी इस मत का समर्थन किया है। किन्तु इसके विरुद्ध क्लीलैंड, बैडले, मैकडानल्ड और आर्चविल्ड का यह मत है 'स्टेगोमाया फ़ेसियेटस' जाति के मच्छर द्वारा रोग का संवहन होता है; रोगाक्रमण से तीन घण्टे पूर्व और तीन दिन पश्चात् तक काटने से मच्छर में रोग उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है और आयु-पर्य्यन्त बनी रहती है।

सन् १६०६ और १६०६ में कर्नल मेगौ ने अनेक खोजों द्वारा यह मत प्रकट किया कि तीन दिन, छः दिन, या सात दिन के अनेकों ज्वर

वास्तव में डैंगू ज्वर की ही भिन्न जातियाँ हैं। इस कारण उन्होंने इन सबों को डैंगू-समूह मे सम्मिलित किया है।

डैंगू ही के समान ज्वर मरु मक्षिका के द्वारा उत्पन्न होता है। किन्तु उसमें दो बार ज्वर नहीं आता और न शरीर पर लालिमा और दाने ही प्रगट होते हैं।

प्रतिषेध——रोग को रोकने के लिए रोगी को मसहरी या ऐसे कमरे में, जहाँ मच्छर न जा सकें, रखना चाहिए। रोग-मुक्त होने पर भी कुछ समय तक इसी प्रकार रहना उचित है।

मच्छरो का नाश करना भी आवश्यक है। स्टेगोमाया प्रायः पीपो में भरे हुए जल में अण्डे देते हैं। इस कारण मकान मे या उसके चारों ओर एकत्र जल को और जल संग्रह-स्थानों को नष्ट करना चाहिए। मैलेरिया के सम्बन्ध मे बताये हुए अन्य उपायों को भी काम मे लाना चाहिए।

फ़ाइलेरिया

यह रोग हमारे देश के कुछ विशेष भागों मे अधिक पाया जाता है। उड़ीसा के दक्षिण, तराई और मद्रास की ओर यह रोग बहुत होता है। ताप-क्रम और वायुमण्डल की आर्द्रता रोग के उत्पन्न होने मे विशेष सहायक होते हैं।

रोग का कारण——इस रोग का कारण 'निमेटोड'[१] जाति और 'फ़ाइलेरिडी'[२] परिवार का एक कृमि होता है। यह कृमि मच्छर के काटने से शरीर की रक्त-वाहिनी नलिकाओं में पहुँचकर उनको अवरुद्ध कर देता है। ये रक्त-नलिकाओं, रसायनियों, संयोजक धातु और लसीका गुहाओं में पाये जाते है। इनकी कई उपजातियाँ होती हैं। किन्तु उनमें से इस रोग के सम्बन्ध में फ़ाइलेरिया बैंक्रोफ्टाई[३], फ़ाइलेरिया लोआ[४], फ़ाइलेरिया पर्सटान्स[५], और फ़ाइलेरिया डेमार्कुवाई[६] विशेष हैं। फ़ाइलेरिया ओक्यूलाई[७] नेत्र में पाया जाता है। फ़ालेरिया लोआ चर्म के नीचे स्थित

---

१. Nomatode २. Filaridae. ३. Filaria Bancrofti. ४. F. Loa. ५. F. Perstans. ६. F. Demurquayi. ७. F. Oculi.

पश्चात् वह चर्म से भीतर की ओर जाना आरम्भ कर देते है। प्रातःकाल होने पर एक भी कृमि चर्मगत रक्त मे नहीं पाया जाता।

संवाहक मच्छर—इस कृमि का संवहन क्यूलैक्स फ़ैटीजैनस नामक मच्छर के द्वारा होता है। मनुष्य के शरीर मे भ्रूणो की और अधिक वृद्धि नही होती। उनकी वृद्धि के लिए मच्छर की आवश्यकता होती है। अतएव जब रात्रि के समय ऊपर कही हुई जाति का मच्छर आक्रान्त व्यक्ति को काटता है तो भ्रूण रक्त के साथ मच्छर के शरीर में चले जाते है।

यह मच्छर विशेषकर रात्रि ही के समय काटता है। सम्भव है कि भ्रूणो के चर्म के रक्त मे चले आने का यही कारण हो। यह पाया गया है कि संसार के उन भागों में, जिनमें आश्रयदाता मच्छर दिन में काटता है, भ्रूण दिन में भी चर्मगत रक्त मे रहते हैं।

मच्छर के आमाशय मे पहुँचकर भ्रूण के ऊपर का आवरण उतर या गल जाता है और भ्रूण तेज़ी के साथ गति करने लगता है। वह आमाशय की भित्ति का छेदन करके भित्ति के भीतर होते हुए वक्ष की पेशियों के भीतर पहुँच जाते हैं जहाँ उनकी वृद्धि होती है। यहाँ पर उनके मुख और पूँछ बनते हैं। वहाँ से वह मच्छर के मुख के भागों में पहुँच जाते हैं। जब मच्छर किसी व्यक्ति को काटता है तो यह भ्रूण उस व्यक्ति के शरीर में चले जाते हैं जहाँ वह रसायनियों और लसीका ग्रन्थियों में रहते हैं। वहाँ से वह मुख्य रसायनी और रक्त में पहुँचते हैं और पूर्ण कृमि बनकर रस या रक्त-नलिकाओं में अवरोध उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार फिर चक्र चलता है।

भ्रूण को मच्छर के रूप में आने में, तापक्रम और आर्द्रता के अनुकूल होने पर, १० से १४ दिन लगते हैं। दशाओं के प्रतिकूल होने पर ६ या ७ सप्ताह तक लग जाते हैं।

प्रतिषेध के उपाय—मैलेरिया के समान मच्छरों के नाश का उपाय करना चाहिए। उनके उत्पन्न होने के जितने स्थान हों उनको नष्ट करने का पूर्ण प्रयत्न आवश्यक है। जो लोग रोग से ग्रस्त हों वह

सदा मसहरी के भीतर सोवें। जिन स्थानों मे यह रोग फैलता है वहां पर स्वस्थ व्यक्तियों को भी सदा मसहरी के भीतर सोना चाहिए।

पीत ज्वर

यह रोग उष्ण प्रदेशों मे होता है। वेस्ट इंडीज़ और पश्चिमी अफ्रीका इस रोग के केन्द्र-स्थान हैं। यह समुद्र के किनारे या बड़ी नदियों के मुहानों पर अधिक होता है जहां से वह अन्य स्थानों में फैलता है। यह पाया गया है कि जब तक वायु-मण्डल का तापक्रम ६१° फ़ै० से ऊपर न होगा तब तक यह रोग न फैलेगा। आर्द्रता के अधिक होने से रोग के फैलने मे सहायता मिलती है।

रोग का कारण—इस रोग को उत्पन्न करनेवाले जीवाणु का जापान के महाशय नगूची ने सन् १९१८ में पता लगाया था। यह जीवाणु लम्बा और वेल्लीतक आकार का होता है। इसके शरीर में दो या तीन स्थानों पर मुड़ाव होता है। यह जीवाणुओ की स्पायरोकीट[1] जाति का सदस्य है और इसको लैप्टोस्पाइरा इक्टरोइडीज[2] कहा जाता है। यह अत्यन्त कोमल और गति-सम्पन्न होता है और रक्त के सीरम, यकृत् और वृक्क में मिलता है। किन्तु चर्मगत रक्त में यह रोग के केवल आरम्भिक तीन दिनों में रहता है।

स्त्री, पुरुष, वृद्ध, युवा सबों को यह रोग समान होता है।

सम्प्राप्ति-काल साधारणतया ५ दिन है। किन्तु कभी-कभी ३६ घण्टे और १३ दिन तक होता देखा गया है।

रोग का संवहन—स्टेगोमाया फ़ेशियेटा नामक जाति का मच्छर रोग का संवहन करता है। जब यह मच्छर रोग के प्रारम्भिक तीन दिनों में काटता है तो रोग का जीवाणु उसके शरीर में चला जाता है जहां उसकी वृद्धि होती है। बारह दिन के पश्चात् मच्छर में रोग उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। यह वह समय है जो जीवाणु की वृद्धि के लिए आवश्यक

---

१. Spirochaete २ Leptospira icteroides.

है। यदि मच्छर रोगी को काटने के पश्चात् १२ दिन से पूर्व किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटेगा तो उसको रोग नहीं होगा। तत्पश्चात् मच्छर आयुपर्य्यन्त रोग उत्पन्न कर सकता है।

मच्छर——इस जाति के मच्छर की रचना का कुछ वर्णन प्रथम ही किया जा चुका है। स्त्री मकान के भीतर ही टूटे हुए बर्त्तन, पीपे इत्यादि में एकत्र जल मे अण्डे रखती है। वह प्रत्येक बार २५ से ७५ तक अण्डे देती है, जो दशाओ के अनुकूल होने पर १० घण्टे से ३ दिन में लार्वा बन जाते हैं। ये छः या सात दिन में प्यूपा में परिणत हो जाते है, जिनसे ३६ से ४८ घण्टे मे पूर्ण मच्छर निकल आता है।

यह मच्छर बिल्कुल घरेलू होता है और इस कारण उत्पत्ति-स्थान से बहुत दूर नहीं जाता। यह दिन मे तीसरे पहर या सन्ध्या के समय काटता है। यह किसी प्रकार का शब्द नहीं करता; आक्रमण के समय धीरे से आकर प्रायः घुटने या टखने इत्यादि स्थानों को काट लेता है। यदि यह स्थान ढके होते हैं तो वह वस्त्रों के नीचे नीचे ऊपर ऊरु या जंघाओ तक पहुँचकर वहाँ पर काटता है। इसके काटते समय किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती। इस कारण यह मच्छर दूसरे मच्छरों की अपेक्षा अधिक भयङ्कर है। यह पाया गया है कि ताप-क्रम के ५६° फै० से कम होने से इस जाति के मच्छर नष्ट हो जाते हैं।

लक्षण——रोग अकस्मात् आरम्भ होता है। ज्वर प्रथम दिन ही १०१°–१०५° तथा इससे भी अधिक हो जाता है और तीन या चार दिन तक इतना ही बना रहता है। किन्तु नाड़ी की गति ज्वर के अनुसार नहीं बढ़ती। वास्तव में दो-तीन दिन के पश्चात् वह मन्द हो जाती है। तीन या चार दिन के पश्चात् ज्वर उतर जाता है। सम्भव है वह कुछ फिर बढ़ जावे। मूत्र में अलब्यूमन आता है। तीसरे दिन पर प्रायः कामला और वमन प्रारंभ हो जाते हैं। वर्ण बिल्कुल पीला हो जाता है। उदर में पीड़ा होती है। कभी-कभी रक्त-युक्त वमन होता है जिससे वमन का रङ्ग काला होता है। आमाशय, अन्त्रियाँ, मसूढ़ों इत्यादि से रक्त-स्राव होता है।

रोग-क्षमता—एक बार आक्रमण से चिरस्थायी रोग-क्षमता उत्पन्न होती है।

प्रतिषेध—मच्छरों का नाश करना रोग के प्रतिषेध का मुख्य उपाय है। रोगी को मसहरी मे सुलाना चाहिए। पानी के बर्तन सदा ढके रहे। गड्ढों इत्यादि को नष्ट करना आवश्यक है।

रोगी को पृथक् करना भी एक मुख्य उपाय है। जिस कमरे में उसको रखा जावे वह यदि लोहे की बारीक जाली से ढका हो तो बहुत उत्तम है।

इस रोग के लिए नगूची महाशय ने एक वैक्सीन तैयार की है। उनकी सम्मति है कि २ सी० सी० वैक्सीन के १० दिन के अन्तर पर दो बार इंजेक्शन देने चाहिएँ। अन्तिम इंजेक्शन के १५ दिन के पश्चात् रोग-क्षमता उत्पन्न होती है।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

मक्खी

मक्खी अपने गन्दे स्वभाव के कारण अनेकों रोग उत्पन्न कर सकती है। आन्त्रिक ज्वर, विशूचिका, प्रवाहिका और अतिसार फैलाने मे तो यह विशेष भाग लेती है।

मक्खियाँ संसार भर में पाई जाती है, किन्तु उष्ण प्रदेशो में अधिक होती हैं। वर्षा ऋतु में इनकी संख्या विशेषतया अधिक हो जाती है।

चित्र नं० १००

ग्रीष्म ऋतु आरम्भ होने पर मक्खी पाँच या छः बार अण्डे देती है और प्रत्येक बार १००, १५० से कम अण्डे नहीं उत्पन्न करती, जिनसे लगभग १४ या १५ दिन मे पूर्ण मक्खी तैयार हो जाती है। प्रत्येक मक्खी के उत्पत्ति-क्रम की निम्न-लिखित चार अवस्थाएँ होती हैं।

(१) अण्डे—इनकी संख्या १०० से १५० तक होती है। प्रत्येक अण्डे का एक सिरा नोकीला और दूसरा चपटा होता है। इनकी लम्बाई १·५ और चौड़ाई ०·३ मि० मी० होती है। इनको साधारण नेत्रो से देखा जा सकता है। मक्खी प्रायः अण्डों को गोबर या घोड़े इत्यादि की लीद में रखती है। किन्तु हमारे देश में मक्खी को मनुष्य के मल में भी अण्डे रखते पाया गया है। इनका रङ्ग अत्यन्त श्वेत और चमकदार होता है। इन पर एक लसदार पदार्थ चढ़ा रहता है। वायु-मण्डल के ताप के अनुकूल होने पर अण्डों से रेंगनेवाले लार्वे आठ घण्टे में उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु दशाओं के प्रतिकूल होने पर चौबीस घण्टे तक लग जाते हैं।

(२) **लार्वा या मैगट**—यह लार्वा श्वेत रङ्ग के, पतले कीड़ों के समान, होते हैं। इनके किसी प्रकार के पांव नहीं होते। अतएव यह
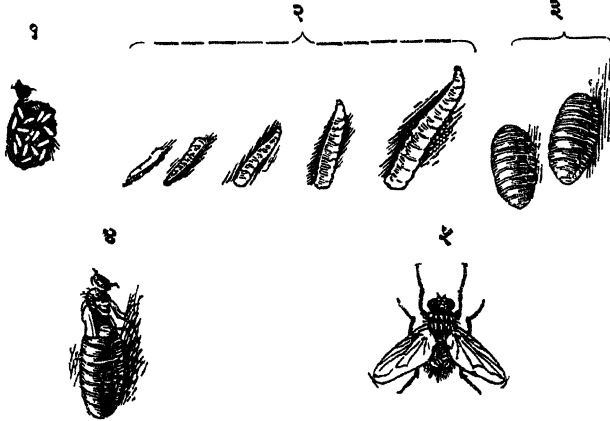
चित्र नं० १०१

१. अण्डे। २. लार्वा अथवा मैगट (रेंगनेवाले)। ३. प्यूपा (भूरे रङ्ग के निश्चेष्ट जन्तु)। ४. प्यूपा के आवरण से मक्खी निकल रही है। ५. पूर्ण मक्खी।

रेंगकर चलते हैं। इनका शरीर भी एक ओर से नोकीला और दूसरी ओर से चपटा होता है। यह नोकीले ओर ही से चलते हैं। उसी ओर इन का मुख होता है। इनकी लम्बाई लगभग आध इंच के होती है। श्वास लेने के लिए शरीर के दोनों ओर दो छिद्र होते हैं जिनके द्वारा वह वायु ग्रहण करते हैं। उनमें खाने और खोदने की शक्ति बहुत होती है। यह देखा गया है कि दो फुट और कभी-कभी इससे भी अधिक गहराई से भूमि को खोदकर वह ऊपर आ जाते हैं। यह अवस्था चार या पांच दिन रहती है।

कुछ जाति की मक्खियाँ मनुष्य के चर्म और घावो में अण्डे रख देती हैं। इन अण्डों से रेंगनेवाले लार्वे, जिनको मैगट कहते है, उत्पन्न हो जाते हैं।

यह मैगट घाव के चारों ओर के मांस में छिद्र कर देते है और उनके भीतर घुस जाते हैं। इनमे मांस को भेदकर प्रविष्ट होने की बहुत शक्ति होती है। वह अस्थि के भीतर तक पहुँचते हुए देखे गये हैं। नाक या कान के द्वारा मस्तिष्क मे पहुँचकर वह आक्रान्त व्यक्ति की मृत्यु का कारण हो सकते है।

(३) **प्यूपा या क्रिसेलिस**[1]—यह तीसरी अवस्था है जो पांचवे या छठे दिन पर उत्पन्न होती है। लार्वा के ऊपर एक भूरे रङ्ग का कड़ा आवरण चढ़ जाता है। उनका आकार लकड़ी के पीपों के समान होता है; अर्थात् बीच मे से मोटा और दोनों सिरों की ओर पतला। इनमें गति नहीं होती। इनका रङ्ग प्रथम पीला होता है। किन्तु वह अन्त को भूरा हो जाता है। इनकी वृद्धि के लिए शुष्क वायुमण्डल और अधिक ताप की आवश्यकता होती है। साधारणतया यह अवस्था ५ से ७ दिन तक रहती है। इस समय में लार्वा अवस्था के कुछ अङ्गो का नाश होता है और नवीन अङ्ग बनते हैं। दशाओं के अनुकूल होने पर ५ से ७ दिन के पश्चात् आवरण फट जाता है और भीतर से पूर्ण किन्तु छोटी कोमल मक्खी निकलती है।

(४) यह **सूक्ष्म मक्खी** आवरण को पूर्व ओर से फाड़कर निकलती है। इसको धूप की आवश्यकता होती है। एक या दो घण्टे के पश्चात् वह उड़ने लगती है।

इस प्रकार उत्पन्न होने के सात या आठ दिवस के पश्चात् मक्खी अण्डे देने योग्य हो जाती है। यह पाया गया है कि इनकी संख्या की वृद्धि वायु-मण्डल के ताप और आर्द्रता पर निर्भर करती है। जब ताप और आर्द्रता दोनों अधिक होते हैं, जैसे कि जुलाई या अगस्त के दिनों में, तो मक्खियों की उत्पत्ति बहुत होती है। यही कारण है कि वर्षाकाल में विशूचिका रोग अधिक फैलता है।

मक्खियाँ अधिक ठण्ड नहीं सहन कर सकतीं। इसलिए शरद् ऋतु के आरम्भ होते ही उनका नाश होने लगता है। जो गरम स्थानों में जाकर छिप

---

1. Chrysalis.

रहती हैं वह बच जाती हैं। दशाओं के अनुकूल होने पर वह चार सप्ताह से चार मास तक जीवित रह सकती हैं। साधारणतया वर्षाकाल के अन्त या अक्तूबर अथवा नवंबर में मक्खियों मे एक रोग उत्पन्न होता है जिससे उनका नाश आरम्भ हो जाता है। किन्तु तो भी उनका प्रत्येक वर्ष निश्चित समय पर नष्ट हो जाना और फिर से उत्पन्न होना एक रहस्य है जिसका अभी तक पता नहीं लगा है। कुछ विद्वानों का विचार था कि वे मरती नहीं; बल्कि कुछ कीड़ो या जन्तुओ की भाँति केवल छिप जाती हैं। किन्तु इनके छिपने के स्थानों का अभी तक पता नहीं लगा।

कुछ थोड़ी सी मक्खियों के अतिरिक्त शेष मक्खियो और विशेषकर घरेलू मक्खियों के मुख की ऐसी रचना होती है कि वह काट नहीं सकती। अतएव वह भोजन करते समय केवल चूसती हैं। इस कारण उनको तरल भोजन की आवश्यकता होती है। शर्करा मक्खियों को बहुत रुचिकर होती है। उस पर वह प्रथम अपने थूक की एक बूँद टपका देती हैं जिससे कुछ शर्करा घुल जाती है। इस घुली हुई शर्करा को वह चूस लेती है।

रोग का संवहन—मक्खियाँ रोग का संवहन अपने शरीर द्वारा केवल भोज्य पदार्थों तक करती है। काटने की शक्ति न होने के कारण वह रोग के जीवाणुओ को शरीर में नहीं प्रविष्ट कर सकतीं। उनका स्वभाव होता है कि वे मल, कूड़े और भोज्य पदार्थों पर, विशेषकर मिष्टान्न पर, अधिक बैठती है। मल इत्यादि से रोग के जीवाणु उनकी टाँग, पर, शरीर के बाल या अन्य भागों पर लग जाते है। जब वही मक्खियाँ भोज्य पदार्थों पर उड़कर जा बैठती हैं तो जीवाणु भी उनके साथ भोज्य पदार्थों तक पहुँच जाते हैं। इस प्रकार भोज्य पदार्थ जीवाणु-युक्त हो जाते हैं। इन पदार्थों को खाने से रोग उत्पन्न होता है।

मक्खियों के शरीर से जो मल या उनके मुख से थूक निकलता है उसके साथ भी जीवाणु भोज्य पदार्थों में पहुँच जाते हैं। जब मक्खियाँ किसी दूषित पदार्थ को चूसती हैं तो जीवाणु उस पदार्थ के साथ उनके आमाशय में चले जाते हैं और मक्खी के मल और वमन के साथ, जिनका भोजन के पश्चात्

वह प्रायः त्याग करती हैं, शरीर से निकलते है। अथवा वह थूक के साथ निकल-कर भोज्य पदार्थों को दूषित करते हैं। कुछ व्यक्तियों के विचार में इस प्रकार से मक्खियाँ रोग का संवहन अधिक करती हैं। अनेकों बार प्रयोग करते समय मक्खियों के मल और उनके शरीर के भीतर आन्त्रिक ज्वर, प्रवाहिका, अतिसार इत्यादि के जीवाणु मिले हैं। भिन्न-भिन्न जीवाणुओं से मिश्रित भोजन करवाने के पश्चात् वह जीवाणु कई घण्टे या दिनों तक मक्खियों के शरीर के भीतर और उनके मल मे मिल सकते हैं।

डाक्टर मोदी ने अपनी पुस्तक में ग्रैहेम स्मिथ की रिपोर्ट से एक सारणी उद्धृत की है, जो नीचे दी जाती है। उससे पता लगता है कि भिन्न-भिन्न जीवाणु-मिश्रित भोजन कराने के पश्चात् कितने समय तक मक्खी के शरीर के भिन्न-भिन्न भागों मे जीवाणु मिल सकते हैं। यह सारणी महाशय ग्रैहेम स्मिथ ने अपने किये हुए प्रयोगों के फल के अनुसार तैयार की है।

जीवाणु	टाँगे	पर	शिर	आमाशय	आन्त्र	मल
आन्त्रिक ज्वर का जीवाणु	.				६ दिन	२ दिन
आन्त्रिक शोथ ,, ,,	७ दिन	..	७ दिन	८ दिन	७ ,,	...
राजयक्ष्मा ,, ,,		.	...	३ ,,	१६ ,,	१३ ,,
श्लेष्मा से माध्यम द्वारा उत्पन्न हुए राजयक्ष्मा के जीवाणु				..	७ ,,	५ ,,
यीस्ट	२½ घण्टा	२½ घण्टा	२½ घण्टा	२ ,,	३ ,,	२ ,,
डिफ्थीरिया का जीवाणु	५ ,,	५ ,,	५ दिन	७ ,,	५ ,,	२ ,,
विशूचिका ,, ,,	३० ,,	५ ,,	५ घण्टे	२ ,,	२ ,,	३०घंटे
ऐंथ्रेक्स ,, ,,	२ दिन	..	४ दिन	५ ,,	३ ,,	२ दिन
प्रौडीजियोसस जीवाणु	८ ,,	१२ घण्टे	११ ,,	५ ,,	१७ ,,	६ ,,
ऐंथ्रेक्स के स्पोर	२० ,,	२० दिन	२० ,,	१३ ,,	२० ,,	१३ ,,

साधारण घरेलू मक्खी के अतिरिक्त एक छोटी मक्खी होती है जिसको 'फ़ैनिया केनीक्यूलेरिस'[1] अथवा छोटी मक्खी कहते है। यह रूप में बड़ी मक्खी ही के समान होती है। केवल आकार मे उससे छोटी होती है। यह सड़ते हुए वानस्पतिक या जान्तव पदार्थों में और कभी-कभी मल और कूड़े में भी अण्डे देती है। उनसे जो लार्वा बनते हैं उनका आकार साधारण मक्खी के लार्वों से भिन्न होता है।

यह मक्खियाँ बहुत दूर तक उड़कर जा सकती है। उनके दूर जाने मे वायु के प्रवाह से विशेष सहायता मिलती है। कुछ मक्खियों को एक ऐसे थैले में भर दिया गया जिसमे लाल रङ्ग का अत्यन्त बारीक चूर्ण भरा हुआ था। इससे वह चूर्ण मक्खियो के पर, टाँगो इत्यादि पर लग गया। तत्पश्चात् उनको छोड़ दिया गया। और उनके पकड़ने के लिए विशेष निश्चित दूरी पर कई स्थानो में जाल रख दिये गये। एक मक्खी १३ मील दूर रखे हुए जाल में पकड़ी गई। इस प्रकार के प्रयोगो द्वारा यह अनुमान लगाया गया है कि मक्खी एक दिन में छ. मील तक उड़कर जा सकती है। रेलगाड़ी के द्वारा मक्खियां बहुत दूर तक चली जाती हैं।

मक्खियों के नाश का उपाय—मक्खियाँ गन्दे स्थानों, मल, गोबर, लीद, कूड़े इत्यादि में उत्पन्न होती हैं। इस कारण स्थानों की स्वच्छता ही मक्खियों के नाश का मूल साधन है। नगर से कूड़ा-करकट, मल, गोबर इत्यादि के पूर्ण और शीघ्र दूरीकरण का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए। कोई भी स्थान गन्दा न रहने पावे। मकान का कूड़ा जला देना अत्युत्तम है। यदि नगर में कहीं कूड़े इत्यादि का ऐसा ढेर लगा हो जिसको तत्काल दूर करना असम्भव हो तो उस पर मिट्टी का तेल डालना चाहिए। मक्खियों के उत्पत्ति-स्थानों को ढूँढ़-ढूँढ़कर मिट्टी के तेल द्वारा या अन्य प्रकार से नष्ट करना आवश्यक है। मक्खियों की वृद्धि के दिनो में मकान की खिड़कियाँ या दरवाज़ो पर जाली या जाली के दोहरे किवाड़ लगा देने चाहिएँ

---

१. Fannia Cannicularis or lesser Housefly.

जिससे मक्खी भीतर न आने पावे। मक्खियों को मारने के लिए बाज़ार में कितनी ही रासायनिक वस्तुएँ बिकती हैं। उनके प्रयोग से जहाँ तक हो सके, मक्खियों का नाश करना चाहिए।

काटनेवाली मक्खियाँ—कुछ मक्खियां ऐसी भी होती है जिनमें काटने और रक्त चूसने की शक्ति होती है। यह मक्खियाँ मनुष्यों और पशुओं को काटकर उनके रक्त द्वारा अपना पोषण करती हैं। स्त्री और पुरुष दोनों रक्त चूसते हैं। उसी के अनुसार इनके मुख की रचना भी होती है। मच्छर की भांति मुख के सामने से एक लम्बी, पतली और कड़ी शलाका निकली रहती है जिसके द्वारा मक्खी चर्म का भेदन करती है। साधारण मक्खियों मे यह अङ्ग नहीं होता।

इन मक्खियों में स्टोमाक्सिस[1] और ग्लौसिना[2] दो जाति की मक्खियां रोग फैलाने मे विशेष भाग लेती हैं। प्रथम जाति की मक्खियाँ—जिनको पशुशाला की मक्खियाँ भी कहते है—पशुशालाओं, मकानों या जहाँ कहीं पशु रहते हैं वहाँ पाई जाती है। यह घोड़ों को बहुत काटती हैं, मनुष्य और अन्य पशुओ पर भी आक्रमण करती हैं। पशुओ मे इनके द्वारा घातक विस्फोट[3] और सर्रा[4] नामक रोग उत्पन्न होता है। मनुष्यों में ऐंथ्रेक्स रोग का इसी मक्खी के द्वारा फैलना माना जाता है।

यह मक्खी आकार में बहुत कुछ साधारण मक्खी के समान होती है। किन्तु उसके शिर मे आगे की ओर चमकता हुआ कड़ा भेदक अंग होता है। इसके अतिरिक्त जब वह किसी स्थान पर बैठती है तो उसका शिर ऊपर की ओर रहता है। पर दोनों ओर पार्श्व में फैले रहते हैं। साधारण मक्खी परों को पीछे की ओर फैलाये रहती है। इस जाति की मक्खी साधारणतया घास के ढेर, जिसमें कुछ जल भी हो, या सड़ते हुए

---

१. Stomoxys. २. Glossina. ३. Malignant Pustule
४. Surra

जान्तव पदार्थों मे अण्डे देती है। यह अण्डे श्वेत रङ्ग के, एक ओर से चपटे और पीछे या पूँछ की ओर से कुछ मुड़े हुए होते हैं। तीन या चार दिन में इनसे लार्वा बन जाते है, जो बहुत कुछ साधारण मक्खी के लार्वों के समान होते हैं। यह दशाओं के अनुकूल होने पर दो या तीन सप्ताह में प्यूपा में परिणत हो जाते हैं जो ५ मिलीमीटर के लगभग लम्बे और कुछ भूरे रङ्ग के होते हैं। ६ से १० दिन के पश्चात् प्यूपा से पूर्ण मक्खी बन जाती है।

ग्लैासिना—इस जाति मे सटसी मक्खी विशेष होती है। इसका शरीर लम्बा और रङ्ग कुछ गहरा हरा या भूरा होता है। इसकी लम्बाई
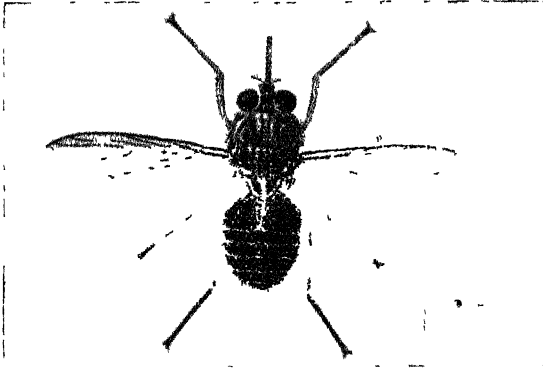
चित्र नं० १०२—ग्लैासिना सटसी जाति की पैल्पेलिस मक्खी

३½ से ४ और किसी-किसी जाति की ५½ इंच तक होती है। शिर के आगे से कड़ा पतला भेदक अङ्ग निकला रहता है। शरीर के पिछले भाग पर गहरे भूरे रङ्ग की रेखाएँ होती हैं। पुरुष में उदर प्रान्त के अन्त पर जननेन्द्रियाँ होती है जो एक बड़ी सी ग्रन्थि के समान दीखती है। स्त्रियों में इस स्थान पर कुछ नहीं होता।

यह मक्खी अन्य मक्खियों की भाँति अण्डे नहीं देती। इसके शरीर ही में अण्डों से लार्वे बन जाते हैं। एक बार में केवल एक ही लार्वा निकलता है। १५ दिन के पश्चात् दूसरा लार्वा निकलता है। यह लार्वे शरीर के भीतर सारे उदर को भरे रहते हैं। प्रत्येक लार्वा हलके पीले रङ्ग का और कुछ गोल होता है। उसके आगे की ओर दो छोटे छोटे, हुक की भाँति, कड़े प्रवर्धन निकले रहते है। पीछे के सिरे पर दो उत्सेध होते हैं जिनके द्वारा वायु भीतर जाती है।

मक्खी इन लार्वों को प्रायः ऐसे स्थानों में, जहाँ घने वृक्ष या अन्य वनस्पतियाँ हों, रखती है। यह लार्वे माता के शरीर से निकलकर वृक्षों की जड़ों इत्यादि में, जहाँ वह धूप से बचे रहें, छिप जाते हैं। कुछ घण्टे के पश्चात् लार्वे का रङ्ग गहरा काला हो जाता है और वह प्यूपा मे परिणत हो जाता है। प्यूपा से ६ से ९ सप्ताह में पूर्ण मक्खी उत्पन्न होती है।

यह मक्खी अफ्रीका और अरब के दक्षिण-पश्चिमी भाग मे बहुत होती है। प्रायः ऐसे स्थानों में—जैसे, नदियों के किनारे, तालाब, झीलो के किनारे जल भरे हुए गढ़े, तराई, पर्वतों की तलहटी इत्यादि में—यह मक्खियाँ अधिक पाई जाती हैं। स्त्री और पुरुष दोनों ही रक्त चूसनेवाले होते हैं और मनुष्य और पशुओं पर बार-बार आक्रमण करते हैं। यह मक्खियाँ प्रायः दिन मे काटती है। उनके काटने से पीड़ा होती हैं। किन्तु यदि मक्खी मे संक्रमण उपस्थित नहीं है तो उसके काटने से कोई बुरा परिणाम नहीं होता। यह मक्खी रोगी को काटने के पश्चात् लगभग ८० दिवस तक रोग का संवहन कर सकती है।

निद्रालु रोग[1] का संवाहक इसी मक्खी को माना जाता है।

स्वास्थ्य के लिए मक्खियों का नाश अत्यन्त आवश्यक है। इसके उपायों का संक्षेप से पहिले वर्णन किया जा चुका है। इनको नष्ट करने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि उनके उत्पत्ति-स्थानों को नष्ट कर दिया जावे। इस

१. Sleeping Sickness

कारण मकान के भीतर और बाहर पूर्ण स्वच्छता रखनी चाहिए। पाख़ाने, मोरी इत्यादि विशेषतया स्वच्छ रहने चाहिएँ। मल और कूड़े का नगर से तत्काल और पूर्ण बहिष्कार आवश्यक है। पशुशालाओं को भी इसी प्रकार स्वच्छ रखना चाहिए। मक्खियों को मारने के लिए जो बाज़ार मे अनेक प्रकार की वस्तुएँ मिलती हैं उनका प्रयोग करना उचित है। फ़ारमेल्डीहाइड का २ % का घोल थोड़े दूध मे मिला प्यालों में भरकर कमरो मे रख देना चाहिए। दूसरे पात्रों को उनका मुँह बन्द करके रक्खा जाय। मक्खियों को प्यास बहुत सताती है। इस कारण जल के न मिलने से वह फ़ारमेल्डीहाइड मिले हुए दूध पर बैठेंगी और मर जायँगी।

आन्त्रिक ज्वर

यह रोग सारे संसार में पाया जाता है, भारतवर्ष, जापान, चीन, फ़िलिपाइन, मलाया, मौरिशस, दक्षिणी अफ़्रीका, ऐलजीरिया इत्यादि देशों मे तो बहुतायत से होता है। वह पश्चिमी ठण्डे देशों मे पूर्वी उष्ण देशो की अपेक्षा कम होता है। जो लोग योरप से प्रथम बार भारतवर्ष या अन्य उष्ण देशो में जाते हैं वह अधिक रोगग्रस्त होते हैं। किन्तु कुछ काल तक इन देशो मे रहने के पश्चात् रोग की प्रवृत्ति कम हो जाती है। जो इन देशों के निवासी हैं वह प्रायः क्षम्य होते है। सम्भव है कि उनमें बाल्यकाल में रोग के आक्रमण से क्षमता उत्पन्न हो गई हो, अथवा संक्रमित व्यक्तियों के सम्पर्क से शरीर में रोग-निवृत्ति की शक्ति आ गई हो। इन देशों के निवासियों को जब रोग होता भी है तो उतना भयङ्कर नहीं होता जितना योरप इत्यादि से तुरन्त आये हुए लोगों को होता है।

रोग का कारण—इस रोग को उत्पन्न करनेवाला एक जीवाणु होता है जिसको आन्त्रिक ज्वर का जीवाणु अथवा 'बैसिलस टाइफ़ोसस'[1] कहते हैं। यह छोटा, मोटा और गति-सम्पन्न होता है। इसके शरीर से सूक्ष्म

१. Bacillus Typhosus.

बाल सरीखे तन्तु निकले रहते हैं जिनको 'फ्लैजिला'[१] कहा जाता है। इसके दोनों सिरे गोल होते हैं। भिन्न-भिन्न पोषक या माध्यमों मे इसकी उत्तम वृद्धि होती हैं। जल मे भी यह जीवित रह सकता है। शुष्क दशाओं में यह कई मास तक जीवित पाया गया है। बर्फ़ मे भी वह कई सप्ताह तक जीवित रहता है। शुष्क धूल मे मिला देने पर भी कई सप्ताह तक वह अपनी रोगोत्पादक शक्ति को पूर्ववत् बनाये रखता है।

जीवाणु रोगी के मल, मूत्र, वमन, रक्त, स्वेद और श्लेष्मा मे मिलता है। वह मृत्यु के पश्चात् अन्त्रियों की लसीका ग्रन्थि, प्लीहा, पित्ताशय या अन्य अङ्गों में मिल सकता है।

इस जीवाणु के अतिरिक्त प्रकृति में दो और ऐसे जीवाणु मिलते हैं जो आकार मे आन्त्रिक ज्वर के जीवाणुओं के समान हैं, किन्तु उनके द्वारा उत्पन्न हुए रोग के लक्षण भिन्न होते हैं। इनको 'बैसिलस पैराटाइफ़ाइड[२]–ए' और 'बैसिलस पैराटाइफ़ाइड[३]–बी' कहते हैं। प्रथम जीवाणु भारतवर्ष में और दूसरा योरप में अधिक पाया जाता है। इनके द्वारा उत्पन्न रोग आन्त्रिक ज्वर के समान भयङ्कर नहीं होते।

संक्रमण की विधि—रोग का जीवाणु सामान्यतया भोज्य पदार्थों के द्वारा शरीर के भीतर पहुँचता है। दूध, मिठाई, फल या अन्य पदार्थ सब रोग के जीवाणु को शरीर में प्रविष्ट कर सकते हैं। जीवाणु द्वारा संक्रमित जल रोग उत्पन्न करता है। मक्खी, उँगली और भोजन[४] इन तीनों को रोग का संवाहक कहा जाता है। मक्खी अपने शरीर द्वारा अथवा अपने मल या वमन द्वारा रोग के जीवाणुओं को भोज्य पदार्थों तक पहुँचा देती हैं जिनके प्रयोग करने से रोग उत्पन्न होता है। उँगलियों द्वारा भी इसी प्रकार रोग के जीवाणु मुख में होकर शरीर के भीतर प्रविष्ट होते हैं। यह कई बार देखा गया है कि आन्त्रिक ज्वर के रोगी की सेवा करनेवाले लोग रोगी से

---

१. Flagella. २. Bacillus Paratyphoid—A. ३. B. Paratyphoid—B. ४. Finger, Food, Flies.

संक्रमित होकर रोग-ग्रस्त हो गये हैं। अस्पतालों में कई बार ऐसा हुआ है कि आन्त्रिक ज्वर के रोगी द्वारा प्रयुक्त शय्या पर रहनेवाला दूसरा रोगी भी आन्त्रिक ज्वर का ग्रास बना है। इस प्रकार रोग सीधे सम्पर्क से भी हो सकता है।

रोग के जीवाणु का संवहन रोगी के मल, मूत्र इत्यादि ही से भिन्न-भिन्न संवाहकों द्वारा होता है। कभी-कभी यह संक्रमण जल-प्रवाह के साथ बहुत दूर पर स्थित ग्रामो में फैल जाता है। रोगी के मल-मूत्र को नदी इत्यादि में डाल देने से ऐसा होता है। जिस जल में रोग के जीवाणु सम्मिलित होते हैं उसके पीने या उसमें केवल फल इत्यादि के धोने से अथवा स्नान करने से रोग उत्पन्न हो सकता है।

कुछ व्यक्तियों की अन्त्रियों में रोग के जीवाणु, उनको बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये, बहुत समय तक बने रहते है। यह लोग **रोग के वाहक** कहलाते हैं। ये व्यक्ति रोग फैलाने में बहुत भाग लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों को रसोई पकाने के काम पर कभी नियुक्त न करना चाहिए। कुछ व्यक्तियों में रोग के आक्रमण के २० या ३० वर्ष पश्चात् तक अन्त्रियों में रोग के जीवाणु उपस्थित पाये गये हैं।

कुछ विद्वानों का विचार है कि खटमल भी रोग का संवहन कर सकता है। खटमल के शरीर के भिन्न भागों में यह जीवाणु उपस्थित मिले हैं।

ऋतु—हमारे देश मे यह रोग ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में अधिक फैलता है। शरद् ऋतु के प्रारम्भिक काल मे भी रोग होते देखा गया है।

आयु—यह रोग छोटी आयु में अधिक होता है। सबसे अधिक १५ और २५ वर्ष के बीच मे होता है। साधारणतया सब आयु के व्यक्तियों में रोग पाया जाता है। २५ वर्ष के पश्चात् चार गुना कम होता है।

जाति—स्त्री, पुरुष अथवा भिन्न-भिन्न जातियों के व्यक्तियों को रोग समान रूप से होता है। कोई जाति रोग से बिलकुल क्षम्य नहीं है। जो लोग भारतवर्ष में योरप से प्रथम बार आते हैं उनको अथवा उनके बच्चों को

रोग देश-निवासियों की अपेक्षा चार गुणा अधिक होता है। कुछ व्यक्तियों में रोग के प्रति सहनशक्ति जन्मतः ही अधिक होती है। रोग के एक आक्रमण से शरीर में क्षमता उत्पन्न हो जाती है, यद्यपि वह पूर्ण नहीं होती। यह क्षमता रोग के कुछ ही समय के पश्चात् घट जाती है, किन्तु थोड़ी-बहुत आयु पर्य्यन्त बनी रहती है। एक वर्ष मे एक ही व्यक्ति को रोग के दो आक्रमण होते देखे गये हैं।

सम्प्राप्ति-काल साधारणतया १२ से १४ दिन है। किन्तु यह चार या पाँच दिन से लेकर ३० दिन तक हो सकता है।

लक्षण—इस रोग की एक विशेष अवधि होती है। प्रायः दो, तीन या चार सप्ताह के पश्चात् रोग का अन्त हो जाता है।

रोग धीरे-धीरे आरम्भ होता है। कभी-कभी अकस्मात् शीत के साथ भी आरम्भ होते देखा गया है। शिर मे तीव्र पीड़ा होती है। अन्य रोगों की अपेक्षा इस रोग के प्रारम्भ में नासिका से रक्त-स्राव अधिक होता है। मुख और जिह्वा शुष्क रहते हैं और प्यास अधिक लगती है। ज्वर धीरे-धीरे बढ़ता है; प्रातःकाल कुछ कम हो जाता है किन्तु सन्ध्या को एक या दो डिगरी बढ़ जाता है। इस प्रकार प्रथम सप्ताह के अन्त मे १०४° या १०५° तक पहुँच सकता है। इसको "सीढ़ी के समान तापक्रम[1]" कहते हैं। कभी-कभी आरम्भ के एक या दो ही दिन में ज्वर बढ़कर १०४° या १०५° हो जाता है। अतिसार साधारणतया दूसरे सप्ताह में होता है; किन्तु कभी-कभी प्रारम्भ ही से उपस्थित होता है। मल चमकता हुआ पीला और दुर्गन्धि-युक्त होता है।

दूसरे सप्ताह में ज्वर मे घटा-बढ़ी नहीं होती। चौबीसों घण्टे एक समान रहता है। अतिसार, यदि प्रथम सप्ताह में नहीं हुआ है तो, दूसरे सप्ताह में उत्पन्न होता है। किसी-किसी रोगी को बराबर कोष्ठबद्धता रहती है। सातवें से दसवें दिन तक साधारणतया रोगी के शरीर पर गुलाबी दाने निकल आते

---

१. Ladder like rise of temperature.

हैं। इनको 'अरुणबिन्दु' कहते हैं। दबाने से वह दब जाते हैं। इनके आकार, संख्या और स्थिति में बहुत भिन्नता पाई जाती है। कभी-कभी केवल उदर या पीठ पर ८ या १० दाने निकलते है। किन्तु अधिक होने पर वह सारे शरीर को आच्छादित कर सकते हैं।

रोग के हलके होने पर तीसरे सप्ताह मे रोग के लक्षण कम होने लगते हैं। अतिसार कम अथवा बन्द हो जाता है। ज्वर भी नित्य प्रति एक या दो अंश घट जाता है और अन्त को जाता रहता है। किन्तु रोग के तीव्र होने पर तीसरे सप्ताह मे भी दूसरे सप्ताह ही के से लक्षण बने रहते हैं। चौथे सप्ताह में रोग का अन्त होता है। कभी-कभी पाँच या छः सप्ताह के पश्चात् ज्वर उतरता है।

रोग में प्लीहा बढ़ जाती है। प्रथम सप्ताह के अन्त या दूसरे सप्ताह मे उसको प्रतीत किया जा सकता है।

इस रोग मे १० से १२ प्रतिशत रोगियों की मृत्यु होती है।

रोग का प्रतिषेध

(१) तत्काल रोग-निश्चय अत्यन्त आवश्यक है।

(२) रोगी को किसी अस्पताल में पृथक् करना उचित है। यदि अस्पताल में न भेजा जावे तो मकान ही में उसका पूर्ण पृथक्करण अत्यन्तावश्यक है। रोगी को मकान के एक स्वच्छ, हवादार और अन्य भागों से दूर स्थित कमरे में रखना चाहिए। जितनी भी अनावश्यक वस्तुएँ हों वह सब कमरे से हटा दी जावें।

(३) रोगी के वमन, मल, श्लेष्मा और वस्त्र इत्यादि की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। रोग इन्हीं के द्वारा फैलता है। वमन, मल इत्यादि के लिए भिन्न-भिन्न पात्र होने चाहिएँ जिनमें रस-कपूर या कारबोलिक अम्ल का विलयन भरा रहे।

(४) रोगी जिन वस्त्रों का प्रयोग करे उनको किसी नाँद या टब में भरे हुए विसंक्रामक द्रव्य मे भिगो देना चाहिए। २४ या ४८ घण्टे के पश्चात् उनको निकालकर उबलते हुए जल से धो डाला जाय।

(५) रोगी जिन बर्तनों का प्रयोग करे उनको भी विसंक्रामक द्रव्य से स्वच्छ करना आवश्यक है। यह बर्तन किसी दूसरे व्यक्ति के उपयोग में न आने चाहिएँ।

(६) रोगी की सेवा-शुश्रूषा करनेवालों को भी सावधान रहने की आवश्यकता है। उनको प्रत्येक बार, जब वह रोगी को छुवे तो, अपने हाथों को विसंक्रामक द्रव्य से धोना चाहिए। भोजन इत्यादि के सम्बन्ध में भी सावधानी की आवश्यकता है। रोगी के कमरे मे या उसके प्रयोग किये हुए पदार्थों को खाने या पीने का पूर्ण निषेध होना चाहिए।

(७) मकान के भीतर और बाहर जो अशुद्ध वस्तुएँ पड़ी हों उनको हटवा देना उत्तम है। मकान के प्रत्येक भाग को पूर्ण स्वच्छ रखना उचित है।

(८) रोग की सूचना नगर के स्वास्थ्याध्यक्ष को तुरन्त देनी चाहिए।

(९) मकान के चारो ओर के कुँवों की अथवा जहाँ से रोगी के मकान में पीने का जल आता है उसकी परीक्षा होनी चाहिए। कुँवो मे पोटाशियम परमैंगनेट डलवाना चाहिए। जनता को रोग की सूचना देना और रोग से बचने के उपाय भी बताना आवश्यक है।

(१०) जब नगर मे रोग फैला हो तो प्रत्येक व्यक्ति को ताज़ा गरम भोजन करना चाहिए। मक्खियों से भोज्य पदार्थों की रक्षा करना बहुत आवश्यक है।

(११) मकान में रोगी के रोग-मुक्त होने पर कमरे का विसंक्रामण करने के पश्चात् उसको प्रयोग मे लाना चाहिए।

(१२) रोगमुक्त होने के पश्चात् भी रोगी के मल की समय-समय पर परीक्षा होनी चाहिए। इन्हीं व्यक्तियों मे से कुछ रोग-वाहक होते हैं, जिनके मल के द्वारा बहुत समय तक अथवा जीवन-पर्यन्त रोग के जीवाणु निकला करते हैं। यह लोग जनता के लिए अत्यन्त भयानक हैं। इनसे भोजन-सम्बन्धी कोई काम न करवाना चाहिए। इनको मकान में रखना भी दूसरों के लिए आपत्तिजनक है।

रोग का टीका—प्लेग की भाँति इस रोग को रोकने के लिए भी एक वैक्सीन बनाई गई है जिसको महाशय राइट और सेंपिल ने सन् १८९६ में बनाया था। इसमें आन्त्रिक ज्वर के मृत जीवाणु और उनके विष होते हैं।

इस वस्तु के दो इंजेक्शन दिये जाते हैं। प्रथम बार ०. ५ सी० सी० और दूसरी बार १ सी० सी० का इंजेक्शन दिया जाता है। सेना में जो वैक्सीन प्रयोग की जाती है उसके प्रत्येक सी० सी० में १०००,००००००० टाइफ़ाइड जीवाणु, ७५०००००० पैरा–टाइफ़ाइड-ए और ७५००००००० पैराटाइफ़ाइड-बी जीवाणु होते हैं। प्रथम इंजेक्शन के दस दिवस पश्चात् दूसरा इंजेक्शन दिया जाता है। इंजेक्शन के स्थान पर हलकी सी सूजन और कुछ ज्वर उत्पन्न हो जाते हैं।

योरप के महासमर में इस वस्तु का बहुत प्रयोग किया गया है और उससे उत्तम सन्तोषजनक परिणाम निकले हैं। इससे पूर्व लड़ाइयों मे गये हुए सिपाहियों की आन्त्रिक ज्वर से बहुत मृत्यु होती थी। वास्तव में कहा जाता है कि गोली और बारूद की अपेक्षा इस रोग से अधिक व्यक्तियों की मृत्यु होती थी।

राइट महाशय ने टीका लगे हुए और बिना टीका लगे हुए व्यक्तियो में रोगग्रस्त होने और मृत्यु के अङ्क निकाले हैं। उनके अनुसार टीका लगे हुए व्यक्तियों में केवल २. २५ प्रतिशत को रोग हुआ और उनमें से केवल १२ प्रतिशत की मृत्यु हुई। जिनको टीका नहीं लगा था उनमें से ५. ७५ प्रतिशत को रोग हुआ और उनमें से २१ प्रतिशत व्यक्तियों की मृत्यु हुई।

पैराटाइफ़ाइड ज्वर—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह ज्वर दो प्रकार के होते है जिनको 'ए' और 'बी' कहा जाता है। इनके जीवाणु भी, जो आन्त्रिक ज्वर के जीवाणुओं से भिन्न होते हैं, पैराटाइफ़ोसस-ए और पैराटाइ-फ़ोसस-बी पुकारे जाते है। इन रोगों के लक्षण आन्त्रिक ज्वर के समान होते हैं, किन्तु उतने तीव्र नहीं होते। रोग प्रायः १० या १५ दिन तक रहता है।

युद्ध में यह पाया गया था कि आन्त्रिक ज्वर का टीका लगाने से इन रोगों के प्रति क्षमता नहीं उत्पन्न होती। इसी कारण आजकल आन्त्रिक ज्वर के टीके के साथ इन दोनों रोगों के जीवाणु भी सम्मिलित किये जाते हैं।

प्रतिषेध—इन रोगों को रोकने के उपाय भी वही हैं जो आन्त्रिक ज्वर को रोकने के है। मकान की स्वच्छता, भोजन में सावधानी, रोगियों का पृथक्करण, मक्खियों का नाश, जल और दूध की शुद्धि, अर्थात् उबालकर पीना तथा अन्य साधन जो आन्त्रिक ज्वर के सम्बन्ध मे बताये जा चुके हैं उन्हीं के द्वारा यह रोग भी रोके जा सकते है।

इन रोगों के जीवाणुओं से बनाई हुई वैक्सीन के प्रयोग से भी बहुत लाभ होता है। आन्त्रिक ज्वर और इन ज्वरों के टीकों से उत्पन्न हुई क्षमता छः मास से १ वर्ष तक रहती है।

प्रवाहिका

यह रोग उष्ण प्रदेशों मे अधिक होता है, यद्यपि ठण्डे देशों में भी पाया जाता है। इस रोग में मल के साथ श्लेष्मा और रक्त भी आते हैं और उदर में ऐंठन होती है।

यह रोग कई कारणों से उत्पन्न हो सकता है। मैलेरिया अथवा काला-ज़ार रोगों के साथ भी यह रोग उत्पन्न हो जाता है। कई प्रकार के कृमि भी इस रोग को उत्पन्न करते हैं। साधारणतया इस रोग के दो बड़े कारण होते हैं—एक प्रवाहिका के जीवाणु, जिसको 'बैसिलस डिसैंटरी'[1] कहते हैं और दूसरा, एक कोषाणु-निर्म्मित जीव जो अमीबा अथवा 'एंटमीबा हिस्टोलि-टिका'[2] कहलाता है। इसके द्वारा उत्पन्न हुई प्रवाहिका को ऐमीबिक प्रवाहिका कहा जाता है।

ऐमीबिक प्रवाहिका—साधारणतया यह रोग सब स्थानों में पाया जाता है और सब ऋतुओं में होता है, यद्यपि ग्रीष्म ऋतु में अधिक होता है। यह रोग मरक के स्वरूप में नहीं फैलता।

---

१. Bacillus Dysenteriæ. २. Entamœba Hystolytica.

इस रोग का कारण 'ऐन्टेमीबा हिस्टोलिटिका' नामक पराश्रयी होता है। पूर्ण पराश्रयी के शरीर का व्यास ३० μ होता है। उसके शरीर के भीतर एक केन्द्र होता है जिसके चारो ओर आद्यसार[१] भरा रहता है। यह केन्द्र मे एक ओर को स्थित होता है। साधारण अमीबा की भाँति इसके शरीर से प्रवर्धन निकलते है जिनको उसके 'पाँव' कहा जाता है। इन्हीं के द्वारा ऐमीबा चलता है और शरीर की धातुओ को भेदकर उनके भीतर घुस जाता है।

यह जन्तु जल और भोजन के साथ शरीर मे प्रवेश करता है और अन्त्रियों मे पहुँचकर वहाँ शोथ और व्रण उत्पन्न कर देता है। इन्हीं से श्लेष्मा और रक्त निकलते है जो मल के साथ शरीर से बाहर आते रहते है। अन्त्रियों में व्रणो के कारण पीड़ा और ऐंठन होती है। ऐमीबा अन्त्रियों मे पेशी और अधःश्लैष्मिक स्तरो में रहता है। वह अंत्रियों से प्रतिहारिणी शिरा मे होता हुआ यकृत् में पहुँचकर वहाँ विद्रधि उत्पन्न कर सकता है।

ऐमीबा अन्त्रियों के व्रणो में उत्पत्ति करते हैं जिससे उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। वह व्रण से निकलकर अन्त्रियों मे आ जाते हैं जहाँ वह गोल, स्वच्छ, चमकीले और पारदर्शी हो जाते है। उनके भीतर १ से ४ तक केन्द्र पाये जाते हैं। यह ऐमीबा की सिस्ट[२] कही जाती हैं। यह सिस्ट मल के साथ शरीर से निकलती रहती हैं। जब यह किसी भोज्य पदार्थ के साथ अन्त्रियों मे पहुँचती हैं तो उनसे फिर ऐमीबा बन जाते हैं। वास्तव में यह सिस्ट का बनना ऐमीबा के जीवन चक्र में केवल एक अवस्था है। यह सिस्ट आमाशय के रस से नष्ट नहीं होती। जब वह आमाशय मे होती हुई अन्त्रियों में पहुँचती हैं तो वहाँ पर अग्न्याशय के रस से इनका बहिःआवरण घुल जाता है और ऐमीबा निकलकर अपना काम आरम्भ कर देता है।

यह सिस्ट रोग के पश्चात् रोगी के शरीर से मल के साथ निकलती रहती हैं। जब तक सिस्ट रोगी के मल में उपस्थित मिलें, तब तक उसको रोग-मुक्त न समझना चाहिए। इनसे रोग के पुनराक्रमण का भय रहता है।

---

१. Protoplasm. २. Cyst.

इनके द्वारा दूसरे व्यक्तियों में भी रोग फैलता है। वास्तव में यह सिस्ट ही रोग का मुख्य कारण होती है। आंत्रिक ज्वर के समान इस रोग के भी वाहक होते हैं, जिनके मल मे ऐमीबा की सिस्ट निकलती रहती है। यह व्यक्ति-समाज के लिए भयङ्कर होते है।

लक्षण—रोग के लक्षण जीवाणुज रोग के समान तीव्र नहीं होते; रोगी के उदर में पीड़ा अधिकतर बृहद् अन्त्र के प्रदेश में होती है। मलत्याग की संख्या अधिक नहीं होती। चौबीस घण्टे में तीन चार बार मल त्याग होता है, बारह बार से अधिक नही होता। रक्त और श्लेष्मा के साथ मल भी निकलता है। इस रोग के समय-समय पर आक्रमण होते रहते हैं। इस प्रकार यह रोग बहुत समय तक बना रहता है।

मल के साथ प्रायः काले रङ्ग का रक्त मिला होता है जिसके सड़ने से अत्यन्त दुर्गन्धि उत्पन्न होती है। कभी-कभी अन्त्रि में निर्जीवांगत्व[1] तक उत्पन्न हो जाता है। रोगी को ज्वर नहीं होता। कभी-कभी बिना चिकित्सा ही के रोगी स्वस्थ प्रतीत होने लगता है, किन्तु कुछ समय के पश्चात् उसको फिर रोग का आक्रमण होता है।

जीवाणुज प्रवाहिका—यह रोग एक जीवाणु के कारण उत्पन्न होता है जिसको बैसिलस डिसैन्टरी शीगा[2] और फ़्लेक्सनर[3] कहते हैं। ऐमीबा की भाँति यह जीवाणु भी रोगियों के मल से भोज्य पदार्थों द्वारा व्यक्तियों के शरीर के भीतर पहुँचकर रोग उत्पन्न करते हैं। मक्खियाँ इन जीवाणुओं को फैलाने में बहुत भाग लेती हैं। कभी-कभी एक रोगी से बर्त्तन, वस्त्र इत्यादि द्वारा भी यह जीवाणु अन्य व्यक्तियों के शरीर में पहुँच जाते हैं। दूध और जल के द्वारा भी रोग बहुत बार उत्पन्न होता है। अस्वच्छ और अपक्व भोजन, ठण्ड, दुर्बलता इत्यादि रोग के सहायक कारण हैं।

---

१. Gangrene. २. Bacillus Dysenteriæ-Shiga. ३. Flexner. Y.

लक्षण—इस रोग में ज्वर होता है जो कभी-कभी १०३° या १०४° तक पहुँच जाता है। उदर में तीव्र पीड़ा और ऐंठन होती है। मल-त्याग की संख्या, रोग की प्रबलता के अनुसार, भिन्न होती है। प्रति दिन १५ या २० से लेकर १०० या इससे भी अधिक दस्त आ सकते हैं। रोगी को शौचस्थान पर से उठना कठिन होता है। उसको प्रत्येक समय मलत्याग करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। किन्तु मलत्याग के समय केवल कुछ श्लेष्मा और रक्त निकलता है। मल का बहुत थोड़ा भाग होता है; कभी-कभी बिल्कुल भी नहीं होता। कुछ दिन के पश्चात् रक्त की मात्रा कम हो जाती है और उसमें श्लेष्मा अधिक रहता है।

इस रोग में अन्त्रियों में ऐमीबिक प्रवाहिका के समान गहरे व्रण नहीं बनते; किन्तु यतस्ततः श्लैष्मिक कला विकृत हो जाती है। उसका साधारण गुलाबी रङ्ग जाता रहता है। वह सड़ी हुई सी हरे और गहरे लाल रङ्ग की दिखाई देने लगती है।

प्रतिषेध के उपाय—यह दोनों रोग मक्खियों और अस्वच्छता के कारण फैलते हैं। इनका संवहन आन्त्रिक ज्वर ही की भाँति होता है। इस कारण जो कुछ भी आन्त्रिक ज्वर के सम्बन्ध मे कहा जा चुका है वही यहाँ भी ठीक समझना चाहिए।

जीवाणुज प्रवाहिका के मरक फैलते है। इस कारण नगर में इस रोग के फैलने पर स्वास्थ्य-कर्मचारियों को नगर की स्वच्छता और रोग को रोकने के उपाय करने चाहिएँ। कुवों को स्वच्छ करवाना, उनमें पोटाश परमैंगनेट डलवाना, मल और कूड़े को नगर से तुरन्त बाहर निकलवाना, रोगियों को पृथक् करने का विधान करना, बाज़ार मे बिकनेवाले भोज्य पदार्थों की स्वच्छता का आयोजन करना इत्यादि साधनों को तत्परता से करना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने भोजन की ओर ध्यान देना उचित है। रोग के समय में कच्चा या अधिक पका हुआ भोजन नहीं करना चाहिए। ऐसी वस्तुओ का, जिनसे पाचन-विकार उत्पन्न होने का भय हो, प्रयोग न करना चाहिए।

सारे घर की स्वच्छता और विशेषकर शौचस्थान और मोरियों की स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देना उचित है। उनको नित्य फ़िनाइल से धुलवाना चाहिए। घर के चारो ओर पूर्ण स्वच्छता का आयोजन करना आवश्यक है।

मकान में यदि किसी व्यक्ति को रोग हो जावे तो आन्त्रिक ज्वर में बताये हुए साधनों को काम मे लाना चाहिए।

अतिसार

यह रोग अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकता है। यहां पर ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में मरक के स्वरूप में फैलनेवाले रोग से प्रयोजन है।

यह रोग बच्चो को अधिक होता है। एक मास से ५ वर्ष की आयु में सबसे अधिक होता है। हमारे देश मे बच्चो की मृत्यु का सबसे बड़ा कारण यही रोग है। वृद्ध मनुष्यो मे भी यह रोग देखा गया है।

यह प्रतीत होता है कि इस रोग को उत्पन्न करने मे कई प्रकार के जीवाणु भाग लेते हैं जो सम्भवतः आन्त्रिक-समूह के सदस्य हैं। इनमें 'गार्टनर का जीवाणु'[1] और 'वेसिलस एंटेरीटाइडिस स्पोरोजिनीज़'[2] विशेष हैं।

यह रोग भी जल और मक्खियों द्वारा संवाहित होता है। रोग के जीवाणु मक्खियों और जल द्वारा भोज्य पदार्थों मे पहुँचकर उनको दूषित करते है जिनसे रोग उत्पन्न हो जाता है। कुछ वर्ष हुए लिवरपूल में डाक्टर होप ने इस बात का अन्वेषण किया था कि यह रोग उन बच्चों को अधिक होता है जिनको माता का दूध न मिलने के कारण अन्य भोज्य पदार्थ दिये जाते हैं। डाक्टर होप का कथन है कि केवल माता का दूध पीनेवाले बच्चों की अपेक्षा माता के दूध के अतिरिक्त गौ का दूध प्रयोग करनेवाले बच्चो को यह रोग पन्द्रह गुणा अधिक होता है। किन्तु जिन बच्चों को माता का दूध नहीं मिलता, केवल ऊपरी भोजन मिलता है, वह २२ गुणा अधिक रोगग्रस्त होते हैं।

---

१. Bacillus of Gartner. २. Bacillus Enteritidis Sporogenes.

प्रतिषेध—रोगी के मल-मूत्र को सदा ऐसे बर्तन में रखना चाहिए जिसमे कोई विसंक्रामक मिला हो। उनको जला देना सबसे उत्तम है। मल को किसी जलाशय या नदी में कभी न फेंकना चाहिए।

भोजन की स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। भोज्य पदार्थों को ऐसे स्थान पर रखना चाहिए जो ठण्डा और मक्खियों से सुरक्षित हो। भोजन रखने के लिए विशेष प्रकार की अलमारियाँ आती हैं जिनके भीतर तापक्रम बहुत कम रहता है। यद्यपि इनका मूल्य अधिक होता है किन्तु बच्चो के स्वास्थ्य को देखते हुए उनका प्रयोग करना उचित है।

मक्खियों से भोज्य पदार्थों की रक्षा करना और मक्खियों का नाश करना रोग से बचने का विशेष उपाय है।

विशूचिका

यह रोग, जिसको साधारणतया हैजे के नाम से पुकारा जाता है, प्रत्येक वर्ष हमारे देश मे फैलता है और सहस्रों व्यक्तियों की अकाल-मृत्यु का कारण होता है। इसके नाम ही से लोग भयभीत हो जाते हैं। यह रोग अकस्मात् होता ह; और इतना प्रबल होता है कि रोगी की एक या दो दिन में और कभी कभी केवल कुछ घण्टों मे मृत्यु हो जाती है। हमारे देश में कुछ स्थानों में तो रोग बारहों मास रहता है। बंगाल के नीचे के भाग में गङ्गा के मुहाने पर स्थित नगर या गाँवों में यह रोग सदा बना रहता है।

रोग का कारण—इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको 'विब्रियो कौलरी[1]' अथवा 'कोमा बैसिलस' कहते हैं। इस जीवाणु का सबसे पहिले सन् १८८३ में महाशय कौक ने मिस्र-देश में पता लगाया था। उसके पश्चात् यह अन्वेषणकर्त्ता कलकत्ते में आया और वहाँ पर रोगियों के मल की जाँच की। यहाँ पर भी उसको वही जीवाणु मल में उपस्थित मिले।

जीवाणु—यह जीवाणु रोगी के मल, मूत्र और वमन में उपस्थित रहते हैं। यह एक छोटा, मुड़ा हुआ अंग्रेज़ी के , के आकार का जीवाणु

१. Vibrio Cholerae.

होता है। इसकी लम्बाई राजयक्ष्मा के जीवाणु से आधी होती है, किन्तु उसकी मोटाई अधिक होती है। कभी-कभी जब दो या तीन जीवाणु एक दूसरे के साथ मिल जाते हैं तो वह बेल्लीतक आकार के दीखने लगते हैं। इसकी
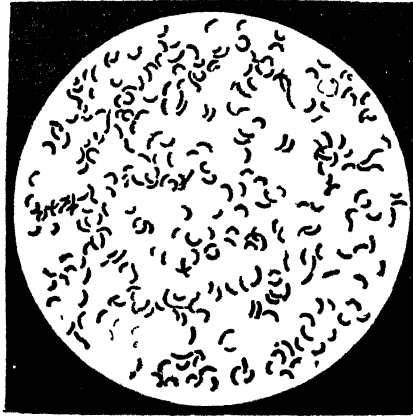
चित्र नं० १०३—विशूचिका के जीवाणु (After Mansen)

सबसे उत्तम वृद्धि ३०° और ४०° शतांश के बीच में होती है। १७° शतांश से ५०° शतांश तक भी वृद्धि होती है। किन्तु वह १५° श० से नीचे और ५०° श० से ऊपर रुक जाती है। वृद्धि के लिए इसको क्षारीय माध्यम की आवश्यकता होती है। अम्लयुक्त माध्यम में यह उत्पत्ति नहीं कर सकता। उबले हुए अण्डे, दूध, मांस, रोटी, आलू, गोभी, चुकन्दर अथवा अन्य फलों में यह उत्तम प्रकार से वृद्धि करता है। मक्खन में भी इसकी वृद्धि होती है। यह वायवीय जीवाणु है। इस कारण वृद्धि के लिए इसको आक्सिजन की आवश्यकता होती है; किन्तु आक्सिजन की अनुपस्थिति में भी थोड़ी बहुत वृद्धि हो सकती है।

अम्ल के कण से इन जीवाणुओं की शक्ति का ह्रास हो जाता है। आमाशय में अम्लयुक्त रस से यह निष्क्रिय हो जाते हैं, अथवा इनका नाश हो जाता है। इस कारण जिस समय आमाशय में भोजन उपस्थित होता

है उस समय यह जीवाणु वहाँ पहुँचकर भी रोग उत्पन्न नहीं कर सकते। आमाशय के खाली होने पर जीवाणु रोग उत्पन्न कर देते हैं। जब वह आमाशय से अन्त्रियों में पहुँच जाते हैं तो वहाँ क्षारीय माध्यमों में इनकी वृद्धि होती है।

रोग का संवहन—यह रोग प्रत्येक वर्ष विशेष ऋतुओं में फैलता है। बङ्गाल में रोग अप्रैल, मई और जून में और पञ्जाब तथा संयुक्त-प्रान्त में वर्षा ऋतु में अधिक होता है। मार्च में फिर इसका आक्रमण होता है। बङ्गाल, विहार, बम्बई और मद्रास की अपेक्षा उत्तर और उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में इस रोग से मृत्यु कम होती हैं। सन् १९१७ में पञ्जाब के उत्तर-पश्चिम ओर स्थित सरहद्दी प्रदेश मे यह रोग बिल्कुल नहीं हुआ। बर्मा में भी रोग अधिक नहीं फैलता।

यह प्रतीत होता है कि रोग के फैलने के लिए आर्द्रता और उष्णता दोनों की आवश्यकता है। इस कारण मई से लेकर अगस्त या सितम्बर तक यह रोग अधिक फैलता है। पूर्वी प्रान्तों में मई मे वर्षा आरम्भ होने के कारण आर्द्रता बढ़ जाती है।

यह रोग प्रत्येक अवस्था में स्त्री, पुरुष और बच्चों को समान रूप से होता है। ठण्ड लगना, शरीर का दुर्बल होना, अस्वच्छ स्थानों मे निवास और अपच्य भोजन रोग की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक वर्ष रोग के फैलने के लिए निवासियों का अस्वच्छ जीवन, उनकी शारीरिक दुर्बलता और गन्दी आदतें बहुत कुछ उत्तरदायी हैं। रोगी के मल-वमन इत्यादि को असावधानी से इधर-उधर फेंक देने, जलाशय, नदी इत्यादि में या उसके पास डाल देने से रोग के जीवाणु जल में मिलकर रोग फैलाते हैं।

विशूचिका विशेषतया जल-संवाहित रोग है। रोग के फैलाने में कुवें, तालाब, बावली, नदियाँ या नहरें बहुत भाग लेती हैं। इनका जल किसी रोगी के मल के मिलने से दूषित हो जाता है। जब दूसरे लोग इस जल का प्रयोग करते हैं तो वह भी रोगग्रस्त हो जाते हैं। जिन नगरों में जल-वितरण नलों के द्वारा होता है वहाँ पर नलों के भीतर का

जल नलों की सन्धि के ढीले रह जाने से दूषित हो सकता है। भूमि पर से संक्रमण इन सन्धियों द्वारा जल में पहुँचकर सारे नगर में जानेवाले जल को दूषित कर सकता है। दूषित जल से बर्तन तथा फलों को धोने से रोग के जीवाणु भोज्य पदार्थों में पहुँचकर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

विशूचिका के मरकों मे यह पाया गया है कि रोग सदा उसी मार्ग का अवलम्बन करता है जिसके द्वारा मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को आते-जाते है। जब किसी बड़े मेले मे मनुष्य एकत्र होते हैं तो प्रायः वहाँ पर यह रोग फैलता है। जब मेले के पश्चात् वह लोग अपने-अपने निवास-स्थान को जाते है तो अपने साथ रोग को भी ले जाते है, और अपने-अपने गाँवो या नगरों में रोग फैलाते हैं। न केवल यही किन्तु यह भी देखा जाता है कि मार्ग मे जहाँ-जहाँ वे ठहरते हैं वहाँ-वहाँ पर रोग के बीज छोड़ जाते हैं और वहाँ रोग फैल जाता है। इस प्रकार सड़क, रेल, नदी, जहाज़ इत्यादि द्वारा रोग एक स्थान से दूसरे स्थान और एक देश से दूसरे देश मे फैल सकता है।

प्रवाहिका और आन्त्रिक ज्वर की भाँति मक्खियाँ रोग को फैलाने में पूर्ण सहयोग देती हैं। रोगियों के मल से उड़कर मक्खियाँ भोज्य पदार्थों पर जा बैठती हैं। इन पदार्थों का उपयोग करने से व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाते हैं। इस रोग से ग्रस्त रोगिओं का मल मक्खियों को बहुत रुचिकर होता है, क्योंकि उसमें श्लेष्मा, रक्त और सीरम मिले रहते हैं।

दूध में विशूचिका के जीवाणु भली भाँति वृद्धि करते है। किन्तु वह दूषित जल के द्वारा दूध में पहुँचते हैं। जिन स्थानों में गौ, भैसों को रक्खा जाता है वह अत्यन्त गन्दे होते हैं। ग्वाले पशुओ को दुहते समय भी स्वच्छता का ध्यान नहीं रखते। वह प्रायः दूध की मात्रा बढ़ाने के लिए दूध में जल भी मिला देते हैं। दूध की बनी हुई वस्तुएँ, बरफ़, मलाई का बरफ़ इत्यादि रोग फैलाने में विशेष भाग लेते है।

वायु के द्वारा रोग का संवहन नहीं होता। जीवाणु शुष्क होते ही नष्ट हो जाते हैं।

यह रोग संसर्गज नहीं है। डाक्टर या परिचारिकाओं को रोग होने का कारण रोगियों को छूने के पश्चात् हाथों को धोने के सम्बन्ध में असावधानी होती है।

नाले, नहर या नदियों के द्वारा रोग बहुत दूर तक फैलते हुए देखा गया है।

रोग-वाहक—यह व्यक्ति रोग को फैलाने में बहुत बड़ा भाग लेते हैं। साधारणतया रोग के पश्चात् चौथे से चौदहवें दिवस तक रोगी की अन्त्रियों से जीवाणु निकलना बन्द हो जाते हैं। किन्तु कुछ व्यक्तियों में जीवाणु पित्ताशय में पहुँच जाते हैं और वहाँ महीनों तक बने रहते हैं। यह व्यक्ति समय समय पर मल के साथ जीवाणुओं की बहुत बड़ी संख्या शरीर से त्याग करते रहते हैं जो रोग के फैलने का कारण होते हैं। अतएव रोग के फैलने का कारण कोई न कोई ऐसा ही व्यक्ति होता है जिसके शरीर से जीवाणु निकलते रहते हैं जो जल इत्यादि को दूषित करके रोग को फैलाते हैं।

यह भी पाया गया है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में रोग-प्रवृत्ति की सीमा भी भिन्न होती हैं। जिनमें कम होती हैं उनको रोग शीघ्र नहीं होता।

रोग के लक्षण—प्रारम्भ में अतिसार की भाँति साधारण दस्त आते हैं। इन्हीं से विशूचिका प्रारम्भ हो जाती है। प्रारम्भिक अतिसार के प्रारंभ में दस्तों में मल और रङ्ग होता है। किन्तु शीघ्र ही दस्तों की संख्या बहुत बढ़ जाती है जो जल की भाँति रङ्गहीन होते हैं। दस्तों के अत्यधिक आने से थोड़े ही समय में रोगी के शरीर से सेरों जल निकल जाता है। उदर में तनिक भी पीड़ा नहीं होती। वमन भी प्रारम्भ हो जाते हैं। वमन में प्रथम कुछ भोजन का भाग रहता है। किन्तु शीघ्र ही वमन में भी केवल जल निकलने लगता है। बाहु और टाँगों अथवा उदर की पेशियों मे तीव्र वेदना और ऐंठन प्रारम्भ हो जाती है।

शरीर से जल के निकल जाने के कारण शरीर की पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं। मुख सूख जाता है। नेत्र भीतर की ओर धँस जाते हैं। कपोलों

की अस्थियाँ उठी हुई दीखती हैं। चर्म ठण्डा पड़ जाता है। नाड़ी अत्यन्त पतली, दुर्बल और शीघ्रगामी हो जाती है। अन्त को प्रतीत भी नहीं होती। चर्म का ताप-क्रम ९३° या ९४° फ़ै० हो जाता है। किन्तु गुदा मे १० इंच ऊपर १०५° तापक्रम होता है।

इसके पश्चात् रोगी की मृत्यु हो जाती है। अथवा वमन और दस्त बन्द हो जाते हैं और कुछ घण्टे के पश्चात् रोगी को मूत्र-त्याग होता है जो शुभसूचक है। नाड़ी भी लौट आती है। कभी-कभी ज्वर भी उत्पन्न हो जाता है जो साधारणतया कुछ घण्टों के पश्चात् जाता रहता है, अथवा दो या तीन दिन तक बना रहता है।

इस प्रकार का रोग जिसमें दस्त बिलकुल नहीं आते अत्यन्त भयानक होता है। इसको 'शुष्क[1] विशूचिका' कहते है। बिना दस्त या वमन के रोगी मूर्च्छित होता चला जाता है और कुछ ही घण्टे मे हृदयावसाद से उसकी मृत्यु हो जाती है।

प्रतिषेध—रोग का रोकना केवल स्वास्थ्य-विभाग के कर्मचारियों ही पर नहीं निर्भर करता। जनता के पूरे सहयोग के बिना वह लोग कुछ भी नहीं कर सकते। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि अपने को रोग से बचाने का पूर्ण प्रयत्न करे और ऐसा कोई काम न स्वयं करे और जहाँ तक हो सके न किसी दूसरे को करने दे जिससे जनता को किसी प्रकार की हानि पहुँचने का भय हो।

व्यक्तिगत प्रतिषेध के उपाय

१. रोग के दिनों में भोजन के सम्बन्ध में बहुत सावधान होने की आवश्यकता है। कच्चे या अधिक पके हुए फलों, अथवा रक्खे हुए भोजन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। केवल गरम और ताज़ा बने हुए पदार्थों का सेवन किया जाय।

---

१. Cholera Sicca

२ गरिष्ट भोजन, जिससे पाचन-विकार उत्पन्न होने का भय हो, न करना चाहिए। दावतों मे भूलकर भी भाग लेना उचित नहीं । दावतों के पश्चात् अधिक व्यक्ति रोगग्रस्त होते देखे गये हैं ।

३. दूध को सदा उबालकर गर्म गर्म पियें ।

४ बाज़ार में बनी हुई मिठाई या अन्य भोज्य पदार्थों के प्रयोग का पूर्ण निषेध होना चाहिए। मलाई और दूध का बरफ़ या शरबत भी निषिद्ध वस्तुएँ हैं।

५. जो लैमनेड या सोडावाटर तीन दिन से कम का बना हुआ हो उसका प्रयोग न करना चाहिए। तीन या चार दिन मे कारबोनिक ऐसिड की इतनी क्रिया हो चुकती है कि उससे विशूचिका के जीवाणु नष्ट हो जाते है ।

६. बाज़ार से जो फल मोल लिये जावें उनको प्रयोग करने के पूर्व एक घण्टे तक पोटाशियम परमैंगनेट के विलयन में रखना चाहिए। इलेक्ट्रोलिटिक क्लोरीन के घोल का भी प्रयोग किया जा सकता है। यह एक क्लोरीनयुक्त द्रव्य है जिसमें जीवाणुओं को नष्ट करने की प्रबल शक्ति होती है। इसकी कुछ बूँदें जल मे मिलाकर उस जल को फल, भोजन-पात्र, रकाबी इत्यादि को धोने के काम मे लाया जा सकता है।

७ रोग के दिनों में किसी प्रकार भी यदि अपच हो गया हो तो उचित ओषधि के द्वारा उसको तुरन्त ठीक करना चाहिए। अपच की दशाओ में रोग के जीवाणुओ को आक्रमण करने का बहुत सुभीता होता है।

८ पीने के लिए उबले हुए जल का प्रयोग किया जाय। यदि यह न हो सके तो जल में पोटाश परमैंगनेट या इलेक्ट्रोलिटिक क्लोरीन मिला देना चाहिए। यदि यात्रा करनी पड़े और उबला हुआ जल न मिल सके तो चाय, नीबू या अन्य फलों का रस, गोले के भीतर का जल इत्यादि वस्तुएँ प्रयोग की जा सकती हैं।

९. आमाशय में प्रत्येक समय कुछ न कुछ भोज्य पदार्थ रहना चाहिए; अर्थात् थोड़े थोड़े समय के पश्चात् कुछ न कुछ भोजन करते रहना उचित है।

इससे आमाशयिक रस प्रत्येक समय बनता रहता है, जिससे विशूचिका के जीवाणु नष्ट हो जाते है।

१०. रोग के दिनों में विरेचक वस्तुओं का, और विशेष कर उनका, जो मल को पतला करके अथवा मल को जलयुक्त करके निकालती हैं, जैसे मैगनेशियम सल्फ़ेट, कभी प्रयोग न करना चाहिए।

११. निम्न लिखित ओषधियाँ प्रयोगों द्वारा बहुत लाभदायक सिद्ध हुई हैं।

स्पिरिट ईथर	२० बूँद
लौंग का तैल	५ "
कायपुटी[1] का तैल	५ "
जुनीपर का तैल	५ "
एसिड सल्फ़ुरिक ऐरोमेटिक	१५ "

इस ओषधि की तीस बूँदें आधी छटाँक या दो तोले जल मे मिलाकर पीने से रोग के होने की अधिक सम्भावना नहीं रहती। जो लोग रोगियों के सम्पर्क में आवें उनको इसका दिन में दो बार अवश्य सेवन करना चाहिए। रोगावस्था में भी इससे बहुत लाभ होता है।

१२. **विशूचिका का टीका**—प्लेग के टीके की भाँति यह भी रोग के जीवाणुओं से बनाया जाता है। प्रथम बार हैफ़कीन महाशय ने इसका भारतवर्ष में प्रयोग किया था। यह वैक्सीन कसौली में बनती है। योरुप के महासमर के दिनों में इसका बहुत प्रयोग किया गया था। उस समय सिपाहियों को इस रोग से, जो उस समय रूस में फैला हुआ था, बचाने की चिन्ता थी। महाशय कौली के अङ्कों के अनुसार, सन् १९१३ में, ११, २२४ मनुष्यों को टीका लगाया गया था और इनकी तुलना ८९६८ बिना टीका लगे हुए व्यक्तियों के साथ की गई थी। जिन व्यक्तियों को टीका लगा था उनमें से ०'७ प्रति शत व्यक्तियों को रोग हुआ और उनमें से १०'२ प्रतिशत की मृत्यु हुई। बिना टीका लगे हुए व्यक्तियों में से ६'३ प्रति शत रोग्रस्त हुए और उनमें से २७'३ प्रतिशत की मृत्यु हुई।

---

१. Cajuput.

इस वैक्सीन के दो टीके लगाये जाते हैं। प्रथम इंजैक्शन ०'५ सी० सी० का दिया जाता है। आठ या दस दिवस के पश्चात् दूसरा इंजैक्शन १ सी० सी० का दिया जाता है। प्रथम मात्रा में ४०००, ००००००० और दूसरी में ८०००, ००००००० जीवाणु होते हैं। कास्टेलानी ने आन्त्रिकज्वर और विशूचिका की मिश्रित वैक्सीन का प्रयोग किया है। और उससे उनको बहुत सन्तोषजनक परिणाम मिले हैं। इस वस्तु के प्रत्येक सी० सी० में जीवाणुओं की निम्नलिखित मात्रा उपस्थित रहती है:—

बैसिलस टाईफ़ोसस	५००, ०००
,, पैराटाइफ़ाइड—ए	२५०, ०००
,, ,, ,,—बी	२५०, ०००
,, कौलरी	१०००, ०००

इस वस्तु के भी एक सप्ताह के अन्तर से दो इंजैक्शन दिये जाते हैं। कुछ ज्वर आता है। साधारणतया टीका लेने के एक या दो दिन के पश्चात् व्यक्ति फिर अपना काम करने के योग्य हो जाता है।

इस टीके से जो क्षमता उत्पन्न होती है वह छः महीने से एक वर्ष तक रहती है। इस कारण यह टीका रोग के फैलने के कुछ ही पूर्व लगवाना चाहिए। जिन व्यक्तियों को ऐसे स्थानों में जाना हो जहाँ रोग फैल रहा हो, उनको टीका लगवाना आवश्यक है।

सार्वजनिक उपाय—विशूचिका रोग विशेषतया जल के द्वारा फैलता है। मक्खियाँ भी रोग को फैलाने मे पर्याप्त भाग लेती है।

रोग का मूरक सदा किसी रोगवाहक अथवा रोगी के मल से फैलता है। अतएव यदि आरम्भ ही में जलाशयों की शुद्धि और उनकी रक्षा का उचित प्रबन्ध कर दिया जाय तो रोग के रुक जाने की बहुत कुछ सम्भावना है। इस कारण रोग के आरम्भ होते ही प्रत्येक कुवें, तालाब या अन्य स्थान की, जहाँ से नगर-निवासी जल लेते हैं, पूर्ण शुद्धि और रक्षा का पूरा प्रबन्ध करना चाहिए।

जनता के हित के लिए निम्नलिखित उपायों को तुरन्त किया जाय—

(१) व्यक्तियों के रोग-ग्रस्त होते ही उनको विशूचिका के विशेष अस्पतालों में पृथक् कर देना चाहिए। जो लोग इतने शिक्षित और सम्पन्न हों कि वह रोगी को उत्तम प्रकार से अपने ही मकान में पृथक् कर सकें, मल इत्यादि के नाश का उचित प्रबन्ध करें और उसकी महत्ता को भी समझते हों, वह रोगियों को मकान ही में रख सकते हैं।

(२) मेलों में रोगियों को पृथक् करने का विशेष प्रबन्ध होना चाहिए। जिन पर रोगग्रस्त होने का सन्देह भी हो उनका भी पृथक करके निरीक्षण करना चाहिए।

(३) मेलों से प्रायः यात्री लोग लौटते समय अपने-अपने नगर या ग्रामों में रोग लाते हैं और वही रोग के फैलने का कारण होते हैं। इस कारण स्टेशनों पर रोगियों की जाँच होनी चाहिए और जिन पर सन्देह हो उनको कम से कम ५ या ७ दिन के लिए पृथक् कर देना चाहिए।

(४) जलस्थानों की शुद्धि और रक्षा का उचित प्रबन्ध होना आवश्यक है। जलाशयों की शुद्धि के लिए सबसे उत्तम वस्तु ब्लीचिङ्ग पाउडर अथवा क्लोरीन के अन्य योग, जैसे हाइपोक्लोराइट तथा परमैंगनेट-आफ्-पोटाश हैं। किन्तु ब्लीचिङ्ग पाउडर और हाइपोक्लोराइट अधिक तीव्र हैं। एक एकड़ लम्बे चौड़े और ५ फ़ुट गहरे तालाब के लिए ७½ सेर ब्लीचिङ्ग पाउडर पर्याप्त है। चूर्ण को कपड़े के थैलों में भरकर और उनको रस्सी से बांधकर तालाब में चारों ओर को खींचना चाहिए। किनारों के पास के स्थानों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। यहाँ पर जीवाणुओं के रहने की अधिक सम्भावना है। तालाब में जितने भी जीवाणु उपस्थित होते हैं वह सब प्रायः एक घण्टे में नष्ट हो जाते हैं। छोटे तालाबों का १५ मिनट में पूर्ण विसंक्रमण हो जाता है।

(५) कुएँ के पास या जलाशयों में, जिनका जल पीने के लिए प्रयोग किया जाता हो, स्नान करने या बरतनों को धोने की मनाई होनी चाहिए। पशुओं को कुओं या तालाबों के पास आने का भी निषेध होना चाहिए।

(६) प्रत्येक कुएँ या तालाब पर एक मनुष्य तैनात कर देना चाहिए जो कुएँ से खींचकर जल देता रहे ।

(७) कुओं इत्यादि पर कुछ ऐसे व्यक्ति तैनात होने चाहिएँ जो जनता को कुएँ को गन्दा करने से रोकें ।

(८) जिन मकानों में विशूचिका का कोई रोगी हो अथवा जो लोग विशूचिका के रोगी के सम्पर्क में रहे हों उनको भी कुएँ से जल भरने से रोकना चाहिए ।

(९) गाँव के चौकीदार अथवा नगर में मुहल्लों के चौकीदार या म्यूनिसिपल कमिश्नर के यह काम सिपुर्द होना चाहिए कि विशूचिका से किसी भी व्यक्ति के रोगग्रस्त होते ही वह तुरन्त ही म्यूनिसिपेलिटी के स्वास्थ्य-विभाग को रोग की सूचना दें ।

(१०) म्यूनिसिपल अथवा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की ओर से रोग सम्बन्धी छोटे छोटे ट्रैक्ट बटने चाहिएँ जिनमे रोग की उत्पत्ति और उससे बचने के उपाय साधारण भाषा में लिखे हों । इन उपायों की उपेक्षा करने से जो हानि या घातक परिणाम हो सकते हैं वह भी लिखे जाने चाहिएँ । इसी सम्बन्ध मे सेवा-समिति अथवा ऐसी ही कोई छोटी समिति बनाकर उससे स्थान-स्थान पर जादू की लालटैन से चित्र प्रदर्शन सहित लैक्चर दिलवाना चाहिए जिससे जनता मे रोग की उत्पत्ति, उसके लक्षण, चिकित्सा का उपाय और रोग से बचने के साधनों का पूरा ज्ञान फैल जावे ।

(११) विशूचिका सदा मल के द्वारा फैलती है । इस कारण प्रत्येक व्यक्ति को यह बता देना चाहिए कि रोगियों के मलत्याग के पात्र में चूना, फारमेलिन, कारबोलिक एसिड, रसकपूर का घोल, क्रियोज़ोल या सिलिन इत्यादि विसंक्रामक सदा भरे रहने चाहिएँ । मलत्याग करने के पश्चात् उसमें ब्लीचिङ्ग पाउडर और लकड़ी का बुरादा भरकर उसको जला देना चाहिए । जलने के पश्चात् जो कुछ बचे उसको पृथ्वी के भीतर गहरा खोदकर गाड़ देना उत्तम है । किन्तु किसी कुएँ या जलाशय के पास न गाड़ना चाहिए ।

(१२) रोग के दिनों में प्रत्येक मकान की तथा सार्वजनिक शौच-स्थानों की स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि यह स्थान स्वच्छ रहेंगे तो वहाँ पर मक्खियाँ भी कम होंगी। इन स्थानों का नित्यप्रति विसंक्रामण होना चाहिए। घरों मे रोगियों के मल को प्रायः शौच-स्थानों ही मे फेंका जाता है। इस कारण वहाँ पर रखे हुए मल-पात्रों में भी सदा विसंक्रामक द्रव्य भरा रहना चाहिए। यदि यह मालूम हो कि रोगी का मल बिना विसंक्रमित हुए ही मल को लेजानेवाली गाड़ी में डाल दिया गया है तो उस गाड़ी और पात्रों का, जिनके द्वारा मल ले जाया गया हो, विसंक्रामण आवश्यक है। मल के संग्रह-स्थान पर भी सारे मल में कोई विसंक्रामक द्रव्य मिला देना चाहिए। वमन और मूत्र का विसंक्रामण भी आवश्यक है।

(१३) सड़कों और गलियों की जिन मोरियों में किसी रोगी के मकान का जल आता हो उनको एक बार नित्य प्रति विसंक्रामक से धुलवाना चाहिए।

(१४) रोगी के नीरोग होने या मृत्यु के पश्चात् उसके प्रयोग में आये हुए वस्त्र इत्यादि को जलवा देना चाहिए। जो जलाने योग्य न हों उनको जल में उबालकर शुद्ध करना आवश्यक है। यदि उबालने से उनके विकृत हो जाने का डर हो तो उनको आठ घण्टे तक धूप में सुखाना चाहिए।

(१५) जो व्यक्ति रोगी के सम्पर्क में आये हों उनका भी विसंक्रमण होना चाहिए।

(१६) विशूचिका से मरे हुए व्यक्तियों का दाह संस्कार नदी या नाले के किनारे पर करना उचित नहीं। यदि वह गाड़े जावें तो उनको कम से कम छः फुट की गहराई पर गाड़ना चाहिए।

(१७) रोगी के देहान्त या नीरोग हो जाने के पश्चात् मकान का पूर्ण विसंक्रामण आवश्यक है। जिस कमरे में रोगी रहा हो उसमें से मेज़, कुर्सी, वस्त्र इत्यादि को हटाकर कमरे को ख़ाली कर देना चाहिए। तत्पश्चात् कमरे के फ़र्श को ब्लीचिङ्ग पाउडर के घोल या रसकपूर के अम्लयुक्त घोल से भली भाँति रगड़कर धोना चाहिए। कोनों की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। तत्पश्चात् दीवारों की भी इसी द्रव्य से या अन्य पदार्थों से शुद्धि

करनी चाहिए। इसके पश्चात् यदि आवश्यक समझें तो फ़ारमेल्डीहाइड या गन्धक का भी प्रयोग कर सकते हैं। शौच-स्थान और मोरियों को सिलिन से शुद्ध करना उचित है। ब्लीचिंग पाउडर भी प्रयुक्त हो सकता है।

मेज़, कुर्सी इत्यादि को प्रथम गरम जल और साबुन से रगड़ना चाहिए। तत्पश्चात् उनको फ़ारमेलिन अथवा ब्लीचिंग पाउडर के द्रव्य से स्वच्छ किया जाय। वस्त्र, यदि प्रबन्ध हो तो, भाप द्वारा शुद्ध करवाने चाहिएँ।

राजयक्ष्मा

यह रोग सारे संसार में फैला हुआ है। कोई भी देश इसके पञ्जे से नहीं बचा है; किन्तु उष्ण देशों की अपेक्षा शीत देशो मे यह कम होता है। हमारे देश में कोई भी स्थान ऐसा नहीं जो इससे मुक्त हो। न केवल यही किन्तु ऐसा बिरला ही परिवार होगा जिसमे किसी न किसी व्यक्ति की इस रोग से मृत्यु न हुई हो। सब से बड़ी दुःख की बात यह है कि हमारे देश में यह रोग उत्तरोत्तर वृद्धि पर है। राजपूताने के मरुस्थल में यह रोग पहिले बहुत कम था, किन्तु अब वहाँ पर भी फैल रहा है। इसका कारण यह है कि राज-स्थान से बहुत लोग व्यापार के लिए बम्बई कलकत्ता इत्यादि स्थानों को जाते हैं। वहाँ से वह रोग लेकर लौटते हैं और राजपूताने के नगरों में फैलाते है। पार्वतीय स्थानों का भी यही हाल है। वहाँ पर भी अब रोगग्रस्त व्यक्तियों की काफ़ी संख्या पाई जाती है।

इसके विरुद्ध योरप आदि देशों में रोगियों की संख्या कम हो रही है। इन देशों में सरकार की ओर से इस रोग को समूल नष्ट कर देने का काफ़ी प्रयत्न किया गया है और जनता में स्वास्थ्य और रोग-सम्बन्धी ज्ञान फैलाया गया है। डाक्टर पावल का कथन है कि योरप-निवासियों की अपेक्षा हमारे देश के रहनेवालों में यह रोग अधिक तीव्र और सहज में हो जाता है। और वहाँ की अपेक्षा भारतवर्ष में रोगग्रस्तों की मृत्यु भी अधिक होती है।

रोग का कारण—रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको राजयक्ष्मा का जीवाणु या 'बैसिलस ट्यूबर्क्यूलोसिस' कहते हैं। यह एक मुड़े

हुए डण्डे के आकार का वायवीय जीवाणु होता है जिसमे गति-शक्ति नहीं होती। इसकी उत्पत्ति के लिए आक्सिजन की आवश्यकता होती है। शरीर से बाहर जाने पर भी इसका शीघ्र नाश नहीं होता। इसकी रोगोत्पादक शक्ति बहुत समय तक बनी रहती है। सूखे हुए थूक या धूल में मिलकर कमरो के भीतर या ऐसे अँधेरे स्थानों मे, जहाँ सूर्य्य का प्रकाश न पहुँचता हो, यह जीवाणु छः मास तक जीवित और रोगोत्पादक शक्ति से सम्पन्न पाया गया है। किन्तु सूर्य्य-प्रकाश और उबालने से इसका शीघ्र ही नाश हो जाता है। आमाशयिक रस की इन जीवाणुओं पर कोई क्रिया नही होती।

गौ इत्यादि पशुओ को भी यह रोग होता है और 'बोवाइन ट्यूबर्क्यूलोसिस' कहलाता है। कौक महाशय का विचार है कि मनुष्य और पशु के रोग वास्तव में भिन्न हैं और एक से दूसरे को रोग नहीं हो सकता। किन्तु इस मत से सब लोग सहमत नही है। बच्चों को जो आन्त्रिकयक्ष्मा होता है उसका विशेष कारण रोगग्रस्त गौओ के दूध के साथ रोग के जीवाणु का शरीर के भीतर प्रविष्ट होना है। इस बात का अन्वेषण करने के लिए एक कमीशन बैठाया गया था जिसने यही सम्मति दी थी। कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार बहुत से मनुष्यों को गौओं से उनके दूध के द्वारा रोग होता है। बच्चों में विशेषकर रोगोत्पत्ति का कारण रोगग्रस्त गौएँ होती हैं।

रोग के सहायक कारण—अपर्याप्त भोजन, अस्वच्छ वायु में निवास, निवासस्थान का गन्दा होना, शुद्ध वायु न मिलना और शरीर की दुर्बलता से रोग की उत्पत्ति में बहुत सहायता मिलती है। इनमें भी शुद्ध वायु का न मिलना और गन्दे स्थानों में रहना रोग के विशेष सहायक हैं। यही कारण है कि जिन प्रान्तों या स्थानों में परदे की प्रथा है वहाँ पर पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कहीं अधिक रोगग्रस्त होती हैं। इस रोग से कलकत्ते में, जैसा नीचे लिखे अङ्कों से विदित है, १५ और २० वर्ष की आयु में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की छः गुनी मृत्यु होती हैं—

आयु	मृत्यु संख्या प्रति १०००	
	पुरुष	स्त्री
१०—१५ वर्ष	·५८	२·८
१५—२० ,,	१·२	७·२
२०—३० ,,	१·८	७·१
३०—४० ,,	२·२	५·८
अन्य आयुवाले	१ ७	४·०

प्रत्येक आयु मे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ इस रोग का ग्रास अधिक बनती हैं। अन्य प्रान्तों मे भी ऐसा ही पाया जाता है। लखनऊ मे भी, जहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक है, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कहीं अधिक रोग पाया जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि स्त्रियों में रोगोत्पत्ति का बहुत बड़ा कारण परदा है। पुरानी रीति से बने हुए मकानों में वायु के आने जाने का मार्ग नहीं होता। उस पर भी परदे की प्रथा के कारण गृह के बाहर जो शुद्ध वायु के मिलने का अवसर रहता है वह भी नष्ट हो जाता है। कलकत्ते के सम्बन्ध में वहाँ के स्वास्थ्याध्यक्ष डाक्टर क्रेक का कहना है कि "परदे की प्रथा के कारण लोग ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी करके घर के भीतरी भाग को बाहर से बिल्कुल पृथक् कर देते हैं। इससे वह स्थान इतने छोटे, संकुचित और ऊँची-ऊँची दीवारों से वेष्टित हो जाते है कि वहाँ सूर्य्य-प्रकाश और शुद्ध वायु के पहुँचने का कोई मार्ग ही नहीं रहता। इन मकानों के निवासियों को यह बताने पर भी कि उनमें अमुक दोषों के कारण रहना उचित नहीं है वह मानने को तैयार नहीं हैं। इन मकानों में प्रायः रसोईघर इस प्रकार के बने होते हैं कि वहाँ से धुएँ के निकलने का कोई मार्ग नहीं होता। इस कारण वह स्थान धुएँ से भरे हुए खोह या कन्दरा के समान होते हैं। स्त्रियों को अधिक समय इन्हीं धुएँ भरे हुए कमरों में रहना पड़ता है। बाल-विवाह भी लड़कियों के स्वास्थ्य-नाश में काफ़ी सहयोग देता है। बारम्बार सन्तानोत्पत्ति से उनके शरीर की सहन-शक्ति नष्ट हो जाती है। इन सब

कारणों से शरीर की शक्ति के क्षीण होने पर स्त्रियाँ अत्यन्त सहज में रोग को ग्रहण कर लेती हैं और अन्त को उसका शिकार बनती हैं।''

विद्वानों के विचारानुसार ६० प्रतिशत व्यक्तियों के शरीर में कहीं न कहीं राजयक्ष्मा का केन्द्र उपस्थित होता है। जब शरीर की सहन-शक्ति क्षीण होती है तब जीवाणु प्रबल हो जाते है और शरीर रोगाक्रान्त हो जाता है। मैचनिकाफ़ के विचारानुसार यह जीवाणु बाल्यकाल ही में शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं और किसी ग्रन्थि इत्यादि में पड़े रहते हैं। इन जीवाणुओ के शरीर मे प्रविष्ट होने से शरीर मे कुछ रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण इस रोग से उतने व्यक्तियों की मृत्यु नहीं होती, जितनों के शरीर में जीवाणुओं के उपस्थित होने के चिह्न पाये जाते हैं।

आयु--प्रत्येक आयु मे यह रोग हो सकता है, किन्तु ५ वर्ष से कम आयु के बच्चों को प्रायः नहीं होता। १० से २० वर्ष की आयु तक यह रोग बहुत होता है। आयु के साथ-साथ इसकी उत्पत्ति की सम्भावना भी बढ़ती ही जाती है। वृद्धावस्था आने पर रोग में फिर कमी दिखाई देती है।

निवास-स्थान—बड़े-बड़े नगरों में साधारण आयवाले व्यक्तियों को खुली वायु और शुद्ध स्थान में रहने के लिए मकान मिलना बहुत कठिन है। बम्बई कलकत्ता आदि नगरों में तो बहुत अधिक व्यय करने पर भी ऐसे मकान नहीं मिल सकते। इस कारण इन स्थानों में जनता की बहुत बड़ी संख्या को संकुचित अस्वच्छ मकानों में अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। न केवल यही किन्तु स्थानाभाव के कारण थोड़े ही स्थान में बहुत से व्यक्ति रहने के लिए बाध्य होते हैं। इस प्रकार के जीवन के साथ रोग का विशेष सम्बन्ध पाया गया है। कानपूर के पुराने भाग में, जहाँ बस्ती अत्यन्त घनी है, इस रोग से मरनेवालों की संख्या अत्यधिक है। बाल-मृत्यु-संख्या भी इस मोहल्ले में प्रान्त भर से अधिक है।

अपर्याप्त भोजन—आवश्यकता के अनुसार भोजन न मिलने से और विशेषकर प्रोटीन की मात्रा कम होने से शरीर की शक्ति का ह्रास होता

है। हमारे देश मे ऐसे व्यक्तियों की अधिक संख्या है जिनको पर्याप्त भोजन दुर्लभ होता है। अतएव जहाँ पर अपर्याप्त भोजन और अस्वच्छ स्थानों में निवास दोनों दशाएँ उपस्थित हो वहाँ पर व्यक्तियों का रोगग्रस्त न होना आश्चर्य की बात है।

बाल्यकाल में गले की ग्रन्थियाँ[1] प्रायः कुछ बढ़ी हुई मिलती हैं। यदि सौ बच्चों की परीक्षा की जाय तो पचास मे यह ग्रन्थियाँ अवश्य बढ़ी हुई पाई जायँगी। यह रोग के प्रवेश के मार्ग हैं।

पशुओं का राजयक्ष्मा—गौओं से राजयक्ष्मा के जीवाणुओ के मनुष्य के शरीर मे प्रविष्ट होने की इतनी अधिक सम्भावना है कि बहुत से विद्वान्, कम से कम बच्चों में आन्त्रिक यक्ष्मा के उत्पन्न होने का इसी को मुख्य कारण मानते है। किन्तु कुछ लोगों का विचार है कि भारतवर्ष में रोग के फैलने के लिए यह विधि इतनी अधिक उत्तरदायी नहीं है जितनी पश्चिमी देशों में है। प्रायः दूध उबालकर ही पिया जाता है, किन्तु उबल जाने के पश्चात् भी दूध उन मक्खियों द्वारा संक्रमित हो सकता है जो पशुशालाओं से उड़कर सारे घर में फिरती हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से मकानों में पशुओं के रखने के लिए कोई पृथक् स्थान नहीं होता। ऐसे बहुत मकान देखने में आते हैं जिनके नीचे के खण्ड मे गौ इत्यादि बँधती हैं और ऊपर के खण्डों में मनुष्य रहते हैं। अतएव बच्चे प्राय: नीचे के खण्ड में, जहाँ पशु बँधे होते हैं, खेलने को चले जाते हैं।

संक्रमण का मार्ग—रोग के जीवाणुओं के शरीर में प्रविष्ट होने के दो मार्ग हैं; एक नासिका और दूसरा मुख। नासिका द्वारा वे फुस्फुस में पहुँचते हैं। मुख द्वारा गले की ग्रन्थियों में पहुँचकर कुछ समय तक वहाँ रहने के पश्चात् शरीर के किसी भी भाग में चले जाते हैं; अथवा मुख में होते हुए आमाशय द्वारा अन्त्रियों में पहुँच जाते हैं।

(१) रोगी का बलगम—खाँसते समय जीवाणु रोगी के मुख से थूक के कणों के साथ निकलते हैं। और बहुत दूर तक फैल सकते हैं।

---

१ Tonsils and adenoids.

साधारणतया बोलने में भी ये जीवाणु निकलते रहते है। इस प्रकार कमरे मे उपस्थित अन्य व्यक्ति रोग के जीवाणुओं को ग्रहण कर लेते है। यदि कमरा बन्द और अँधेरा हो तो वहाँ पर उपस्थित व्यक्तियों के रोगग्रस्त हो जाने की भी बहुत सम्भावना रहती है। जब रोगी का बलग़म धूल के साथ मिलकर सूख जाता है तब जीवाणु भी धूल और मिट्टी में मिलकर वायु के प्रवाह से दूर तक पहुँच जाते है। रोग के फैलने की सबसे साधारण विधि यही है। वस्त्र, दीवार, फ़र्श, शय्या इत्यादि पर जो बलग़म सूख जाता है वह भी रोग का इसी प्रकार संवहन कर सकता है।

रोगी के बलग़म को उठाते समय असावधानी के कारण कभी-कभी वह उँगलियों मे लग जाता है, जिससे जीवाणु दूसरी वस्तुओं में पहुँच सकते है।

मक्खी बलग़म पर बैठकर रोग के जीवाणुओं को भोज्य पदार्थों तक पहुँचा देती है। दूध, मिठाई, मांस इत्यादि इस प्रकार संक्रमित होकर रोग फैला सकते हैं।

(२) **दूध**—रोगग्रस्त गौओं के दूध द्वारा रोग फैल सकता है। सौभाग्य से हमारे देश मे रोगग्रस्त गौओं की संख्या बहुत कम है। योरप में ऐसी गौएँ बहुत हैं। दूध को उबालकर पीने से भी रोग के जीवाणु बहुत कुछ नष्ट हो जाते हैं।

(३) **मांस**—रोगग्रस्त पशु का मांस रोग उत्पन्न करता है। प्रायः जीवाणु ग्रन्थियों में रहते हैं। इस कारण मांस से ग्रन्थियों को निकाल देना चाहिए। मांस को काटने के समय मांस के ऊपर रोग के जीवाणु किसी अन्य प्रकार से पहुँच सकते हैं। उबालने या पकाने से इनका नाश हो जाता है। किन्तु जो जीवाणु मांस के भीतर उपस्थित होते हैं वह उबालने से नष्ट नहीं होते।

(४) **सम्पर्क**—चुम्बन से रोग उत्पन्न हो सकता है। हुक्का, भोजन के बर्तन या सहभोज इत्यादि भी रोग का कारण हो सकते हैं।

लक्षण—यह रोग कई प्रकार का होता है। शरीर के प्रायः प्रत्येक भाग में पाया जाता है। किन्तु यहाँ पर हमारा विशेषकर [illegible] के रोग से

प्रयोजन है। अन्य सब स्वरूपों की अपेक्षा रोग इस स्वरूप में अधिक फैला हुआ है।

रोगी को संध्या के समय कुछ ज्वर हो आता है। थोड़ी-बहुत खाँसी भी रहती है। सम्भव है कि रोग के प्रारम्भ के बहुत दिन पश्चात् तक यह लक्षण न आरम्भ हों। इनके साथ रोगी को रात्रि मे सोने के समय स्वेद बहुत आता है। सन्ध्या-काल को ज्वर ९९° से १०१° या १०३° फ़ै० तक हो सकता है। प्रातःकाल ज्वर बिलकुल नहीं होता। धीरे-धीरे खाँसी बढ़ती जाती है। रोगी शनैः-शनैः दुर्बल होता चला जाता है। गाढ़ा लसदार बलग़म निकलता रहता है। कभी उसमें रक्त भी आ जाता है। कुछ व्यक्तियों मे रक्त रोग के प्रारम्भ ही पर निकलता है। किन्तु अधिकतर रोगियों में जब फुस्फुसों के भीतर व्रण बनने लग जाते हैं उस समय रक्त आता है।

जब रोग तरुण या प्रबल होता है तो चार या पाँच सप्ताह के पश्चात् रोगी की दशा आन्त्रिक ज्वर के समान हो जाती है और इसके दो या तीन सप्ताह के भीतर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

अधिकतर यह रोग जीर्ण स्वरूप में पाया जाता है। रोगी छः मास, एक या कभी-कभी दो वर्ष तक जीवित रहता है।

प्रथम अवस्था में फुस्फुसों की परीक्षा करने पर उनमें कोई चिह्न नहीं मिलता। दुर्बलता और ताप-क्रम यही दोनों इस अवस्था के विशेष लक्षण है। रोगी की दुर्बलता यदि बढ़ रही हो और उसका शरीर क्षीण होता दिखाई दे तो इस रोग का सन्देह करना चाहिए। साथ में वर्ण में कुछ पाण्डुता भी आ जाती है।

प्रथम अवस्था में रोग का निश्चय हो जाना अत्यावश्यक है। इस समय पर उचित चिकित्सा के द्वारा रोगी के रोग-मुक्त होने की सम्भावना रहती है। ऐक्स-रे के द्वारा परीक्षा करने से रोग-निश्चय में बहुत सहायता मिलती है।

प्रतिषेध के उपाय—यह रोग 'श्वेत महामारी'[1] कहलाता है। प्रत्येक वर्ष जनता की एक बहुत बड़ी संख्या इसके द्वारा काल के मुख में जाती है। कितने परिवारों से उनके पालन-पोषण-कर्त्ता इस "मृत्यु के दूत" द्वारा छीन लिये जाते हैं और परिवारवाले राह के भिखारी बन जाते हैं। सरकार की ओर से इस रोग को समूल नष्ट करने का पूर्ण प्रयत्न होना चाहिए। ऐसा न करना किसी भी सभ्य गवर्नमेंट को शोभा नहीं देता और न वह सभ्य कहलाने की अधिकारिणी ही हो सकती है। जहाँ पर लाखों व्यक्ति प्रतिवर्ष इस एक ही रोग से मरते हों वहाँ पर इस रोग के रोकने के लिए कुछ भी उपाय न होना सरकार के लिए अत्यन्त निन्दनीय है। दूसरे देशों में इस रोग से कम मृत्यु का एक विशेष कारण यह भी है कि वहाँ पर रोग के प्रतिषेध और रोगियों की उचित चिकित्सा का पूर्ण आयोजन किया गया है। हमारे देश मे जनता के पास इतना धन नहीं है कि वह स्वयं अपनी चिकित्सा इत्यादि का प्रबन्ध कर सके। इस कारण कितने ही लोग बिना उचित चिकित्सा के मृत्यु के मुख में चले जाते हैं।

इस सम्बन्ध में सरकार की ओर से जितना भी व्यय हो वह कम है। किन्तु दुःख की बात तो यह है कि जो धनी-मानी लोग हैं वह भी इसकी ओर कुछ ध्यान नहीं देते। वह धर्मशाला, कुएँ, ब्रह्मभोज, भिखारियों को दान, मन्दिरों में चढ़ावे इत्यादि में लाखों रुपये उड़ा देते हैं। किन्तु जिस दान से सारी जाति का कल्याण हो सकता है, जो दान सहस्रों परिवारों को दीन और भिखारी होने से बचा सकता है उसकी ओर उनका कभी ध्यान भी नहीं जाता। इसका कारण अज्ञान और परम्परा का अन्धविश्वास नहीं तो और क्या हो सकता है?

यह विषय बहुत बड़ा, गम्भीर और जनता की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। सर रे लैंकेस्टर ने इस सम्बन्ध में हमारे देश में बहुत छान-बीन की है। जो व्यक्ति इसके सम्बन्ध में अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहें वे सर रे लैंकेस्टर की

---

१. White plague.

पुस्तक Tuberculosis in India को पढ़ सकते हैं। इस सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह जितना भी कर सके करे।

व्यक्तिगत प्रतिषेध के उपाय—(१) रोगी ही से रोग फैलता है। इस कारण रोगी को पृथक् करना आवश्यक है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जो व्यक्ति रोगी के सम्पर्क मे आते है उनको रोग सहज में उत्पन्न हो सकता है। इस कारण रोगी को किसी सैनेटोरियम में भेज देना बहुत उत्तम है। यदि यह न हो सके तो उसको कम से कम मकान के किसी उत्तम और उचित कमरे मे अवश्य पृथक् कर देना चाहिए।

(२) जो लोग रोगी की सेवा-शुश्रूषा करें उनको नाक के ऊपर एक, विशेष प्रकार का बना हुआ, यन्त्र लगाना चाहिए जिसमें कुछ विशेष विसंक्रामक रहे। यह यन्त्र केवल लोहे की जाली का त्रिकोणाकार मुड़ा हुआ टुकड़ा होता है जो नाक के अग्र भाग के ऊपर भली भाँति बैठ जाता है। इसके दोनों ओर दो लम्बे फीते लगे रहते हैं जो सिर के पीछे की ओर बाँधे जा सकते हैं। इस जाली के टुकड़े के भीतर ओषधियों से भीगी हुई रुई रखी रहती है। रोगी को भी ऐसे ही यन्त्र का प्रयोग करना चाहिए।

(३) रोगी के बलग़म की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। जिस पात्र में वह थूके उसमें २० में १ की शक्ति का कारबोलिक अम्ल का विलयन भरा रहे। रोगी को उस पात्र के बाहर कभी न थूकना चाहिए। यदि रोगी इस योग्य है कि वह घूम फिर सकता है तो उसके पास काग़ज़ के छोटे-छोटे लिफ़ाफ़े रहने चाहिएँ जिनके भीतर वह थूक सके। काँच या चीनी के भी इस प्रकार के पात्र आते हैं कि उनको जेब के भीतर रखकर जहाँ चाहें ले जा सकते हैं। रोगी को यह भली भाँति बता देना चाहिए कि उसके जहाँ-तहाँ थूकने से उसके दूसरे सम्बन्धियों को रोग हो जाने का भय है। इन पात्रों में या लिफ़ाफ़ों के भीतर जो बलग़म एकत्रित हो उसको जला देना उचित है।

रोग के जीवाणु जब तक किसी तरल द्रव्य के साथ मिले रहते हैं उस समय तक वह हानि नहीं पहुँचा सकते। किन्तु द्रव्य के सूखने पर उनके धूल इत्यादि के साथ मिलकर या स्वतः ही वायु के साथ उड़ जाने से रोग फैल सकता है।

(४) शुद्ध वायु सदा रोग से रक्षा करती है। वह चाहे जितनी ठण्डी हो कमरे के भीतर की वायु से, जहाँ पर बहुत से व्यक्ति एक ही साथ सोते हैं या एकत्रित है, बहुत उत्तम है। शुद्ध खुले हुए स्थान की वायु सदा इस रोग से रक्षा करती है। यदि हो सके तो रोगी को चौबीसो घण्टे खुले हुए स्थान में रखना चाहिए।

(५) जो दुर्बल बच्चे हों उनसे श्वास-सम्बन्धी व्यायाम करवाना चाहिए। वह धीरे-धीरे श्वास को भीतर को खींचें और फिर बाहर निकालें। इस प्रकार के व्यायाम से उनके श्वास-क्रिया करनेवाले अङ्ग सबल हो जावेंगे। यदि बच्चों में वक्ष की रचना में कोई विकृति हो तो उसको ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(६) रोगग्रस्त व्यक्ति के साथ एक ही कमरे में कभी न सोना चाहिए। और एक ही शय्या पर तो किसी भी दशा में सोना रोग का आह्वान करना है।

(७) शराब या अन्य मादक वस्तुओं का प्रयोग, दुर्बलता, श्रम, ऐसे व्यवसाय जिनमें किसी वस्तु के अत्यन्त सूक्ष्म कण वायु में भरे रहते हों जैसे ऊन या सूत के बनाने तथा ताँबे, लोहे इत्यादि के कारखाने, पत्थर को रगड़ने का व्यवसाय इत्यादि कामों से श्वास-अङ्ग दुर्बल हो जाते हैं।

(८) रात्रि के समय कमरों के दरवाज़े और खिड़कियाँ बन्द करके सोना बहुत बुरा है। यह स्वभाव कितने ही व्यक्तियों के रोग-ग्रस्त होने का कारण होता है। शुद्ध वायु किसी भी दशा में हानि नहीं पहुँचा सकती।

(९) रोग का सन्देह होते ही बलग़म की जाँच और एक्स-रे के द्वारा फुस्फुसों की परीक्षा करवाना आवश्यक है। यदि रोग निश्चित हो जावे तो तुरन्त ही चिकित्सा का उचित आयोजन करना चाहिए।

सार्वजनिक प्रतिषेध—व्यक्तिगत साधनों की अपेक्षा सार्वजनिक साधनों की महत्ता कम नहीं है। सरकार का धर्म है कि वह इन सब साधनों का पूर्ण आयोजन करे।

(१) जनता में इस रोग के सम्बन्ध मे ज्ञान फैलाना चाहिए। मैजिक लालटेन के साथ स्थान-स्थान पर स्वास्थ्य-विभाग के इन्सपेक्टर, हेल्थ आफ़िसर, मेडिकल आफ़िसर इत्यादि को लेक्चर देने चाहिएँ जिनमे वह जनता को बतावें कि रोग किस प्रकार रोका जा सकता है। उनको शुद्ध वायु के महत्त्व का पूर्ण ज्ञान कराना चाहिए और यह भली भाँति बता देना चाहिए कि उचित समय पर उचित चिकित्सा द्वारा रोगी को रोग-मुक्त किया जा सकता है। उनके इस विचार को कि रोग पैतृक होता है और रोगी माता-पिता की सन्तान को रोग अवश्य होगा दूर करना आवश्यक है।

(२) इसी प्रकार स्थानीय भाषा में छोटे-छोटे ट्रैक्ट और लेख छपवाकर बाँटने चाहिएँ जिनमें रोग की उत्पत्ति और उससे बचने के उपायों का पूर्ण विवरण हो।

(३) प्राइमरी, अपर प्राइमरी और हाई स्कूल, सब में स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा जारी करनी चाहिए। इन स्कूलों के शिक्षको का यह काम होना चाहिए कि वह बालकों को स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा देते रहें।

(४) प्रत्येक नगर मे म्यूनिसिपैलिटियों की ओर से नगरों को स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयुक्त बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। गलियों और सड़कों को चौड़ी, मकानों को उत्तम, हवादार और खुले हुए और जो स्थान बहुत घने हों उनको तोड़कर नये सिरे से विस्तृत बनाना आवश्यक है। प्रत्येक नगर मे प्रत्येक कर्म के लिए—जैसे शाक, दूध, मांस इत्यादि बेचने के लिए—विशेष स्थान होने चाहिएँ। मकानों के सम्बन्ध मे उन नियमों का पालन करना चाहिए जिनका नगर-निर्म्माण के सम्बन्ध मे उल्लेख किया जा चुका है। नगर की स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

(५) मज़दूर और निर्धन श्रेणी के व्यक्तियों के लिए छोटे सस्ते किन्तु स्वच्छ और हवादार मकान बनाने चाहिएँ जिमसे उनको शुद्ध वायु मिल सके

और उनके द्वारा उनकी शारीरिक शक्ति भी बढ़े। साथ मे उनके वेतन में भी वृद्धि होना आवश्यक है जिससे वह स्वयं पौष्टिक भोजन कर सकें और बाल-बच्चों को भी खिला सके। उनके मद्य या अन्य मादक वस्तुओ के व्यसन को छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(६) नगर में बिकनेवाले भोज्य पदार्थों का नियन्त्रण करना भी बहुत आवश्यक है जिससे जनता को शुद्ध और उचित मूल्य पर उत्तम भोज्य पदार्थ मिल सकें। दूध और घी की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। बड़े नगरो मे इन पदार्थों का शुद्ध मिलना असम्भव सा हो रहा है। अधिक मूल्य देने पर भी शुद्ध दूध और घी नही मिलते।

(७) हमारे देश के अधिकांश मनुष्यों के निरामिषभोजी होने के कारण उनके मुख्य खाद्य पदार्थ, जिनके द्वारा उनके बाल-बच्चो का पोषण होता है और जो स्वयं उनको पुष्ट करने के लिए आवश्यक हैं, दूध और घी हैं। अतएव म्यूनिसिपैलिटियों की ओर से इस बात का प्रयत्न होना चाहिए कि सस्ते दाम पर शुद्ध दूध और घी जनता को पूर्ण मात्रा मे मिल सके।

(८) राजयक्ष्मा के लिए विशेष अस्पताल खोले जाने चाहिएँ जहाँ पर केवल वही डाक्टर, जिन्होंने इस रोग-सम्बन्धी विशेष शिक्षा पाई है, नियुक्त हो। इस रोग के विशेष सफ़री अस्पताल भी होने चाहिएँ जो समय-समय पर गाँवों में जाते रहें।

(९) स्कूल के विद्यार्थियों का समय-समय पर निरीक्षण होना चाहिए। जो बच्चे रोग से ग्रस्त पाये जावें उनको पृथक् करके उनकी चिकित्सा का आयोजन होना चाहिए।

(१०) इसी प्रकार पशुओं के डाक्टरों द्वारा गौ, भैसों इत्यादि का निरीक्षण होना भी आवश्यक है जिससे पता लगता रहे कि कौन सी गौ रोग-ग्रस्त है। उसको पृथक् कर देना चाहिए।

(११) प्रत्येक सार्वजनिक स्थान में थूकने की मनाही हो। जिन लोगों के सम्बन्ध में मालूम हो कि वे रोग से ग्रस्त है उनको सार्वजनिक स्थानों में, जैसे थियेटर हाल, सिनेमा, सभा इत्यादि में, बैठने न देना चाहिए।

(१२) प्रत्येक प्रान्त में इस रोग के रोगियों की चिकित्सा के लिए सैनेटोरियम बनाये जायँ। इनकी संख्या अभी तक इतनी कम है कि जनता उनसे पूरा लाभ नहीं उठा सकती। इसके अतिरिक्त यहाँ पर व्यय भी बहुत होता है। इस कारण प्रत्येक नगर से कुछ दूर उचित स्थान पर इस प्रकार के सैनेटोरियम बना देने चाहिएँ कि रोगी वहाँ जाकर रह सकें। इन स्थानों मे एक पूर्ण शिक्षित डाक्टर की नियुक्ति होनी चाहिए।

निद्रालु रोग

यह रोग पश्चिमी और मध्य अफ़्रीका मे होता है और बारहों मास एक सा बना रहता है। जिन लोगों को नदियों के किनारे अथवा झीलों के पास रहना पड़ता है उनको यह रोग अधिक होता है। स्त्री, पुरुष, बालक, युवा सब को यह समान रूप से होता है।

कारण—इस रोग का कारण एक पराश्रयी होता है जो अमीबा की जाति का सदस्य है। किन्तु उसका आकार अमीबा से भिन्न होता है। यह लम्बा तर्क्वाकार जीव होता है जिसके शरीर में एक या दो मोड़ होते हैं। इसके शरीर के भीतर दो केन्द्र होते है। रोगी के रक्त में भिन्न-भिन्न समय पर इनकी भिन्न संख्या मिलती है। प्रायः ज्वर के आक्रमण के समय यह चर्म के रक्त में उपस्थित रहते हैं। वह शरीर की ग्रन्थियों में भी पहुँच जाते हैं जिससे ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। यह अन्य अङ्गो मे भी मिल सकते हैं; वे मस्तिष्क के भीतर तक पहुँच जाते हैं।

संवहन—इनको अपना जीवन-चक्र पूर्ण करने के लिए मनुष्य के अतिरिक्त एक विशेष प्रकार की मक्खी की आवश्यकता होती है जिसको सटसी-मक्खी कहते हैं। इस मक्खी मे भी कई उपजातियाँ हैं। किन्तु यह पराश्रयी केवल सटसी-मक्खी की 'ग्लौसिना पैल्पेलिस' नामक उपजाति की मक्खी में वृद्धि कर सकता है। अभी तक अन्य किसी भी ऐसी उपजाति का पता नहीं लगा है जिसमें यह पराश्रयी अपने जीवन-चक्र की दूसरी अवस्था पूर्ण कर सके। अतएव यही मक्खी रोग का संवहन करती है।

जब मक्खी किसी रोगी को काटती है तो यह पराश्रयी रक्त के साथ मक्खी के आमाशय के द्वारा मध्य अन्त्रि में पहुँचकर वृद्धि करते हैं और अन्त को भित्तियों में होते हुए मक्खी की लाला-ग्रन्थियों में पहुँच जाते है। यहाँ से वह, मक्खी के काटने पर, व्यक्ति के शरीर मे प्रविष्ट हो जाते हैं। मक्खी के शरीर में २० से ३० दिवस मे पराश्रयी की पूर्ण वृद्धि होती है। इसके पश्चात् मक्खी जिसको भी काटती है उसी के शरीर में रोग उत्पन्न कर देती है।

लक्षण—जिस स्थान पर मक्खी काटती है वहाँ शोथ, पीड़ा और खुजली उत्पन्न हो जाती है। रोगी को ज्वर आने लगता है जो कभी-कभी कई सप्ताह तक चलता है अथवा दो ही चार दिन में समाप्त हो जाता है। तत्पश्चात् दो-चार सप्ताह तक रोगी ज्वर से मुक्त रहता है। इसी प्रकार ज्वर के आक्रमण होते रहते हैं। कभी ज्वर १०४° या १०६° फे० तक हो जाता है तो कभी वह केवल १०१° या १०२° ही होता है। चर्म पर लाल रङ्ग के चकत्ते या दाने उभर आते है। रोगी को अत्यन्त दुर्बलता मालूम होती है जिसके कारण उसका कुछ भी काम करने को जी नहीं चाहता। वर्ण में पाण्डुता उत्पन्न हो जाती है। हृदय दुर्बल हो जाता है। लसीका ग्रन्थियाँ, जिनमें पराश्रयी प्रविष्ट होते हैं, आकार में बढ़ जाती हैं और कभी-कभी उनमे पीड़ा होने लगती है। इस अवस्था के पश्चात् कुछ लोग रोगमुक्त हो जाते हैं। किन्तु जिनमे सक्रमण प्रबल होता है उनकी दूसरी अवस्था, जिसको निद्रालु अवस्था कहते है, प्रारम्भ होती है।

यह रोग की अन्तिम अवस्था होती है। कभी-कभी वह रोग के प्रारम्भ के कई वर्षों पश्चात् उत्पन्न होती है। किन्तु प्रायः इतना समय नहीं लगता। मस्तिष्क और नाड़ी-मण्डल के आक्रान्त होते ही इस अवस्था के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी की दुर्बलता बढ़ जाती है। मुख पर क्लैव्यता के लक्षण दिखाई देते हैं। रोगी उत्साह-रहित होता है। यदि उससे कोई बात पूछी जावे तो वह धीरे-धीरे उत्तर देता है। बिना बोले-चाले चुपचाप पड़ा रहता है; प्रायः मूर्च्छित के समान दीखता है। भोजन में भी रुचि नहीं होती। किन्तु भोजन का पाचन उत्तम होता है।

कुछ समय के पश्चात् यह अवस्था और बढ़ जाती है। रोगी भोजन करते-करते सो जाता है। पेशियों में आक्षेपक होने लगते हैं। अन्त में ज्वर के आधिक्य, निमोनिया या प्रवाहिका से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

प्रतिषेध—इस रोग को नष्ट करने के उपाय मैलेरिया ही के समान हैं। रोगी को पृथक् कर उसको मक्खी से बचाना चाहिए। साथ में मक्खियों के नाश का भी पूर्ण उद्योग किया जाय।

इन मक्खियों के रहने का स्थान नदियों या झीलों के किनारे होता है। अतएव ऐसे स्थानों मे, जहाँ मक्खियाँ रहती है, निवास न करना चाहिए। यदि वहाँ जाना पडे तो शरीर की उचित वस्त्रो द्वारा रक्षा करना आवश्यक है। हाथों पर मोटे दस्ताने, टाँगों पर पट्टी और पाँवों में ऊँचे बूट पहिनने चाहिएँ। यह मक्खी प्रायः दिन मे काटती है। इस कारण इन स्थानों में रात्रि के समय यात्रा करनी चाहिए।

इस रोग मे संखिये के योग लाभदायक सिद्ध हुए हैं। ऐटोक्सिल नामक ओषधि द्वारा रोगी को, किसी ऐसे स्थान में पृथक् करके जो जाली से चारो ओर से सुरक्षित हो, नीरोग करने का उद्योग करना चाहिए।

बीसवाँ परिच्छेद

प्लेग—महामारी

प्लेग का नाम ही रोगग्रस्त व्यक्ति अथवा रोगी के सम्बन्धियों के हृदय को दहला देनेवाला है। जहाँ कोई व्यक्ति इस रोग से ग्रस्त होता है वहाँ के आस-पास के रहनेवालों को भी अपनी जान बचाने के लिए वहाँ से भागना पड़ता है। जब इस रोग का मरक फैलता है तो सम्पूर्ण परिवार और मोहल्ले उजड़ते हुए चले जाते है। हमारे देश मे सन् १८९८ से १९१८ तक एक करोड़ से अधिक व्यक्ति इस रोग के ग्रास हुए हैं।

इस रोग का उल्लेख सबसे पहिले रोम के ऐफ़सिस नामक प्रान्त के निवासी 'स्यूफ़स' ने किया है। उसने मिस्र, सीरिया और लाइबिया में फैले हुए अत्यन्त घातक मरक का वर्णन किया है। यह मरक ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में फैला था। इसके पश्चात् छठी शताब्दी में जुस्तीनिया के मरक का वर्णन पाया जाता है। चौदहवीं शताब्दी मे योरप मे रोग का भयङ्कर मरक फैला था जो इतिहास में 'ब्लैक डैथ' के नाम से प्रसिद्ध है। यह माना जाता है कि यह मरक चीन मे सन् १३३४ मे आरम्भ हुआ था। पन्द्रहवीं शताब्दी मे योरप में कई स्थानों मे यह रोग फैला। सन् १६६४ में लंदन में रोग का अत्यन्त भयानक मरक फैला था जिसको Great plague of London कहा जाता है। यह मरक एक वर्ष तक रहा और कम से कम ६३००० मनुष्यो की मृत्यु हुई। भारतवर्ष में सबसे पहले सम्राट् जहाँगीर के समय में सन् १६१२ में यह रोग फैला था। तत्पश्चात् १८१६ से १८१८ तक सिन्ध, गुजरात और कच्छ में रोग फैला रहा। सन् १८२३ में कुमाऊँ और १८३३ में राजस्थान में पावली नामक ग्राम से आरम्भ होकर रोग जोधपुर और मारवाड़ में फैला।

सन् १८९६ में बम्बई में रोग का प्रबल मरक फैला और वहाँ से संयुक्त-प्रान्त, मध्य प्रदेश, कलकत्ता, पञ्जाब इत्यादि प्रान्तों में फैल गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह रोग बम्बई में हौङ्कौङ्ग, कैंटन इत्यादि से आया था। उस समय रोग चीन के दक्षिण-पश्चिमी प्रान्त यूनान इत्यादि मे फैल रहा था। सौभाग्य से अभी तक मद्रास, पूर्वी बङ्गाल और आसाम इस रोग के शिकार नहीं हुए है।

इस रोग का ऋतु और काल के साथ विशेष सम्बन्ध प्रतीत होता है। यह रोग प्राय शरद् ऋतु में फैलता है। इसका सबसे अधिक प्राबल्य मार्च अथवा अप्रैल मे होता है। यह अक्तूबर से प्रारम्भ होता है; तब से मार्च तक बराबर बढ़ता रहता है। सबसे अधिक मृत्यु मार्च मे होती हैं। मई मे रोग कम हो जाता है। जून मे प्रायः कोई मृत्यु नहीं होती। वर्षा-काल मे रोग दबा रहता है। रोग के फैलने मे एक विशेष क्रम प्रतीत होता है। यह रोग प्रत्येक सत्तर वर्ष के अन्तर पर वेग से फैलता है और लगभग ३० वर्ष तक बना रहता है। तत्पश्चात् स्वयं समाप्त हो जाता है। इतिहास से पता लगता है कि दो बार ऐसा हो चुका है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि हमारे देश में यह रोग कुछ वर्षों मे समाप्त हो जायगा। इस समय भी रोग कमी पर है। सन् १८९८ से १९१८ तक एक करोड़ चालीस लाख के लगभग व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी। किन्तु सन् १९२१ से १९२५ तक दस लाख से कम मृत्यु हुई है।

कारण—इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको प्लेग का जीवाणु या 'बैसिलस पैस्टिस[1]' कहते हैं। इस जीवाणु की खोज सब से प्रथम जापानी वैज्ञानिक यर्सिन और किटास्टो ने सन् १८९४ में, जब हौङ्कौङ्ग मे मरक फैला था, की थी। यह बहुत छोटा जीवाणु होता है जिसके दोनों सिरे गोल और मोटे दिखाई देते हैं। जब दो या अधिक जीवाणु मिल जाते हैं तो वह व्यायाम करने के डम्बलों की भाँति दिखाई देने लगते हैं। कभी-कभी उनकी शृङ्खलाएँ दिखाई देती है। यह जीवाणु गति-सम्पन्न

१. Bacillus Pestis.

नहीं होता। यह साधारण रङ्गो, जैसे कार्बेल-फक्सिन[1] या मिथिलीनब्ल्यू, को ग्रहण कर लेता है। जब इसको रँगा जाता है तो प्राय: जीवाणु के मध्य भाग की अपेक्षा उसके दोनों सिरे अधिक रञ्जित हो जाते है। यह एक वायवीय जीवाणु है, यद्यपि अवायवीय दशाओं में भी यह वृद्धि कर सकता है। यह लसीका ग्रन्थियों या अन्य रोगग्रस्त भागों मे पाया जाता है; रक्त में भी मिल सकता है।
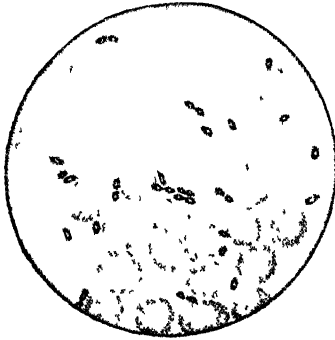
चित्र नं० १०४—प्लेग के जीवाणु

यह जीवाणु मनुष्य या जन्तुओं के शरीर के बाहर नहीं मिलता। शुष्क होने पर ६२° से ६५° शतांश के ताप से इसकी मृत्यु हो जाती है। साधारण जल मे तीन और स्रुत जल मे आठ दिवस तक जीवाणु जीवित रह सकता है। उसकी धूप से तीन या चार घण्टे मे मृत्यु हो जाती है।

रक्त और ग्रन्थियो के अतिरिक्त यकृत, प्लीहा, वृक्क, अन्त्रियों इत्यादि में भी जीवाणु मिलते हैं। फुस्फुसीय रोग मे फुस्फुस मे इनकी बहुत बड़ी संख्या पाई जाती है।

शरीर में प्रवेश के मार्ग—रोग का जीवाणु दो प्रकार से शरीर के भीतर प्रविष्ट हो सकता है—(१) चर्म छेदन के द्वारा अथवा (२) श्वास के साथ।

(१) चर्म-छेदन—यही सबसे साधारण विधि है। इसी कारण अन्य की अपेक्षा रोग का वह स्वरूप, जिसमें विद्रधि बन जाती है, अधिक साधारण है। रोग की संवाहक मक्खी काटते समय चर्म का छेदन करती है। जीवाणु मक्खी के मुख से निकलकर व्रण द्वारा शरीर के भीतर प्रवेश करते है, जहाँ से वह लसीका ग्रन्थियों इत्यादि में पहुँच जाते हैं। सम्भव है कि चर्म-छेदन किसी अन्य प्रकार से हो जावे जैसे खुजाने से या चोट से।

---

१. Carbol fuchsin.

ऐसी अवस्था में यदि जीवाणु चर्म पर उपस्थित होते है तो वह शरीर के भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं। रक्त चूसते समय प्लेग की मक्खी, जिसको साधारणतया चूहे की मक्खी कहा जाता है, अपने मुँह से जीवाणुओं को उगल देती है और मल द्वारा भी जीवाणुओं का त्याग करती है। इस प्रकार जीवाणु चर्म पर पहुँचकर व्रण द्वारा रक्त मे प्रविष्ट होते हैं।

(२) श्वास के द्वारा जीवाणु फुस्फुस के भीतर पहुँचकर फुस्फुस का प्लेग उत्पन्न कर देते हैं जिसको 'न्यूमोनिक प्लेग[१]' कहते हैं।

प्लेग और चूहे का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जब प्लेग फैलता है तो यह रोग प्रथम चूहों को होता है जिससे चूहो की बहुत बड़ी संख्या नष्ट होने लगती है। यह रोग का प्रथम सङ्केत होता है जिससे रोग फैलने की सूचना मिलती है। ख़रगोश, गिलहरी, बन्दर, चुहिया और विलायती चूहे (गिनीपिग[२]) इत्यादि जन्तु भी इस रोग से ग्रस्त होते हैं। इन जन्तुओ से रोग मनुष्यो को नहीं होता। किन्तु यदि इनमें से कोई रोगग्रस्त जन्तु काट ले तो रोग होना सम्भव है। घोड़े, बकरी, गौ और भेड़ रोग से अक्षम्य हैं। कुत्ते, कबूतर, सूअर, मुर्ग़े इत्यादि भी रोग से स्वत. मुक्त है। बिल्लियों को भी रोग सहज में नहीं होता।

चूहे और मनुष्यों में रोग फैलानेवाली एक विशेष मक्खी होती है जिसको ज़ैनोप्सिल्लाश्योपिस[३] कहते हैं। टेनोकिफ़ेलस केनिस[४] उपजाति की मक्खी भी, जो प्रायः कुत्तो को काटती है, रोग फैलाने मे भाग लेती है।

प्लेग की मक्खी—'यह मक्खियाँ उसी श्रेणी की सदस्य हैं जिसकी साधारण मक्खी है। किन्तु इनके पर नहीं होते। इस कारण वह उड़ नहीं सकती; केवल फुदकती है। प्लेग को फैलाने मे प्यूलैक्सश्योपिस[५], ज़ैनोप्सिल्लाश्योपिस, किरैटोफ़िल्लस फ़ैशियेटस[६] और प्यूलैक्स इर्रीटैंस[७] नामक उपजातियों की मक्खियाँ भाग लेती है। इनमें से भी प्यूलैक्सश्योपिस और

---

१. Pneumonic plague २ Guinea pigs. ३. Xenopsylla, Cheopis ४. Tenocephallus Canis. ५. Pulex Cheopis. ६. Ceratophyllus Fasciatus. ७. Pulex Irritans.

ज़ैनोप्सिल्लाश्येपिस का अधिक भाग होता है। हमारे देश मे ज़ैनोप्सिल्ला-श्येपिस प्लेग से आक्रान्त स्थानों में अधिक पाई जाती है।

चित्र नं० १०५—प्लेग की मक्खी

इस मक्खी के शरीर में शिर, वक्ष और उदर होते है। शिर के आगे और नीचे की ओर से एक लम्बी रक्त को चूसने की नली निकली रहती है, जिसमें बाहर की ओर कई जोड़ दिखाई देते हैं। चपटे शरीर के दोनों ओर स्थित लम्बी पतली टांगों में तीन जोड़े होते हैं जिन से सूक्ष्म बाल या काटे निकले रहते है।

रक्त चूसने की नली के नीचे की ओर दो तीव्र शलाकाएँ होती हे जिनसे मक्खी चर्म का छेदन करती है। इन शलाकाओ और नलिका ही की सहायता से मक्खी रक्त को चूसती है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों का आकार छोटा होता है।

यह मक्खियाँ गदे, पुराने मकानों मे बहुत पाई जाती है। जहाँ सील और अँधेरा रहता है वहाँ पर इनका निवास अधिक होता है। यह प्रकाश को पसन्द नहीं करतीं। पुरुष और स्त्री दोनों जाति रक्त चूसनेवाली होती हैं आर इस प्रकार रोग फैलाने में भाग लेती हैं। यह पृथ्वी से ६ इंच से अधिक ऊपर नहीं उठ सकतीं। इनकी लम्बाई लगभग २ से ३ मिलीमीटर होती है। यह मक्खी प्रथम चूहों पर आक्रमण करती है और मुख्यतया उन्हीं पर रहती है। किन्तु जब चूहों में रोग फैलता है तो उनमें से बहुत से मर जाते हैं और शेष स्थान को छोड़कर चले जाते है। जब तक चूहे बने रहते हैं तब तक वह रोगाक्रान्त अथवा स्वस्थ चूहों का रक्त चूसती रहती हैं। किन्तु जब उनको चूहे नहीं मिलते तब वे मनुष्य पर आक्रमण करती हैं।

रोगाक्रान्त चूहे के रक्त को चूसने के साथ रोग के जीवाणु मक्खी के शरीर के भीतर चले जाते हैं। वहाँ पर जीवाणुओं की वृद्धि होती है जिससे उनकी

संख्या बहुत बढ़ जाती है। मक्खी के मल के साथ यह उसके शरीर से निकलते रहते हैं। जब मक्खी काटती है तो उसके मुख से यह जीवाणु निकलकर व्रण में पहुँच जाते है। मक्खी के आमाशय और अन्त्रियों मे
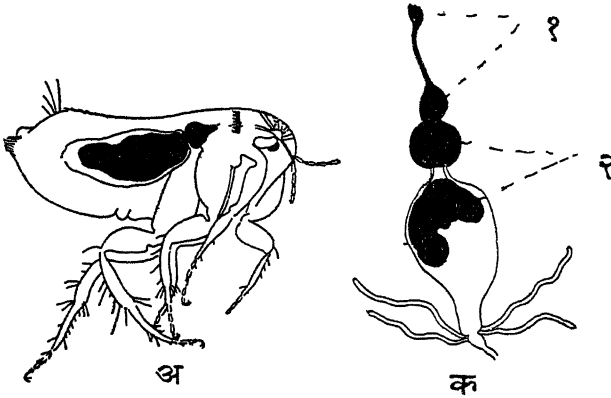
चित्र नं० १०६—चूहे की मक्खी के शरीर के भीतर जीवाणु; अ, समस्त मक्खी, क, मक्खी का आमाशय, पूर्व आमाशय और अन्न-प्रणाली इत्यादि जो जीवाणुओं से भरे हुए है (After manson)।

जीवाणुओं की संख्या इतनी बढ़ जाती है कि वह मक्खी की अन्न-प्रणाली आमाशय इत्यादि को भर देते हैं। इससे मक्खी अधिक रक्त चूसने में असमर्थ हो जाती है। वह प्यास से आर्त्त होकर अधिक रक्त चूसने का अत्यन्त प्रयत्न करती है। ऐसा करने में उसको वमन होता है और आमाशय और अन्न-प्रणाली से बहुत कुछ जीवाणु बाहर निकल आते हैं। और इस प्रकार व्रण के द्वारा शरीर के भीतर पहुँचकर रोग उत्पन्न करते हैं।

अन्य मक्खियों की भांति इनकी भी उत्पत्ति लार्वा और प्यूपा अवस्थाओं के द्वारा होती है। स्त्री मक्खी एक बार में लगभग १२ अण्डे देती है। इनको वह कूड़े, मल अथवा चूहे के शरीर पर रखती है। किन्तु वह वहाँ से गिर पड़ते हैं और कूड़े इत्यादि मे पड़े हुए वृद्धि करते रहते हैं। दो दिन के पश्चात् इन

श्वेत गोल अण्डो से कोमल लम्बे लार्वा बन जाते हैं जिनके टाँगे नही होतीं। इनके शरीर मे शिर और १२ भाग होते है। यह रेंगते हैं और भूमि के भीतर या दीवारों की दरारों अथवा कूड़े या मल मे छिप जाते है। सात दिवस के पश्चात् उनका आकार कुछ गोल हो जाता है और इनके ऊपर एक

चित्र नं० १०७—चूहे की मक्खी का लार्वा (After J. P. Modi)

कठिन आवरण बन जाता है। यह प्यूपा होते हैं। ५ से ८ दिन में इस प्यूपा से पूर्ण मक्खी बन जाती है।

चूहा—चूहे और प्लेग के मरक मे बहुत घना सम्बन्ध है। यह पाया गया है कि रोग फैलाने मे चूहा बहुत भाग लेता है। रोग सदा प्रथम चूहों में फैलता है। उसके पश्चात् मनुष्यों में फैलता है।

साधारण बड़े चूहे रोग को नहीं फैलाते। रोग को फैलानेवाले दो प्रकार के चूहे होते हैं जिनको 'मस डैक्यूमिनस'[1] और 'मस रैटस'[2] कहते हैं। प्रथम प्रकार का चूहा बम्बई और उसके पास के स्थानों मे पाया जाता है। यह अधिकतर पशुशालाओं मे अथवा जहाँ कूड़ा इत्यादि रहता है या नौकरों के रहने के मकानों के पास पाया गया है। मकान के भीतर वह केवल भोजन के लिए जाता है। यह चूहा देश के अन्य प्रान्तों में नहीं मिलता। मस रेटस नामक चूहा सब स्थानों में पाया जाता है। जहाँ मनुष्य रहते हैं वहाँ यह भी होता है। इस कारण यह मकान के भीतर ही बिल खोद-कर रहता है।

प्रथम प्रकार के चूहे का शरीर बड़ा और लम्बा होता है। उसका थूथन भी लम्बा होता है। पूँछ शरीर की अपेक्षा कम लम्बी होती है
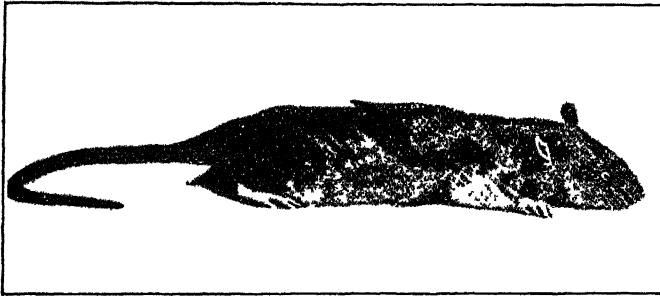
चित्र नं०—१०८ मस डैक्यूमीनस नामक चूहा

जिस पर कम से कम दो रङ्ग के बाल होते हैं। नीचे की अपेक्षा ऊपर का रङ्ग अधिक गहरा या काला होता है। दूसरे 'मस रेटस' चूहे का शरीर

१. Mus Decuminus. २. Mus Rattus.

छोटा होता है। इसका रङ्ग भी अधिक गहरा होता है। पूँछ शरीर की अपेक्षा अधिक लम्बी होती है। कान बड़े, उठे हुए और नोकीले और थूथन प्रथम चूहे के समान होता है। यह मकानों में बिल खोदकर रहता है और जहाँ भोजन रखा जाता है वहाँ सदा फिरता रहता है। अनाज तथा पके हुए भोजन के पदार्थ सब इसको रुचिकर होते हैं। यह चूहा सन्तानोत्पत्ति बहुत शीघ्रता से करता है। इस कारण इसकी संख्या शीघ्र ही बढ़ जाती है। कच्चे मकानो मे इनको बिल बनाने का बहुत सुभीता रहता है। इस कारण ऐसे मकानों में इनकी अधिक संख्या पाई जाती है। रोग फैलाने मे यह चूहा बहुत भाग लेता है। न तो यह २½ .फ़ुट से अधिक ऊँचा कूद सकता है और न चिकने सीधे स्थान पर नौ इंच से अधिक ऊपर चढ़ सकता है। इसको प्यास भी अधिक लगती है। इस कारण इसको भोजन के साथ पीने के लिए जल की भी आवश्यकता होती है।

यह पाया गया है कि मक्खी के बिना एक चूहे से दूसरे चूहे को या चूहे से मनुष्य को रोग नहीं हो सकता। जालीदार पिंजरे के भीतर एक रोगी
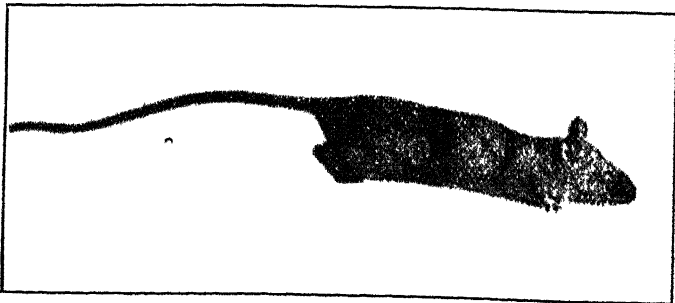
चित्र नं० १०४—'मस रैटस' नामक चूहा

चूहे के साथ स्वस्थ चूहे को रख दिया गया। किंतु रोगी या दूसरे चूहे के शरीर पर कोई मक्खी नहीं थी। इस प्रकार पिंजरे में चूहों को साथ रखने पर भी स्वस्थ चूहे को रोग नहीं हुआ। इसी भांति रोग चूहे से मनुष्य को भी नहीं होता। रोग होने के लिए मक्खी आवश्यक है।

यह भी पाया गया है कि जिन स्थानों में रोग अधिक होता है वहाँ के चूहों में रोग के प्रति कुछ क्षमता उत्पन्न हो जाती है। मद्रास और ढाका मे, जो प्रायः रोग-मुक्त है और कानपुर मे, जहाँ रोग बहुत होता है, चूहों पर प्रयोग किये गये थे। मद्रास और ढाका के चूहों के शरीर में रोग के जीवाणु प्रविष्ट करने पर उनकी मृत्यु १०० प्रतिशत हुई। किन्तु कानपुर के चूहों में यह संख्या कम रही। इन प्रयोगों और अन्वेषणों द्वारा यह भी पता लगा है कि कुछ चूहों में रोग जीर्ण रूप धारण कर लेता है। चूहों में आनेवाले रोग के अनुमान करने की कुछ शक्ति अवश्य मालूम होती है। कभी-कभी उनको रोग फैलने से पूर्व स्थान तथा गांव को छोड़कर भागते देखा गया है।

सम्प्राप्ति-काल साधारणतया दो से आठ दिवस है। कभी-कभी पन्द्रह दिवस पश्चात् रोग के लक्षण उत्पन्न होते देखे गये हैं।

लक्षण—प्रायः रोग अकस्मात् प्रारंभ होता है। कभी-कभी दो या तीन दिन तक जी मिचलाने, अस्वस्थता आदि के पश्चात् तीव्र शिर-पीड़ा के साथ ज्वर आरम्भ होता है।

एक या दो दिन के पश्चात् अथवा कुछ घण्टो ही में ज्वर १०३° या १०४° और कभी-कभी १०६° और १०७° फै० तक पहुँच जाता है। नाड़ी और श्वास तीव्र हो जाते हैं। प्यास बहुत लगती है। नेत्र भीतर को धँसे हुए और मुख पर चिन्ता और अत्यन्त विषाद के लक्षण दिखाई देते हैं। उन्माद के चिह्न उत्पन्न हो जाते हैं। कभी-कभी मूत्रासाध, पेशियो के आक्षेपक और अतिसार भी उत्पन्न हो जाते हैं। प्लीहा और यकृत् दोनो बढ़ जाते हैं। कुछ समय के पश्चात् हृदय प्रसरित हो जाता है। ७५% रोगियों मे प्रथम पाँच दिनों में प्लेग की विद्रधि उत्पन्न हो जाती है। ७० प्रतिशत रोगियों में यह ग्रन्थियाँ वंक्षण प्रान्त में दाहिनी ओर निकलती हैं। कक्ष, ग्रीवा और अधोहन्वस्थि के कोण के नीचे भी विद्रधि उत्पन्न हो सकती हैं। कभी-कभी यह ग्रन्थि अखरोट के बराबर बड़ी हो जाती हैं। इनमे तीव्र पीड़ा होती है। पीड़ा-रहित विद्रधि भी देखी जाती है।

तीसरे से पाँचवें दिन के बीच में प्रायः रोगी की हृद्यावसाध, आक्षेपक, आन्तरिक रक्तस्राव अथवा मूर्च्छा से मृत्यु हो जाती है। जब रोगी रोगमुक्त होने लगता है तो विद्रधि और अन्य लक्षण घटने आरंभ हो जाते हैं। ज्वर कम हो जाता है। नाड़ी की गति भी घटने लगती है। विद्रधि कुछ दिन में बैठ जाती है अथवा उससे पूय निकल जाती है। कभी-कभी कई सप्ताह के पश्चात् पूय निकलती है। कुछ रोगियों मे विद्रधि नहीं उत्पन्न होती।

फुरफुस के प्लेग मे निमोनिया के समान लक्षण होते है। वक्ष मे पीड़ा, श्वास-कष्ट, तीव्र ज्वर, शरीर-पीड़ा, अत्यन्त दौर्बल्य, वमन और अतिसार या कोष्ठबद्धता उत्पन्न हो जाती है। खाँसी के साथ बलग़म निकलता है जिसमे फेन और रक्त मिले रहते है। यह रोग अत्यन्त घातक होता है। उन्माद के साथ तीसरे या चौथे दिवस पर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

शारीरिक प्लेग—जीवाणु या विष सारे शरीर मे व्याप्त हो जाते है। ग्रन्थियाँ नहीं बढ़तीं। ज्वर भी प्रायः १००° या १०१° फ़ै० से अधिक नही होता। किन्तु रोगी को अत्यन्त दुर्बलता प्रतीत होती है। उन्माद के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अन्त को मूर्च्छा उत्पन्न होकर हृदयावसाध से मृत्यु हो जाती है।

मृत्यु-संख्या—फुस्फुसीय और शारीरिक रोग सदा घातक होते हैं। विद्रधि-युक्त प्लेग में मृत्यु-संख्या ६० से ९० और कभी-कभी ९३ प्रतिशत होती है। रोगी की सेवा-शुश्रूषा, उसके रहन-सहन और चारों ओर की दशाओं का भी मृत्यु-संख्या पर बहुत प्रभाव होता है। एक ही मरक में भिन्न-भिन्न जातियों में मृत्यु-संख्या भिन्न हो सकती है। हौङ्ग-कौङ्ग के मरक में चीनियों में, जिनके निवास स्थान गन्दे थे और रहन-सहन भी अस्वच्छ था, ९३.४ प्रतिशत मृत्यु हुई; किन्तु योरुपियन समुदाय में केवल १९ प्रतिशत और जापानियों में ६० प्रतिशत मृत्यु हुई थी।

रोग के फैलने के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का, जिसका महाशय दास ने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है, ध्यान रखना चाहिए—

(१) विद्रधि-युक्त रोग केवल चूहों पर निर्भर करता है।

(२) रोग एक चूहे से दूसरे चूहे और चूहे से मनुष्य में मक्खी द्वारा फैलता है।

(३) रोग एक स्थान से दूसरे स्थान मे भी इन मक्खियों ही के द्वारा फैलता है जो मनुष्यों के साथ उनके देह, वस्त्र या अन्य वस्तुओं द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचती हैं।

(४) रोगी के संपर्क से रोग नहीं उत्पन्न होता।

(५) अस्वच्छता से रोग के फैलने मे बहुत सहायता मिलती है। नगर के पूर्ण स्वच्छ न होने पर नगर के भिन्न-भिन्न स्थानों में रोग शीघ्रता से फैलता है।

(६) मनुष्यों मे फैलने से पूर्व रोग चूहों में फैलता है।

(७) चूहे और प्लेग का अभिन्न सम्बन्ध है। इस कारण जहां चूहे अधिक होते हैं वहाँ रोग भी अधिक फैलता है। नगर या गांव के भिन्न भागो मे चूहों ही के द्वारा रोग फैलता है। प्रायः चूहे बहुत दूर तक नहीं जाया करते। किन्तु वह व्यक्तियो के वस्त्रो, अनाज की बोरियों इत्यादि में बन्द होकर दूर तक पहुँच सकते है। बहुधा देखने में आया है कि नगर के एक भाग मे रोग होता है, किन्तु दूसरा भाग रोग से मुक्त रहता है। इसका कारण चूहों के बहुत दूर न जाने का स्वभाव होता है।

(८) मकानों की अस्वच्छता, भोजन या भोज्य वस्तु के टुकड़ों का भूमि पर पड़ा रहना, मकान का सील-युक्त और प्रकाशहीन होना, पशु, उनका चारा और स्वयं व्यक्तियों का एक ही मकान में रहना इत्यादि गन्दी दशाएँ रोग उत्पन्न होने में सहायता देती हैं। यदि भूमि पर पड़े हुए भोज्य पदार्थ चूहों को खाने को न मिलें तो वह स्वयं ही कुछ समय में मकान को छोड़कर चले जायँगे।

(९) मक्खी की वृद्धि में वायुमण्डल के तापक्रम और आर्द्रता दोनों से सहायता मिलती है। वर्षा का अधिक होना भी रोगोत्पत्ति में सहायता देता है। वर्षा के कम होने से रोग के फैलने में बाधा पड़ती है।

मनुष्यों की अपेक्षा रोग स्त्रियों को अधिक होता है। इसका कारण उनका सदा मकान के भीतर रहना है। रसोई इत्यादि में भी उनको अधिक रहना पड़ता है। इस कारण प्लेग की मक्खी को स्त्रियों को काटने का अवसर अधिक मिलता है। बच्चों को रोग कम होता है।

प्रतिषेध—रोग को रोकने के उपाय ऊपर कही हुई बातों पर निर्भर करते है। अतएव चूहों का नाश, स्थान की स्वच्छता, विसंक्रामण विधियों द्वारा प्लेग की मक्खी को नष्ट करना, रोगियो को पृथक् करके उनकी चिकित्सा का उचित आयोजन करना, नगर के प्रत्येक स्थान को स्वच्छ रखना, आक्रान्त स्थान से स्वस्थ स्थान मे व्यक्तियों को न जाने देना इत्यादि रोग को रोकने के विशेष उपाय है।

चूहों का नाश—प्लेग और चूहो के सम्बन्ध को देखकर यह कहा जा सकता है कि यदि चूहे मनुष्य के सम्पर्क में न आवे अथवा मनुष्यों के रहने के स्थान चूहों से पूर्णतया मुक्त हो तो मनुष्यों में रोग नहीं फैल सकता। इस कारण रोग को रोकने के लिये चूहो का नाश करना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना मकान पूर्णतया स्वच्छ रखना चाहिए। भोज्य पदार्थ ऐसे स्थान पर रखे रहें जहाँ चूहे न पहुँच सके। फ़र्श पर भोज्य पदार्थ रखना उचित नहीं। यदि भोज्य पदार्थ के कुछ टुकड़े फ़र्श पर गिर जावें तो उनको वहा से हटाकर जला देना चाहिए जिससे वह चूहों को न मिलने पावें। जिन स्थानों में अनाज और शर्करा रखे जाते है उनकी ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। इन स्थानों में हवा और धूप के आने के लिए पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिए। इनके फ़र्श पक्के सीमेंट के बने हों; जितनी ऊँचाई तक अनाज की बोरियाँ रखनी हों वहां तक दीवारें भी इसी प्रकार की बनाई जावें। नगर में रोग फैलने पर धूम्रीकरण द्वारा इन स्थानों का विसंक्रामण हो। समय-समय पर इन स्थानों को खोलकर देखते रहना चाहिए कि वहाँ चूहो ने बिल तो नहीं बना लिये हैं।

रहने के मकान इस प्रकार के बनाये जाँय कि उनमें चूहे प्रवेश न कर सकें। सीमेंट और ईंट के बने हुए पक्के मकान चूहों के लिये अभेद्य होते हैं। इंगलैंड इत्यादि में, जहाँ इस प्रकार के मकान बनाये जाते हैं, चूहे मकानों के भीतर नहीं जा सकते। इस कारण यद्यपि सफ़ौक, ग्लासगो, ब्रिस्टल इत्यादि में एक या दो बार चूहों में रोग फैल चुका है, किन्तु चूहे और मनुष्यों का सम्पर्क न होने से वह मनुष्यों मे नहीं फैला। मकान की नींव, फ़र्श, छत और दीवार सब ऐसी ही बनी हो। मोरियों के अन्त पर, जहाँ वह मकान से बाहर निकलती हैं, लोहे की मोटी जाली जो इसी प्रयोजन के लिए बनाई जाती है और बाज़ार में मिलती है, लगानी चाहिए। चूहों में कुतरने की बहुत शक्ति होती है। इसलिए दरवाज़े और खिड़कियों के नीचे की ओर लोहे की चादर का टुकड़ा लगा दिया जाय।

यदि मकान के भीतर चूहों के बिल हों तो उनको पत्थर ईंटों के टुकड़े, चीनी मिट्टी के बर्त्तनों के टुकड़े, टीन या लोहे के नोकदार टुकड़े, बालू इत्यादि को भरकर सीमेंट से बन्द कर देना चाहिए।

चूहों का पूर्णतया नाश करना असम्भव है, किन्तु उचित उपायों से उनकी संख्या अवश्य घटाई जा सकती है। ऊपर बताये हुए उपाय के अतिरिक्त चूहों को मारने के लिए कई प्रकार के विषो का प्रयोग किया जाता है। इनमें 'बेरियम कार्बोनेट' सबसे उत्तम है। मनुष्य और पशुओं पर इसकी कोई क्रिया नहीं होती। इसके अतिरिक्त चूहे इसको पहिचान भी नही पाते। १½ ग्रेन बेरियम कार्बोनेट एक चूहे को मारने के लिए पर्याप्त है। आटे और जल के साथ मिला देने पर चूहे उसको सहज मे खा जाते हैं। किन्तु इस वस्तु को उस अन्न के आटे के साथ मिलाना चाहिए जिसको उस विशेष स्थान के निवासी अधिक प्रयोग करते हों। तीन सेर आटे में एक सेर बेरियम कार्बोनेट और पर्याप्त जल मिलाकर उसकी २४०० गोलियाँ बनाई जा सकती है। इस प्रकार प्रत्येक गोली में ३ ग्रेन बेरियम कार्बोनेट होगा। इनको बनाते समय इस बात का ध्यान रहे कि उनमें कोई भी गन्धयुक्त वस्तु

न मिलने पावे। यदि गोली मे तनिक भी गन्ध आ जायगी तो चूहे उसको छोड़कर भाग जायँगे।

रात्रि के समय इन गोलियों को ऐसे स्थानों पर रख देना चाहिए जहाँ चूहो के जाने की अधिक सम्भावना हो। चूहो के बिलो के भीतर भी एक या दो गोली डाल देनी चाहिए। जब यह प्रयोग किये जावे तो उन दिनों मे मकान मे रहनेवालो को खाने के सब प्रकार के भोज्य पदार्थ पूर्ण-तया बन्द करके रखने चाहिएँ जिससे चूहो को खाने के लिए कुछ भी न मिल सके। रात्रि को गोलियों को रखते समय उनको गिन लिया जाय। प्रातःकाल उठकर उनको फिर गिना जावे जिससे मालूम हो सके कि चूहो ने कितनी गोलियां खाई है। इन गोलियों को ताज़ा बनाना चाहिए; एक या दो दिन रखने पर गोली कड़ी हो जाती है और उनको चूहे नहीं खाते।

फ़ास्फ़ोरस को साधारण आटे और चीनी के साथ मिलाकर चूहो को मारने के काम में लाया जाता है। इसकी भी पूर्ववत् गोली या टिक्की बनाकर चूहे को खाने के लिए दी जाती है। यह वस्तु बेरियम कार्बोनेट की अपेक्षा अधिक बिषैली है और जन्तु, कीड़े और मनुष्य सबो पर एक सा प्रभाव डालती है। इसके अतिरिक्त चूहे इसको पहिचान लेते हैं और नहीं खाते। सन् १९१४ में पञ्जाब में कर्नल लेन ने चूहों को मारने के लिए एक प्रकार की बत्तियां बनाई थीं जिनको नीम-बत्ती कहते हैं। वह अब भी जलन्धर में Punjab Plague Equipment Depot मे निम्नलिखित प्रकार से तैयार की जाती हैं—

गन्धक का चूर्ण—२ ड्राम
पोटाशियम क्लोरेट—२ ,,
पोटाशियम नाइट्रेट—१½ ,,
तैल (अंडी या तिल्ली आदि) ४ ,,
मिर्च के बीज का चूर्ण—१ ,,
नीम की पिसी हुई सूखी पत्ती—एक मुट्ठी भर

इन सब वस्तुओं को तेल मे मिलाकर एक लेई सी बना ली जाती है। तत्पश्चात् किसी मोटे वस्त्र की बनी हुई ८ या ९ इंच लम्बी बत्ती को पोटाशियम क्लोरेट के विलयन मे भिगोकर उस पर इस लेई को लपेट दिया जाता है। ऊपर का आधा या एक इंच भाग खुला छोड़ दिया जाता है। लेई के ऊपर एक वस्त्र और सबके ऊपर एक मोटा काग़ज़ लपेट दिया जाता है।

प्रयोग करने के समय चूहों के बिल या दीवार की दरारों को भली भाँति बन्द कर दिया जाता है। किन्तु उनमे इतना बड़ा छिद्र छोड़ दिया जाता है कि उसके द्वारा बत्ती को भीतर प्रविष्ट किया जा सके। तत्पश्चात् बत्ती को जलाकर उस छिद्र द्वारा बिलों के भीतर प्रविष्ट करके छिद्र को बन्द कर देते हैं। बत्ती के जलने से जो धुवाँ उत्पन्न होता है उससे चूहो की मृत्यु हो जाती है। ३ फुट लम्बे बिल में उपस्थित चूहे या प्लेग की मक्खी ५ मिनट मे मर जाती हैं।

चूहेदान—चूहों को पकड़ने के लिए चूहेदानों का प्रयोग करना चाहिए। प्रत्येक मकान में सप्ताह मे कम से कम एक बार चूहेदान अवश्य लगाया जावे। किन्तु एक ही प्रकार का चूहेदान दो या तीन बार से अधिक प्रयोग न किया जाय। चूहे चूहेदान को पहिचान लेते हैं और फिर उसके भीतर नहीं जाते। इन चूहेदानों मे जितने चूहे पकड़े जावें उनको फ़िनाइल के घोल अथवा मिट्टी के तेल से भरी हुई बाल्टियों में डुबोकर मारने के पश्चात् उनके शरीरों को जलवा देना चाहिए। डाक्टर मोदी की सम्मति है कि पकड़े हुए चूहों मे से केवल चुहियों को मारना आवश्यक है। चूहों को छोड़ देना चाहिए। यह चूहे अपने लिए स्त्री प्राप्त करने के हेतु आपस में लड़ेंगे, और उससे उनका स्वयं नाश होगा।

चूहे की मक्खियों के नाश का उद्योग अवश्य करना चाहिए। इनके लार्वे अँधेरे सीलदार कमरों के फ़र्शों की दरारों में या गन्दे कोनो मे रहते हैं। अतएव इन्हीं स्थानों पर नैप्थलीन डालना चाहिए। रात्रि भर रहने के पश्चात् उसको प्रातःकाल झाड़ दिया जाय। इससे मक्खियों का भी

नाश होता है। पेस्टरीन, फ़िनाइल, रसकपूर, फ़ारमेलीन, क्लोरोफ़ार्म इत्यादि वस्तुओं से मक्खिया शीघ्र ही नष्ट होती है। पञ्जाब के चीफ़ प्लेग आफ़िसर लफ़्टिनेंट कर्नल लेन, आई० एम० एस० मक्खियो का नाश करने के लिए क्रियोज़ाल का प्रयोग करते हैं। इस वस्तु से मक्खियाँ मर जाती हैं, किन्तु मनुष्य और जन्तुओ को किसी प्रकार की हानि नही पहुँचती। क्रियोज़ाल को किसी पात्र मे भरकर धीमी आग पर रख देना चाहिए। इससे उसके वाष्प बनकर कमरे मे फैल जायँगे। यदि आग तीव्र या ज्वालायुक्त होगी तो उससे क्रियोज़ाल भी जलने लगेगा। इससे इच्छित लाभ नहीं होगा। चार या पाच उपलों की अग्नि पर किसी हलके बरतन मे १ छटाक क्रियोज़ाल रखकर कमरे को बन्द कर देना चाहिए। रात्रि भर बन्द रहने के पश्चात् उसको प्रातःकाल खोला जा सकता है।

मकानों को छोड़ना—जब प्लेग फैलता है तो सदा प्रथम चूहे मरने प्रारम्भ होते है। यह प्लेग की सूचना होती है। इस कारण चूहो के मरते ही मकान मे रहनेवालों को मकान छोड़ देना चाहिए। उनके रहने के लिए रोगाक्रान्त स्थान से तीन या चार मील की दूरी पर झोपड़ियाँ बना दी जायँ। एक नगर से मकान का सारा असबाब लेकर किसी दूसरे नगर में जाना ठीक नहीं। असबाब के साथ रोग के चूहे या मक्खियाँ भी जा सकती हैं। इस कारण झोपड़ियों में जाते समय केवल बहुत ही आवश्यक सामान ले जाना चाहिए। मकान वालों की अनुपस्थिति में मकान और असबाब की रक्षा करने के लिए म्युनिसिपेलिटी अथवा पुलिस की ओर से प्रबन्ध होना आवश्यक है।

जब नगर में रोग शान्त हो जावे तो मकान का पूर्ण विसंक्रामण करवाने के पश्चात् उसमें रहना उचित है।

प्लेग का टीका—विशूचिका के टीके के समान प्लेग का भी टीका लगाया जाता है। वास्तव में विशूचिका का टीका प्लेग के टीके के पश्चात् आरम्भ हुआ है। प्लेग के मृत जीवाणुओं से वैक्सीन तैयार की जाती है और उसमें ५% कारबोलिक अम्ल मिलाकर या गरम करके उसको शुद्ध

कर लिया जाता है। भिन्न-भिन्न आयुवालों को इसकी भिन्न-भिन्न मात्रा का इंजेक्शन दिया जाता है। बाहु में अंसाच्छादनी पेशी के निवेश के तनिक ऊपर इस वस्तु को प्रविष्ट करना चाहिए। इंजेक्शन के एक या दो दिन पश्चात् तक कुछ ज्वर रहता है। तत्पश्चात् शरीर मे रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है जो एक वर्ष भर रहती है। कुछ लोगों की सम्मति है कि इंजेक्शन के पश्चात् व्यक्ति २० मास के लिए रोगक्षम हो जाता है।

इस टीके के सम्बन्ध में एक कमीशन नियुक्त किया गया था। उसने बहुत परिश्रम के साथ अन्वेषण करने के पश्चात् रिपोर्ट में लिखा है कि टीके से किसी प्रकार की हानि नहीं होती। जिनको टीका दिया जाता है वह रोग-मुक्त रहते हैं। यदि किसी को रोग हो भी जाता है तो वह रोग से बच जाता है। बिना टीका लगवाये हुए व्यक्तियों को टीका लगवाये हुए व्यक्तियो की अपेक्षा रोग अधिक होता है और उनकी मृत्यु भी अधिक होती है। महाशय ग्लेन लिस्टन ने लिखा है कि टीका लगे हुए व्यक्तियों को ८ प्रति सहस्र रोग हुआ और उनमें से २६.५ प्रतिशत की मृत्यु हुई। बिना टीका लगवाये हुए व्यक्तियों में से ३४ प्रति सहस्र को रोग हुआ और उनमे से ७२ प्रतिशत की मृत्यु हुई।

रोग फैलने के पूर्व या उसके प्रारंभ होते ही टीका लगवाना उचित है। रोगाक्रान्त होने के पश्चात् टीके से कुछ लाभ नहीं। टीका लगवाने के दस दिवस के पश्चात् रोग-क्षमता उत्पन्न होती है।

टीके की वस्तु या वैक्सीन बम्बई मे, परेल की प्रयोगशाला मे, बनाई जाती है। वह अन्य कई स्थानों पर भी बनती है और २० सी० सी० की मात्रा मे बोतलों में भरकर भेजी जाती है। प्रयोग के समय इन छोटी बोतलों के मुँह को तोड़कर वैक्सीन को विशेष प्रकार से शुद्ध की हुई पिचकारी में भरकर इंजेक्शन दिया जाता है।

कमरे का विसंक्रामण—रोगी के रोगमुक्त होने या उसकी मृत्यु के पश्चात् मकान का और विशेषकर उस कमरे का, जिसमे वह रहता था, पूर्ण विसंक्रामण होना चाहिए। विसंक्रामण का मुख्य अभिप्राय प्लेग

की मक्खियों और चूहों का नाश करना होता है। उससे कमरे मे उपस्थित रोग के जीवाणु भी नष्ट होते हैं। प्लेग कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार साधारण चूने के बने हुए कमरे के फ़र्श चौबीस घण्टे और कच्चे, गोबर से लिपे हुए, फ़र्श ४८ घण्टे के पश्चात् संक्रामक नहीं रहते।

कमरे के विसंक्रामण के लिए प्रायः मिट्टी का तेल, सिल्लिन, फ़ारमेलीन और पेस्टरीन को प्रयोग किया जाता है। कमरे के फ़र्श को मिट्टी के तेल या पेस्टरीन से भिगो देना चाहिए। एक वर्ग गज़ स्थान के लिए १० छटांक तेल आवश्यक है। फ़र्श में जो दरार या बिल इत्यादि हों उन पर विशेष ध्यान दिया जाय। प्रत्येक दरार और बिल में भी दो या चार छटांक तेल डाल देना चाहिए। दो फुट ऊँचाई तक दीवारों को भी तेल से रगड़ना उचित है; प्लेग की मक्खी इससे अधिक ऊँची नही कूद सकती। जो लोग कमरे का विसंक्रामण करें उनको कमरे के भीतर जाने के पूर्व टांगो पर फ़ारमेलीन, मिट्टी का तेल या पेस्टरीन मल लेनी चाहिए। कमरे की छत और दीवारों के ऊँचे भागों का विसंक्रामण बहुत आवश्यक नहीं है। उन पर चूने की सफ़ेदी करवा देना उत्तम है।

रोगी के वस्त्र इत्यादि, जिनका उसने रोग के दिनों में प्रयोग किया हो, जलवा देने चाहिएँ। जो वस्तुएँ जलवाई न जा सकें, उनका भाप या अन्य उपायों द्वारा पूर्ण विसंक्रामण किया जाय।

फुस्फुस का रोग बहुत भयानक होता है। इस कारण कमरे के प्रत्येक भाग का विसंक्रामण आवश्यक है। जो लोग रोगी की सेवा करें उनको सदा अपने मुँह पर एक तिकोना वस्त्र लगाये रहना चाहिए जिसके तीनों कोनों पर पीछे की ओर बांधने के लिए फ़ीते लगे हों। इस वस्त्र में औषधि-युक्त रुई रखी रहनी चाहिए।

प्लेग को पूर्णतया रोकने के लिए केवल चूहों का नाश करना और टीका लगाना पर्याप्त नहीं है। जब तक पक्के उत्तम मकान बनाकर चूहों और मनुष्यों के संसर्ग को पूर्णतया न रोका जायगा, तब तक रोग को समूल नष्ट नहीं किया जा सकता।

कालाज़ार

यह रोग हमारे देश के पूर्वीय प्रान्तो में पाया जाता है। बंगाल और विशेषकर आसाम में इस रोग से अधिक व्यक्ति आक्रान्त होते हैं। आसाम में सन् १८६९ में कर्मचारियों का ध्यान इस रोग की ओर आकृष्ट हुआ था। वहाँ पर कई बार यह रोग इतनी प्रबलता से फैला था कि गांव के गांव उजड़ गये; गारो नामक पार्वतीय प्रान्त मे विशेषतया बहुत मृत्यु हुईं थीं। पश्चिमी प्रान्तों पञ्जाब, राजस्थान, सिन्ध अथवा संयुक्त प्रान्त के पश्चिमी भाग मे यह रोग बिल्कुल नही होता। बनारस को इस रोग की सीमा कहा जा सकता है। मद्रास और दक्षिण-पूर्वी भागों में भी रोग बहुत होता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि पश्चिमी घाट का प्रान्त इस रोग से बिल्कुल मुक्त नहीं है। यह प्रतीत होता है कि ४००० फ़ुट से अधिक ऊँचाई पर रोग नहीं होता। शिलौंग के प्रान्त में, जो ५००० फ़ुट ऊँचा है, यह रोग नहीं पाया जाता, यद्यपि उसके चारों ओर का प्रान्त रोग का घर है।

भारतवर्ष के अतिरिक्त रोग चीन, सूदान, तुर्किस्तान, माल्टा, ग्रीस, इटली, एशिया माइनर, मोराको, ऐल्जीरिया, मिस्र और रूस के कुछ प्रान्तों मे होता है।

रोग का कारण—यह रोग एक पराश्रयी के कारण उत्पन्न होता है जिसका पता सबसे पूर्व सन् १९०३ में विलियम लीशमैन ने लगाया था। महाशय डैानोवेन ने भी इसी समय पर मद्रास में इस रोग से मरे हुए कुछ सैनिकों की प्लीहा में इन पराश्रयियों को देखा था। इस कारण इस खोज का श्रेय लीशमैन और डैानोवेन दोनों को दिया जाता है और पराश्रयी को 'लीशमैन डैानोवेन पराश्रयी' कहा जाता है।

यह पराश्रयी छोटे और गोल अथवा अण्डाकार होते हैं। जैसा चित्र में दिखाया गया है; इनके शरीर में दो केन्द्र होते हैं—एक छोटा और गोल और दूसरा लम्बा डण्डे के आकार का, जो प्रथम केन्द्र के पास ही रहता है। इनके बाहर एक आवरण होता है। यह पराश्रयी प्रायः बृहद् एक-केन्द्री कोषाणुओं

में रहते है। यह शरीर के सब भागों में पाये जा सकते है, विशेषतया प्लीहा मे इनकी संख्या अधिक होती है। ज्वर के समय रक्त में इनकी संख्या बढ़ जाती है। यह यकृत्, अस्थि, मज्जा और लसीका ग्रन्थियों में भी पाये गये है। इनकी वृद्धि विभजन के द्वारा होती है। किसी उचित माध्यम मे, जैसे हीमोग्लोबिन-युक्त आगर माध्यम में २२° शतांश तापक्रम पर, रखने से इनकी उत्तम वृद्धि होती है। इससे चित्र में दिखाये समान पिण्ड बन जाते है। यह पराश्रयी के जीवन-चक्र की वास्तव में दूसरी अवस्था है जिसके पूर्ण होने के लिए इसको मनुष्य के अतिरिक्त किसी दूसरे कीट इत्यादि आश्रयदाता की आवश्यकता होती है।

रोग का संवहन—कुछ विद्वानों का विचार था कि रोग के पराश्रयी का संवहन खटमल के द्वारा होता है। कुत्तो पर रहनेवाली मक्खियों पर कुछ
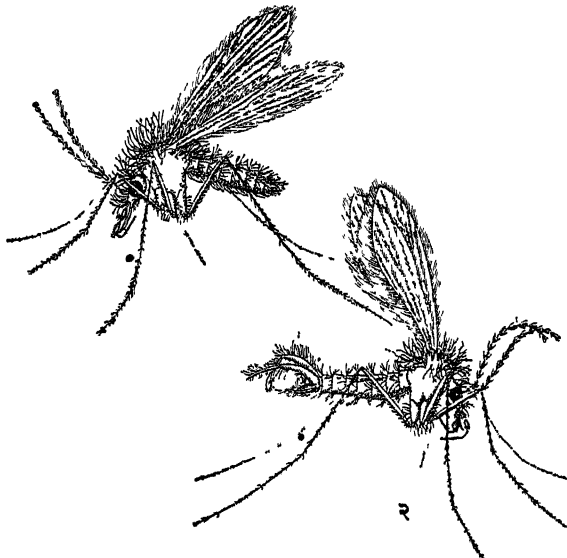
चित्र नं० ११०—'फ़्लिबोटेमस आर्जेन्टीपेस' नामक मरुमक्खिका १. पुरुष, २. स्त्री।

लोगों का सन्देह था। किन्तु प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुका है कि इन दोनों

कालाज़ार के लीशमन-डोनोवन पिंड

जन्तुओं द्वारा रोग का संवहन नहीं होता। इसी प्रकार मक्खी, जूँ, जल इत्यादि के द्वारा भी रोग का संवहन असत्य प्रमाणित हुआ है।

कलकत्ते के ट्रोपिकल स्कूल-आफ़-मेडिसन में इस रोग का बहुत अनुसन्धान किया गया है। महाशय नोल्स, नेपियर, स्मिथ इत्यादि व्यक्तियों का कार्य सराहनीय है। इन लोगो की खोज के अनुसार 'फ्लिबोटेमस आर्जेंटीपेस,'[1] जो मरु-मक्षिका जाति की एक सदस्य है, इस रोग का संवहन करती है। इस मक्खी को एक रोगाक्रान्त व्यक्ति का रक्त खिलाया गया। तीन से पाँच दिन के पश्चात् पराश्रयी के दूसरे स्वरूप, जैसे कि किसी माध्यम में उगाने से उत्पन्न होते हैं, मक्खी की अन्त्रियों मे मिले। न केवल यही किन्तु दो या तीन बार रक्त खिलाने पर सात-आठ दिन के पश्चात् यह गति-सम्पन्न स्वरूप मक्खी के गले मे मुख की ओर को गति करते हुए देखे गये।

इन अनुसन्धानों के अनुसार इस मक्खी ही को रोग का वाहक माना जाता है। रोगी को काटने के सात या आठ दिन पश्चात् मक्खी मे पराश्रयियों को मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट करने की शक्ति आ जाती है।

मरु-मक्षिका—साधारणतया दो प्रकार की मक्खियों को इस नाम से सम्बोधन किया जाता है, एक सिमुलम[2] और दूसरी फ्लिबोटेमस[3]। दूसरी मक्खी वास्तव में मरु-मक्षिका है जो कई प्रकार के ज्वर फैलानेवाली मानी जाती है। इसकी कई उपजातियाँ हमारे देश में मिलती है, जिनमे फ्लिबोटेमस पेपेटेसाई[4], फ्लि० आर्जेंटीपेस, फ्लि० माइन्यूटस[5], फ्लि० मोलेस्टेंस[6], फ्लि० सर्जेंटाई[7] विशेषकर अधिक पाई जाती हैं। इनमें फ्लि० आर्जेंटीपेस को विशेषकर कालाज़ार का संवाहक माना जाता है। सम्भव है कि फ्लि० पेपेटेसाई और फ्लि० माइन्यूटस भी रोग के संवहन मे भाग लेती हो।

---

१. Phleobotamus Argentipes. २. Simulum. ३. Phleobotamus. ४. P. Papatasii. ५. P. minutus. ६. P. molestans. ७. P. Sergentii.

यह मक्खियाँ छोटी और कुछ भूरे रङ्ग की होती हैं। इनका शरीर बीच से मुड़ा होता है। शरीर और परों पर बाल होते हैं। पर चौड़े नहीं होते। उनमें लम्बी-लम्बी धारियाँ होती है। उनकी टाँगे पतली और लम्बी होती हैं और उदर मे दस भाग होते हैं। अन्तिम भाग पर जननेन्द्रियाँ स्थित होती है। मुख मे चर्म भेदन और रक्त चूसने के लिए डङ्क होता है।

यह मक्खिया अँधेरे और ठण्डे स्थानों में पाई जाती है, और दिन में स्नानागार, शौच-स्थान अथवा गोदाम इत्यादि में छिपी रहती है। यह धूप तथा तीव्र प्रकाश को सहन नहीं कर सकतीं। किन्तु धीमा प्रकाश इनको आकर्षित करता प्रतीत होता है। यह सन्ध्या और रात्रि को अपने स्थानों से निकलकर काटती है। दिन में भी इनको काटते हुए देखा गया है। किन्तु वह केवल ऐसी ही रात्रि में निकलती हैं जब वायु का प्रवाह तीव्र नहीं होता और ठण्ड भी अधिक नहीं होती।
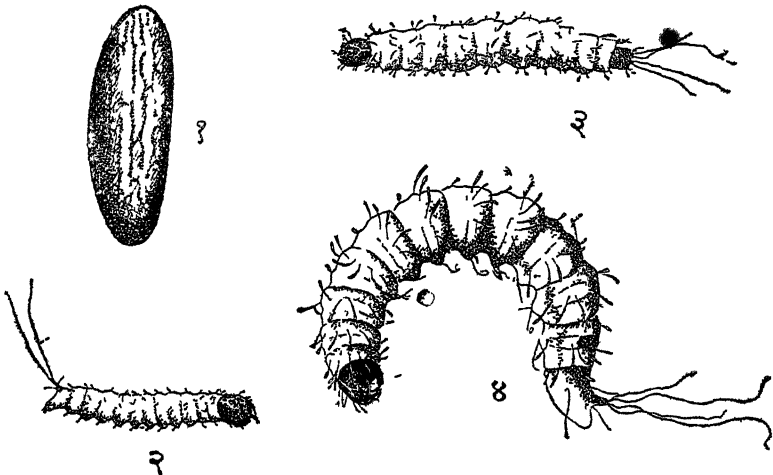
चित्र नं० १११ मरुमक्षिका के अंडे और लार्वे।

१. अण्डा, २. दो दिन का लार्वा, ३. तेरह दिन का लार्वा, ४. बाईस दिन का लार्वा (After Manson)।

मच्छरों की भांति केवल स्त्रियां ही काटती है। कुछ उपजातियों में पुरुषों मे भी काटने और रक्त चूसने की शक्ति होती है। इनके काटने से स्थान लाल और शोथ युक्त हो जाता है और वहाँ पीड़ा होती है। आकार छोटा होने के कारण वह साधारण मसहरी के भीतर घुस जाती है। इस कारण इनसे बचने के लिए बारीक जाली की मसहरी आवश्यक है। जब यह मक्खी भूखी होती है तो कुत्ते, गौ, बकरी इत्यादि जन्तुओं पर भी आक्रमण करती है। इनको सर्प, मेंढक, गिलहरी इत्यादि पर भी आक्रमण करते देखा गया है।

यह मक्खियाँ प्रायः शौच-स्थान मे अण्डे देती है। एक बार में एक मक्खी तीस से अस्सी तक अण्डे देती है। यह एक गाढ़ी चेपदार वस्तु के द्वारा आपस मे चिपके रहते है। अनुकूल दशाओं मे छ से आठ दिवस में अण्डों से लार्वे बन जाते है। वायुमण्डल की आर्द्रता और ताप का इन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। धूप से यह बिलकुल नष्ट हो जाते है। इनका आकार लम्बा होता है, शरीर मे बारह भाग होते है। प्रत्येक भाग से कांटों के समान सूक्ष्म तन्तु निकले रहते हैं। दो से चौदह दिवस मे लार्वा प्यूपा मे परिणत हो जाता है। आठ या नौ से २६ दिवस मे प्यूपा से पूर्ण मक्षिका बन जाती है। इस प्रकार अण्डे से लेकर पूर्ण मक्षिका तक जीवन-चक्र पूर्ण होने में एक मास के लगभग समय लगता है। जाड़े के दिनों में दो मास तक लग जाते है।

फ़िलबोटेमस आर्जेंटीपेस नामक मक्खी, जो रोग ग्रस्त-स्थानों में सदा पाई जाती है, मध्यम आकार की होती है। इसके शरीर मे यह विशेषता है कि शिर और उदर भूरे होते हैं; वक्ष ऊपर से गहरे भूरे या काले रङ्ग का होता है, किन्तु पार्श्व का रङ्ग पीला होता है। टांगों का निचला भाग चमकता हुआ श्वेत होता है। इसकी वृद्धि के लिए सबसे उत्तम ऋतु वर्षा काल है जब वायुमण्डल की आर्द्रता अधिक होती है और तापक्रम प्रायः एक समान रहता है। इसकी उत्पत्ति ऐसे स्थानों में होती है जहाँ भूमि जल और जन्तुओं के विष्ठा से सञ्चरित

होती है। इस कारण गाँवों में वह कच्चे मकानों की दीवारों के पीछे, जहाँ कुछ वृक्ष इत्यादि भी उगे होते है और प्रायः जन्तु भी बँधे रहते हैं, अधिक उत्पन्न होती हैं।

इस मक्खी मे उड़ने की शक्ति अधिक नहीं होती। इसकी आयु भी थोड़ी होती है। इस कारण यह माना जाता है कि मक्खी से रोग के जीवाणु अण्डों मे प्रविष्ट हो जाते हैं और लार्वा प्यूपा आदि अवस्थाओ में बराबर वृद्धि करते रहते है। इस प्रकार वह दूसरी सन्तति मे पहुँच जाते है।

लक्षण—रोग का सम्प्राप्ति काल निश्चित नहीं है। वह दस दिन से तीन सप्ताह या इससे भी अधिक हो सकता है।

रोग धीरे-धीरे या अकस्मात् आरम्भ होता है। ज्वर प्रायः दिन मे दो बार घटता बढ़ता है। कभी-कभी ज्वर बिल्कुल उतर जाता है। किन्तु साधारणतया सदा बना रहता है। इस प्रकार का ज्वर प्रायः छः सप्ताह तक रहता है। तत्पश्चात् रोगी ज्वर-मुक्त हो जाता है। इस समय मे ज्वर के साथ प्लीहा और यकृत् के आकार मे भी घटा-बढ़ी देखी जा सकती है। कुछ समय के पश्चात् फिर पूर्व ही के समान ज्वर आना आरम्भ होता है और यकृत् और प्लीहा भी बढ़ते हैं। इस भाँति कई मास तक क्रम चलता रहता है। कभी रोगी ज्वरमुक्त हो जाता है; फिर आक्रान्त हो जाता है। अन्त में रोगी सदा ज्वरग्रस्त रहने लगता है। तापक्रम १०२° के लगभग रहता है। शरीर का क्षय, पाण्डुता और उदर की वृद्धि अत्यन्त स्पष्ट हो जाते हैं। अतिसार और मसूड़ों से रक्तस्राव होता है। यह जीर्ण दशा बहुत समय तक चलती रहती है। इस रोग में यह एक विशेषता है कि रोगी अपनी दशा का अनुभव नहीं करता। प्लीहा और यकृत् के बढ़ने और ज्वरग्रस्त होने पर भी उसकी क्षुधा पूर्ववत् ही रहती है। १०२° फ़० ज्वर होने पर भी वह अपना साधारण काम करता रहता है। प्रायः रोगी की मृत्यु किसी दूसरे रोग से, विशेषकर प्रवाहिका से, होती है।

प्रतिषेध—रोग मरु-मक्षिकाओं द्वारा फैलता है। इस कारण उनका नाश करना बहुत आवश्यक है। जिन स्थानो पर इनकी उत्पत्ति होती

है उनको भली भाँति ढूँढ़कर नष्ट करना चाहिए। मकान के पीछे किसी प्रकार का कूड़ा, पशुओं की विष्टा, जङ्गली वनस्पति इत्यादि एकत्र न होने पावें। मकान के प्रत्येक कमरे में, विशेषकर जहाँ प्रकाश कम जाता हो और सील अधिक रहती हो, गन्धक का धुआँ करना चाहिए। फ़ारमेलीन छिड़कना भी उत्तम है। शौचस्थान या स्नानागार को भी इसी प्रकार स्वच्छ रखना आवश्यक है। फ़र्श और दीवारों की दरारो में भी यह मक्खियाँ रहती हैं। इस कारण उनकी ओर भी ध्यान देना उचित है।

रोगियों को भी मक्खियों से बचाना बहुत आवश्यक है। उनको रात्रि में, और हो सके तो दिन मे भी, सदा मसहरी के भीतर सोना चाहिए। मरु-मक्षिका के लिए साधारण मसहरी पर्याप्त नहीं है। वह उनके छिद्रों में होकर भीतर घुस जाती हैं। योरप के महासमर के दिनों में इनसे बचने के लिए इस प्रकार की जाली की मसहरियों का प्रयोग किया गया था जिनमें, एक इंच लम्बाई में, बीस छिद्र थे। इनसे संतोषजनक परिणाम हुआ था। मसहरियो पर यूकलिप्टस अथवा सौंफ़ का तेल या फ़ारमेलीन छिड़कने से मक्खियो के प्रतिरोध में सहायता मिलती है। इसी प्रकार किसी तीव्र गंध-युक्त प्रलेप को शरीर पर मलने अथवा कपूर के चूर्ण को शय्या पर छिड़क देने से भी मक्खियाँ पास नहीं आतीं।

रोगियों को सदा मकान के ऊपरी खण्ड में रखना चाहिए। वहाँ तक मक्खियाँ नहीं पहुँच पातीं।

रोगाक्रान्त स्थानों का उसी भाँति प्रबन्ध करना चाहिए जैसा कि प्लेग या विशूचिका फैले हुए स्थानों का प्रबन्ध किया जाता है। रोगियों का पृथक् करना और उनके मकानों का विस्संक्रामण करवाना आवश्यक है।

मरुमक्षिका ज्वर

इसको तीन दिन का ज्वर भी कहते हैं। कर्नल मेगौ के विचारानुसार जितने भी तीन, पाँच या सात दिनवाले ज्वर होते हैं, जिनका कोई विशेष कारण नहीं मालूम होता, मरुमक्षिका ही के काटने से उत्पन्न होते हैं।

यह रोग हमारे देश मे पञ्जाब के उत्तर पश्चिमी भाग में अधिक होता है। चित्राल और क्वेटा भी इस रोग से मुक्त नहीं है। किन्तु यह पूर्वी प्रान्तो में लखनऊ से आगे नहीं पाया जाता। इसी प्रकार दक्षिण मे भी बम्बई से आगे यह रोग नहीं होता।

भारतवर्ष के अतिरिक्त मिस्र, मेसोपोटामिया, सीरिया, पैलेस्टाइन, सेलोनिका, गेलीपोली इत्यादि मे भी यह रोग पाया जाता है। अफ्रीका में रोग बहुत फैला हुआ है।

रोग का कारण—इसका कारण एक अत्यन्त सूक्ष्म जीवाणु होता है जो रोगी के रक्त मे ज्वर के केवल प्रारम्भिक दो दिनो मे पाया जाता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह जीवाणु मक्षिका से अण्डे मे चला जाता है और इस प्रकार नवीन सन्तति के शरीर में रहता है।

संवहन—इस रोग के जीवाणु का संवहन फ्लि० पेपेटेसाई नामक मरुमक्षिका के द्वारा होता है। अन्य जातियो का संवहन के साथ अभी तक कोई सम्बन्ध नहीं मालूम हुआ है। रोग के प्रथम दो दिवस मे रोगी को काटने से मक्खी मे रोग उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। इसके आठ या दस दिवस के पश्चात् यदि मक्खी किसी स्वस्थ व्यक्ति को काटती है तो वह रोगग्रस्त हो जाता है।

फ्लि० पेपेटेसाई नामक मरुमक्षिका बहुत छोटी होती है जिसके शरीर पर छोटे-छोटे बाल होते हैं। शरीर की रचना प्रायः वैसी ही होती है जैसी बताई जा चुकी है। यह एक बार में लगभग ४० अण्डे देती है जिनको वह दीवारों की दरारों, मिट्टी या पत्थर के टुकड़े और अँधेरे स्थानों में रखती है। इन अण्डो से लार्वा उत्पन्न होते हैं। शरद् ऋतु मे लार्वा की वृद्धि नहीं होती। जब शरद् ऋतु समाप्त हो जाती है और ग्रीष्म ऋतु आरम्भ होती है तब लार्वा से मक्खी उत्पन्न होती है। इस कारण रोग जाड़ों में नहीं फैलता, केवल गर्मी ही में फैलता है। यह मक्खी केवल रात्रि ही को काटती है। वह दिन में अँधेरे स्थानो में छिपी रहती है।

संप्राप्तिकाल २ से ७ दिन है। रोग के आक्रमण से रोगक्षमता उत्पन्न होती है।

लक्षण—मक्खी के काटने से काटा हुआ स्थान लाल और शोथयुक्त हो जाता है। तीन या चार से सात दिवस के पश्चात् ज्वर अकस्मात् आरम्भ होता है जो २४ या ३६ घण्टे में १०३° या १०४° हो जाता है। नेत्रों के पीछे की ओर, विशेषकर नेत्रों को दबाने से, तीव्र पीड़ा होना इस रोग का विशेष लक्षण है। माथे में नेत्रों के ऊपर की ओर भी पीड़ा होती है। शरीर के जोड़ों, टांगों और बाहुओं मे भी इनफ़्ल्युएँज़ा की भांति दर्द होता है। एक या दो दिन के पश्चात् ज्वर कम होने लगता है। रोगी अत्यन्त दुर्बल हो जाता है। एक या दो सप्ताह के पश्चात् वह अपना कार्य करने योग्य होता है। रोग मे अतिसार, नासिका से रक्तस्राव, वमन इत्यादि हो सकते है।

इस रोग मे मृत्यु नहीं होती, केवल रोगी दुर्बल हो जाता है।

प्रतिषेध के उपाय—मक्खी से बचना और उसके नाश का उद्योग करना रोग को रोकने के विशेष उपाय हैं। जिन स्थानों में यह रोग हो अथवा जिन मकानो मे कोई रोगग्रस्त व्यक्ति हो वहाँ पर, जहाँ तक हो सके, न जाना चाहिए। मक्खी से बचने के लिए अत्यन्त बारीक जाली की मसहरी का प्रयोग करना चाहिए। यह मक्खी इतनी छोटी होती है कि एक इंच में चालीस छिद्र से कम की जाली में होकर भीतर आ सकती है। मलमल की मसहरी के प्रयोग के लिए कुछ विद्वान् सलाह देते है। किन्तु गरमी में उसका प्रयोग करना असम्भव है।

दीवारो या फ़र्श में जो दरारें हों उनको सीमेन्ट और चूने से बन्द करना चाहिए। मकान और उसके चारों ओर की स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। अँधेरे स्थान और शौच स्थानों में गन्धक का धुआँ करवाया जाय। मकानों अथवा निवासस्थानो के पास किसी प्रकार की भी वनस्पति न हो, यहाँ तक कि मकान पर बेलें तक न चढ़ायी जावें।

मक्खियों को भगाने के लिए कुछ वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है। कहा जाता है कि बिस्तरों में कपूर को रख देने से यह मक्खी पास नहीं आती। निम्नलिखित प्रलेप, जिसका महाशय बैल्फ़ोर ने प्रयोग करवाया है, मक्खियों को भगाने के लिए बहुत उत्तम प्रमाणित हुआ है—

अजवायन का तेल	३ बूँद
यूकलिप्टस तैल	३ बूँद
तारपीन का तैल	३ बूँद
लेनोलीन	१ औंस

सोते समय इस प्रलेप को चर्म के ऊपर मल लेना चाहिए।

तीव्र वायु-प्रवाह से यह मक्खियाँ भाग जाती हैं। इस कारण इनको बिजली के पंखो द्वारा मकानों से भगाया जा सकता है।

पुनराक्रमक ज्वर

इसको दुर्भिक्षज्वर भी कहते है। यह रोग योरप, अमरीका, अफ्रीका और एशिया के महाद्वीपों में पाया जाता है। आयरलैंड, जर्मनी, रूस, टर्की, डेनमार्क, स्वीडेन इत्यादि में यह रोग होता है; अफ्रीका में मिस्र और विशेषकर मध्य अफ्रीका में अधिक होता है। अमरीका में कई बार इसके मरक फैल चुके हैं। एशिया में चीन, सुमात्रा और भारतवर्ष में यह ज्वर पाया जाता है। सन् १९२२ में मध्य प्रान्त में इसका मरक फैला था। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में भी इस रोग के मरक फैल चुके हैं। बम्बई, कुमाऊँ और संयुक्त प्रान्त के पश्चिमी भाग भी इससे नहीं बचे हैं। किन्तु बङ्गाल, आसाम और मद्रास में यह रोग अभी तक नहीं फैला है।

कारण—इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसका शरीर लम्बा और बेल्लीतक आकार का होता है। इसको ट्रिपोनिमा रिकरेंटिस[1] अथवा स्पायरोकीटा ओबरमेराई[2] कहते हैं। इसी प्रकार के अन्य जीवाणु

---

१. Treponema Recurrentis. २. Spirocheta Obermeiri.

भी रोग के साथ सम्बद्ध पाये गये है जैसे ट्रिपोनिमा डट्टोनाई[१], कार्टराई[२], और वैंजुलैंसी[३]। इनका आकार यद्यपि समान होता है किन्तु उनके गुण भिन्न होते हैं।

यह जीवाणु केवल ज्वर की अवस्था में रोगी के चर्म के रक्त में मिलते है। ज्वर समाप्त होने के पूर्व ही वह भीतरी अङ्गों में चले जाते हैं। कभी कभी इनकी संख्या बहुत अधिक होती है। कुछ रोगियो में जीवाणुओं की संख्या कम पाई जाती है। जब रोगी ज्वर-मुक्त होता है तो जीवाणु चर्म के रक्त मे नहीं रहते। स्वेद और अश्रु तक में यह जीवाणु मिले हैं। कहा जाता है कि जीवाणु बिना किसी भाँति के व्रण या चर्म-छेदन के चर्म के सम्पूर्ण रहने पर भी उसके भीतर प्रवेश कर सकते हैं। अस्वच्छता, शारीरिक क्षीणता, कङ्गाली इत्यादि रोग के विशेष सहायक हैं।

संवहन—भारतवर्ष और योरप मे रोग के जीवाणु का संवहन जूँ के द्वारा होता है। प्रयोगो द्वारा यह पाया गया है कि यह जीवाणु जूँ के आमाशय मे पहुँचकर थोड़े ही समय में वहाँ से शरीर-गुहा में पहुँच जाते है जहाँ वह प्रायः आठ दिन के पश्चात् देखे जा सकते हैं। जब जूँ काटती हैं तो शरीर को खुजाने से वहाँ का चर्म क्षत हो जाता है। यदि इस स्थान पर जूँ किसी भाँति दबकर मर जाती है तो उसके शरीर के रक्त से यह जीवाणु क्षत चर्म के द्वारा शरीर के भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं। जूँ के केवल काटने से इन जीवाणुओं का शरीर मे प्रवेश नहीं होता।

जूँ—यह बहुत छोटे आकार के पक्ष-रहित कृमि होते हैं। यह कुछ लम्बे और चपटे होते हैं। सब से आगे मुख होता है जिससे रक्त चूसनेवाला छोटा डङ्क निकला रहता है। वक्ष और उदर कई भागो में विभक्त होता है। उदर के अन्त पर जननेन्द्रियाँ होती हैं। पुरुष में छोटा काँटे के समान शिश्न होता है और स्त्री में एक छिद्र सा होता है।

---

१. Treponema Duttonii. २. T. Carteri. ३. T. Venezuelense.

जूँ तीन प्रकार की होती है। पेडीक्यूलस कैपिटिस[1] शिर में रहती है; पेडीक्यूलस वेस्टीमेन्टाई[2], जो पूर्व जूँ से कुछ बड़ी होती है, शरीर के वस्त्रों में पाई जाती है, कक्ष के बालों में भी कभी कभी रहती है। तीसरी प्रकार की जूँ पेडीक्यूलस प्यूबिस[3] भगसंधानिका के बालो मे पाई जाती है। कभी कभी भ्रू और पलकों के बालों मे भी जूँ उत्पन्न हो जाती है। शरीर की जूँ में पुरुष $\frac{1}{10}$ इंच और स्त्री $\frac{1}{8}$ इंच लम्बी होती है। तीसरे प्रकार की जूँ मे स्त्री $\frac{1}{16}$ इंच लम्बी होती हैं और पुरुष इससे आधा होता है।

शिर और संधानिका की जूँओ के अण्डे इन स्थानो के बालों पर चिपटे हुए देखे जाते है। वह सूक्ष्म, चमकीले और श्वेत रङ्ग के होते है। शरीर
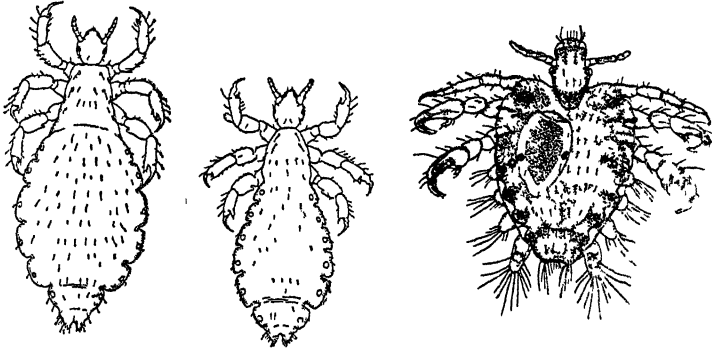
चित्र नं० ११२ शरीर की जूँ। चित्र नं० ११३ शिर की जूँ। चित्र नं० ११४ भगसन्धानिका की जूँ,

की जूँ के अण्डे वस्त्रों की सीवन में लगे रहते हैं। इन अण्डो से १६ दिनों में जूँ तैयार हो जाती है।

यह कृमि शरीर को स्वच्छ न रखने का प्रमाण है। जो लोग सदा स्वच्छ रहते हैं उनके शरीर में जूँ कभी उत्पन्न होती नहीं देखी गई है। यदि जूँ शिर में उत्पन्न हो जावे तो मिट्टी और गिरी के तेल को समान भाग मिलाकर शिर में

---

१. Pediculus Capitis, २. P. Vestimanti., ३. P.Pubis.

मलने से उनका नाश होता है। रात्रि के समय इस मिश्रण को लगाकर प्रातःकाल स्नान के समय साबुन से धो देना चाहिए।

अफ़्रीका मे पुनराक्रमक ज्वर के जीवाणु का संवहन 'टिक'[1] नामक जन्तु के द्वारा होता है। इसको चींचड़ी भी कहते है। यह जन्तु आकार मे काफ़ी बडे होते है और साधारण नेत्रो से देखे जा सकते है। स्त्रियाँ पुरुषों से बड़ी होती है। यह कृमि मनुष्य, पालतू जानवर, चिड़ियें और रेंगनेवाले जन्तुओ पर आक्रमण करते हैं। वह आकार में चपटे और कुछ गोल या त्रिकोण के समान दीखते है। रक्त पीने के पश्चात् वे मटर या सेम के दाने के समान दिखाई देते है। स्त्रियाँ और भी अधिक रक्त पीनेवाली होती हैं; वह रक्त पीने पर कभी कभी आध इंच तक फूल जाती है। इनके शरीर मे शिर, उदर और वक्ष के प्रान्त भिन्न नहीं होते। दोनों ओर चार-चार टाँगें होती हैं। मुख में जबड़े होते है जिनसे वह चर्म को पकड़ लेते है।

स्त्रियाँ भूमि पर अण्डे रखती है। अण्डों की संख्या बहुत अधिक होती है। अण्डे रखने के पश्चात् जन्तु की मृत्यु हो जाती है। वायुमण्डल के ताप-क्रम के अनुकूल होने पर दो से तीन सप्ताह में अण्डो से लार्वे बन जाते हैं। यह बहुत छोटे होते हैं और बालू के कण के समान दिखाई देते है। इनके छः टाँगें होती है जिनसे वह चल सकते हैं या जिनके द्वारा किसी जन्तु के शरीर पर चिपट सकते हैं। वह प्रायः भूमि पर उगी हुई घास इत्यादि पर पड़े रहते हैं। जब जन्तु घास चरने आते हैं तो वह उनके शरीर पर चिपटकर खूब रक्त चूसते हैं जिसके पश्चात् उनका आवरण परिवर्तित होता है और लार्वा से प्यूपा की अवस्था आरम्भ होती है। इसके चार टाँगें होती हैं। यह भी लार्वा की भाँति किसी जन्तु के शरीर पर चिपट जाता है और रक्त पीने के पश्चात् फिर आवरण का परिवर्त्तन करके पूर्ण कीट बन जाता है। इस समय यह संतानोत्पत्ति के योग्य हो जाता है। स्त्री और पुरुष दोनों संयोग करते हैं जिसके पश्चात् पुरुष की मृत्यु हो जाती है और स्त्री किसी जन्तु के शरीर पर रक्त चूसने के लिए चिपट जाती है।

१· Tick.

यह जंतु कच्चे मकानों के फ़र्श या दीवारों की दरारों, छप्परों इत्यादि में पाये जाते है। इनका आक्रमण प्रायः रात्रि के समय होता है।

अफ़्रीका में 'आर्नोथेडोरस मोबाटा'[१] नामक उपजाति के जन्तु रोग का संवहन करते पाये गये है।

संप्राप्तिकाल २ से १० दिन तक है।

लक्षण—शिर दरद, वमन अथवा नासिका के रक्तस्राव के साथ ज्वर आरम्भ होता है, जो १००° या १०५° या कभी कभी १०८° फ़॰ तक पहुँच जाता है। साथ में उन्माद के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। प्लीहा के आकार में भी वृद्धि होती है। कुछ रोगियों में गर्दन के नीचे धड़ और बाहुओं पर गुलाबी रङ्ग के दाने निकल आते हैं। प्रथम ज्वर प्रातःकाल की अपेक्षा सन्ध्या के समय बढ़ जाता है। किन्तु दो या तीन दिन पश्चात् प्रातःकाल और सन्ध्या के ज्वर में कोई अन्तर नहीं रहता। यह ज्वर पाँच या छः दिवस तक इसी भांति रहता है। छठें या सातवें दिवस ज्वर गिरने लगता है और कभी कभी कुछ घण्टों ही में स्वाभाविक से भी कम हो जाता है। ऐसी दशा मे वृद्ध व्यक्तियों की हृदयावसाद से मृत्यु हो सकती है।

इस प्रथम आक्रमण के सात या आठ दिन पश्चात् तक रोगी ज्वरमुक्त रहता है। तत्पश्चात् शीत लगकर फिर से ज्वर प्रारम्भ होता है। साधारणतया यह दूसरा आक्रमण या प्रथम पुनराक्रमण प्रथम आक्रमण से हलका होता है; किन्तु कभी कभी अधिक प्रबल भी देखा गया है। इस आक्रमण में रोगी की मृत्यु हो जाती है, अथवा वह रोग-मुक्त होकर दौर्बल्यावस्था में प्रवेश करता है।

कुछ रोगियों मे दूसरा पुनराक्रमण भी होता है। पाँच या इससे अधिक पुनराक्रमण देखे गये हैं। रोगी की मृत्यु आक्रमण की प्रबलता के समय पर होती है।

प्रतिषेध—यह रोग हमारे देश में जूँ के द्वारा उत्पन्न होता है। इसलिए शरीर की स्वच्छता, जूँ और उनके अण्डों का पूर्णनाश, रोगग्रस्त व्यक्तियों

१. Ornothodoros Moubata.

के सम्पर्क में न आना इत्यादि रोग से बचने के उपाय है। रोगी को पृथक् करके उसके निवास-स्थान का विसंक्रामण करवाना चाहिए। रोगी के वस्त्रों का भाप द्वारा विस्संक्रामण करना आवश्यक है। ओढ़ने और बिछाने के वस्त्रों में भी जूँ पड़ जाया करती हैं। इस कारण उन वस्त्रों की ओर भी ध्यान देना चाहिए। शारीरिक स्वच्छता की ओर जितना भी ध्यान दिया जावे उतना कम है।

जिन स्थानों में टिक कीट के द्वारा रोग फैलता है वहाँ पर रोगाक्रांत स्थानों में जाना मना है। मसहरी का सदा प्रयोग करना चाहिए। पृथ्वी पर सोना उचित नहीं। ओढ़ने के वस्त्रों मे भी कभी कभी यह कीट घुस जाते है। इस कारण उनको समय समय पर देखते रहें। जिन स्थानो में यह कीड़े रहते हैं उनको नष्ट कर देना चाहिए।

टाइफ़स ज्वर

यह ज्वर विशेषकर ऐसे स्थानों मे फैलता है जहां बहुत लोगों को एक साथ रहना पड़ता है, जैसे जेल में। इस कारण इसको जेल ज्वर भी कहा जाता है। महासमर के दिनों में भी यह रोग योरप के कितने ही देशों में फैला था। दुर्भिक्ष के समय में भी इसको फैलते हुए देखा गया है। उत्तरी अफ्रीका में निर्धन और अशिक्षित लोगों में यह बहुत फैलता है। भारतवर्ष में कुमाऊँ के पर्वतो में भी यह रोग पाया जाता है। मलाया और केनिया भी इससे नहीं बचे हैं।

कारण—रोग के विशिष्ट जीवाणु का अभी तक पता नहीं चला है। किन्तु अन्वेषण से इतना मालूम हुआ है कि यह अत्यन्त सूक्ष्म होता है, और ज्वर के समय रोगी के चर्मगत रक्त के श्वेताणुओ में उपस्थित रहता है। प्रायः बहुत से जीवाणु एक साथ पाये जाते हैं।

संवहन—इस जीवाणु का संवहन जूँ द्वारा होता है जो रोगी के रक्त को चूसने के पश्चात् चैाथे से सातवें दिवस तक स्वस्थ व्यक्ति को काटकर रोगाक्रान्त कर सकती है। यह जीवाणु जूँ के मल में उपस्थित रहते हैं जो जूँ

के काटने से उत्पन्न हुए क्षत द्वारा शरीर में प्रवेश करते है। कर्नल मेगो और कुछ अन्य व्यक्तियों की सम्मति है कि चींचडी के काटने से भी यह रोग उत्पन्न होता है।

लक्षण—एक या दो दिन की अस्वस्थता के पश्चात् ज्वर प्रारम्भ होता है जो थोड़े ही समय मे १०३° या १०४° फे० हो जाता है। रोगी मूर्च्छित के समान दीखता है। मुँह से दुर्गंधि निकलती है। यह ज्वर १० या १२ दिन तक बराबर बना रहता है। दुर्बलता बहुत मालूम होती है।

पाँचवें या छठे दिन पर उदर और बाहुओ के भीतरी पृष्ठ पर दाने निकलते है जो धीरे-धीरे वक्ष और पीठ पर फैल जाते हैं; मुँह पर नहीं निकलते। इन दानो के निकलने पर हृदय की दुर्बलता, मूर्च्छा इत्यादि लक्षण अधिक गाढ़े हो जाते है। जिह्वा मे कम्पना होने लगती है, भाषण ठीक नहीं होता। दूसरे सप्ताह में उन्माद के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी के शरीर से एक विशेष प्रकार की गन्ध निकलती है। चौदहवें दिवस के समीप रोग के लक्षण कम होने लगते हैं और एक या दो दिन मे ज्वर उतर जाता है। मृत्यु प्रायः १२ से १४ वे दिन में होती है।

प्रतिषेध—पुनराक्रमक ज्वर ही के समान उपाय करने चाहिएँ। रोगी को पृथक् करना आवश्यक है। जूओं को, जिस प्रकार हो सके, नष्ट करना चाहिए।

इनफ्लुऐंजा

इस रोग के इतिहास से यह पता लगता है कि तीस या पैंतीस साल के अन्तर पर रोग के विश्वव्यापी मरक फैलते रहते हैं। सन् १८४७, १८९०-९१ और १९१८ में सारा संसार इस रोग से ग्रस्त हो चुका है। किन्तु सन् १९१८ के बराबर भयङ्कर रूप इस रोग ने पहिले कभी धारण नहीं किया था। योरप के महासमर की अपेक्षा इस रोग से कहीं अधिक व्यक्तियों की मृत्यु हुई। केवल इँग्लैण्ड और वेल्स में १५०,००० मनुष्य इस रोग के ग्रास बने। भारतवर्ष में १२½ लाख मृत्यु का अनुमान किया जाता है।

यह रोग प्रथम कौन से देश से प्रारम्भ हुआ यह नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों का विचार है कि सब से प्रथम स्पेन में, अप्रेल के मास मे, रोग आरम्भ हुआ और थोड़े ही समय में बारूद मे लगी हुई अग्नि की भाँति सारे संसार में फैल गया। निस्सन्देह योरप के महासमर के द्वारा रोग को फैलने में बड़ी सहायता मिली। रोग भारतवर्ष मे प्रथम बार जुलाई १९१८ में फैला। और वहां से कुछ सप्ताह ही मे सारे देश में फैल गया। जुलाई और अगस्त में फैलनेवाले रोग की लहर मे अधिक मृत्यु नहीं हुई। दूसरी बार जो लहर सितम्बर मे प्रारम्भ हुई, जिसका जन्म-स्थान पूना माना जाता है, अत्यन्त घातक प्रमाणित हुई। २० से ४० वर्ष की आयुवाले स्त्री पुरुष दोनों ही की अन्य आयुवालों की अपेक्षा कम से कम चार गुणा अधिक मृत्यु हुई। राजपूताना, मध्य प्रान्त, मध्य भारतीय रियासतें, पञ्जाब की रियासतें, बिहार, उड़ीसा, काश्मीर, माइसोर और हैदराबाद में अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक मृत्यु हुई। जितनी मृत्यु चार या पाँच मास मे इनफ़्लुएँज़ा से हुईं उतनी २३ वर्ष मे प्लेग से नहीं हुई हैं। दूसरी लहर में अधिक मृत्यु का कारण निमोनिया अथवा श्वास सम्बन्धी अन्य उपद्रव थे।

कारण—रोग का मरक के रूप मे एक शताब्दी मे दो या तीन बार फैलना एक रहस्य है जिसका अभी तक उद्घाटन नहीं हुआ है। कुछ लोगो का मत है कि अन्तिम मरक योरप के महासमर के कारण फैला था। किन्तु जिन देशों ने युद्ध में भाग नहीं लिया उनमें और भाग लेनेवाले देशों मे रोग समान रूप से फैला था। यह देखा जाता है कि इस रोग के मरक फैलने के पूर्व कुछ अन्य रोगो में, जैसे मस्तिष्कीय ज्वर, निमोनिया इत्यादि मे अधिकता हो जाती है।

इस रोग का विशिष्ट कारण बहुत समय तक नहीं मालूम हुआ था। सन् १८९२ में महाशय फ़ाईफ़र ने एक जीवाणु का पता लगाया जिसको इन्होंने इनफ़्लुएँज़ा का जीवाणु बताया था। कुछ विद्वान् अब भी इस जीवाणु को रोग का कारण मानते हैं। किन्तु दूसरे विद्वान् उनसे सहमत नहीं है। यह जीवाणु न केवल इनफ़्लुएँज़ा रोग के रोगियों ही के गले या नासिका के

स्रावों मे उपस्थित मिलता है, किन्तु निमोनिया अथवा श्वास सम्बन्धी कई अन्य रोगों में भी उपस्थित रहता है। यदि इनफ्लुएँज़ा के रोगियों के गले और नासिका के स्रावो को अथवा स्रावों से उत्पन्न किये हुए पदार्थों को उचित निस्यन्दकों द्वारा छानकर, जिससे यह जीवाणु स्राव से पृथक् हो जाते है, किसी व्यक्ति के शरीर मे प्रविष्ट किया जावे तो उससे भी इनफ्लुएँज़ा के समान लक्षण उत्पन्न हो जावेंगे।

गत कई वर्षो के अनुसन्धान से यह प्रतीत होता है कि रोग का कारण एक ऐसा सूक्ष्म जीव है जो निस्यन्दकों में होकर निकल जाता है। किन्तु यह जीवाणु रोग की उत्पत्ति में केवल गौण भाग लेता है। रोग के मरक में रोगियों मे जो उपद्रव उत्पन्न हो गये थे, जिनके कारण इतने अधिक व्यक्तियों की मृत्यु हुई थी, उनका कारण यह जीवाणु, रक्त भंजक स्ट्रिप्टो-कोकस तथा अन्य जीवाणु थे।

जिस सूक्ष्म जीव को रोग का कारण बताया गया है उसको 'बैकटीरियम् न्यूमोसिन्ट्स' कहा जाता है। अभी तक यह खोज उस दशा में नहीं पहुँची है कि उसको पूर्णतया माना जा सके। कुछ और कार्य होना शेष है।

रोगियों के गलों और नासिका से निकले हुए स्रावों में ऊपर कहे हुए जीवाणुओ के अतिरिक्त निमोनिया का जीवाणु भी पाया जाता है।

संवहन—यह रोग अत्यन्त शीघ्रव्यापी है। रोग का वायु द्वारा संवाहित होना माना जाता है। किन्तु संसर्ग से भी रोग उत्पन्न हो सकता है। रोग के जीवाणु रोगी के मुख से खाँसने, छींकने तथा बोलने के समय थूक के छोटे-छोटे कणों द्वारा निकलकर कमरे में बैठे हुए अन्य व्यक्तियों को आक्रान्त करते हैं। रोग का सम्प्राप्तिकाल बहुत थोड़ा (पाँच या छः घण्टे से २ दिन) होने के कारण वह लोग भी रोगग्रस्त होकर रोग फैलाने में सहयोग देते हैं। रेल, जहाज़, मोटर इत्यादि के द्वारा रोग एक देश से दूसरे देश और एक स्थान से दूसरे स्थान में शीघ्रता से फैलता है। [illegible] प्रयुक्त तौलिए या अन्य वस्त्र, बर्त्तन इत्यादि द्वारा भी रोग फैल सक[illegible]

मरकों के अन्तर्काल मे भी व्यक्तिगत रोग होता ही रहता है। विश्व-व्यापी मरकों के बीच में कभी-कभी स्थानीय या देशीय मरक फैल जाते हैं।

लक्षण—इस रोग के कई रूपान्तर होते हैं। यह रोग जितना पहिले समझा जाता था उससे कहीं अधिक व्यापी है। श्वास सम्बन्धी, नाड़ीमण्डल अथवा पाचन सम्बन्धी लक्षण एक ही रोग के द्वारा उत्पन्न हो सकते है। मरक के समय प्रायः श्वास सम्बन्धी रोग फैलता है। इसके लक्षण साधारण प्रतिष्याय के समान होते हैं। गले में शोथ, खासी और ज्वर विशेष लक्षण हैं। किन्तु रोगी को दुर्बलता बहुत अधिक मालूम होती है। शरीर निर्जीव सा प्रतीत होता है। श्लेष्मा कभी-कभी बहुत निकलता है। कुछ हरापन लिये हुए पीले रङ्ग का श्लेमा इन्फ़्लुएँज़ा का विशेष सूचक समझा जाता है।

प्रतिषेध के उपाय—मरक के रूप मे फैलने के समय रोग को रोकना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। रोग इतनी शीघ्रता से फैलता है कि नियन्त्रण का कोई भी उपाय काम नही देता। रोगियों को पृथक् करना और उनकी चिकित्सा और शुश्रूषा का उचित प्रबन्ध अत्यन्त कठिन है। मरक के दिनों के अतिरिक्त जो व्यक्ति रोग-ग्रस्त हों उनको पृथक् करना और उनकी पूर्ण चिकित्सा करना आवश्यक है। किन्तु मरक के दिनों मे रोगियों की कभी-कभी नाम मात्र की चिकित्सा करना भी असम्भव हो जाता है। सन् १९१८ के मरक में ऐसा ही हुआ था। रोगियों को जल तक मिलना कठिन था। कभी-कभी मृत्यु के पश्चात् कई दिन तक कोई उठाने-वाला नहीं मिला। ऐसी दशा में कोई ऐसा सार्वजनिक कार्य होना जिससे रोग का फैलना बन्द हो जाय असम्भव ही सा है।

किन्तु यदि रोगी स्वयं रोग से अपनी रक्षा करने के साधनों का उपयोग करे तो सम्भव है कि वह रोग से मुक्त रहे। रोग-ग्रस्त होने पर भी कम से कम रोग-मुक्त तो शीघ्र ही हो जावेगा।

प्रत्येक व्यक्ति को उचित है कि वह रोग के दिनों में किसी ऐसे स्थान में—जहाँ बहुत से मनुष्य एकत्र होते हों जैसे बायस्कोप, सभा, मेले इत्यादि में—न जावे और न किसी रोग-ग्रस्त व्यक्ति ही के पास बैठे। रोगी के पास

बैठने से रोग लग जाने का बहुत भय रहता है, विशेषकर जब कमरा छोटा और हवादार न हो। रात्रि को कमरे की खिड़कियाँ और दरवाजे खोलकर सोना चाहिए। बरामदे में पर्याप्त गर्म वस्त्र ओढ़कर सोना बहुत उत्तम है। ठण्ड से बचने का विशेष प्रयत्न करना उचित है। इसलिए प्रत्येक समय गरम वस्त्रों को पहिनना आवश्यक है। अन्य रोगों की भाँति इस रोग के निवारण में भी शारीरिक शक्ति बहुत भाग लेती है। इसलिए उत्तम पौष्टिक हलका भोजन, व्यायाम, समय से कार्य्य और विश्राम करना इत्यादि साधनों द्वारा स्वास्थ्य को उत्तम दशा मे रखने का प्रयत्न करना चाहिए। जिन लोगों को रोगियों की सेवा करनी पड़े वह अपने मुँह और नाक पर एक विशेष प्रकार का वस्त्र, जिसका वर्णन आगे किया जायगा, बाँधे रहें।

रोग-ग्रस्त हो जाने के पश्चात् रोगी को तुरन्त काम छोड़ देना चाहिए। उसको एक पृथक् खुले हुए हवादार कमरे में शय्यारूढ़ हो जाना उचित है। जब तक वह रोग-मुक्त होकर पूर्ण बल प्राप्त न कर ले उस समय तक उसको अपने काम पर न जाना चाहिए। जब रोगी किसी दूसरे से बात-चीत करे तो उसको अपने मुँह और नाक के सामने एक रूमाल रख लेना चाहिए। इस रूमाल को प्रयोग करने के पश्चात् उबाला या जला दिया जाय।

रोग के दिनों में गले और नाक को साधारण नमक के घोल से धोना बहुत लाभदायक पाया गया है। आध सेर गरम जल में शुद्ध उत्तम पिसा हुआ नमक मिलाकर नमक का घोल बना लेना चाहिए। इस जल से कुल्ले करके मुँह और गले को दिन में तीन चार बार स्वच्छ करने से लाभ होता है। इसी घोल को नाक के मार्ग से भी तीन या चार बार चढ़ाना चाहिए, जिससे नासिका का मार्ग शुद्ध रहे।

मुख और नाक पर का वस्त्र—गौज़ या मलमल का छः या आठ परत का एक ८ इञ्च चौड़ा और २५ इञ्च लम्बा टुकड़ा काट लेना चाहिए। इसके चारो किनारों पर चार लम्बी तनी लगी रहें जो शिर के पीछे की ओर बाँधी जा सकें। इस वस्त्र को यूकलिप्टस तेल से भिगोना चाहिए। डाक्टर और परिचारिकाओं को इस वस्त्र का अवश्य प्रयोग करना चाहिए।

प्रतिषेधक वैक्सीन—सेना विभाग मे निम्नलिखित प्रकार से बनी हुई वैक्सीन का प्रयोग किया जाता है,—

इन्फ़्लुएँज़ा का जीवाणु	६०,००००००००	१ सी० सी०
निमोनिया का जीवाणु	२००००००००००	
स्ट्रिप्टोकोकस पायोजिनीज़	८०००००००००	

इस वैक्सीन की प्रथम मात्रा ½ सी० सी० और दूसरी मात्रा १ सी० सी० की दी जाती है। अभी तक इस वैक्सीन की सफलता के विषय में कुछ नही कहा जा सकता।

डिप्थीरिया

यह रोग अधिकतर बच्चो को होता है यद्यपि अन्य अवस्थाओं मे भी हो सकता है। दो वर्ष से लेकर १५ वर्ष तक के बच्चो की सबसे अधिक मृत्यु होती हैं। इस रोग के मरक वर्षा ऋतु के अन्त और शरद ऋतु के प्रथम भाग में अधिक फैलते है। मृत्यु की संख्या सबसे अधिक अक्तूबर, नवम्बर तथा दिसम्बर मे होती है। मई अथवा जून मे रोग सबसे कम होता है।

कारण—इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको 'क्लैब्स-लौफ़लर[1]' जीवाणु कहते हैं। यह बहुत सूक्ष्म होता है। आकार में यह लम्बा अथवा कुछ मुड़ा हुआ दीखता है। इसके दोनो सिरे कभी-कभी कुछ मोटे दिखाई देते है। यह जीवाणु विशेषकर ग्रसनिका अथवा श्वास मार्ग के ऊपरी भाग में रोग उत्पन्न करता है जहाँ पर एक श्वेत रङ्ग की झिल्ली बन जाती है। इस कारण जीवाणु रोगियों के नाक और मुख से निकलनेवाले स्रावों मे पाया जाता है। यह जीवाणु कोमल होता है और धूप अथवा विसंक्रामकों से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। किंतु श्लेष्मा अथवा रोगी के गले से निकली हुई झिल्ली में कुछ समय तक जीवित रह सकता है।

अस्वच्छता, थोड़े स्थान में बहुत से व्यक्तियों का एक साथ रहना, कङ्गाली, शारीरिक दुर्बलता, जुकाम और ग्रसनिका-शोथ रोग के सहायक कारण हैं।

---

१. Klebbes-Loffler.

यह देखा गया है कि दो तीन वर्ष तक लगातार वर्षा कम होने पर रोग प्रबल रूप मे फैलता है।

रोग का संवहन—रोग का जीवाणु रोगी के गले इत्यादि से स्वस्थ व्यक्तियों में प्रायः संसर्ग या वायु के द्वारा पहुँचता है। बालकों में प्रायः पेंसिल इत्यादि को मुँह मे देने का स्वभाव होता है। स्कूल में कई बार इसी भाँति रोग फैलता हुआ देखा गया है। बोलने, छींकने इत्यादि क्रियाओं में रोगी के मुख से निकले हुए थूक के सूक्ष्म कणों द्वारा रोग के जीवाणु पास बैठे हुए व्यक्तियों के मुख में पहुँचकर रोग उत्पन्न कर सकते हैं। इसी भाँति रूमाल, तौलिया, गिलास, प्याले इत्यादि के द्वारा भी रोग उत्पन्न हो जाता है। यह जीवाणु वायु द्वारा बहुत दूर तक नहीं जा सकता; कोमल होने के कारण उसका शीघ्र ही नाश हो जाता है। यह अनुमान किया जाता है कि बिना किसी प्रकार का रोग उत्पन्न किये हुए जीवाणु कुछ समय तक गले में अकर्मण्य पड़ा रह सकता है। किन्तु उचित अवसर मिलने पर वह सक्रिय होकर रोग उत्पन्न कर देता है।

रोग को फैलाने में रोगवाहक व्यक्ति अवश्य ही बहुत बड़ा भाग लेते है। आन्त्रिक ज्वर के वाहकों की भाँति इन व्यक्तियों के गलों में डिप्थीरिया के जीवाणु उपस्थित रहते है; किन्तु उनको उससे कुछ कष्ट नहीं होता। ऐसे व्यक्ति जनता के लिए बहुत भयङ्कर हैं। यह भी पाया गया है कि न केवल वही व्यक्ति, जो वास्तव में रोगग्रस्त हुए थे, किन्तु रोगग्रस्त व्यक्तियों के सम्पर्क में आनेवालों में से भी बहुत से व्यक्ति वाहक बन जाते हैं। ऐसे लोग विशेषकर ऐसी संस्थाओं के लिए—जैसे स्कूल, बोर्डिङ्ग हाउस, अस्पताल इत्यादि—बहुत हानिकारक प्रमाणित हो सकते हैं। गले के स्राव की भली भाँति परीक्षा होने पर जिनके गलों में जीवाणु उपस्थित मिले उनको नित्य प्रति दो या तीन बार लिस्टरीन या क्लोरीनयुक्त जल से कुल्ले करने चाहिएँ। जब तक वह लोग जीवाणु-मुक्त न हो जावें तब तक उनको संस्था के अन्य व्यक्तियों से न मिलने देना चाहिए।

संप्राप्ति काल ३ से ४ दिवस है। कभी कभी सात दिवस तक हो जाता है।

संक्रामक काल १४ दिन से ५ या ६ सप्ताह तक माना जाता है। वास्तव में इसके सम्बन्ध में सबों का मत निश्चित नहीं है। रोग से मुक्त होने के पश्चात् समय-समय पर गले की पूर्ण परीक्षा होनी चाहिए। जब तक गले में जीवाणु मिलें तब तक व्यक्ति को पृथक् रखना उचित है। रोगग्रस्त बच्चों को स्कूल न आने देना चाहिए। कभी कभी गला रोग के पश्चात् तीन दिन में जीवाणु-मुक्त हो जाता है। किन्तु अन्य अवसरों पर तीन तीन सप्ताह तक जीवाणु उपस्थित रहते हैं।

लक्षण—यह रोग शरीर में बहुत से स्थानों में हो सकता है। किन्तु ग्रसनिका, स्वरयन्त्र और नासिका में प्रायः अधिक होता है। जो अङ्ग आक्रांत होता है वहाँ एक गाढ़ी मैले श्वेत रङ्ग की झिल्ली बन जाती है। स्वरयन्त्र और ग्रसनिका में उत्पन्न हुई झिल्ली से श्वास मार्ग बन्द होने लगता है। यदि उचित चिकित्सा नहीं होती तो यह झिल्ली श्वास के मार्ग को रोक देती है जिससे श्वासावरोध के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। बच्चे को श्वास लेने में बहुत कष्ट होता है।

जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुए विष से शारीरिक लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। ज्वर प्रायः १०३° या १०४° फ़े० होता है। नाड़ी की गति ११० से १२० तक होती है। दुर्बलता सामान्य होती है। किन्तु रोग के तीव्र होने पर ज्वर भी अधिक होता है और साधारण शारीरिक दशा भी विषम हो जाती है।

रोग-क्षमता—रोग के एक आक्रमण से रोगक्षमता उत्पन्न नहीं होती।

प्रतिषेध के उपाय—जो व्यक्ति रोग से ग्रस्त हों उनको तुरन्त पृथक् करके उनकी चिकित्सा का आयोजन करना चाहिए। जो लोग रोगी के सम्पर्क में आये हो उनकी परीक्षा करना भी आवश्यक है। यदि उनके गले में जीवाणु मिलें तो उनको भी पृथक् करना उचित है। प्रत्येक व्यक्ति को

उचित औषधि से गले के विकार को दूर करना चाहिए। मरक के दिनों में क्लोरीनयुक्त जल से गले को नित्य प्रति स्वच्छ करना बहुत उत्तम है। इससे रोग से बचे रहने मे बहुत सहायता मिलती है। नाक और गला दोनो को शुद्ध रखना चाहिए। फुहारों के रूप में औषधि का प्रयोग करने के लिए विशेष प्रकार के काँच के यन्त्र आते है जिनके द्वारा औषधि की फुहार गले में नीचे तक पहुँचाई जा सकती है। इससे गले की शुद्धि करनी चाहिए।

रोगी के मुख से जो स्राव निकले उसको २० में १ की शक्ति के कारबोलिक अथवा १००० में १ की शक्ति के रस कपूर के विलयन से भरे हुए बर्त्तन में डालना चाहिए और अन्त को किसी वस्त्र के साथ मिलाकर जला देना चाहिए।

एक स्थान मे बहुत से व्यक्तियों का एकत्रित न होना, सभा, बायस्कोप इत्यादि स्थानों का परित्याग, रोगियों से बचना और शारीरिक स्वास्थ्य को उत्तम बनाना यही रोग से बचने के मुख्य उपाय हैं।

रोग से बचने और रोग-मुक्त होने के लिए विशिष्ट और निश्चित उपाय जीवाणुओ से तैयार किये हुए प्रतिविष[1] का प्रयोग है जो ऐंटी-टौक्सिन के नाम से बिकता है। जो लोग रोगी के सम्पर्क मे आये हों या जिनमे रोग की प्रवृत्ति हो, उनको प्रतिषेधक मात्रा का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रतिविष की मात्राएँ यूनिट[2] कहलाती है। रोग से रक्षा करने के लिए बच्चों के शरीर में २०० से १००० और युवा मनुष्यों में १५०० यूनिट प्रविष्ट की जाती हैं। इस वस्तु का साधारण वस्तुओं की भाँति बाहु के बाहर की ओर इंजैक्शन दिया जाता है। इस प्रकार व्यक्ति के शरीर में निष्क्रिय रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है। किन्तु वह अल्प-स्थायी होती है। इस कारण बहुत से विद्वानों की सम्मति के अनुसार विष[3] और प्रतिविष के मिश्रण को शरीर में प्रविष्ट करना चाहिए। इससे रोगक्षमता ८ या १० सप्ताह में उत्पन्न होती है, किन्तु वह चिरस्थायी होती है। इस

---

१. Antitoxin. २. Unit ३. Toxin.

वस्तु की १ सी० सी० के १ सप्ताह के अन्तर से तीन इंजैक्शन देने चाहिएँ। बच्चों को '५ सी० सी० की मात्रा पर्याप्त है।

स्कूल, बोर्डिंग हाउस, अनाथालय इत्यादि स्थानों में जिन व्यक्तियों में रोग की प्रवृत्ति हो उनको इस वस्तु के प्रयोग से अवश्य रोगक्षम कर देना चाहिए। रोग की प्रवृत्ति शिक जांच से मालूम की जा सकती है।

शिक जाँच—डिफ्थीरिया के जीवाणुओं के विष का एक द्रव्य बनाया जाता है। इसकी प्रत्येक मात्रा '१ या '२ सी. सी. की होती है। और उसमें २५० ग्राम भारवाले श्वेत चूहे के लिए १ घातक मात्रा का १/५० भाग रहता है। इसको अग्र बाहु के सामने की ओर चर्म के भीतर (चर्म के नीचे नहीं) प्रविष्ट किया जाता है। जिन व्यक्तियों में प्रवृत्ति होती है उनमें इंजैक्शन के स्थान पर २४ घण्टे में शोथ और लालिमा उत्पन्न हो जाती है। तीन या चार दिन में यह एक अपक्व विद्रधि की भांति मालूम होने लगती है। धीरे धीरे यह शोथ जाता रहता है और उसके स्थान पर कुछ भूरे रङ्ग का चिह्न रह जाता है जिस पर से सूक्ष्म स्तर उतरते रहते हैं। तीन से छः सप्ताह में यह सब जाता रहता है।

जिन व्यक्तियों में यह घटना नहीं होती वह रोग की प्रवृत्ति से मुक्त होते हैं। बोर्डिङ्ग हाउस और स्कूल के समान संस्थाओं के लिए यह परीक्षा-विधि बड़ी उपयोगी है। वहां पर समय-समय पर इस प्रयोग के द्वारा मालूम करते रहना चाहिए कि किस व्यक्ति में रोग की प्रवृत्ति उपस्थित है। जिसमें प्रवृत्ति के लक्षण मिलें उस व्यक्ति को प्रतिविष के इंजैक्शन द्वारा रोगक्षम कर देना उचित है। बोर्डिंग हाउसों में रोग के भयानक मरक फैलते देखे गये हैं।

काली खाँसी

इसको कुकुर खांसी भी कहते हैं। यह रोग बच्चों ही को होता है। बच्चे की आयु जितनी छोटी होती है उस पर उतना ही बुरा प्रभाव पड़ता है। खाँसी के समय-समय पर आक्रमण होते हैं जो पाँच-पांच मिनट तक रहते हैं।

खाँसते-खाँसते बालक का मुख लाल हो जाता है और कभी-कभी वमन भी हो जाता है।

यह रोग प्रत्येक वर्ष, विशेषकर जाड़ों के दिनों में, बालकों को होता है। कभी-कभी यह मरक के रूप में फैल जाता है। एक रोगी बालक से दूसरा स्वस्थ बालक रोग को बहुत सहज मे ग्रहण करता है। बच्चे की आयु जितनी छोटी होती है उतना ही रोग अधिक घातक होता है। इँग्लैंड मे इस रोग से मृत बालकों में ४० प्रतिशत बालक एक वर्ष से कम आयु के थे। दो वर्ष की आयु के बालकों की ३० प्रतिशत, तीसरे वर्ष में १५ और चौथे में केवल ६ प्रतिशत बच्चों की मृत्यु हुई। इनमें भी लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की अधिक मृत्यु हुई।

शीत और आर्द्र वायुमण्डल रोग के फैलने के लिए अनुकूल प्रतीत होता है। सब जातियों पर इसका समान प्रभाव पड़ता है। अँग्रेज़ और भारतनिवासी दोनों के बच्चे एक समान रोग-ग्रस्त होते हैं। यह देखा गया है कि काली खाँसी और रोमान्तिका दोनों के मरक एक साथ फैलते हैं।

इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको महाशय बोर्डे और गैंग ने सन् १९०६ में मालूम किया था।

संवहन—इस रोग का वायु द्वारा संवहन होता है। जीवाणु भी डिफ्थीरिया और इनफ़्लुएँज़ा के जीवाणु की भाँति थूक के साथ रोगी के मुख से स्वस्थ व्यक्तियों के गलों में पहुँचते हैं। इसके अतिरिक्त खिलौने, तौलिया, प्याले या अन्य बर्त्तन अथवा वस्त्रो द्वारा रोग का विष स्वस्थ बालकों तक पहुँच सकता है। यह रोग कुत्ते बिल्ली आदि को भी होता है। इस कारण इन जन्तुओं के द्वारा भी रोग का संवहन हो सकता है।

लक्षण—इस रोग में ज्वर या अन्य कोई शारीरिक लक्षण नहीं होते। केवल बालक को खाँसी आती है। दिन में चार पाँच से दस पन्द्रह बार तक खाँसी के आक्रमण होते हैं। खाँसी के साथ प्रायः श्लेष्मा नहीं निकलता।

सम्प्राप्ति और संक्रामक काल—इस रोग का सम्प्राप्तिकाल ७ से १० दिन और संक्रामक काल छः सप्ताह है। एक आक्रमण से प्रायः रोग-क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

प्रतिषेध के उपाय—रोगी को पृथक् कर देना चाहिए। उसको यदि अस्पताल मे न भेजा जावे तो अपने मकान ही के सबसे ऊँचे खण्ड पर एक हवादार कमरे में पृथक् किया जा सकता है। दूसरे बालकों को उसके सम्पर्क मे न आने देना चाहिए। रोग-ग्रस्त बालक का स्कूल मे जाना स्कूल के अन्य बालकों के लिए भयङ्कर है। इस कारण उसको स्कूल न भेजना चाहिए। न केवल यही किन्तु उस बालक के परिवार के दूसरे बालकों का जाना भी उचित नहीं है। इसी प्रकार रोग-ग्रस्त बालकों को ऐसे स्थानों पर भी न जाने देना चाहिए जहाँ बहुत से बालक या व्यक्ति एकत्र होते है।

रोगियों के रोग-मुक्त हो जाने के पश्चात् मकान का विस्संक्रामण होना चाहिए।

कर्णफेर

यह रोग भी बच्चो ही को होता है। कपोलिक ग्रन्थि और उसी के साथ कभी-कभी समीपवर्त्ती ग्रन्थियों का भी शोथ हो जाता है जो प्रायः तीन या चार दिन मे जाता रहता है। सामान्यतया ज्वर नहीं होता। यदि होता भी है तो बहुत हलका। यह रोग अधिकतर ऐसी ऋतु में होता है जब वायु-मण्डल शीत और आर्द्र होता है। एक आक्रमण से रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है। रोग का दूसरा आक्रमण बहुत कम देखने में आया है।

इस रोग के जीवाणु का कुछ पता नहीं चला है। सम्भव है, वह अत्यन्त सूक्ष्म हो। सम्प्राप्तिकाल ३ सप्ताह है।

प्रतिषेध—रोग-ग्रस्त बालक को दूसरे बालकों से पृथक् रखना आवश्यक है। रोगमुक्ति के पश्चात् भी ३ सप्ताह तक उसको अन्य बालकों के सम्पर्क मे न आने देना चाहिए।

नेत्राभिष्यन्द

यह रोग अनभिज्ञ निर्धन ग्रामीण लोगों के बालकों में बहुत पाया जाता है। नेत्रो मे शोथ होता है जिससे वह लाल हो जाते हैं। उनसे गाढ़ा श्वेत, मैले रङ्ग का स्राव निकलता है जिससे बच्चे के नेत्रो के पक्ष्म आपस में चिपक जाते हैं और प्रातःकाल सोकर उठने पर उनको छुड़ाने मे कठिनता होती है। दूसरा रोग, जो इन बालको में बहुत अधिक मिलता है, पलकों के रोहे है। पलकों में, भीतर की ओर, छोटे-छोटे दाने बन जाते हैं जिनके कारण नेत्रो से प्रत्येक समय स्राव निकला करता है। इन रोहो के अधिक समय तक रहने से बच्चे के नेत्रों में व्रण बन जाते हैं जिनके कारण उसकी दृष्टि नष्ट हो जाती है।

ये रोग अस्वच्छता के कारण उत्पन्न होते है। बालक धूल और मिट्टी इत्यादि में खेलते रहते है जिनके कण उनके नेत्रो मे गिरते रहते है। इन रोगों का संक्रमण एक से दूसरे को पारस्परिक संसर्ग से पहुँचता है। रोगी बालक को पृथक् न करने के कारण स्वस्थ बालक भी रोगग्रस्त हो जाते है। खेलते समय उँगलियों या अन्य वस्तुओं के द्वारा संक्रमण पहुँच सकता है।

रोगी को पृथक् करके तुरन्त ही उचित चिकित्सा का आयोजन करना चाहिए। ग्रामवासियों मे इन रोगों के सम्बन्ध में ज्ञान फैलाने की आवश्यकता है।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

ऐन्थ्रैक्स

यह एक अत्यन्त तीव्र और घातक रोग है। यह रोग प्रथम पशुओं को और उनसे मनुष्यों को होता है। संसार में सभी स्थानों में यह रोग पाया जाता है। किन्तु चीन, रूस, पर्शिया और एशिया माइनर में अधिक होता है। सौभाग्य से हमारे देश मे यह रोग कम होता है।

कारण—रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको बैसिलस ऐन्थ्रेसिस[1] कहते हैं। इसकी लम्बाई अधिक होती है। कभी-कभी कई जीवाणु अपने सिरो द्वारा एक दूसरे के साथ जुड़ जाते हैं जिससे उनकी लम्बी शृङ्खला बन जाती है। यह जीवाणु वायवीय हैं और उनको उत्पत्ति और वृद्धि के लिए आक्सीजन की आवश्यकता होती है। यह केवल शरीर के भीतर वृद्धि कर सकते हैं। शरीर से बाहर निकलते ही प्रतिकूल दशाओं के उपस्थित होने पर जीवाणु स्पोर बना देता है। स्वयं जीवाणु एक या दो मिनट तक उबालने अथवा कारबोलिक एसिड के १ प्रतिशत विलयन में एक या दो मिनट तक रखने से नष्ट हो जाता है। किन्तु स्पोरों में बड़ी सहनशक्ति होती है। वह प्रतिकूल दशाओं के सहन करने ही के लिए बनाये जाते है। उनका १४०° फ़॰ की शुष्क उष्णता मे तीन घण्टे तक रखने से नाश होता है। कारबोलिक अम्ल के एक प्रतिशत घोल में १ सप्ताह तक रखने से भी वह नहीं मरते। पृथ्वी के भीतर स्पोर १५ वर्ष तक जीवित पाये गये हैं। वह पशुओं के चर्म पर ऊन या बालों में लगे रहते हैं।

संवहन—रोग का जीवाणु कई प्रकार से शरीर में प्रवेश कर सकता है चर्म के खुरच जाने अथवा क्षत के द्वारा अथवा चर्म के बालों के मूल द्वारा जीवाणु भीतर प्रविष्ट होकर **'घातक अणुविद्रधि[2]'** उत्पन्न कर देते हैं। इस

१. Bacillus Anthracis. २. Malignant Pustule.

प्रकार का रोग कसाइयों में अधिक होता है। कभी-कभी हजामत बनाने-वाले ब्रुशों से भी रोग होते देखा गया है। इस प्रकार के रोग में जिस स्थान में संक्रमण प्रवेश करता है वहाँ पर एक छोटी सी विद्रधि अथवा पूय से भरा हुआ एक विस्फोट उत्पन्न हो जाता है। यदि उसको छेदन करके निकाल नहीं दिया जाता तो व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है।

दूसरे प्रकार का रोग ऊन के कारख़ानो में काम करनेवालों में अधिक होता है और 'ऊनवालो का रोग'[1] कहलाता है। यह रोग फुस्फुस में उत्पन्न होता है। जीवाणु ऊन के बहुत छोटे-छोटे कणों के साथ फुस्फुस मे पहुँच जाते हैं। धूल के साथ भी जीवाणु प्रविष्ट हो सकते हैं। चौबीस घण्टे के भीतर तीव्र निमोनिया के से लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। श्वासावरोध, ज्वर और हृदय की दुर्बलता के लक्षण विशेष होते हैं। चौबीस घण्टे में हृदयावसाद से मृत्यु हो सकती है। उन्माद, आक्षेपक, अतिसार अथवा वमन इत्यादि भी उत्पन्न हो सकते हैं।

तीसरे प्रकार का रोग पाचन से सम्बन्ध रखता है। जीवाणु भोजन के साथ अन्त्रियों में पहुँच जाते हैं। रोगग्रस्त पशु के मांस या दूध से रोग उत्पन्न हो सकता है। वमन और अतिसार विशेष लक्षण हैं; साथ में दुर्बलता अत्यन्त अधिक होती है और पेशियों में ऐंठन होती है। कुछ रोगियों में श्वासकष्ट और मुख पर नीलापन भी देखा गया है। मृत्यु के समीप पेशियों में आक्षेपक होते हैं।

यह रोग प्रधानतः व्यवसाय सम्बन्धी है। और प्रायः उन्हीं लोगों को होता है जो पशुओ के चर्म, ऊन, फ़र इत्यादि का व्यवसाय करते हैं।

प्रतिषेध—जो पशु रोग-ग्रस्त हों उनको पृथक् कर देना चाहिए। उनको मार डालना अधिक उत्तम है। मारने के पश्चात् शव को जलवा देना चाहिए। एक पशु को जलाने में प्रायः ४० मन के लगभग लकड़ी व्यय होती है। कुछ विद्वान् शव को गाड़ देने की भी सम्मति देते हैं, किन्तु जलाना ही उत्तम है। यदि उसको गाड़ा जावे तो गढ़े में प्रथम ताज़ा बुझा हुआ

---

१. Wool Sorter's disease.

चूना डाल देना चाहिए। उस पर पशु का शव रखकर उसके ऊपर से और चूना डालना चाहिए जिससे शव पूर्णतया चूने से ढक जावे। तत्पश्चात् गढ़ा मिट्टी से भरा जा सकता है।

इस रोग के लिए एक वैक्सीन भी बनाई गई है। इसकी दो मात्राएँ शरीर में प्रविष्ट की जाती हैं। जो वस्तु दूसरी मात्रा में प्रयुक्त की जाती है वह प्रथम की अपेक्षा अधिक प्रबल होती है।

स्क्लैवा महाशय का बनाया हुआ ऐन्टी-ऐन्थ्रैक्स सीरम रोग की चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। इसकी मात्रा २० से ४० सी सी. है।

जिस स्थान पर रोगग्रस्त पशु या व्यक्ति रहे हों उस स्थान का पूर्ण विसंक्रामण होना चाहिए।

बेरी-बेरी

यह रोग पूर्वीय देशो में पाया जाता है। पश्चिमी देशो में भी कभी-कभी इसके मरक फैल जाते है। कुछ वर्ष हुए डब्लिन नगर के एक पागलखाने में यह रोग फैला था। अमरीका और फ्रांस की भी कई ऐसी ही संस्थाओं में कुछ व्यक्ति रोगग्रस्त हो चुके हैं। किन्तु पूर्वीय देशों मे, विशेषकर जहाँ पालिश किये हुए चावल का प्रयोग किया जाता है, यह रोग भयङ्कर रूप से फैला करता है। मलाया, पूर्वी आर्चिपेलेगो, चीन, जापान, फ़िलिपाइन, भारतवर्ष इत्यादि में यह रोग बहुत फैलता रहता है। चीनी लोग रोग से बहुत ग्रस्त होते हैं। जापान के सेना विभाग में इस रोग के मरकों से बहुत क्षति हुई है। कुछ ही वर्ष हुए जब कलकत्ते और उसके समीपवर्ती स्थानों में इस रोग का मरक फैल चुका है।

कारण—इस रोग के कारण के सम्बन्ध में बहुत से सिद्धान्त समय समय पर प्रस्तुत किये गये हैं। किन्तु उसका ठीक ठीक अन्वेषण हुए बहुत वर्ष व्यतीत नहीं हुए। जापान के सेना विभाग में जिस समय यह रोग भयङ्कर रूप से फैला था उस समय वहाँ के विद्वानो ने बड़े परिश्रम के साथ रोग के कारण को जानने के लिए प्रयत्न किये थे। अन्य रोगाक्रान्त देशो में भी इसी प्रकार के प्रयत्न किये गये। इन अन्वेषणों से यह मालूम हुआ कि रोग का

भोजन के साथ सम्बन्ध है। भोजन में किसी ऐसे भाग की कमी से, जो स्वास्थ्य को उत्तम बनाये रखने के लिए आवश्यक है, यह रोग उत्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में भी दो मत थे। एक मत था कि भोजन की कमी अथवा भोजन के किसी विशिष्ट अवयव के कम होने से रोग उत्पन्न होता है। दूसरे मत के अनुसार भोजन की मात्रा तथा उसके विशिष्ट अवयवों की कमी रोग उत्पन्न नहीं करती। किन्तु विशिष्ट अवयवों के अतिरिक्त भोजन में कोई ऐसी वस्तु होती है जिसकी अनुपस्थिति से शरीर की पोषण को ग्रहण करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। इस वस्तु को विटेमीन-बी कहते हैं। चावल मे यह वस्तु बाहरी स्तर और भ्रूण में रहती है जो मिलों मे चिकना करते समय चावल के दाने से पृथक् हो जाती है।

यदि एक कबूतर या कबूतर के बच्चे को केवल बिना छिलका उतरा हुआ चावल खिलाया जावे तो उसकी वृद्धि होती रहती है। किन्तु छिलका उतरे हुए अथवा पालिश किये हुए चावल को प्रयोग करवाने से कबूतर मे बेरी-बेरी के समान लक्षण उत्पन्न होने लगते है। उसमे प्रान्तीय नाड़ी शोथ के से लक्षण प्रगट हो जाते हैं; शरीर-भार घट जाता है, दुर्बलता अत्यन्ताधिक हो जाती है, और अन्त में उसकी मृत्यु हो जाती है। किन्तु रोग के लक्षणो के प्रगट होने पर चावल पर से उतरे हुए कुछ छिलके चावलों में मिलाकर कबूतरो को देने से रोग के लक्षण दूर होने प्रारम्भ हो जाते हैं, और कुछ समय में कबूतर रोग-मुक्त हो जाता है। यदि चावल के दाने के भ्रूण से तैयार किया हुआ सत्व कबूतर के शरीर मे प्रविष्ट किया जावे तो भी वह अत्यन्त शीघ्रता मे स्वास्थ्य लाभ करता है।

इसी प्रकार के अन्य बहुत से प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि रोग का कारण विटेमीन—बी की न्यूनता है। यह वस्तु चावल के अतिरिक्त अन्य अनाजों में भी रहती है।

इन अन्वेषणों के अनुसार सिंगापुर, मलाया इत्यादि में सरकार ने जेल, स्कूल, अस्पताल, पागलखाने तथा अन्य ऐसी ही संस्थाओं में पालिश किये हुए चावल के प्रयोग को बन्द करवा दिया जिसका परिणाम यह हुआ

कि अब यह स्थान, जहाँ पहिले रोग सदा उपस्थित रहता था, प्रायः रोग-मुक्त हो गये हैं।

शारीरिक स्वास्थ्य और बल की क्षीणता रोग उत्पन्न होने में विशेष सहायता देती है। गर्भावस्था, रोगों से उत्पन्न हुई दौर्बल्यावस्था, रक्तस्राव इत्यादि की दशाओं मे प्रायः रोग शीघ्रता से उत्पन्न होते देखा गया है। स्त्री-पुरुष दोनों को रोग समान रूप से होता है। बच्चो और वृद्धों को कम होता है। जेलखाने इत्यादि मे, जहाँ बहुत व्यक्तियो को एक साथ रहना पड़ता है, रोग अधिक फैलता है।

लक्षण—इस रोग के लक्षणो मे बहुत भिन्नता पाई जाती है। वह प्रायः प्रान्तीय नाड़ी-शोथ के समान होते हैं। इसके विशेष कर दो रूप देखे जाते हैं। प्रथम रूप के रोग में रोगी के मांस का क्षय हो जाता है। किन्तु दूसरे रूप में सारे शरीर पर शोथ उत्पन्न हो जाता है जिससे रोगी तरुणवृक्कशोथ[1] के रोगी के समान दिखाई देता है।

प्रथम रूप के रोग में नाड़ियों के विकार से पक्षाघात उत्पन्न हो जाता है; आक्रान्त अङ्ग के चर्म की चेतना नष्ट हो जाती है। मांसपेशियों का अत्यन्त क्षय हो जाता है। जंघापिण्ड की पेशियों पर विशेषकर अधिक प्रभाव पड़ता है। उरु प्रान्त की पेशियों का भी इसी प्रकार क्षय होता है। इन पेशियों को दाबने से कठिन पीड़ा होती है। यदि रोगी से चलने को कहा जावे तो वह लाठी के सहारे बड़ी कठिनता से लड़खड़ाते और टाँगों को घसीटते हुए कुछ गज़ से अधिक नहीं चल सकता। बाहु और अग्रबाहु की पेशियों का भी क्षय हो जाता है। रोगी को भोजन के पात्र तथा ग्रास को मुँह तक ले जाना कठिन होता है।

रोगी के हृदय का प्रसार हो जाता है; दुर्बलता अत्यन्त अधिक होती है। किन्तु पाचन और मलत्याग क्रिया ठीक होती रहती हैं। रोगियों की मृत्यु अधिकतर हृदयावसाद से होती है।

---

१. Nephritis

दूसरे प्रकार के रोगियों में मुख, उदर, पाँव और अन्य भागों में शोथ उत्पन्न हो जाता है। किसी-किसी रोगी में शोथ एक देशीय होता है। हृदय प्रसरित हो जाता है। नाड़ी धीमी और दुर्बल होती है। उरस्तोय उत्पन्न हो जाता है। पेशियाँ अत्यन्त दुर्बल होती हैं जिससे रोगी का चलना असम्भव होता है। जङ्घा इत्यादि का पक्षाघात हो सकता है। मूत्रत्याग बहुत कम होता है।

प्रतिषेध—यह रोग भोजन के द्वारा उत्पन्न होता है। अतएव रोग से मुक्त रहने के लिए भोजन की त्रुटि को दूर करना चाहिए। ऊपर बताया जा चुका है कि रोग बहि स्तर-रहित चावल के प्रयोग से उत्पन्न होता है। इस कारण इस प्रकार के चावल का प्रयोग बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए। चावल के साथ भोजन में गेहूँ, शाक, फल इत्यादि भी सम्मिलित रहने चाहिएँ।

चावल को जिस प्रकार और जिस स्थान पर संग्रह किया जाता है उसका भी चावल पर बहुत प्रभाव पड़ता है। अँधेरे, वायुरहित, तथा सीलयुक्त स्थान मे संग्रह किया हुआ चावल खाने योग्य नहीं होता। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि ऐसे चावल से यदि स्वयं बेरी-बेरी नहीं तो कम से कम बेरी-बेरी के समान अन्य रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

यदि जेल, स्कूल, इत्यादि में यह रोग फैले तो वहाँ के भोजन में तुरन्त परिवर्त्तन करना चाहिए। स्थान की स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। यदि थोड़े स्थान मे अधिक लोग रहते हों तो उनको वहाँ से हटा देना उचित है। मारमाइट[१] अथवा ख़मीर का सत्त्व भी इस रोग को रोकने के लिए उत्तम कहा जाता है। इस वस्तु को ड्राम की मात्रा में एक सप्ताह में दो बार प्रयोग करना पर्याप्त है।

मरक शोफ[२]

यह रोग भी बेरी-बेरी से मिलता-जुलता ही है। रोगी के शरीर पर शोथ उत्पन्न हो जाता है। उसके वर्ण में पाण्डुता और हृदय में दुर्बलता

१. Marmite· २. Epidemic dropsy

आ जाती है। हृदय का प्रसार होता है। किन्तु पक्षाघात नहीं होता और न चर्म चेतनाहीन होता है। कभी कभी रोग के पूर्व अतिसार, प्रवाहिका, ज्वर इत्यादि उत्पन्न हो जाते हैं।

सबसे प्रथम रोग कलकत्ते में १८७७-७८ मे फैला था। शिलौंग और आसाम मे भी इसी वर्ष में रोग हुआ। मौरिशस में १८७९ और फ़ीजी द्वीप में १९२६ मे रोग के मरक फैले। सन् १९०९ में रोग कलकत्ते में फिर फैला। भारतवर्ष में यह रोग केवल बङ्गाल और मद्रास प्रान्तों में परिमित रहा है। इन दोनों प्रान्तों में भोजन का मुख्य पदार्थ चावल है। बङ्गाल में यह देखा गया है कि रोग मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों को अधिक होता है।

कारण—रोग का कोई जीवाणु नहीं पाया गया है। अन्वेषण-कर्त्ताओ का मत है कि रोग का कारण दूषित चावल को अत्यन्त अधिक उबाल कर खाना है। कर्नल मैगो और ऐक्टन के अनुसार चावल प्रकाश और वायुरहित, सीलयुक्त स्थानों मे रखने से दूषित हो जाता है। उसमें कई प्रकार के फ़ंगस उत्पन्न होकर उसको विषयुक्त कर देते हैं। जब यह चावल प्रयोग किया जाता है तो रोग उत्पन्न हो जाता है। वसुमति चावल प्रायः दो वर्ष तक रखे रहने के पश्चात् बेचा जाता है। कभी कभी वह इससे भी अधिक समय तक रखा रहता है। निम्न श्रेणी के लोग सस्ते होने के कारण तुरन्त उत्पन्न हुए चावलों का प्रयोग करते है। इस कारण वह लोग रोग से बच जाते हैं। धनी लोग जिन चावलों का प्रयोग करते हैं वह विशेष प्रकार से रक्षित किये हुए होते हैं। मध्यम श्रेणी के लोग साधारण चावलों का प्रयोग करते हैं जो एक या दो वर्ष तक रखे जाते हैं। इस कारण वह लोग रोगग्रस्त होते हैं।

इन दोनों अन्वेषण-कर्त्ताओं की सम्मति के अनुसार यदि चावल को उचित रीति से रखा जावे तो उससे रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। उनका कहना है कि यदि भोजन में उत्तम प्रकार से सुरक्षित चावल के साथ शाक, गेहूँ और अन्य अनाज तथा ताज़ा फल भी सम्मिलित रहें तो यह रोग संसार से उठ जावे।

लक्षण—शोफ सदा उपस्थित होता है। किसी रोगी मे शोफ केवल टांगों ही पर होता है, किन्तु अन्य रोगियों मे सारे शरीर पर फैल जाता है। ज्वर ९९° से १०२° फे० तक होता है और सदा उपस्थित रहता है। वह शोफ के पूर्व, या उसके साथ अथवा उसके पश्चात् उत्पन्न हो सकता है। पेशियों, अस्थियो और अन्त्रियों में तीव्र पीड़ा होती है जो रात्रि को और भी बढ़ जाती है। हृदय विकृत होता है। नाड़ी धीमी और दुर्बल होती है। बहुतों में फुस्फुसावरण और हृदयावरण मे तरल उत्पन्न हो जाने के लक्षण दिखाई देते हैं। दुर्बलता अत्यन्त होती है।

प्रतिषेध—रोग के कारण को समझकर प्रतिषेध के उपाय करने चाहिएँ। भोजन के सम्बन्ध में सावधान होना आवश्यक है। बेरीबेरी के सम्बन्ध में रोग को रोकने के लिए जो उपाय आवश्यक है, उन्हीं का इस रोग के सम्बन्ध में प्रयोग करना चाहिए।

कुष्ठ

यह रोग अत्यन्त प्राचीन है। संसार में कोई ऐसा देश नहीं है जो इससे पूर्णतया मुक्त हो। योरप के देशो में स्वच्छता और स्वास्थ्य सम्बन्धी उपायों के पूर्ण अवलम्बन के द्वारा यह रोग बहुत कम हो गया है। किन्तु पहिले यह रोग वहाँ पर भी बहुत फैला हुआ था। टर्की, ग्रीस, रूस, नार्वे आदि देशों में अब भी रोगग्रस्त व्यक्तियों की पर्याप्त संख्या मिलती है। चीन, जापान और मिस्र में रोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आया है। हमारे देश में भी इसका वर्णन आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों मे मिलता है जिससे पता लगता है कि यह रोग उस समय भी देश में वर्तमान था।

यह अनुमान किया जाता है कि इस समय भारतवर्ष में ५००,००० कुष्ठ के रोगी हैं। किन्तु वास्तविक संख्या इससे कहीं अधिक है।

कारण—इस रोग का कारण एक जीवाणु होता है जिसको कुष्ठ का जीवाणु या 'बेसिलस लेप्री'[१] कहते हैं। यह जीवाणु शरीर के सब रोगाक्रान्त

१. Bacillus Laprae.

स्थानों में पाया जाता है। यह रोग के कारण उत्पन्न हुए व्रण या छोटी छोटी ग्रन्थियों में उपस्थित रहता है। वह राजयक्ष्मा के जीवाणु के बहुत कुछ समान होता है और उसी की भाँति 'एसिड फक्सिन' को न त्यागने के कारण लाल दिखाई देता है। विशेष कोषाणु में, जिनको कुष्ठ कोषाणु[1] कहते हैं, इन जीवाणुओं के गुच्छे पाये जाते हैं। रोगी की नासिका या व्रण के स्राव अथवा अङ्गों में उत्पन्न हुई अणुग्रन्थियों में भी जीवाणु उपस्थित रहते हैं। किन्तु अस्थि, पेशी और कारटिलेज में नहीं पाये जाते।

संवहन—यह अभी तक नहीं मालूम हो सका है कि यह जीवाणु शरीर में किस भाँति पहुँचता है। किसी भी अन्वेषणकर्त्ता को अभी तक कोई विशेष प्रकार का व्रण अथवा क्षत, जिसके द्वारा जीवाणु शरीर में प्रवेश करता हो, नहीं मिला है। जीवाणुओं को कुछ पशुओं के शरीर में प्रविष्ट करने से भी कुछ परिणाम नहीं निकला।

विद्वानों का यह विचार है कि जीवाणु मक्खी, खटमल इत्यादि के द्वारा शरीर पर पहुँच जाता है; और जब हम शरीर को खुजाते हैं तो उससे उत्पन्न हुए सूक्ष्म क्षतों में होकर शरीर के भीतर प्रविष्ट होता है। खटमल के शरीर में जीवाणु उपस्थित मिले हैं। और यह भी मालूम हुआ है कि खटमल के द्वारा कुछ जन्तुओं को रोग उत्पन्न हो जाता है। सम्भव है कि मनुष्य में रोगोत्पत्ति में भी खटमल भाग लेता हो। मच्छर, मक्खी, जूँ या अन्य काटनेवाले कीड़ों पर रोग के संवहन का सन्देह किया गया है। किन्तु अभी तक किसी के सम्बन्ध में उचित प्रमाण नहीं मिल सके हैं। नासिका की श्लैष्मिक कला द्वारा भी जीवाणु का शरीर में प्रविष्ट होना सम्भव है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कुष्ठ के रोगी के साथ रहने से अथवा उसके साथ भोजन इत्यादि करने से रोग अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

कुछ लोगों ने भोजन के साथ जीवाणु के शरीर में प्रवेश करने की सम्भावना प्रकट की थी। किन्तु इस सम्मति का किसी प्रयोग द्वारा समर्थन नहीं हो सका।

---

१. Lapra cells

यह रोग पैतृक नहीं है। रोगी माता-पिता की सन्तान जन्म से रोगग्रस्त नहीं होतीं; उनमें रोग की प्रवृत्ति भले ही होती हो। हाँ रोगी माता-पिता के साथ रहने से बच्चे रोग ग्रहण कर लेते हैं। यदि जन्म ही से उनकी रोग से रक्षा के लिए उचित उपाय किये जावें तो उनका रोग-मुक्त रहना असम्भव नहीं है।

अन्वेषण से यह पता लगा है कि ४९ प्रतिशत बच्चे अपने माता-पिता से संसर्ग के कारण रोगग्रस्त होते हैं। दो से तीन प्रतिशत व्यक्ति अपनी स्त्रियों से अथवा स्त्री पुरुष से रोग ग्रहण करती हैं।

यह रोग १० से ३० वर्ष की आयु में अधिक होता है। ५ वर्ष से कम आयु के बालक और ५० वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों में रोग बहुत कम देखने में आता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को रोग कम होता है। कङ्गाली, निवास-स्थान की अस्वच्छता, थोड़े स्थान में अधिक व्यक्तियों का रहना, वर्षा की अधिकता के साथ उष्ण आर्द्र वायुमण्डल इत्यादि दशाएँ रोग के फैलने में सहायता देती हैं।

लक्षण—यह रोग दो रूपों में पाया जाता है। (१) प्रथम रूप में चर्म के नीचे छोटी-छोटी अरसुग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। किन्तु इनके स्पष्ट होने के पूर्व उस स्थान के चर्म पर लाल लाल चिह्न बन जाते हैं। स्पर्श से इनमें पीड़ा होती है। कुछ रोगियों में इसके साथ-साथ अणुग्रन्थियाँ भी बना करती हैं। कुछ समय के पश्चात् इन स्थानों के चर्म में कुछ रङ्ग के कण एकत्रित हो जाते हैं जिससे उस स्थान का रङ्ग बदल जाता है। धीरे-धीरे यह रङ्ग भी जाता रहता है और उस स्थान का चर्म पूर्णतया श्वेत हो जाता है। पलक और भ्रू के बाल गिर पड़ते हैं। चर्म मोटा पड़ जाता है। मुख के चर्म में सिलवटें और भारीपन दिखाई देने लगता है। रोगी की आकृति बदल जाती है। अन्त में ग्रसनिका और स्वरयन्त्र में भी अणुग्रन्थियाँ बन जाती हैं; शब्द मोटा और भद्दा हो जाता है। स्वरयन्त्र के विकार इत्यादि से मृत्यु हो जाती है।

(२) दूसरे प्रकार के रोग मे चर्म चेतनाहीन हो जाता है। प्रथम बाहु या जंघा इत्यादि में पीड़ा होती है और उसके पश्चात् वहाँ का चर्म

चेतना-हीन अथवा अतिचैतन्य हो जाता है जिससे स्पर्श भी दुस्सह होता है। कुछ रोगियों मे बाहु, टाँग या धड पर प्रथम लाल चिह्न बन जाते है और उनके पश्चात् चर्म चेतनाहीन होना है। इन स्थानों पर फफोले पड़ जाते हैं जिनके फूटने के पश्चात् गहरे व्रण बन जाते है। प्रायः हाथों और पांवों की उँगलियां विकृत हो जाती हैं। पोरवे गलकर गिरने लगते हैं। नाड़ियाँ मोटी पड़ जाती है। इस प्रकार के रोग मे रोगी की शीघ्र मृत्यु नहीं होती। ३० वर्ष तक रोगी जीवित देखे गये है।

प्रतिषेध के उपाय—रोगी को रोगनिश्चिति होते ही पृथक् कर देना चाहिए। ऐसे रोगियो के लिए विशेष स्थान बनाने चाहिएँ जहाँ पर रोगियों के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति न रहन पावे। इन स्थानों को 'कुष्ठ रोगियों के उपनिवेश' कहा जाता है। यहाँ पर प्रत्येक प्रकार की सुविधा होनी चाहिए। भोजन इत्यादि की सब प्रकार की उत्तम सामग्री सस्ते दामो मे मिलनी चाहिए। जो रोगी स्वयं न खरीद सकें उनके भोजन के लिए सरकार की ओर से प्रबन्ध हो। खेल, तमाशे इत्यादि मनोरञ्जन का सभी सामान आवश्यक है। इन स्थानों में रोगियों को घूमने फिरने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। किन्तु प्रत्येक रोगी का नाम, पता, रोग की दशा इत्यादि एक रजिस्टर में लिखे रहें; और रोगी को उपनिवेश से बाहर जाने की आज्ञा न हो। इन स्थानों में मज़दूर, दूकानदार, भिन्न भिन्न व्यवसाय इत्यादि के सब कर्म रोगियों ही के द्वारा होने चाहिएँ। साथ में प्रत्येक रोगी की पूर्ण चिकित्सा का भी उचित प्रबन्ध हो।

रोगियों को उनके रोग की अवस्था के अनुसार भिन्न भिन्न श्रेणियों में विभक्त करके पृथक् उपनिवेशों मे रखना आवश्यक है।

भारतवर्ष में इस प्रकार के उपनिवेश अभी तक नहीं बने हैं। कुष्ठ के रोगियों के लिए कई स्थानों मे अस्पताल बन चुके हैं और भविष्य में अधिक संख्या में बनने की आशा है।

किन्तु धनवान् अथवा मध्यम श्रेणी के लोग भी इन अस्पतालों अथवा उपनिवेशों में रहना पसन्द नहीं करते। उनके परिवार, सन्तान और सर्व-

साधारण जनता के हित मे तो यही उत्तम है कि वह अपने परिवार से दूर, कुष्ठाश्रम या उपनिवेश मे, रहें। किन्तु यदि देश का नियम इसके लिए बाध्य न करता हो तो उनको कम से कम मकान ही मे किसी उचित कमरे मे पृथक् कर दिया जाय। उनको अपने परिवार के या अन्य व्यक्तियों के साथ मिलने न देना चाहिए। बालकों को उनके सम्पर्क मे आने देना उचित नहीं है।

सन् १९२० में कलकत्ते में कुष्ठाश्रमों के अध्यक्षों की एक कानफ़रेन्स हुई थी। उसमें बहुत सी बातों पर विचार करने के पश्चात् रोग को रोकने के सम्बन्ध में कई उपयोगी प्रस्ताव किये गये थे। * उनके मतानुसार रोगियों को पूर्णतया पृथक् करने से देश से रोग समूल नष्ट किया जा सकता है। किन्तु साम्प्रत यह असम्भव ही सा है। जब तक यह सम्भव न हो तब तक कम से कम ऐसे ग़रीब रोगियों के, जो स्वयं न पृथक् रहने का प्रबन्ध कर सकते हैं और न चिकित्सा इत्यादि ही का आयोजन कर सकते हैं, पृथक् रहने और चिकित्सा इत्यादि का सरकार की ओर से प्रबन्ध होना चाहिए। रोगी स्त्री और पुरुषों को एक दूसरे से पृथक् रखना आवश्यक है। यह पाया गया है कि रोगी स्त्रियों के सन्तानें बहुत होती हैं। रोगियों मे सन्तानोत्पत्ति को रोकना आवश्यक है। इस कारण प्रथम तो रोगग्रस्त व्यक्ति को विवाह का निषेध होना चाहिए। यदि वह विवाह करे तो स्त्री पुरुष दोनों को बता देना चाहिए कि उनकी सन्तानों को उनसे पृथक् कर दिया जायगा।

जलसंत्रास

यह रोग प्रायः कुत्ते, गीदड़ या इसी श्रेणी के जन्तुओं को होता है। किन्तु उनके काटने से रोग का विष मनुष्य के शरीर मे प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न कर देता है। अन्य जन्तुओं की अपेक्षा कुत्तों से अधिक व्यक्ति रोग-ग्रस्त होते हैं। रोग का विष जन्तुओं के लाला या थूक में रहता है, और काटते समय उत्पन्न हुए क्षत द्वारा शरीर में प्रवेश करता है।

यह रोग सारे संसार में होता है। किन्तु योरप के बहुत से देशों में अन्य संक्रामक रोगों की भाँति कुत्तो के उचित नियन्त्रण द्वारा रोग समूल

नष्ट कर दिया गया है। हमारे देश में अभी तक इसके लिए कोई उचित नियम नही बने हैं। और जो बने भी है उनका पालन नहीं होता। प्रत्येक नगर की गलियों तथा गावो मे खुले हुए कुत्ते फिरते है जो किसी विशेष व्यक्ति के नही होते। यही कुत्ते रोगग्रस्त होकर व्यक्तियों को काटते और रोग उत्पन्न करते हैं। कसौली अथवा अन्य स्थानों के, जहाँ पर इस रोग की चिकित्सा की जाती है, अङ्कों को देखते हुए यह नितान्तावश्यक मालूम होता है कि इन कुत्तो की संख्या घटाई जावे।

कारण—रोग का कारण अभी तक पूर्णतया निश्चित नहीं हो सका है। रोगग्रस्त जन्तुओ के सुषुम्नाशीर्षक और सुषुम्नादण्ड की परीक्षा करने से उनके कोषाणुओ मे कुछ गोल आकार के अत्यन्त सूक्ष्म पिण्ड मिलते है। सन् १९०३ मे नेग्री ने सबसे प्रथम इन पिण्डों को देखा था। यह नेग्री पिण्ड[१] कहे जाते हैं। बहुत लोग इनको अमीबा के समान एक कोषाणवीय जीव मानते है और इन्हीं को रोग का कारण बताते हैं। किन्तु अभी तक इनके सम्बन्ध में अधिक नहीं मालूम हो सका है। यह पिण्ड केवल रोगग्रस्त जन्तु ही के नाड़ीमण्डल मे पाये जाते है। इससे रोग का निश्चय करने मे अवश्य सहायता मिल सकती है। किन्तु रोग के प्रारम्भिक दिनों में यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं होते। सम्भव है इनकी पूर्ण वृद्धि न होती हो और आकार अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण न दिखाई देते हों। ५५° शतांश तक गरम करने से यह नष्ट हो जाते हैं।

विष की स्थिति—मनुष्य और जन्तु दोनों में रोग का विष मस्तिष्क, सुषुम्नाशीर्षक, सुषुम्नादण्ड और प्रान्तीय नाड़ियों में उपस्थित रहता है, जहां व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात्, उसको देखा जा सकता है। मुख की लाला ग्रन्थियों में भी विष रहता है, जहाँ से वह थूक या लाला में चला जाता है और उसके द्वारा क्षत मे प्रवेश करता है।

---

१. Negri Bodies.

संप्राप्तिकाल—इसमें बहुत भिन्नता पाई जाती है। कुत्तों में साधारणतया विष के शरीर में प्रविष्ट होने पर तीन से पाँच सप्ताह मे रोग के लक्षण उदय होते हैं। संप्राप्तिकाल का उस क्षत की स्थिति के साथ, जिसके द्वारा विष शरीर में प्रविष्ट होता है, बहुत सम्बन्ध है। यदि क्षत नाड़ी-मण्डल से दूर स्थित है तो संप्राप्तिकाल अधिक होगा। यदि विष क्षत द्वारा सीधा नाड़ी में प्रविष्ट हो गया है तो रोग के लक्षण शीघ्र ही प्रगट हो जायँगे। इसके अतिरिक्त यदि विष प्रबल है तो रोग उत्पन्न होने मे थोड़ा ही समय लगेगा। अतएव संप्राप्तिकाल निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता मालूम होता है—

(१) क्षत की स्थिति।

(२) क्षत का नाड़ीमण्डल से सम्बन्ध और

(३) विष की प्रबलता।

कुत्ते की अपेक्षा मनुष्य मे संप्राप्तिकाल अधिक होता है।

रोगी जन्तुओं में उत्पन्न होनेवाले लक्षण—जन्तुओं मे प्राय. रोग के दो रूप पाये जाते हैं—(१) भयङ्कर उन्माद और (२) मूकोन्माद।

प्रथम रूप में तीन अवस्थाएँ पाई जाती है।

प्रथमावस्था में कुत्ते के स्वभाव में परिवर्त्तन हो जाता है। वह चिड़-चिड़ा और बेचैन प्रतीत होता है। बिना किसी कारण के भोंकता है। कुत्ते को क्षुधा बहुत मालूम होती है अथवा वह नाड़ीमण्डल के विकृत हो जाने से वस्त्रों के टुकड़े या अन्य इसी प्रकार की गन्दी वस्तुएँ अथवा कभी-कभी अपना ही मल खाने लगता है।

तीन या चार दिन के पश्चात् दूसरी अवस्था आरम्भ होती है जिसमें कुत्ते को उन्माद उत्पन्न हो जाता है। वह प्रत्येक व्यक्ति पर, जो भी उसके सामने आता है, आक्रमण करता है। जो दूसरे कुत्ते या अन्य जन्तु मिलते हैं उनको भी काटता है; बिना किसी उद्देश्य के चारों ओर दौड़ता और भूँकता है; न केवल जीवित ही किन्तु निर्जीव पदार्थों पर भी आक्रमण करता है। इस

अवस्था मे कुत्ते बहुत दूर तक दौड़ते हुए देखे गये है; उनको बीस मील तक जाते देखा गया है। कुत्ते की पेशियों में आक्षेपक भी होते हैं।

यह अवस्था तीन या चार दिन तक रहती है। उसके पश्चात् पक्षाघात की तीसरी अवस्था प्रारम्भ होती है। सबसे प्रथम पीछे की टांगों की पेशियों का स्तम्भ होता है जिससे कुत्ता चलते समय टाँगो को घसीटता है। कुछ समय के पश्चात् शरीर की अन्य पेशियों पर भी प्रभाव पड़ता है। गले की पेशियों के प्रभावित होने से उसका स्वर भङ्ग हो जाता है और भूँकते समय जो शब्द निकलता है वह मोटा और भद्दा होता है। अन्त को स्वर का पूर्ण नाश हो जाता है। कुत्ते के मुँह से गाढ़ी लाला गिरने लगती है। अन्त को शरीर की सब पेशियों मे आक्षेपक होने लगते हैं और ५ से १० वे दिन के बीच मे कुत्ते की मृत्यु हो जाती है।

मूक सन्त्रास में प्रथम दोनों अवस्थाएँ अनुपस्थित होती हैं अथवा बहुत ही चिरस्थायी होती हैं। रोग की प्रबलता के कारण पक्षाघात की अवस्था शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती है और दो या तीन दिन मे कुत्ता मर जाता है।

मनुष्य में उत्पन्न होनेवाले लक्षण जन्तुओं के लक्षणों के बहुत कुछ समान है। प्रथमावस्था मे रोगी का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, चित्त उदास और भयभीत रहता है, निद्रा नही आती, क्षुधा जाती रहती ह और भोजन के ग्रास को निगलने में कष्ट होता है। प्रकाश असह्य हो जाता है।

दो या तीन दिन के पश्चात् दूसरी अवस्था आरम्भ होती है। पेशियों में तीव्र आक्षेपक होने लगते हैं, विशेषकर मुख, स्वरयन्त्र और ग्रसनिका की पेशियों में अधिक आक्षेपक होते है। रोगी के जल पीने या ग्रास निगलने का उद्योग करने पर अत्यन्त तीव्र पीड़ायुक्त आक्षेपक होते है; इस कारण रोगी जल पीने का उद्योग नहीं करता। कभी-कभी इसके साथ उन्माद के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ज्वर प्रायः १०० से १०३° तक होता है। यह अवस्था भी दो या तीन ही दिन तक रहती है।

तीसरी अवस्था पक्षाघात या स्तम्भ की होती है। आक्षेपक कम हो जाते हैं। रोगी शान्त हो जाता है और अन्त को मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है। हृदय दुर्बल होता चला जाता है और अन्त को हृदयावसाद से मृत्यु होती है। यह अवस्था छः से अठारह घण्टे तक रहती है।

प्रतिषेध—रोगी को मृत्यु से बचाने के लिए चिकित्सा का आयोजन शीघ्र करना चाहिए। सैाभाग्य से मनुष्य में इस रोग का सम्प्राप्तिकाल ४० दिन के लगभग है। इसलिए काटनेवाले कुत्ते का निरीक्षण किया जा सकता है। उसको पकड़कर किसी ऐसे स्थान मे रखना चाहिए जहाँ वह किसी को हानि न पहुँचा सके। यदि वह काटने के दस दिवस पश्चात् तक स्वस्थ रहे तो समझना चाहिए कि काटने के समय कुत्ता रोगग्रस्त नहीं था। इस कारण कुत्ते को तुरन्त ही न मार डालना चाहिए। रोग के लक्षण प्रगट होने पर उसको मारना अथवा स्वयं ही मरने देना उचित है। मरने पर कुत्ते के सारे सिर को काटकर परीक्षा के लिए, जिन स्थानों मे इस रोग की चिकित्सा तथा परीक्षा होती हो, जैसे कसैाली, वहाँ भेज देना चाहिए।

इस रोग की चिकित्सा का प्रबन्ध सरकार की ओर से विशेष स्थानों पर कर दिया गया है। चिकित्सा के साथ फ्रांस के महाशय पैस्च्योर का नाम अभिन्नतया सम्बन्धित है। वही इस चिकित्सा-पद्धति का जन्मदाता था। इस कारण इस रोग की चिकित्सा के लिए जो संस्थाएँ बनाई गई हैं उनको भी पैस्च्योर इंस्टीटयूट कहा जाता है।

इस चिकित्सा में प्रायः दस दिन लगते हैं। चिकित्सा मे जो ओषधि प्रयोग की जाती है वह रोग से मरे हुए कुत्तों के सुषुम्नादण्ड से बनाई जाती है। अतएव यह एक प्रकार की वैक्सीन होती है। भिन्न भिन्न दिनों पर भिन्न भिन्न शक्तियों की वैक्सीन को शरीर में प्रविष्ट किया जाता है।

उचित समय पर प्रारम्भ कर देने से इस चिकित्सा-पद्धति की सफलता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। किन्तु रोग के लक्षणों के प्रगट हो

जाने पर चिकित्सा करना व्यर्थ है।⁘ रोग के प्रबल होने पर २१ दिन तक चिकित्सा करनी पड़ती है। और थोड़े ही समय में अधिक शक्तिवाली वैक्सीन को प्रयोग करना होता है। रोग को मूल सहित नष्ट करने के लिए कुत्तों का नियन्त्रण बहुत आवश्यक है। जितने कुत्ते, जो किसी विशेष व्यक्ति के न हों, गलियों में फिरते हुए मिलें उनको पकड़वाकर मरवा देना चाहिए। जो व्यक्ति कुत्ते रखें उन पर टैक्स लगाना चाहिए। इन कुत्तों के गलों में एक पट्टा रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक नियम होना चाहिए कि यदि किसी कुत्ते में रोग के कुछ भी लक्षण प्रगट हों अथवा उस पर केवल सन्देह हो तो उसकी सूचना तुरन्त स्वास्थ्य विभाग को दी जावे। यदि कोई कुत्ता किसी नगर में बाहर से लाया जावे तो उसको आवश्यक समय तक कारंटीन में रखना चाहिए।

इन सब उपायों द्वारा इँगलैंड आदि देशों से इस रोग का नाम तक उड़ गया है। इँगलैंड में सन् १६०२ से १६१८ तक एक भी व्यक्ति या कुत्ता रोगग्रस्त नहीं हुआ। सन् १६१८ में युद्ध के समय में किसी दूसरे देश से कर्मचारियों की असावधानी से बिना कारंटीन में रखे हुए एक रोगी कुत्ता वहाँ आ गया था और उसी के कारण कुछ व्यक्ति रोगग्रस्त हो गये थे।

अंकुर कृमिरोग[1]

यह रोग अत्यन्त शीत देशों के अतिरिक्त सारे संसार में पाया जाता है। भारतवर्ष मे यह रोग बङ्गाल, आसाम, बिहार और संयुक्तप्रान्त के उन भागों में, जो बिहार के समीप हैं, बहुत होता है। यह अनुमान किया जाता है कि बङ्गाल की ६६ प्रतिशत जनता इस रोग से ग्रस्त है। बिहार और

⁘ कुप्येत स्वयं विषं यस्य न स जीवति मानवः।

—सुश्रुत।

१ Ankylostomiasis.

उसके समीपवर्त्ती संयुक्त प्रान्त के भाग में ८० प्रतिशत से अधिक व्यक्ति रोग से आक्रान्त है।

योरप आदि ठण्डे देशों मे रोग की इतनी अधिकता नहीं है; किन्तु वह रोग से बिल्कुल मुक्त भी नहीं है। वहाँ पर यह रोग विशेषकर खानों में पाया जाता है। मलाया, चीन, स्याम, मिस्र आदि देशों में रोग बहुतायत से होता है।

इस रोग से कोई ऐसे तत्काल लक्षण नहीं उत्पन्न होते जिनसे रोगी का जीवन सङ्कट में पड जावे। इस रोग की विशेषता यह है कि वह रोगग्रस्त व्यक्ति की शारीरिक शक्ति को क्षीण कर देता है जिससे उसमें परिश्रम करने की सामर्थ्य नहीं रहती। इससे न केवल रोगी ही को जीवनोपार्जन करना कठिन हो जाता है किन्तु उससे जातीय आर्थिक हानि भी होती है। रोग-ग्रस्त व्यक्ति को काम करने की इच्छा नहीं होती। उसको प्रत्येक समय आलस्य प्रतीत होता रहता है। इस कारण इस रोग को 'आलस्य रोग' भी कहते हैं।

कारण—इस रोग का कारण एक कृमि होता है जो अङ्कुरकृमि कहलाता है। इसकी कई उपजातियाँ होती हैं। हमारे देश मे जो कृमि मिलते हैं उनको 'एंकिलोस्टोमा ड्यूडीनेल'[1] कहते हैं जिसका अन्वेषण और वर्णन महाशय डूबीनी ने सन् १८४३ मे किया था। अमरीका में रोग को उत्पन्न करनेवाला 'निकेटर ऐमरीकेनस'[2] नामक कृमि पाया गया है जिसका पता स्टाइल्स महाशय ने सन् १९०२ में लगाया था।

ऐंकिलोस्टोमा ड्यूडीनेल कृमि लम्बा और गोल होता है। पुरुष कृमि की लम्बाई ८ से ११ और स्त्री की लम्बाई १० से १३ मिलीमीटर होती है। दोनों का शरीर ०.४ से ०.६ मि० मी० तक मोटा होता है। शरीर मे सबसे आगे मुख

---

१. Ankylostoma Duodenale. २. Necator Americanus

होता है जिसमें नीचे की ओर चार और ऊपर की ओर दो कड़े और अंकुराकार दाँत होते हैं। इन्हीं के द्वारा कृमि काटता है और श्लैष्मिक कला में चिपटा रहता है। शिर में दो ग्रन्थियाँ होती है जिनसे एक प्रकार का तरल द्रव्य निकला करता है जो रक्त को जमने नहीं देता। पुरुष में शरीर के अन्त पर एक चौड़ा भाग होता है जिसके द्वारा वह संयोग के समय स्त्री को पकड़े रहता है। स्त्री के शरीर में अन्तिम तृतीयांश और मध्य तृतीयांश के सङ्गम पर योनि होती है। इस कृमि का रङ्ग कुछ श्वेत या भूरा होता है। जब वह भली भाँति रक्त चूस लेता है तो कुछ लाल दिखाई देने लगता है।

चित्र नं० ११५ अंकुरकृमि—ऐंकिलोस्टोमा ड्यूडीनेल। १. पुरुष २. स्त्री।

निकेटर ऐमरीकेनस नामक कृमि पूर्व कृमि से छोटा होता है। पुरुष की लम्बाई ७ से ८ और स्त्री की ६ से ११ मिलीमीटर और चौड़ाई ०.३ और ०.४ मि० मी० होती है। मुख में दाँतों के स्थान में नीचे की ओर दो चौड़े कड़े पट्ट होते है। इसी प्रकार ऊपर की ओर भी पट्टों का एक जोड़ा होता है। इनके अति-रिक्त काटने के लिए मुख में ऊपर और नीचे तीव्र छुरी की भाँति अङ्ग होते हैं।

यह कृमि क्षुद्रांत्रियों के ऊपरी भाग में रहते हैं। वह पक्काशय में भी

पाये जाते है। इन स्थानों की श्लैष्मिक कला में कृमि अपने कठिन दाँतों द्वारा चिपटे रहते हैं। यहीं से वह रक्त चूसते रहते हैं जिसके द्वारा उनका पोषण होता है। समय समय पर वह एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर पहुँचकर अपना पोषण प्राप्त करते हैं।

जीवनचक्र—ऊपर कहे हुए दोनों कृमियों का जीवनचक्र प्रायः एक समान है। स्त्री बहुत अधिक संख्या मे अण्डे उत्पन्न करती हैं, और सदा ही उत्पन्न किया करती हैं। यह अण्डे १/४०० इंच लम्बे और १/६०० इंच चौड़े होते हैं। अन्त्रियों मे इन अण्डों की वृद्धि नही होती। यह शरीर से मल के साथ निकल जाते हैं। शरीर से बाहर निकलने पर इनको आक्सिजन की आवश्यकता होती है। ताप, आर्द्रता और आक्सीजन की अनुकूलता में इन अण्डों से कृमि की अत्यन्त शीघ्रता से उत्पत्ति होती है। एक या दो ही दिवस मे अण्डे से एक लम्बा और द्रुतगामी लार्वा बन जाता है, जो अन्त को अण्डे के आवरण को फाड़कर बाहर निकल आता है। यह लार्वा १/१०० इंच के लगभग लम्बा होता है। यह चारों ओर शीघ्रता से गति करता है और जो कुछ भी मल, विष्ठा इत्यादि मिलते हैं खाता है। आगामी आठ या दस दिन में इसका दो बार रूप बदलता है। दूसरे परिवर्तन के पश्चात् इसकी गतिशक्ति जाती रहती है; वह निश्चेष्टप्राय हो जाता है। और जल, कीचड़, आर्द्र भूमि इत्यादि में धीरे धीरे गति करता रहता है। अन्त में इसकी वृद्धि भी रुक जाती है। इस अवस्था में यदि उसको कोई उचित आश्रय-दाता नहीं मिलता तो वह कई मास तक इसी भाँति पड़ा रहता है। इसको जल की आवश्यकता होती है। वह केवल आर्द्र या जलसिंचित भूमि में रह सकते है। शुष्क भूमि द्वारा वह गति नहीं कर सकते। ताप-क्रम के अधिक होने से उनका नाश हो जाता है। कुछ व्यक्तियों की सम्मति है कि वह आर्द्र भूमि के द्वारा बहुत दूर तक जा सकते हैं। किन्तु दूसरे विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। उनके विचारानुसार लार्वा मल को छोड़कर और कहीं नहीं जा पाते।

मनुष्य की अन्त्रियों में पहुँचकर एक बार इसमे फिर परिवर्त्तन होता है जिसके पश्चात् पूर्ण युवा कृमि बन जाता है, और अण्डे उत्पन्न करना आरम्भ कर देता है।

शरीर में प्रवेश का मार्ग—प्रयोगों और अन्वेषण के द्वारा मालूम हुआ है कि इस कृमि का शरीर में प्रवेश करने का मार्ग बड़ा विचित्र है। इसके प्रवेश के दो मार्ग है—(१) मुख के द्वारा अथवा (२) चर्म के द्वारा। दूषित जल अथवा फल इत्यादि के साथ यह कृमि मुख द्वारा शरीर मे प्रवेश कर सकता है। किन्तु महाशय लूस ने अपने प्रयोगों द्वारा दिखाया है कि कृमि का लार्वा इस मार्ग का बहुत कम अवलम्बन करता है। वास्तव मे इन महाशय की सम्मति के अनुसार शरीर मे लार्वो का इस प्रकार कभी भी प्रवेश नहीं होता। वह चर्म द्वारा प्रवेश करते हैं। धूल इत्यादि के साथ चर्म के सम्पर्क मे आकर वह चर्म का छेदन करते हैं। और इस भाँति उत्पन्न हुए क्षत द्वारा भीतर प्रविष्ट होकर चर्म की रक्त-नलिकाओं मे पहुँच जाते है। वहाँ पर शिराओं मे होते हुए वह हृदय के दाहिने भाग में पहुँचते हैं जहाँ से फुस्फुसीया धमनी के द्वारा फुस्फुस मे पहुँच जाते है। वहाँ केशिकाओं के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण, वह रक्त-नलिकाओं से निकलकर वायु-कोष्ठो में आ जाते हैं जहाँ से वह वायु-प्रणालिकाओं में होते हुए श्वास-नलिका में पहुँचते हैं। यहाँ से वह ग्रसनिका में होते हुए भोजन इत्यादि के साथ अन्न प्रणाली के द्वारा आमाशय में पहुँचकर अन्त्रियों में चले जाते हैं। आमाशयिक रस की उन पर कोई क्रिया नहीं होती। शरीर के भीतर तीन या चार सप्ताह में इनकी पूर्ण वृद्धि हो जाती है।

रोग के लक्षण—रोग के लक्षण उस समय उत्पन्न होते हैं जब शरीर मे कृमियों की पर्याप्त संख्या होती है। इस संख्या के सम्बन्ध में मत-भेद है। कुछ व्यक्तियों का विचार है कि १० या २० कृमि दुर्बलता और अस्वस्थता उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हैं। किन्तु दूसरे विद्वानों का कथन है कि लक्षण उत्पन्न करने के लिए ५०० से १००० कृमियों की आवश्यकता है।

इस रोग के लक्षणों में बहुत भिन्नता पाई जाती है। साधारणतया वर्ण की पाण्डुता, उदर के ऊपरी भाग में कुछ पीड़ा, दौर्बल्य जिसका कोई विशेष कारण न मालूम हो, अस्वस्थता, काम करने में अरुचि और शिथिलता अथवा विचारशक्ति का ह्रास इत्यादि रोग के विशेष लक्षण है। हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। मन्दाग्नि अधिकतर रोगियों में पाई जाती है।

रोगग्रस्त व्यक्ति की स्वयं इस रोग से मृत्यु नहीं होती। पाण्डुता के कारण शरीर कृश और अङ्गों के दुर्बल हो जाने से अन्य रोग उत्पन्न होकर रोगी का अन्त कर देते है।

प्रतिषेध—रोग के कृमि अपने जीवन का एक भाग भूमि में व्यतीत करते हैं। संक्रमण भूमि ही से फैलता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए रोग के प्रतिषेध के उपाय करने चाहिएँ।

भूमि को दूषित न होने देना, रोगग्रस्त व्यक्तियों की पूर्ण चिकित्सा और जनता मे रोगसम्बन्धी ज्ञान का प्रचार रोग को रोकने तथा नष्ट करने के उपाय हैं।

भूमि को दूषित न होने देने का उपाय यह है कि व्यक्तियों को जहाँ तहाँ मल त्याग करने से रोका जाय। जिन स्थानों में इस रोग की उपस्थिति प्रमाणित हो चुकी हो वहाँ यतस्ततः उत्तम शौच-स्थान होने चाहिएँ जिनका प्रयोग वहाँ के निवासी कर सकें। खेतों में मल त्याग करना भी उचित नहीं है।

इन शौच-स्थानों के सम्बन्ध में पूर्व में कही हुई सब बातों का ध्यान रखना चाहिए। वह निवासस्थान, कुलियों के रहने के स्थान अथवा जलाशय इत्यादि से पर्याप्त दूरी पर हों। और वहाँ से मल के हटाये जाने और नाश का भी उचित प्रबन्ध हो। इसके सम्बन्ध में यह स्मरण रखने के योग्य है कि अण्डे की वृद्धि के लिए वायु और मिट्टी दोनों की आवश्यकता होती है। इस विचार से चीनियों के गहरे सीमेंट के बने हुए गढ़े उत्तम होते हैं। उनमें वायु और मिट्टी के न पहुँचने के कारण कृमियों का नाश हो जाता है।

रोगी की चिकित्सा का पूर्ण प्रबन्ध करना भी बहुत आवश्यक है। यदि सब व्यक्ति रोगमुक्त होंगे तो रोग का संक्रमण भी नहीं फैलेगा। अतएव रोगग्रस्त स्थानों में प्रत्येक व्यक्ति के मल की परीक्षा होना आवश्यक है। जिनके मल में कृमि उपस्थित मिलें उनकी चिकित्सा की जाय। इसके लिए पूरे प्रबन्ध की आवश्यकता है। स्थान को क्षेत्रों में विभक्त करके प्रत्येक क्षेत्र को एक पूर्ण शिक्षित डाक्टर और उसके सहायकों के अधीन कर देना चाहिए। इस सारे प्रबन्ध में एक बार व्यय अवश्य ही अधिक होगा, किन्तु जातीय हानि को देखकर यह व्यय करना आवश्यक है।

रोग के सम्बन्ध में साधारण जनता में ज्ञान फैलाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्षेत्र के डाक्टर अथवा उसके अधीनस्थ कर्मचारियों का यह काम होना चाहिए कि जहाँ उनकी नियुक्ति हो वहाँ रहनेवालों में रोग की उत्पत्ति, उसके लक्षण, उससे हानि, रोग से बचने के उपाय इत्यादि सम्बन्धी ज्ञान फैलावे। इस काम में मैजिक लालटेन के साथ लैक्चर, लेख, सम्भाषण इत्यादि से बहुत सहायता मिलेगी।

मसूरिका[1]

इसको चेचक, बड़ी माता अथवा बड़ी शीतला भी कहते हैं। यह रोग सारे संसार में होता है, किन्तु पश्चिमी देशों की अपेक्षा पूर्वी देशों में अधिक पाया जाता है। उसका सबसे प्राचीन वर्णन चीन और भारतीय आर्ष ग्रन्थों में मिलता है।

कारण—रोग का कारण अभी तक भली भाँति नहीं मालूम हुआ है। कोषाणवीय जाति के कुछ पिण्ड रोग के दानों पर से उतरे हुए खुरण्डों में उपस्थित मिले हैं। कुछ विद्वानों की सम्मति में वही रोग का कारण हैं। किन्तु अभी तक उनके सम्बन्ध में पूर्ण प्रमाण नहीं मिल सके हैं। केवल यही कहा जा सकता है कि रोग को उत्पन्न करनेवाला विष एक जीव है जो इतना सूक्ष्म है कि वह जीवाणवीय निस्यन्दकों में होकर निकल सकता

---

१ Small pox.

है। यह विष रोगी के नाक और मुख से निकलनेवाले स्राव और दानों से पृथक् होनेवाले खुरण्डों मे रहता है।

रोगोत्पत्ति—यह रोग अत्यन्त संक्रामक है। जो व्यक्ति, जिनके टीका नहीं लगा हुआ है, रोगी के सम्पर्क में आते है उनके रोग से बचने की बहुत कम आशा की जा सकती है। रोग स्त्री, पुरुष, बालक सबों को समान रूप से होता है। कोई विशेष जाति रोग से मुक्त नहीं है। ५ वर्ष से कम आयुवाले बच्चों मे, जो टीके द्वारा सुरक्षित नहीं होते, यह रोग प्राय. घातक होता है। जिन स्थानों में बच्चों को राजकीय नियम के अनुसार टीका लगवाना आवश्यक है, वहा पर २५ या ३० वर्ष से अधिक आयुवाले व्यक्तियों को रोग अधिक होता है। कारण यह है कि प्रथम बाल्यकाल के टीके से उत्पन्न हुई रोगक्षमता उस समय तक नष्ट हो चुकती है। यह रोग जनवरी से लेकर जून तक अधिक होता है। सबसे अधिक मृत्यु मार्च और अप्रेल मे होती हैं। वर्षा ऋतु इस रोग को रोक देती है। ठण्डे देशों में शीत ऋतु के अन्त मे रोग अधिक फैलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक पाँचवें या छठे वर्ष रोग की प्रबलता अधिक होती है।

रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक होता है और उन्हीं मे मृत्यु भी अधिक होती हैं।

रोग का संवहन—इस रोग को वायु के द्वारा संवाहित माना जाता है। जिस स्थान में इस रोग का अस्पताल होता है उसके चारों ओर के मकानों में रहनेवाले व्यक्तियों को रोग अधिक सताता है। इसमें सन्देह नहीं कि अस्पताल रोग के फैलने के केन्द्र की भाँति काम करता है। किन्तु इस बात पर मत-भेद है कि रोग का संक्रामण वायु के द्वारा फैलता है, अथवा अस्पताल में आनेवाले व्यक्ति, वहाँ के नौकर, अथवा जो अपने व्यवसाय के कारण वहाँ पर आते हैं उनके द्वारा फैलता है। किन्तु तो भी साधारणतया यही विश्वास है कि वायु के द्वारा रोग के फैलने में विशेष सहायता मिलती है। खाँसने, छींकने, बातें करने, इत्यादि में रोगी के मुख से जो थूक या श्लेष्मा के सूक्ष्म कण निकलते हैं वह वायु के द्वारा बहुत दूर तक

जा सकते है। शरीर से उतरनेवाले दानो के खुरण्ड भी, जो विष से सञ्चरित होते है, बहुत दूर तक पहुँच सकते है। इसी कारण इँगलैंड मे यह नियम बना दिया गया है कि जहाँ ५०० या ६०० व्यक्ति भी रहते हो वहाँ से इस रोग का अस्पताल पर्याप्त दूरी पर बनाया जावे।

रोग का विष संसर्ग से भी फैलता है। वस्त्र, रूमाल, तौलिया, प्याले या अन्य बर्त्तन, कमरे की चारपाई, मेज़, कुर्सी इत्यादि, जिनका रोगी ने प्रयोग किया हो, विष का संवहन कर सकते हैं। मक्खी भी रोग को फैला सकती है।

संप्राप्तिकाल साधारणतया १२ दिवस माना जाता है, यद्यपि ५ से २१ दिवस तक होते देखा गया है।

संक्रामक काल छः सप्ताह है। आठ सप्ताह तक हो सकता है। यह काल रोगी के शरीर पर दानों के निकलते ही प्रारम्भ हो जाता है। जब तक रोगी के शरीर पर के प्रत्येक दाने से खुरण्ड नहीं भिन्न हो जाता तब तक रोगी को संक्रामक समझकर पृथक् रखना चाहिए।

रोगक्षमता—रोग के एक आक्रमण से जीवन भर के लिए व्यक्ति रोग से क्षम्य हो जाता है। यद्यपि रोग के दूसरे और तीसरे आक्रमण देखे जाते हैं, किन्तु वह प्रबल नहीं होते।

लक्षण—कभी कभी जाड़े के साथ ज्वर आरम्भ होता है जो प्रथम दिवस ही १०३° से १०४° तक पहुँच जाता है। शिर मे पीड़ा, वमन और कटि प्रान्त में तीव्र शूल होता है। प्रायः सारे शरीर मे पीड़ा होती है; बेचैनी अत्यन्त होती है और नेत्र लाल रहते हैं। उदर के निचले भाग, वक्ष के पार्श्व और ऊरु के भीतर की ओर चर्म पर लाल दाने निकल आते हैं। चार या पाँच दिन के पश्चात् रोग के विशेष दाने निकलते हैं जो प्रथम मुख पर और उसके पश्चात् उदर, वक्ष और अन्य स्थानों में प्रगट होते हैं। दाने निकलने के पाँचवें या छठे दिन पर उनमें एक प्रकार का द्रव्य भर जाता है। प्रत्येक दाना उठा हुआ होता है, किन्तु उसके शिखर पर एक गढ़ा होता है। आठवें या नवें दिन पर इन दानों में पूय उत्पन्न हो जाती है और दाने पर का गढ़ा भी भर

जाता है। इस समय ज्वर, जो दानों के निकलने पर कम हो गया था, फिर बढ़ जाता है और नेत्र, मुख इत्यादि पर जहाँ भी दाने होते हैं, शोथ उत्पन्न हो जाता है जिससे पीड़ा होती है। यह ज्वर चौबीस घण्टे रहने के पश्चात् कम हो जाता है। और साधारण दशाओं मे दसवे या ग्यारहवे दिन से रोगी नीरोग होने लगता है। दानों का सूखना और खुरण्डों का गिरना आरम्भ हो जाता है।

रोग के अन्य स्वरूपों मे, जिनमें स्फोटों की संख्या बहुत अधिक होती है और एक दूसरे के साथ मिलकर मुख और अन्य स्थानों पर पूय भरी हुई विद्रधि के समान दीखते हैं अथवा जिस रूप में रक्तस्राव होता है, रोगी का बचना कठिन होता है।

प्रतिषेध—रोगी को पृथक् करना, उसके रहने के स्थान का विसंक्रामण और रोग का टीका लगाना रोग को रोकने के उपाय हैं।

ज्योंही नगर में कोई व्यक्ति रोगग्रस्त हो, स्वास्थ्य-विभाग को उसकी सूचना मिलनी चाहिए। सरकारी नियम की धाराओं के अनुसार इस रोग की सूचना देना आवश्यक है। सूचना पाते ही रोगी को किसी अस्पताल मे रखने का प्रबन्ध करना चाहिए। जो व्यक्ति रोगी के सम्पर्क में आये हो उनको टीका लगाना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति को अभी तक टीका नहीं लगा है तो उसको नियम के अनुसार टीका लगवाने के लिए बाध्य किया जा सकता है। किन्तु जिनके बाल्यकाल में टीका लगा था परन्तु जो रोगी के सम्पर्क में आने पर फिर से टीका लगवाने के लिए प्रस्तुत न हों, उनको १४ दिन तक पृथक् करके कारंटीन में रखा जा सकता है। यदि इस समय में रोग के लक्षण न प्रगट हों तो उनको विसंक्रामक वस्तुओं से स्नान करवा के और उनके वस्त्रों का विसंक्रामण करके छोड़ देना चाहिए।

जिस मकान में रोगी रहता हो उसका और उसकी प्रयोग की हुई वस्तुओं का विसंक्रामण आवश्यक है। उसके पहिरने, ओढ़ने या बिछाने के वस्त्र, तौलिया, रूमाल इत्यादि को उबालना उचित है। जो बड़े वस्त्र हों, जिनका उबालना कठिन हो, उनको रसकपूर या अन्य किसी विसंक्रामक के घोल में

भिगो देना चाहिए। रोगी के मल, मूत्र के लिए ब्लीचिंग पाउडर का प्रयोग करना चाहिए। कमरे के फ़र्श और दीवारों का विसंक्रामण भी आवश्यक है। मेज़, कुर्सी, चारपाई इत्यादि सब वस्तुओं को शुद्ध करना उचित है।

रोग को रोकने का सबसे उत्तम उपाय टीका है। रोग के सम्प्राप्तिकाल में भी टीका लगाने से रोग का आक्रमण रोका जा सकता है। यदि रोग हुआ भी तो बहुत हल्का होगा। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति को, जो रोगी के सम्पर्क में आया हो, ४८ घण्टे के भीतर टीका लगा देना उचित है।

जिन दिनों मे रोग फैला हो उन दिनों में स्वास्थ्य-विभाग की ओर से टीका लगाने का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए। टीका लगानेवालों को घर-घर और गाँव-गाँव में फिरकर टीका लगाना चाहिए। बच्चों पर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। रोग के सम्बन्ध में छोटे-छोटे लेख बँटवाना उत्तम है।

मसूरिका का टीका

मसूरिका का टीका लगाने से मसूरिका के विष को शरीर में प्रविष्ट करने का प्रयोजन है। जिस प्रकार जीवाणुओं और विष से वैक्सीन बनाई जाती है जिससे जीवाणुओं अथवा विष का प्राबल्य कम हो जाता है, उसी प्रकार मसूरिका के विष को बछड़ों के शरीर के द्वारा परिवर्त्तित कर दिया जाता है जिससे रोग का अत्यन्त मृदु आक्रमण होता है। केवल दो-चार दिवस तक कुछ ज्वर और अस्वस्थता रहती है।

टीके का इतिहास—ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में पश्चिमी सभ्यता के प्रारम्भ के पूर्व हमारे देश में मसूरिका रोग और गौ-मसूरिका का सम्बन्ध मालूम था और रोगग्रस्त गौवों के विस्फोटों से लसीका लेकर मनुष्यों में प्रयोग किया जाता था। किन्तु इसकी वैज्ञानिक खोज का श्रेय जैनर को दिया जाता है जिसने सन् १७९८ में बहुत से प्रयोग और अन्वेषण करने के पश्चात् परिणामों को छापा था। उसने गौवों के स्तनों पर श्वेत रङ्ग के विस्फोट उत्पन्न होते हुए देखे थे। इन गौवों को दुहनेवालों को भी गौवों से यह रोग हो जाता है। जैनर का ध्यान इस विशेषता की ओर आकर्षित

हुआ कि जिन व्यक्तियों को गौवों से रोग हो जाता था वह फिर मसूरिका रोग से मुक्त रहते थे; और जिनको मसूरिका रोग हो चुकता था उनको गौवों से रोग नहीं होता था। इन निरीक्षणों ही के आधार पर उसने अन्वेषण करना आरम्भ किया। और वह अन्त को इस परिणाम पर पहुँचा कि गौ और मनुष्यों में होनेवाले रोग वास्तव में एक ही है; गौ से मनुष्यों में उत्पन्न होने से रोग का एक हलका आक्रमण होता है जिससे शरीर में रोगक्षमता उत्पन्न हो जाती है।

इँगलैंड मे सन् १८३८ मे और भारतवर्ष में १८८० में देश के क़ानून के अनुसार बच्चो को टीका लगाना अनिवार्य कर दिया गया। इँगलैंड मे सन् १७५० से १८०० तक देश में जितनी भी मृत्यु होती थी उसके दसवें भाग का कारण मसूरिका रोग था। जो व्यक्ति रोग से बच भी जाते थे उनका रूप ऐसा विकृत हो जाता था कि लेडी मैरी मौंटेगू के द्वारा रोग की वैक्सीन को शरीर मे इंजैक्शन द्वारा प्रविष्ट करने की प्रचलित हुई विधि चारो ओर प्रयुक्त होने लगी थी। हमारे देश मे भी सन् १८६३ से पूर्व इसी प्रकार रोग का टीका लगाया जाता था। विधि भी उस समय बहुत लाभदायक सिद्ध हुई थी। इसके द्वारा २० या ३० प्रतिशत से घटकर यह मृत्यु-संख्या केवल २ या ३ प्रतिशत रह गई।

जब से मसूरिका का टीका देश-नियम के अनुसार आवश्यक कर दिया गया है तब से मृत्यु की संख्या बराबर कम होती जा रही है। इँगलैंड और वेल्स में अठारहवीं शताब्दी में प्रत्येक १००० में केवल तीन या चार व्यक्तियों की मसूरिका से मृत्यु होती थी। सन् १९११-२० में इस रोग से प्रायः कोई भी मृत्यु नहीं हुई। टीके के अनिवार्य होने के पूर्व १९ वर्ष तक हमारे देश में १००००० व्यक्तियों मे ११९८ की इस रोग से मृत्यु होती थी। किन्तु उसके पश्चात् यह संख्या ४४. ५ रह गई है।

निम्नलिखित सारणी में इँगलैंड और वेल्स में भिन्न-भिन्न वर्षों मे भिन्न-भिन्न आयु के बच्चे और युवा पुरुषो की मृत्यु दिखाई गई है। अङ्को को प्रति १,०००,००० जनता के लिए समझना चाहिए। यह सारणी महा-

शय पार्क्स और केनउड की पुस्तक मे उद्धृत की गई है। इससे पता लगता है कि टीके ने मृत्यु-संख्या को कितना घटाया है।

	सब आयु	०-५	५-१०	१०-१५	१५-२५	२५-४५	४५ से ऊपर
१. टीका लगवाना इच्छा पर निर्भर था। (सन् १८४७ से १८५३)	३०५	१६१७	३३७	६४	१०६	६६	२२
२ टीका लगवाना आवश्यक कर दिया गया था किन्तु उत्तम प्रकार से कार्यपरिणत नहीं हुआ था (१८५४-७१)	२२३	८१७	२४३	८८	१६३	१३१	५२
३. टीका लगानेवाले विशेष कर्मचारियों की नियुक्ति द्वारा टीका लगाने का उत्तम प्रबन्ध किया गया था (१८७२—६१)	८६	११७	५६५	५४	६७	८६	३८
४. सन् १८६१—१८००	१३	२८	१०	३	८	१७	१०
५. सन् १६०१—१६०५	२५	×	×	×	×	×	×
६. सन् १६०६—१६१०	०	×	×	×	×	×	×

टीके से असंख्य बच्चों के प्राण, जो पहिले रोग के ग्रास बनते थे, बचे हैं। और अन्य आयुवाले व्यक्तियों मे भी रोगग्रस्त व्यक्तियो और मृत्यु दोनों की संख्या बहुत कम हो गई है।

टीका लगाने का कर्म—टीका प्रायः बाहु में बाहर की ओर लगाया जाता है। अग्रबाहु में कुहनी के ४ या ५ इंच नीचे सामने की ओर अथवा

जंघा के पिण्ड पर भी टीका लगाया जा सकता है। जिस स्थान पर टीका लगाना हो उसको प्रथम भली भाँति शुद्ध करना आवश्यक है। किन्तु प्रबल विसंक्रामकों का प्रयोग न करना चाहिए। इनसे लसीका की शक्ति कम हो जाती है। इस कारण चर्म को केवल साबुन और उबले हुए जल से रगड़-कर शुद्ध जल से धो डाला जाता है। शुद्ध अलकोहल अथवा रेक्टीफ़ाइड स्पिरिट भी प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु इन वस्तुओं के पूर्णतया सूख जाने के पश्चात् टीका लगाना चाहिए। कुछ स्थानो में टिंक्चर आयोडीन का प्रयोग किया गया था। किन्तु उसके प्रयोग से संतोषजनक परिणाम नहीं हुए। यदि टिंक्चर आयोडीन प्रयोग किया जावे तो उसको शुद्ध अलकोहल, रेक्टीफ़ाइड स्पिरिट अथवा जल और साबुन से धो डालना उचित है।

इस प्रकार चर्म को शुद्ध करके टीका लगाना चाहिए। टीका लगाने के लिए विशेष प्रकार के शस्त्र आते है जिनका पीछे का भाग अस्थि, हाथीदाँत अथवा धातु का बना होता है और आगे के भाग मे ½ इंच के लगभग लम्बी ३ या ४ सुइयाँ लगी रहती है। शस्त्र-चिकित्सा के साधारण चाकू से भी टीका लगाया जा सकता है। इन शस्त्रो से चर्म को खुरच देना या चर्म के ऊपरी स्तर को छेद देना, जिससे उस स्थान से कुछ रक्त-मिश्रित लसीका निकलने लगे, अभीष्ट होता है।

जो व्यक्ति टीका लगावे उसको प्रथम अपने हाथों को पूर्णतया शुद्ध करना चाहिए। तत्पश्चात् अपने शस्त्रों का पूर्ण विसंक्रामण या शुद्धि करना उचित है। शस्त्रो को उसी प्रकार शुद्ध करना चाहिए जिस भाँति वह शस्त्र-कर्म के लिए शुद्ध किये जाते हैं। यदि बहुत से व्यक्तियों के टीका लगाना हो तो प्रत्येक व्यक्ति के टीका लगाने के पूर्व शस्त्र की नोक को स्पिरिट लम्प की ज्वाला में तप्त करके वायु मे ठण्डा होने के पश्चात् उससे टीका लगाना चाहिए। प्रथम शस्त्र को, जिसमें तीन या चार सुइयाँ लगी रहती हैं, चर्म के ऊपर तनिक दबाव के साथ एक बार चौड़ाई की ओर और दूसरी बार लम्बाई की ओर खींचा जाता है जिससे चर्म पर अत्यन्त सूक्ष्म रेखाओं का चारख़ाना सा बन जाता है। इस स्थान के चारो ओर के मांस को तनिक दबाने से इससे रक्त-मिश्रित

लसीका निकलने लगता है। चाकू के द्वारा भी इसी प्रकार की रेखाएँ बनाई जा सकती है अथवा चर्म को छीला जा सकता है।

टीका लगाने का 'वैक्सीन लिम्फ़' काँच की सूक्ष्म लम्बी नलिकाओं अथवा धातु की बनी हुई नलिकाओ में आता है। काँच की नली के दोनों सिरों को तोड़कर एक सिरे से फूँक मारने से लिम्फ़ को चाकू या शस्त्र के पिछले सिरे पर निकाल लिया जाता है और उसको चर्म के छिन्न स्थान पर शस्त्र ही के द्वारा मल दिया जाता है। लिम्फ़ को पोछना नहीं चाहिए। वह थोड़े ही समय मे वहीं पर सूख जायगा। उसके ऊपर व्रणोपचार की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल शुद्ध गौज़ के एक या दो टुकड़े रखे जा सकते है।

टीके की घटना—टीका लगाने के दो या तीन दिन के पश्चात् टीका लगे हुए स्थान पर कुछ शोथ उत्पन्न हो जाता है। और पाँच या छः सूक्ष्म दाने दिखाई देते हैं। धीरे धीरे यह दाने बढ़ने लगते है और नये दाने उत्पन्न हो जाते है। इन विस्फोटो मे एक प्रकार का तरल पदार्थ भर जाता है। इनके सबसे ऊपरी भाग में एक गढ़ा होता है। इनका रङ्ग श्वेत होता है। पाँच या छः दिन में यह दाने मिलकर एक बड़ा विस्फोट बना देते हैं। और आठवें दिवस पर इनका रङ्ग कुछ भूरा और मटमैला हो जाता है; गढ़ा जाता रहता है और विस्फोट गोल और भरे हुए दिखाई देते है। इनके भीतर स्वच्छ गाढ़ा लिम्फ़ भरा रहता है। नवें दिवस तक इन विस्फोटों में पूय भर जाती है, और उनके चारो ओर का स्थान लाल हो जाता है। दसवें दिवस पर यह विस्फोट सूखने आरंभ हो जाते हैं और चौदहवें दिवस तक इन पर से खुरण्ड पृथक् होने लगते हैं। इन खुरण्डों को स्वयं न उतारना चाहिए।

इन दिनों में कुछ ज्वर रहता है। शिर मे पीड़ा, वमन, क्षुधा न लगना, शरीर में दर्द इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

टीका लगवाने की आयु—टीका जन्म के तीन दिन पश्चात् लगाया जा सकता है। यदि नगर मे रोग फैल रहा हो तो ऐसा ही करना

चाहिए। साधारणतया बच्चे के प्रथम छः मास के भीतर टीका लगवा दिया जाय। यह रोग बच्चों को अधिक होता है। इस कारण जितना शीघ्र टीका लगवाया जा सके उतना ही उत्तम है। सरकारी नियम के अनुसार छः मास से लेकर चौदह वर्ष तक की आयु के व्यक्तियों के टीका लगाना अनिवार्य है। यदि बच्चे के माता-पिता या अभिभावक इसमे कोई आपत्ति करें तो उन पर प्रथम बार पचास रुपया जुर्माना और दूसरी बार उनको छः मास की क़ैद हो सकती है।

टीके के द्वारा उत्पन्न हुई रोगक्षमता की अवधि—उत्तम प्रकार से लगे हुए टीके से आठवें दिवस पर क्षमता उत्पन्न हो जाती है और ८ या १० वर्ष तक रहती है। किन्तु ज्यों ज्यों समय अधिक होता जाता है त्यों त्यों क्षमता घटती जाती है। इस कारण १० या १२ वर्ष के पश्चात् टीका फिर लगवाना चाहिए।

टीके की क्षमता उतनी स्थायी नहीं होती जितनी कि रोगाक्रमण की। यदि टीका उत्तम नहीं लगा है; उससे विस्फोट नहीं उत्पन्न हुए हैं, तो क्षमता अल्प-स्थायी होगी। एक ही स्थान पर लगे हुए टीके की अपेक्षा तीन या चार स्थानों पर टीका लगाने से अधिक क्षमता उत्पन्न होती है।

टीके का महत्त्व और उसके प्रति आपत्ति—रोग के इतिहास में रोगग्रस्त व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो अङ्क लिखे गये हैं उनसे स्पष्ट है कि टीके की प्रथा के पूर्व कितने अधिक व्यक्ति इस रोग से मरते थे। और टीके के पश्चात् इस संख्या में कितनी कमी हुई है। जिन देशों में टीके का पूर्ण प्रचार हुआ है वहाँ से इस रोग का नाम मिट गया है। जर्मनी, आस्ट्रिया, फ्रांस, इँगलैंड अब प्रायः रोगमुक्त देश हैं। हमारे देश में भी यद्यपि टीके का प्रचार बहुत ही अधूरा और असन्तोषजनक है तो भी रोग से मरनेवालों की संख्या बहुत घट गई है। इसका सबसे उत्तम प्रभाव बालकों और बच्चों पर हुआ है जिनकी मृत्यु-संख्या में विशेष न्यूनता हुई है। युवावस्था में मृत्यु-संख्या की इतनी कमी न होने का कारण यह है कि उस समय तक प्रथम टीके

का रक्षक प्रभाव प्रायः नष्ट हो चुकता है। इस कारण इस अवस्था में दूसरी बार टीका लगवाना आवश्यक है। जर्मनी, फ्रान्स आदि देशों मे इस अवस्था पर भी टीका लगवाना अनिवार्य कर दिया गया है। इस दूसरे टीके का प्रभाव जन्म पर्यन्त रहता है।

अन्य संक्रामक रोगों की अपेक्षा मसूरिका रोग का प्रतिषेध अथवा देश को रोग से पूर्णतया मुक्त कर देना अत्यन्त सहज है। उसके लिए केवल यह आवश्यक है कि दो बार टीका लगवाना अनिवार्य कर दिया जावे; एक बार बाल्यकाल मे और दूसरी बार बारह से पन्द्रह वर्ष की आयु में।

कुछ लोग टीके के प्रति आपत्ति करते हैं। उनका कथन है कि रोग में जो न्यूनता हुई है वह टीके के कारण नहीं किन्तु साधारण स्वास्थ्य-सम्बन्धी आयोजनों की उत्तमता से हुई है। वे कहते हैं कि टीके से एक व्यक्ति के चर्म-सम्बन्धी या अन्य समान रोग दूसरे व्यक्तियों को हो जाते हैं, सिफ़िलिस इस प्रकार से बहुत बढ़ गया है। क्षय, कैंसर, धनुर्वात, अधस्त्वक शोथ, रक्तपूय, विसर्प इत्यादि रोगों में भी वृद्धि हो गई है।

जिस समय एक व्यक्ति की बाहु से लेकर लसीका का दूसरे को टीका लगाया जाता था उस समय सिफ़िलिस तथा अन्य रोगों के फैलने की सम्भावना थी। किन्तु आधुनिक समय मे जब बछड़ों से लसीका बनाया जाता है, सिफ़िलिस का तनिक भी भय नहीं हो सकता; क्योकि बछड़ों को यह रोग होता ही नहीं। इसी प्रकार शुद्धि का पूर्ण ध्यान रखने से अन्य रोग भी नहीं हो सकते। टीका लगाते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि बच्चे को कोई चर्म सम्बन्धी या अन्य रोग जैसे खाँसी, अतिसार इत्यादि न हों। यदि टीके सम्बन्धी बातों का पूर्ण ध्यान रखा गया है तो किसी भी उपद्रव के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं हो सकती।

स्वच्छता, मलदूरीकरण, जल-सम्प्राप्ति तथा नगर की स्वास्थ्य-सम्बन्धी दशा इत्यादि को उन्नत करने से रोगों मे न्यूनता अवश्य होनी चाहिए। किन्तु इस रोग को समूल नष्ट कर देने या कम कर देने का श्रेय केवल स्वच्छता सम्बन्धी आयोजनों ही को नहीं हो सकता। इन आयोजनों के उत्तम होने पर भी

रोमान्तिका रोग में कोई विशेष न्यूनता नहीं देखने में आती। कुकुरखाँसी भी कुछ कम नहीं हुई है। इनफ्लुयेन्ज़ा के सन् १९१८ के मरक में १८९०–९१ के मरक से कुछ कम मृत्यु नहीं हुई, किन्तु कहीं अधिक हुई। स्वच्छता से जल, भोजन इत्यादि द्वारा संवाहित रोगों में कमी हो सकती है। किन्तु वायु द्वारा संवाहित रोगों पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। इन कारणों से स्पष्ट है कि इस रोग की मृत्यु-संख्या की न्यूनता का कारण टीका ही है।

टीका लगाने के समय ध्यान में रखनेवाली बातें:—

(१) टीका लगाने में शस्त्र कर्म की भाँति स्वच्छता का पूर्ण आयोजन होना चाहिए। हाथों की पूर्ण शुद्धि, चर्म का उत्तम प्रकार से शुद्ध करना, शस्त्रों की उसी प्रकार शुद्धि जिस प्रकार किसी बृहद् शस्त्रकर्म के समय की जाती है और उत्तम लसीका को प्रयोग करना अत्यन्तावश्यक है।

(२) जब बहुत से व्यक्तियों को टीका लगाना हो तो दो या तीन शस्त्र प्रयोग करने चाहिएँ। एक व्यक्ति को टीका लगाने के पश्चात् प्रयोग किये हुए शस्त्र को उबलते हुए जल मे छोड़कर दूसरा शस्त्र प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक बार उबालकर शस्त्र को काम में लाना उचित है।

(३) टीका लगाने मे केवल बछड़े से बनाया हुआ और उत्तम प्रकार से संरक्षित लसीका काम में लाना चाहिए। एक व्यक्ति की बाहु से दूसरे व्यक्ति को टीका लगाना उचित नहीं।

(४) यदि परिवार में कोई बालक या व्यक्ति क्षतज विसर्प से पीड़ित हो तो उस परिवार में किसी भी व्यक्ति को टीका न लगाया जावे।

(५) दो टीकों से कम कभी न लगाना चाहिए। सबसे उत्तम परिणाम चार टीकों से होता है। यह टीके इतने अन्तर पर होने चाहिएँ कि उनके विस्फोट आपस में न मिलने पावें।

(६) टीकों पर किसी व्रणोपचार या विसंक्रामक द्रव्य के लगाने की आवश्यकता नहीं। टीके को एक शुद्ध गौज़ के टुकड़े से ढक देना चाहिए। उन पर जो खुरण्ड बनें उनको उतारा न जावे।

बछड़ों से वैक्सीन लिम्फ़ का बनाना—एक सप्ताह तक बछड़ों को कारंटीन मे रखकर उनका निरीक्षण किया जाता है। यदि कोई बछड़ा रोगग्रस्त होता है तो उसको निकाल देते है। तत्पश्चात् स्वस्थ बछड़े को मेज़ पर लिटा उसको रस्सी से बांधकर उसके उदर के चर्म को उस्तरे से स्वच्छ किया जाता है। इस स्वच्छ स्थान को प्रथम ५% कारबोलिक एसिड के घोल से धोते है। तत्पश्चात् वह शुद्ध जल से धोया जाता है।

इसके पश्चात् शुद्ध शस्त्र (शस्त्रकर्म मे प्रयुक्त होनेवाले चाक़ू) से, जिसको पूर्व बनाये हुए लिम्फ़ मे डुबो लिया जाता है, अत्यन्त सूक्ष्म, लम्बे, समानान्तर क्षत किये जाते है। इन क्षतों मे चाक़ू के दस्ते पर लेकर लसीका की कुछ और मात्रा डाल दी जाती है। थोड़े ही समय मे यह शुष्क हो जाता है। तत्पश्चात् बछड़ो के समस्त उदर पर शुद्ध वस्त्र अथवा ऐप्रन बांध दिये जाते हैं।

पाँच दिन में टीके लगे हुए स्थानों पर विस्फोट बन जाते है। तत्पश्चात् बछड़े को मेज़ पर लिटाकर और विस्फोटो को सावधानी के साथ स्रवित जल से धोकर एक शस्त्र के द्वारा खुरच लिया जाता है। प्रत्येक क्षत को केवल एक ही बार खुरचा जाता है। इस प्रकार बारी बारी से सब क्षतों को खुरच-कर विस्फोटों का लिम्फ़ और उनके आवरण एकत्र कर लिये जाते हैं। उनको सावधानी से तौलकर एक दूसरे यन्त्र मे डाला जाता है जहाँ सब भाग आपस मे भली भांति मिलाये जाते हैं; यहाँ तक कि सारा द्रव्य एकरस हो जाता है। इस मशीन को प्रथम ही पूर्णतया शुद्ध कर लिया जाता है।

इस प्रकार तैयार किये हुए लिम्फ़ की एक बूँद को थोड़े शुद्ध जल में किसी काँच के बर्त्तन में मिलाकर देखा जाता है। यदि लिम्फ़ उत्तम है तो जल के साथ मिलने पर जल मे केवल कुछ धुँधलापन उत्पन्न हो जावेगा; किन्तु कोई विशेष कण नहीं दिखाई देंगे।

इस लिम्फ़ को छः गुना ५० प्रतिशत ग्लिसरिन और जल के घोल में मिलाकर फिर एक बार यन्त्र में डालकर मिलाया जाता है। तत्पश्चात् उसको शुद्ध की हुई काँच की नलिकाओं में भरकर ठण्डे अँधेरे स्थान या बर्फ़ में रख दिया जाता है। एक मास के पश्चात् माध्यम की प्लेटो पर

इस लिम्फ़ को लगाकर उनको उचित ताप-क्रम पर २४ या ४८ घण्टे रखा जाता है। यदि उससे प्लेटो मे किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती तो लिम्फ़ को कॉच की पतली नलिकाओ मे भर दिया जाता है। इस प्रकार टीका लगाने के लिए लिम्फ़ तैयार हो जाता है।

रोमान्तिका

यह रोग पॉच वर्ष से कम की आयु के बच्चों को अधिक होता है, यद्यपि अन्य अवस्थावालों को भी होता है। यह मसूरिका की भॉति अत्यन्त संक्रामक है और सारे संसार में पाया जाता है। हमारे देश में इस रोग के आक्रमण नवम्बर से अप्रैल तक अधिक होते है। कभी कभी इस रोग का मरक भी फैलता है।

इस रोग मे प्रायः फुस्फुसशोथ या अन्य ऐसे ही फुस्फुस के उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण बच्चो के लिए यह रोग भयङ्कर होता है।

कारण—मसूरिका की भॉति इस रोग के कारण का भी अभी तक पता नहीं चला है। केवल इतना मालूम हुआ है कि इस रोग का विष अत्यन्त सूक्ष्म और मसूरिका के विष के समान जीवाणवीय निस्यन्दकों में होकर निकलनेवाला होता है। यह विष रोगियों के रक्त, नासिका और मुख अथवा नेत्रों से निकलनेवाले स्राव और थूक में उपस्थित रहता है। किन्तु वह शरीर के बाहर धूप और ताप से नष्ट हो जाता है।

संवहन—मसूरिका की भॉति इस रोग के कारण का संवहन सम्पर्क, वायु और वस्त्र इत्यादि के द्वारा होता है। रोगी का सम्पर्क रोगोत्पत्ति का बहुत बड़ा कारण माना जाता है। रोगी के मुख से थूक इत्यादि द्वारा विष स्वस्थ व्यक्ति में पहुँचकर रोग उत्पन्न कर सकता है। रोगी के उपयोग किये हुए वस्त्र, बर्तन, तौलिये इत्यादि से भी रोग हो जाता है। बालकों का बहुधा पेन्सिल या अन्य वस्तुओं को मुँह में रखने का स्वभाव होता है। इससे भी रोग फैल सकता है।

रोगी रोग के आरम्भ ही से संक्रामक होता है। शरीर पर विस्फोटों के निकलने के पश्चात् संक्रामकता बहुत कम हो जाती है और शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

संप्राप्तिकाल दस से चौदह दिवस है।

लक्षण—ज्वर अकस्मात् आरम्भ होता है। छींकें आती हैं; गले के शोथ के से लक्षण, गले मे कुछ पीड़ा, खुजली, भारीपन इत्यादि उत्पन्न हो जाते है। नाक और नेत्र दोनों से स्राव निकलने लगता है। यदि भीतर से गले की परीक्षा की जाय तो वह शोथयुक्त गहरे लाल रङ्ग का दिखाई देता है। दूसरे दिन ज्वर कम हो जाता है। चौथे या पाँचवें दिन शरीर पर छोटे लाल रङ्ग के उभरे हुए विस्फोट निकलते है जो प्रथम भिन्न रहते है। किन्तु कुछ ही समय मे आपस मे मिल जाते हैं। १२ घण्टे मे इन विस्फोटों की पूर्ण वृद्धि हो जाती है। २४ से ४८ घण्टे मे यह विस्फोट शांत होने लगते हैं, और आठवे या नवें दिन पर बिल्कुल जाते रहते है; केवल चर्म पर कुछ भूरे से चिह्न रह जाते हैं।

प्रतिषेध—इस रोग को रोकना अत्यन्त कठिन है। रोगी प्रारम्भ ही से, जब रोग निश्चित करना भी सम्भव नहीं होता, अत्यन्त संक्रामक होता है। इस कारण सन्देह होते ही रोगी को पृथक् कर देना चाहिए। जिस परिवार में किसी बच्चे को यह रोग हो जावे उस परिवार के अन्य बालकों को भी स्कूल न भेजना चाहिए और न दूसरे परिवारो के बच्चों ही के साथ मिलने देना चाहिए। रोगी के वस्त्र, शय्या, कमरे इत्यादि का पूर्ण विसंक्रामण आवश्यक है। विस्फोटों के प्रकट होने के पश्चात् रोगी के शरीर पर कारबोलिक अम्ल-युक्त वैसलीन मलनी चाहिए। रोगी के मुख या नाक से जो स्राव निकलें उनको वस्त्रों के छोटे छोटे टुकड़ों से पोंछकर टुकड़ों को जला दिया जाय।

इस रोग के प्रति क्षम्य करने के लिए रोगी के शरीर से, उसके रोग-मुक्त होने के पश्चात्, सीरम तैयार करके कुछ बालकों पर प्रयोग किया गया। प्रयोगकर्त्ताओं का कथन है कि ये बालक रोगियों के सम्पर्क में आने पर भी रोगमुक्त रहे। इसके सम्बन्ध में अभी तक निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

लघु मसूरिका

यह रोग मसूरिका ही के समान है, किन्तु उससे बहुत हलका होता है। यह प्रायः मसूरिका के साथ ही फैलता है। इस कारण मसूरिका के मृदु रोगियों को इस रोग के रोगियों से भिन्न करना कठिन हो जाता है। मसूरिका और लघु मसूरिका वास्तव में दो भिन्न रोग हैं। मसूरिका के टीके से इस रोग से रक्षा नहीं होती।

इस रोग का कारण भी अभी तक निश्चित नहीं हुआ है। किन्तु यह रोग सम्पर्क तथा वस्त्रों द्वारा उत्पन्न होता है। रोगी प्रारम्भ ही से संक्रामक होता है। संक्रामक काल तीन सप्ताह माना जाता है।

संप्राप्तिकाल चौदह से सोलह दिवस है।

लक्षण—शरीर, मुख, वक्ष और बाहुओं पर कुछ विस्फोट निकलते हैं। इनकी संख्या बहुत थोड़ी होती है। प्रायः वक्ष या शरीर के ढके हुए भागों में विस्फोटो की संख्या अधिक होती है। इन विस्फोटों में यह विशेषता है कि शरीर के एक भाग पर निकले हुए विस्फोट जब परिपक्व होकर सूखने लगते हैं तब दूसरे भागों पर विस्फोट निकलना आरम्भ होता है। इस कारण एक ही रोगी के शरीर पर एक ही समय मे भिन्न भिन्न दशाओं के विस्फोट उपस्थित मिलेंगे। विस्फोट निकलने के पश्चात् ज्वर उत्पन्न होता है जो १००° या १०१° और कभी कभी १०२° फै० तक पहुँच जाता है। विस्फोट कुछ घण्टों में पक हो जाते हैं और तीन या चार दिवस में सूखकर गिरने लगते हैं।

प्रतिषेध—इस रोग मे मृत्यु नहीं होती; किन्तु मरक फैलने के समय स्कूल इत्यादि संस्थाओं में बड़ा कष्ट होता है। रोगी को पृथक् कर देना आवश्यक है। उसके कमरे, वस्त्र अथवा अन्य प्रयुक्त वस्तुओं का पूर्ण विसंक्रामण होना चाहिए। विस्फोटों के शुष्क होने के समय रोगी के शरीर पर वैस्लीन मलनी चाहिए। रोगमुक्त होने पर उसको किसी विसंक्रामक पदार्थ को जल में मिलाकर उससे स्नान करवाना उचित है।

बाईसवाँ परिच्छेद

कुप्रसंगज रोग

पूयमेह[१] और फिरंग रोग[२] दोनों सदा व्यभिचार से उत्पन्न होते हैं। और एक व्यक्ति से दूसरे मे फैलते हैं। रोगग्रस्त स्त्रियों से पुरुषों को और पुरुषों से स्त्रियों को रोग होता है। यह सामाजिक रोग कहलाते है जो सारे संसार मे समाज की प्रत्येक जातियों मे फैले हुए है। इनसे व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की हानि होती है। एक बार रोगग्रस्त होने पर शरीर अनेक उपद्रवों का केन्द्र बन जाता है जिनका प्रभाव न केवल व्यक्ति ही पर, किन्तु सारे परिवार और भावी सन्तान पर भी पड़ता है।

यह रोग उचित उपायों द्वारा रोके जा सकते हैं। समाज की इनसे इतनी अधिक हानि होती है कि उनको रोकने का प्रयत्न करना प्रत्येक स्वास्थ्याध्यक्ष का कर्त्तव्य है।

पूयमेह और फिरंग रोग दोनों जीवाणुओं ही के कारण उत्पन्न होते हैं। पूयमेह का जीवाणु 'कोकाई' श्रेणी का होता है और 'गौनोकोकस[३]' कहलाता है। फिरंग रोग का जीवाणु 'सिपरिल्ला' जाति का 'ट्रिपोनिमा पैलिडम[४]' होता है।

रोगों का संवहन—रोगों का संवहन प्रसंग के द्वारा होता है। रोग के जीवाणु प्रसंग में श्लैष्मिक कला के क्षत हो जाने से व्रण द्वारा शरीर मे प्रवेश करते हैं। वह अक्षत चर्म या कला से प्रवेश नहीं कर सकते। डाक्टरों

---

१. Gonorrhoea. २. Syphilis. ३. Gonococcus. ४. Treponema Pallidum.

तथा परिचारिकाओं को रोगी के व्रण के स्पर्श से भी रोग हो जाता है। किन्तु इस प्रकार उत्पन्न हुआ व्रण प्रायः उँगलियों या हाथों पर होता है; जननेन्द्रियों पर कभी नहीं होता। चुम्बन अथवा रोगी के प्रयुक्त वस्त्र, रूमाल, तौलिया, हुक्के इत्यादि से भी रोग होते देखा गया है, यद्यपि ऐसे रोगियों की संख्या बहुत कम होती है। पूयमेह के सम्बन्ध में साधारण किंवदन्ती, कि रोग उस स्थान पर या जहाँ किसी रोगग्रस्त व्यक्ति ने मूत्र त्याग किया हो वहां पेशाब करने से, अथवा गरम मसालों इत्यादि के प्रयोग से उत्पन्न हो सकता है, बिल्कुल असत्य है।

तीसरा रोग, जिसको उपदंश[1] कहते हैं, सदा कुप्रसंग ही से उत्पन्न होता है।

प्रतिषेध—रोग के फैलाने में रोगग्रस्त स्त्रियों का विशेष भाग होता है। जिनका यह व्यवसाय ही होता है, वह रोग के केन्द्र की भांति काम करती है। सैकड़ों व्यक्ति उनसे रोग ग्रहण करते है। इस कारण रोग को रोकने के लिए रोगग्रस्त व्यावसायिक स्त्रियों को समाज से पृथक् करना तथा उनकी पूर्ण चिकित्सा का आयोजन करना आवश्यक है। इन स्त्रियों की शिक्षित डाक्टरों द्वारा पूर्ण परीक्षा करवाकर जो रोगग्रस्त पाई जावें उनका नाम एक रजिस्टर में लिख लिया जावे और उनकी उचित चिकित्सा हो। जब तक वे रोग से पूर्णतया मुक्त न हो जावे तब तक उनको अपना व्यवसाय करने की आज्ञा देना उचित नहीं। इसी प्रकार जो पुरुष रोगग्रस्त पाये जावें उनकी भी पूर्ण चिकित्सा आवश्यक है जिससे जिन स्त्रियों की चिकित्सा हो चुकी है वह फिर से रोगग्रस्त न हों। ऐसे व्यक्तियों का पुलिस की चौकियों पर एक रजिस्टर रहना चाहिए। जब तक ये व्यक्ति रोग से पूर्णतया मुक्त न हो जावें और डाक्टर रोगमुक्ति का प्रमाणपत्र न दे दे, तब तक इन व्यक्तियों की चिकित्सा के लिए नियत समय पर उपस्थिति नियम द्वारा अनिवार्य होनी चाहिए।

चिकित्सा की पूर्ण आयोजना के लिए उत्तम चिकित्सा-केन्द्र बनाना आवश्यक है, जिनका पुलिस के साथ सहयोग हो। कहीं-कहीं पर इन

१. Soft Chancre.

रोगों की चिकित्सा का पुलिस की चौकियों ही पर प्रबन्ध होता है। इन केन्द्रों मे इन्हीं रोगो के विशेषज्ञ डाक्टर तथा परिचारक रहने चाहिएँ। चिकित्सा के अतिरिक्त उनका कार्य व्यक्तियों को रोग से बचने के साधनो का आदेश करना भी हो, जिनको प्रसंग से पूर्व या पश्चात् प्रयोग करने से रोगोत्पत्ति की सम्भावना जाती रहे। योरप में इस प्रकार के केन्द्र स्थापित कर दिये गये हैं और उनसे सहस्रों व्यक्ति लाभ उठाते है। इन केन्द्रों द्वारा न केवल चिकित्सा ही का कार्य होता है किन्तु रोग से बचने की शिक्षा का प्रचार भी होता है।

रोग को कम करने के लिए शिक्षा के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। जनता को इस बात का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए कि यह रोग सदा व्यभिचार से उत्पन्न होते है। व्यभिचारग्रस्त व्यक्ति का इन रोगो से बचना कठिन है। रोगों का सन्तति पर जो प्रभाव पड़ता है तथा रोग से जो उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं उनको भी बताना चाहिए। इसके लिए समय-समय पर छोटे-छोटे लेख जनता में मुफ़्त बाँटे जायँ जिनमे रोगोत्पत्ति, रोग के प्रभाव और उपद्रवों और रोग से बचने के उपायो का पूर्ण वर्णन हो। मेलों में मैजिक लालटैन के साथ इस विषय सम्बन्धी लेक्चर दिलवाने चाहिएँ। सफ़री दवाख़ानो के साथ जो डाक्टर रहते है वह भी यह कार्य्य करें। साथ में नगर मे यतस्ततः इस प्रकार के प्रबन्ध करने चाहिएँ कि जनता को मनोरञ्जन का पूर्ण अवसर मिल सके। अखाड़े, थियेटर, बायस्कोप इत्यादि, जहाँ पर उत्तम खेल खेले जावें, बनाये जायँ। समय-समय पर दङ्गल करवाने से भी जनता को बहुत लाभ पहुँचता है। जनता में इसी प्रकार की रुचि उत्पन्न करने के लिए व्यायाम सम्बन्धी अन्य आयोजनाएँ की जा सकती है।

स्वास्थ्य-विभाग की दृष्टि से इन रोगों को नष्ट करना बहुत आवश्यक है। अन्य संक्रामक रोगों की भाँति वह भी एक व्यक्ति से दूसरे को फैलते है। इस कारण स्वास्थ्य-निरीक्षकों का कर्त्तव्य है कि अन्य संक्रामक रोगों की भाँति वे इनको रोकने का भी उचित प्रबन्ध करें।

तेईसवाँ परिच्छेद

चिकित्सालय

प्रत्येक नगर में रोग-ग्रस्त जनता की चिकित्सा के लिए स्वास्थ्य-विभाग की ओर से चिकित्सालय बनाने पड़ते हैं जहाँ निर्धन व्यक्तियों की, जो चिकित्सा के लिए व्यय नहीं कर सकते, मुफ़्त चिकित्सा की जाती है। साधारण चिकित्सालयों के अतिरिक्त संक्रामक रोगों तथा चेचक के चिकित्सालय, जहाँ केवल इन्हीं रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों को भरती किया जाता है, पृथक् बनाये जाते हैं।

साधारण चिकित्सालय की लम्बाई चौड़ाई नगर की जनता की संख्या के अनुसार होनी चाहिए। बड़े नगरों में कई स्थानों पर बड़े-बड़े चिकित्सालय बनाने पड़ते हैं।

नगर में चिकित्सालय की ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि वह सब के लिए सुलभ हो। जिस भूमि पर चिकित्सालय बनाया जावे वह ऊँची और शुष्क हो जहाँ से जल का निकास उत्तम हो। प्रायः अस्पताल मे रहनेवाले प्रत्येक बीस रोगियों के लिए एक एकड़ भूमि की आवश्यकता होती है। किन्तु इतनी भूमि मे ४० से अधिक रोगियों को कभी न रखा जावे। दो खण्ड की इमारत बनाने में व्यय कम होता है और गर्मियों में नीचे का खण्ड ठण्डा रहता है।

प्रत्येक अस्पताल में बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दो विभाग होते हैं। बहिरङ्ग विभाग मे केवल उन रोगियों की चिकित्सा की जाती है जो नित्य प्रति औषध लेकर चले जाते हैं। अन्तरङ्ग विभाग मे रोगियों को चिकित्सालय ही में रखा जाता है।

बहिरङ्ग विभाग में रोगियों के बैठने के लिए एक बड़ा कमरा होना चाहिए। उसके पास ही चिकित्सक का एक कमरा हो, जहाँ वह रोगियों को बुलाकर

उनकी परीक्षा करके चिकित्सा-पत्र या नुसख़ा लिख सके। चिकित्सक के कमरे से मिला हुआ एक छोटा कमरा हो, जिसमें दो बड़ी खिड़कियाँ हों, जहाँ रोगी की परीक्षा की जा सके। इस कमरे मे रोगी के लेटने के लिए एक बेंच या मेज होनी चाहिए जो खिड़की के नीचे दीवार के सहारे रखी रहे। कहीं कहीं पर इस कमरे का काम एक लकड़ी या लोहे के परदे से लिया जाता है। चिकित्सक के कमरे में खिड़की के पास परदा खड़ा करके उसके भीतर बेंच रख दी जाती है। यहाँ पर रोगी को लिटा-कर उसकी परीक्षा की जाती है। चिकित्सक के कमरे के दूसरी ओर ओषधि-वितरण तथा व्रणोपचार के लिए भिन्न कमरे होने चाहिएँ। स्त्री और पुरुषों के ओषधि लेने के लिए कुछ अन्तर पर दो पृथक् खिड़कियाँ होनी चाहिएँ। यदि हो सके तो व्रणोपचार के कमरे मे भी इसी प्रकार का प्रबन्ध किया जाय। लघु शस्त्रकर्म करने के लिए भी एक पृथक् कमरा होना चाहिए। मल, मूत्र, रक्त इत्यादि की परीक्षा के लिए भी एक छोटा कमरा होना उचित है।

इन कमरो का फ़र्श उत्तम सीमेंट का और चिकना बना हो। यदि पेटेंट स्टोन लगाया जा सके तो बहुत उत्तम है। कमरों की दीवारें चिकनी होनी चाहिएँ।

अन्तरङ्ग विभाग—अन्तरङ्ग विभाग में रोगियों के रहने के लिए लम्बे-लम्बे कमरे बनाये जाते हैं। प्रत्येक कमरे मे, जिनको 'वार्ड' कहते हैं, २४ से ३० रोगी रखे जाते है। ४० से अधिक रोगियों को एक कमरे में रखना उचित नहीं। प्रत्येक वार्ड २४ से ३० फ़ुट चौड़ा और १२ से १५ फ़ुट ऊँचा होना चाहिए। उसकी लम्बाई शय्याओं की संख्या के अनुसार इतनी होनी चाहिए कि प्रत्येक रोगी को १२० वर्ग फ़ुट भूमि और १२०० घनफुट वायु-अवकाश मिल सके। संयुक्त प्रान्त के अस्पतालों के इन्सपेक्टर जन-रल के आदेशानुसार प्रत्येक रोगी के लिए कम से कम ६० वर्ग फ़ुट भूमि-क्षेत्र और ८१० घन फ़ुट वायु-अवकाश आवश्यक है। रोगियों की शय्या का सिरहाना दो खिड़कियों के बीच दीवार की ओर होना चाहिए।

दोनों ओर की शय्या की पंक्तियों के बीच में कम से कम ११ फुट का स्थान हो। जहाँ विद्यार्थी और परिचारिकाएँ काम करती हैं वहाँ यह स्थान १५ से २० फुट होना चाहिए। वार्डों मे खिड़कियों को एक दूसरे के सामने बनाया जाय। इनके बाहर की ओर बारीक जाली लगी रहे जिससे मच्छर और मक्खियाँ भीतर न आ सके। दरवाज़ों पर भी, जिनकी संख्या नितान्त आवश्यकता से अधिक न हो, जाली के दोहरे दरवाज़े लगे हो, जो खोलने के पश्चात् स्वयं बन्द हो जावें। कुछ विद्वान् छत और दीवारों को दोहरी बनाना उत्तम समझते है। इससे कमरे ठण्डे रहते हैं।

वायु के प्रवेश और निकास का विशेष प्रबन्ध होना आवश्यक है। साधारणतया खिड़कियों के द्वारा कमरों का व्यजन होता रहता है। किन्तु शीत और वर्षा ऋतु मे खिड़कियों को बन्द करना पड़ता है। ऐसे समय के लिए वार्ड के एक सिरे पर वायु को भीतर भेजनेवाला पङ्खा और दूसरे सिरे पर वायु को बाहिर निकालनेवाले पङ्खे को लगाकर कमरों का व्यजन किया जा सकता है। वार्डों के दोनों ओर बरामदा होना चाहिए जिसकी चौड़ाई १० फुट हो। कमरों को अत्यन्त शीत के समय गरम करने का प्रबन्ध भी होना चाहिए।

इन कमरों के फ़र्श चिकने हो। उनमे किसी प्रकार की झिरी या दरारें न हों। साधारण फ़र्श, जिनमें जोड़ के स्थान पर परिखाएँ होती हैं, वार्डों में न होने चाहिएँ। फ़र्श सारे वार्ड मे एक समान हो। बर्ड कंपनी का पेटेंट स्टोन का फ़र्श उत्तम होता है। सङ्गमरमर फ़र्श के लिए बहुत उपयुक्त है। फ़र्श दीवारों की ओर कुछ ढलवाँ होना चाहिए।

वार्डों की दीवारें सीमेंट की बनी हुई चिकनी हों। उन पर किसी प्रकार का चिकना करनेवाला पदार्थ लगाया जावे। फ़र्श से तीन या चार फुट ऊँचाई तक दीवार पर उत्तम टाइल लगाये जावें। दीवारों के कोनों को गोल करना आवश्यक है। इसी प्रकार छत को भी चिकना कर दिया जावे। जहाँ तक हो सके, छत सीधी बनाई जाय।

वार्डों के दरवाज़ों में यह विशेषता होनी चाहिए कि उनमें नीचे की ओर चौखट न हो, जिससे रोगी को लानेवाली ट्रौली के भीतर आने-जाने मे कठिनाई न हो। दरवाजे दोहरे हो।

वार्डों मे सामान जितना भी कम हो उत्तम है। प्रत्येक रोगी के लिए एक शय्या, लोहे की तार की छोटी अलमारी और एक स्टूल या छोटी बेंच की आवश्यकता होती है, जिस पर रोगी के सम्बन्धी, जो उसको देखने आवें अथवा विद्यार्थी या चिकित्सक बैठ सकें। कमरे के बीच मे एक मेज़, यदि आवश्यक हो तो, रखी जा सकती है। शल्य के वार्डों के साथ एक कमरा होना चाहिए जिसमें व्रणोपचार-वस्त्र तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ रखी जा सकें। लोहे की जाली की शय्या सबसे उत्तम होती है। कुछ शय्याओ मे बीच का भाग जाली का नहीं होता। चारों ओर की लोहे की गोल सलाखो पर कैनवास लगाकर नीचे की ओर कस दी जाती है। कैनवास के सिरो पर छिद्र रहते हैं जिनमें रस्सी डाली जाती है। इनमें यह लाभ है कि कैनवास को समय-समय पर धुलवाकर शुद्ध किया जा सकता है और ढीली हो जाने पर कसा भी जा सकता है।

शस्त्रकर्मागार—प्रत्येक चिकित्सालय मे एक शस्त्रकर्मागार आवश्यक है जहां पर शस्त्रकर्म किये जा सकें। इसकी लम्बाई-चौड़ाई आवश्यकतानुसार होनी चाहिए। जो चिकित्स[illegible]र्थियों को शिक्षा देने के लिए प्रयुक्त होते हैं वहाँ पर यह कमरा बड़ा होना चाहिए, जिससे विद्यार्थियों को खड़े होकर शस्त्रकर्मों को देखने के लिए पर्याप्त स्थान मिल सके। शस्त्रकर्मागारो मे प्रकाश के आने का प्रबन्ध सदा उत्तर ओर से किया जाता है। इसके लिए दीवार में १०'×८' की एक खिड़की बनाई जाती है जिसमे बड़ी बड़ी शीशे की प्लेट लगी रहती हैं। इससे कमरे में प्रकाश फैला रहता है, किन्तु किसी व्यक्ति की छाया नहीं पड़ने पाती। इन स्थानों में इस प्रकार के पूर्ण प्रकाश का प्रबन्ध करना जिससे छाया न पड़ने पावे अत्यन्तावश्यक है। रात्रि के समय प्रकाश करने के लिए भी लम्प इसी प्रकार से लगाये जाते हैं कि उनसे छाया न उत्पन्न हो। इस कमरे के कोने बिल्कुल गोल होने चाहिएँ।

दीवार पर फ़र्श से कम से कम चार फ़ुट ऊपर तक उत्तम टाइल लगाने चाहिएँ। कमरे के फ़र्श की ओर विशेष ध्यान देना उचित है। यह इस प्रकार बनाया जावे कि उसमे कहीं भी दरार या झिरी न रहने पावे। पालिशदार सङ्गमरमर के चौके सबसे उत्तम है। इनको बहुत सावधानी से जोड़ा जावे। कमरे मे हाथ धोने के लिए चीनी मिट्टी की बनी हुई उत्तम मार्जनियाँ रहनी चाहिएँ जिनमें गरम और ठण्डे जल दोनों के आने का प्रबन्ध हो। शीत ऋतु में कमरे को गरम करने का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

इस कमरे के साथ दो और कमरे होने चाहिएँ। एक, रोगी को मूर्छित करने के लिए, और दूसरा शस्त्रों के निर्विषीकरण के लिए। प्रायः सर्जन के बैठने तथा वस्त्र पहिनने और अन्य सहायकों के लिए भी कमरे बनाये जाते हैं।

चिकित्सालय के सम्बन्ध मे एक ऐसा कमरा भी बनाया जावे जहाँ मृत रोगियों के शव को रखा जा सके।

धोबी के लिए वस्त्रों को धोने और उनके विसंक्रामण के लिए भी उचित स्थान होने चाहिएँ।

जो मध्यम श्रेणी के रोगी होते हैं वे साधारण वार्डों मे रहना नहीं पसन्द करते। उनके लिए छोटे-छोटे दो या तीन कमरों के मकान बनवा देने चाहिएँ जिनके लिए उनसे उचित किराया लिया जा सकता है।

पृथक्करण चिकित्सालय

प्रत्येक नगर में संक्रामक रोगों से ग्रस्त रोगियों को रखने के लिए पृथक्करण चिकित्सालय होने चाहिएँ। आन्त्रिक ज्वर, विशूचिका, विस्फोटक ज्वर, डिफ्थीरिया इत्यादि रोगों के रोगियों को साधारण चिकित्सालयों में रखना उचित नहीं।

इन चिकित्सालयों को प्रायः नगर के बाहर बनाया जाता है। निवास-स्थानों से उनका पर्याप्त दूर होना अत्यन्तावश्यक है। साधारण चिकित्सालय की भाँति इनमें भी वार्ड बनाये जाते हैं। जहाँ तक हो सके भिन्न भिन्न रोगों के लिए भिन्न वार्ड बनाने चाहिएँ। वार्ड में प्रत्येक रोगी के लिए १२० से २०० वर्ग फ़ुट क्षेत्र और २००० से ३००० घन फ़ुट तक वायु-अवकाश

होना चाहिए। प्रत्येक वार्ड के बीच कम से कम ४० फ़ुट का अन्तर हो। सारे चिकित्सालय के चारों ओर ४० फ़ुट की दूरी पर एक ६½ फ़ुट ऊँची दीवार होनी चाहिए।

चिकित्सालय की दीवार, फ़र्श, छत इत्यादि को साधारण चिकित्सालय की भांति ही बनाया जा सकता है। वे पूर्णतया चिकने होने चाहिएँ। यहाँ पर स्थान की स्वच्छता और वस्त्र, बर्तन इत्यादि की शुद्धि की साधारण चिकित्सालय से कहीं अधिक आवश्यकता है। इस कारण विद्यार्थी, चिकित्सक, परिचारिकाएँ तथा अन्य काम करनेवाले सब को आज्ञा होनी चाहिए कि वह जब चिकित्सालय में काम करने के लिए आवें तो अपने वस्त्रों को उतारकर वहाँ के वस्त्र पहिन लें। जब वह चिकित्सालय से जावें तो उन वस्त्रों को उतारकर विसंक्रामक विलयन से हाथ और मुख को शुद्ध कर अपने वस्त्रों को पहिन लें। इसी प्रकार रोगियों के जो सम्बन्धी उनको देखने आवें वह भी चिकित्सालय के वस्त्र को पहिनकर भीतर जावें। और वहाँ से निकलकर विसंक्रामकों द्वारा हाथ और मुँह को धोकर चिकित्सालय से जावें। इन लोगों के पहिनने के लिए ज़ीन के लम्बे कोट, जो गले से पाँवों तक आ जावें, होने चाहिएँ। जब रोगी रोगमुक्त होकर चिकित्सालय से जावे तो उसको उष्ण विसंक्रामक विलयनों से स्नान करवाकर उसके वस्त्रों को बदल देना चाहिए।

जिन नगरों में पृथक्करण चिकित्सालय न हों वहाँ साधारण चिकित्सालय में एक पृथक्करण वार्ड होना चाहिए। इसमें रोगियों के रहने के लिए पृथक् पृथक् कोठरियाँ हों जिनके द्वार पर विसंक्रामक विलयन में भीगा हुआ परदा सदा टँगा रहे।

चेचक के रोगियों के रखने के लिए भी पृथक् चिकित्सालय होने चाहिएँ। ये बस्ती से, जहाँ १५० या २०० व्यक्ति भी रहते हों, कम से कम आध मील दूर हों। कोई चिकित्सालय, कारख़ाने, अथवा और कोई संस्था उनके पास न हो।

चौबीसवाँ परिच्छेद

मातृ और शिशु-संरक्षण

प्रत्येक जाति के बच्चे उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति होते है। जाति और देश की भावी उन्नति बच्चों ही पर निर्भर करती है। इन बच्चो ही में कुछ ऐसे लाल छिपे होते हैं जो बड़े होकर अपनी प्रतिभा से जाति का सिर ऊँचा करते है। इस कारण शिशुओ की रक्षा और उनकी देख-भाल का पूर्ण और उचित आयोजन जाति का कर्त्तव्य है। सरकार की ओर से इस बात की आयोजना होनी चाहिए कि जब से स्त्री गर्भ धारण करे उसी समय से शिक्षित व्यक्तियों द्वारा उसकी देख-भाल प्रारम्भ हो जावे। उसको भोजन, व्यायाम और दैनिक दिनचर्य्या के सम्बन्ध में शिक्षा मिलती रहे। प्रसव का भी सरकारी प्रबन्ध होना चाहिए और प्रसव के पश्चात् बच्चे की देखरेख का भी सरकार की ओर से उचित प्रबन्ध हो।

हमारे देश में जितनी अधिक बाल-मृत्यु होती है उतनी संसार के किसी सभ्य देश में नहीं होती। निम्नलिखित अङ्कों से कुछ नगरों की बाल-मृत्यु का पता लगता है। यह अङ्क 'सेन्सस रिपोर्ट' से लिये गये हैं। इन अङ्को का अर्थ यह है कि प्रत्येक १००० उत्पन्न हुए बच्चों में अमुक संख्या की प्रथम वर्ष में मृत्यु हो जाती है। यदि किसी स्थान की बालमृत्यु २३३ है तो वहाँ पर उत्पन्न हुए १००० बच्चों मे से २३३ की प्रथम वर्ष में मृत्यु हो जाती है।

बम्बई	५५६
कलकत्ता	३८२
रंगून	३०३
मद्रास	२८२
करांची	२५१
देहली	२३३

इतने बच्चों की मृत्यु देश की सभ्यता और विशेषकर स्वास्थ्य विभाग पर गहरा कलंक है। यह इस विभाग का कर्त्तव्य है कि वह इस मृत्यु-संख्या को घटाने का पूर्ण उद्योग करे और जनता को भी स्वास्थ्य विभाग के साथ पूर्ण सहयोग करना चाहिए। योरप के देशों में भी यह संख्या किसी समय बहुत अधिक थी। सन् १६०० में इँगलैंड की बाल-मृत्यु-संख्या १५० थी। किन्तु उन देशों ने इस प्रश्न की महत्ता को समझकर उसकी ओर ध्यान दिया। सरकार और जनता ने मिलकर बच्चों की रक्षा के उपायों की आयोजना की। और सन् १६२३ में इँगलैंड की बाल-मृत्यु-संख्या केवल ६६ रह गई। इसको अति न्यून संख्या कहा जाता है जिसमे कमी नहीं हो सकती।

बाल-मृत्यु के कारण—हमारे देश मे बाल-जीवन के इतने भयङ्कर नाश के बहुत से कारण हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य है :—

(१) बाल-विवाह—बाल-विवाह बाल-मृत्यु और मातृ-मृत्यु दोनों का बहुत बड़ा कारण है। छोटी आयु मे विवाह होने से लड़के और लड़की दोनों को हानि पहुँचती है। सन्तानोत्पत्ति अति शीघ्र प्रारम्भ हो जाती है। उस समय तक दम्पतियों में से किसी की भी शारीरिक अवस्था सन्तानोत्पत्ति के उपयुक्त नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि दोनों के शरीर मे घुन लग जाता है। उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है और कितने ही युवक राजयक्ष्मा इत्यादि के ग्रास बन जाते हैं। जिस समय उनको अपने वीर्य्य की रक्षा करके अपने शरीर को पुष्ट और सांसारिक धर्मों के लिए अनुकूल बनाना चाहिए था, उस समय वह सांसारिक उपभोगों में व्यस्त हो जाते है जिससे उनका समस्त भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। युवतियों पर इसका और भी बुरा प्रभाव होता है। उनको घूमने-फिरने तथा व्यायाम करने का पहिले ही अवसर नहीं मिलता। इस पर बाल-विवाह से उनके स्वास्थ्य का और भी नाश हो जाता है। ऐसे दम्पतियों की जो सन्तान होती है वह भी दुर्बल होती हैं, जो प्रतिकूल दशाओं को सहन नहीं कर सकतीं। यह सदा देखा जाता है कि छोटी आयु में उत्पन्न हुए बच्चे दुर्बल और सहनशक्ति-हीन होते हैं। उनका शरीर-भार भी बहुत कम होता है।

(२) **रोगग्रस्त व्यक्तियों के विवाह**—विवाह के पहिले लड़के और लड़की दोनों की डाक्टरी परीक्षा होनी चाहिए। रोगग्रस्त माता-पिताओं की सन्तान दुर्बल होती है। फिरङ्ग रोगग्रस्त व्यक्तियों के बच्चे प्रथम तो गर्भावस्था ही में नष्ट हो जाते है। जो जीवित रहते है वह पैतृक रोग से ग्रस्त होते है। इनमें से अधिक बच्चे प्रथम वर्ष में मर जाते है।

(३) **प्रसव की रीति**—हमारे देश में प्रसव का कर्म साधारणतया अशिक्षित दाइयाँ ही करती हैं। उनको शुद्धि का तनिक भी विचार नहीं होता। अपने गन्दे हाथों ही से वह सब काम करती हैं। पत्थर अथवा लोहे के टुकड़ों से, जिनको धोया तक नहीं जाता, उनको नाल काटते हुए देखा गया है। स्थान को पोंछने के लिए भी वह मकान मे पड़े हुए मैले गन्दे वस्त्रों के टुकड़ों का प्रयोग करती हैं। तिस पर जिस कमरे मे प्रसव होता है वह अत्यन्त गन्दा होता है। उसके दरवाज़े और खिड़कियों को बन्द कर दिया जाता है जिससे बाहर की शुद्ध वायु भीतर न आ सके। दरवाज़े पर एक परदा टँगा रहता है जिसके बाहर एक अँगीठी मे गन्धक जलती रहती है। मल-मूत्र-त्याग इत्यादि कर्म सब इस कमरे के भीतर ही होते हैं। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि योनि और गर्भाशय में संक्रामण पहुँचकर प्रसव-ज्वर इत्यादि उत्पन्न कर देता है जिससे स्त्री की मृत्यु हो जाती है। कुछ दिन के पश्चात् बच्चा भी मर जाता है। हमारे देश मे प्रसव मे स्त्रियों की कम से कम ७५ प्रतिशत मृत्यु इसी कारण होती है।

(४) **माता की अनभिज्ञता**—बच्चों की मृत्यु का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि माताएँ बच्चों के पालन-पोषण की रीति से अनभिज्ञ होती हैं। उनको नहीं मालूम होता कि किन बातों से बच्चों को हानि पहुँचती है अथवा किनसे लाभ होता है। बच्चों पर भोजन, वस्त्र, वायु-मण्डल के तापक्रम के परिवर्त्तन, स्वच्छता इत्यादि का बहुत प्रभाव पड़ता है। भोजन की तनिक भी असावधानता से बच्चे रोगग्रस्त हो जाते हैं। इसी प्रकार तापक्रम के परिवर्त्तन को भी वह सहन नहीं कर सकते।

(५) **उपयुक्त भोजन न मिलना**—बच्चे के लिए सबसे उत्तम भोजन माता का दूध है। प्रथम ६—७ मास तक उनको किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। जिन बच्चों को उचित समय तक माता का दूध पर्याप्त मात्रा में मिलता रहता है, वह पाचन-सम्बन्धी रोगों से, जिनसे ६० प्रतिशत बच्चो की मृत्यु होती है, बचे रहते हैं और उनका शरीर भी दृढ़ हो जाता है। किन्तु जिन बच्चों को माता का दूध नहीं मिलता अथवा अपर्याप्त मात्रा में मिलता है उनको बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। ऐसी दशा में प्रायः गौ या बकरी का अथवा किसी प्रकार बना हुआ दूध दिया जाता है। दूध को शुद्ध रखना अत्यन्त कठिन है। प्रवाहिका, आंत्रिक ज्वर इत्यादि रोगों का संक्रामण दूध के साथ अत्यन्त सहज मे शरीर मे पहुँच जाता है, जिससे बच्चा रोगग्रस्त हो जाता है।

बच्चों को गौ का शुद्ध दूध नहीं पचता। उसका संगठन माता के दूध से भिन्न होता है। इस कारण बच्चे की आयु के अनुसार गौ के दूध मे जल, शर्करा तथा मलाई को मिलाकर उसका संगठन वैसा ही कर दिया जाता है जैसा माता के दूध का होता है। भिन्न भिन्न आयु के बच्चों के लिए इन वस्तुओं की मात्रा मे भिन्नता करनी पड़ती है। यदि बच्चो को उनकी आयु के अनुसार उपयुक्त भोजन नहीं मिलता तो उससे भी वह रोगग्रस्त हो जाते हैं।

(६) **वस्त्रों की अनुकूलता**—बच्चे तापक्रम के परिवर्त्तन को सहन नहीं कर सकते। उनको बहुत सहज में ठण्ड लग जाती है। जाड़े के मौसम में बच्चो को हलके किन्तु गरम वस्त्र पहिनाने चाहिएँ। बच्चों के वस्त्रो को सदा ढीला बनाना चाहिए जिससे उनके अङ्गों की गति होती रहे।

(७) **कंगाली**—कंगाली सब रोगों का मूल है। धन के अभाव से निर्धन व्यक्ति बच्चों के पालन-पोषण का उचित प्रबन्ध नहीं कर सकते। यदि उनको कोई रोग हो जाता है तो वह उचित चिकित्सा का प्रबन्ध भी नहीं कर सकते। प्रायः उनके रहने के मकान बहुत छोटे और गन्दे होते है। बड़े-बड़े नगरो में तो रहने के लिए मकान मे केवल एक या दो कमरे होते हैं। अन्वेषण से यह पाया गया है कि छोटे और संकुचित मकानों में रहनेवालो

की अपेक्षा बड़े मकानों में रहनेवाले बच्चे, जिनमें कमरों की संख्या अधिक होती है, तन्दुरुस्त और रोगमुक्त होते हैं।

धन के अभाव से अन्य सब अवगुण उत्पन्न हो जाते है। इसी कारण धनाढ्य लोगों की अपेक्षा मध्यम श्रेणी तथा निर्धन व्यक्तियों में बालमृत्यु की संख्या इतनी अधिक पाई जाती है।

बालमृत्यु के साथ-साथ प्रसव से मातृ-मृत्यु भी बहुत अधिक होती है। बङ्गाल में यह अनुमान लगाया गया है कि प्रति सौ प्रसव में कम से कम एक स्त्री की मृत्यु अवश्य होती है। संभव है संख्या इससे भी अधिक हो। इसका कारण अशिक्षित दाइयाँ होती हैं, जो अपने गन्दे हाथों से संक्रमण को योनि और गर्भाशय में प्रविष्ट करती हैं। शिक्षा का साधारण जनता में अभाव भी इसका एक मुख्य कारण है जिससे अन्ध-विश्वास और हानिकारक कुरीतियों का त्याग नहीं होने पाता।

मातृ-जीवन की रक्षा करने के लिए शिक्षित दाइयों की नियुक्ति और अशिक्षित दाइयों का निषेध अत्यन्त आवश्यक है। स्त्री प्रसव द्वारा जाति की सेवा करती और अपने धर्म का पालन करती है। ऐसी दशा मे यह जाति का कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह प्रसव का उचित प्रबन्ध करे; सुशिक्षित दाइयों द्वारा प्रसव के समय पूर्ण सहायता दे और माता और बच्चे की रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करे। मातृ और शिशु-संरक्षण एक दूसरे के साथ अभिन्नतया सम्बद्ध हैं।

बच्चे का स्वास्थ्य और उसका जीवन कई बातों पर निर्भर करता है जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(१) माता और पिता की जीवनचर्य्या और उनका स्वास्थ्य। स्वास्थ्य सदा जीवनचर्य्या पर निर्भर करता है। जिनकी दिनचर्य्या उत्तम और उपयुक्त होती है वह रोगों और हानिकारक प्रभावों से बचे रहते हैं और उनका स्वास्थ्य भी उत्तम होता है। ऐसे माता-पिता की सन्तान भी उत्तम और दीर्घजीवी होती है।

(२) गर्भ के समय में भावी माता के स्वास्थ्य की देख-रेख—गर्भ के समय में माता को उचित पौष्टिक भोजन, जो गरिष्ठ न हो, मिलना

चाहिए। उसके भोजन मे तरल वस्तुओं और फलों का अधिक भाग रहना चाहिए। दूध अत्युत्तम वस्तु है। भोजन के अतिरिक्त चिन्ता से पूर्ण मुक्ति होनी चाहिए। इस समय में परिश्रम करने का गर्भ पर बुरा प्रभाव पड़ता है। नित्य प्रति कुछ व्यायाम, जैसे टहलना, स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। किन्तु कठिन परिश्रम, जैसे श्रमजीवी व्यक्तियों को अपने जीवनोपार्जन के लिए करना पड़ता है, अनुचित है।

(३) प्रसव का उचित प्रबन्ध—शिक्षित दाइयों द्वारा प्रसव का प्रबन्ध होना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए बने हुए अस्पतालो मे प्रसव करवाना अत्युत्तम है। वहाँ पर सुशिक्षित स्त्री-डाक्टर और परिचारिकाएँ नियुक्त होती है और प्रत्येक बात की ओर पूर्ण ध्यान दिया जाता है।

(४) प्रसव के पश्चात् माता और बच्चे की देख-भाल—प्रसव के पश्चात् कम से कम बीस दिन तक माता को पूर्ण विश्राम करना चाहिए। दो मास तक परिश्रम करना उचित नहीं है। इससे पूर्व अपना काम आरम्भ कर देने से बच्चे को जितनी शुश्रूषा की आवश्यकता होती है वह नहीं की जा सकती।

(५) बच्चे के भोजन का उचित प्रबन्ध—जहाँ तक हो सके, बच्चे को माता के दूध के अतिरिक्त किसी प्रकार का भोजन न मिलना चाहिए।

बाल तथा मातृ-रक्षा के उपाय

(१) शिक्षा—बाल तथा मातृ-मृत्यु के कारण पूर्व में बताये जा चुके है। बच्चों के जीवन की रक्षा करने के लिए उन सबों को दूर करना आवश्यक है। शिक्षा की सबसे बड़ी आवश्यकता है जिससे प्राचीन अन्धविश्वास और कुरीतियाँ दूर हो। बाल-विवाह को केवल शिक्षा ही के द्वारा दूर किया जा सकता है। समाज-सुधारकों का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे बाल-विवाह और अयोग्य व्यक्तियों के विवाहों के विरुद्ध प्रचार करें। साधारण शिक्षा के साथ कुरीतियों को दूर करने का भी प्रयत्न होना चाहिए। पाठ-शालाओं के अध्यापकों को यह आज्ञा होनी चाहिए कि समय-समय पर वह बालकों को साधारण सामाजिक कुरीतियों से होनेवाली हानि और उनको दूर

करने के उपायों को भी बतलाते रहे। स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा का प्रचार बहुत आवश्यक है। छोटी कक्षाओं की पाठविधि में स्वास्थ्य-सम्बन्धी छोटे-छोटे पाठ सम्मिलित होने चाहिएँ। ऊँची कक्षाओं मे स्वास्थ्य-सम्बन्धी बड़ी पुस्तकें पढ़ाई जावें। ग्राम इत्यादि मे समाज-सुधारक संस्थाओं की ओर से समय-समय पर इस प्रकार के लेक्चर तथा प्रदर्शिनी होनी चाहिएँ जिनके द्वारा वहाँ की जनता को स्वास्थ्य और शिशु-संरक्षण-सम्बन्धी बातें बताई जावें।

(२) **स्वास्थ्य-निरीक्षक**—माताओं की अनभिज्ञता को दूर करने के लिए स्वास्थ्य-निरीक्षकों की नियुक्ति होनी चाहिए। इनका कार्य घरों में जाकर भावी माताओं को उनका कर्त्तव्य बताना और उनके स्वास्थ्य की देख-भाल करना है। ये शिक्षित अनुभवी और सदाचारी स्त्रियाँ होनी चाहिएँ जिनको धातृ तथा बालपोषण की शिक्षा के साथ-साथ रोग-सम्बन्धी भी कुछ शिक्षा मिल चुकी हो। इनको अपने काम मे पूरी रुचि होनी चाहिए और सेवा-भाव से उनको कार्य करना चाहिए। उनके कार्य की सफलता उनके कौशल और अशिक्षित समुदाय के साथ सहानुभूति-युक्त व्यवहार पर निर्भर करती है। इनका कार्य अत्यन्त पवित्र और जाति-सेवा का है और वह अपने को देश और जाति के लिए अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित कर सकती हैं।

प्रत्येक नगर मे एक पूर्ण शिक्षित अनुभवी बाल-संरक्षक के अधीन कई स्वास्थ्य-निरीक्षक स्त्रियाँ होनी चाहिएँ। इनमें से प्रत्येक निरीक्षक के सुपुर्द नगर के कुछ मुहल्ले हो। किन्तु इन मुहल्लों की संख्या केवल इतनी होनी चाहिए जिनमे निरीक्षक सहज में पहुँचकर वहाँ के निवासियों की देख-रेख कर सके। अपने अपने मुहल्ले में रहनेवाली गर्भवती स्त्रियों के स्वास्थ्य का निरीक्षण इन निरीक्षकों का कार्य्य होना चाहिए। स्त्री के गर्भवती होते ही निरीक्षक का उत्तरदायित्व प्रारम्भ हो जाता है। निरीक्षक को उस स्त्री के पास समय-समय पर जाकर उसको भोजन, व्यायाम, विश्राम इत्यादि की शिक्षा देनी चाहिए। स्त्री को किस प्रकार का भोजन लाभदायक है; किससे उसको तथा गर्भ को हानि पहुँच सकती है, उसकी जीवनचर्या कैसी होनी चाहिए, इत्यादि बातो का स्त्री को ज्ञान कराना चाहिए। प्रसव के पश्चात्

बच्चे का पोषण किस प्रकार करना चाहिए, बच्चे का भोजन, वस्त्र, स्नान, उद्वर्त्तन इत्यादि भिन्न-भिन्न विषयों सम्बन्धी शिक्षा देना भी निरीक्षक का कार्य्य है। यदि प्रसव से पूर्व स्त्री का स्वास्थ्य बिगड़ जावे तो उसकी चिकित्सा का उचित आयोजन करना निरीक्षक का कर्त्तव्य है।

प्रसव के लिए भी निरीक्षक ही उत्तरदायी है। यदि वह स्त्री को अस्पताल में ले जाकर प्रसव का वहाँ प्रबन्ध करा सके तो अत्युत्तम है। नहीं तो उसको किसी धातृविद्या-शिक्षित दाई को नियुक्त कर देना चाहिए। यदि प्रसव मे किसी उपद्रव की आशङ्का हो तो उसको नगर के उस विभाग के लिए नियुक्त डाक्टर की सलाह से काम करना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो स्त्री को तुरन्त किसी उत्तम अस्पताल में भेजने का प्रबन्ध करना चाहिए जहाँ धातृविद्या के विशेषज्ञ डाक्टर नियुक्त हों।

प्रसव के पश्चात् निरीक्षक को माता और बच्चे दोनों की देख-भाल करनी पड़ती है। दोनों के स्वास्थ्य की रक्षा उसका उद्देश होता है। इस कारण उसको ऐसे भोजन की सलाह देनी चाहिए जिससे दूध अधिक उत्पन्न हो और शरीर भी बलवान् हो। जहाँ तक हो सके, बच्चे को माता का ही दूध मिलना चाहिए। छः मास तक माता के दूध के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थों का निषेध होना चाहिए। किन्तु यदि माता के दूध नहीं होता अथवा बहुत कम होता है तो गौ अथवा बने हुए दूध का प्रबन्ध करना होगा। ऐसी दशा में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। ऊपर का दूध बाल-जीवन के लिए अत्यन्त आपत्तिजनक है। किन्तु केवल आवश्यकता के कारण उसका प्रयोग करना पड़ता है। अतएव निरीक्षक को उचित है कि वह ऊपरी दूध के प्रयोग की हानियों को बताकर उसके सम्बन्ध में सावधान होने की आवश्यकता को समझा दे। इतना ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत बच्चे की आयु के अनुसार गौ के दूध में जल, शर्करा, इत्यादि की उचित मात्रा मिलाकर उसको तैयार करने की रीति भी बतानी चाहिए। निरीक्षक के पास छपे हुए कार्ड होने चाहिएँ जिन पर भिन्न-भिन्न आयुवाले बच्चों के लिए उपयुक्त दूध बनाने की विधि लिखी हो। प्रत्येक माता को एक-एक कार्ड दे देना चाहिए। निरीक्षक

को स्वयं देखना चाहिए कि उसकी आज्ञाओं का पालन होता है या नहीं। इसी प्रकार उसको बच्चे के वस्त्र, स्नान, शयन, शयनागार, व्यायाम, उद्वर्त्तन इत्यादि की भी शिक्षा देनी चाहिए। उसको बच्चे के शरीर-भार को समय-समय पर लेते रहना चाहिए। यदि उसमे उचित वृद्धि नहीं हो रही है तो उसके कारण को मालूम करना चाहिए। बच्चे के रोगग्रस्त होने पर उसकी चिकित्सा का उचित आयोजन करना भी निरीक्षक का कार्य्य है।

इस प्रकार निरीक्षक के कर्तव्य अत्यन्त उत्तरदायित्व के हैं। इस कारण उपयुक्त व्यक्तियों ही को इस कार्य के लिए नियुक्त करना चाहिए। और उनको वेतन और सुविधाएँ पर्याप्त देनी चाहिएँ।

(३) मातृगृह—प्रत्येक नगर में कम से कम एक और यदि आवश्यक हो तो कई ऐसे गृह या अस्पताल होने चाहिएँ जहाँ स्त्रियाँ प्रसव के लिए जा सके। यहाँ शिक्षित लेडी डाक्टर नियुक्त होनी चाहिएँ। इन स्थानों में ऐसा प्रबन्ध हो कि नाम मात्र फ़ीस देने पर जनता को सब प्रकार की सुविधा मिल सके। यद्यपि इस प्रकार के अस्पताल कई नगरों में हैं किन्तु उनमें सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं है। निर्धन व्यक्तियों को प्रायः बहुत कठिनाई उठानी पड़ती है।

जनता में इन संस्थाओं को सर्वप्रिय बनाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए जिससे अधिक व्यक्ति वहाँ पर आकर लाभ उठा सकें। घरों में प्रसव में स्वच्छता और अन्य सब बातों का उचित आयोजन अत्यन्त कठिन होता है।

(४) शिशु-संरक्षण केन्द्र—योरप तथा अमरीका में इस प्रकार की अनेकों संस्थाएँ हैं जिनका उद्देश्य बच्चों की रक्षा करना है। यहाँ समय-समय पर स्त्रियों को उनके रहन-सहन और बच्चों के पालन-पोषण सम्बन्धी शिक्षा दी जाती है। जादू की लालटेन से तस्वीरें भी दिखाई जाती हैं। प्रत्येक केन्द्र में एक विशेष पाठ-प्रणाली बना ली जाती है जिसके अनुसार बालरक्षण-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों पर अनुभवी विशेषज्ञ डाक्टरों से लेक्चर दिलवाये जाते हैं। इन लेक्चरों के समय और क्रम की पहिले ही से सूचना दे दी जाती है। स्त्रियाँ बहुत संख्या में वहाँ आकर लेक्चरों को

सुनती है और इसी सम्बन्धी प्रदर्शनो को, जिनको लेक्चरों के साथ दिखाया जाता है, देखती है। इन केन्द्रो में प्रायः अनुभवी बाल-चिकित्सा-विशेषज्ञ डाक्टर भी नियुक्त होते हैं जो रोगग्रस्त बच्चो की चिकित्सा का आयोजन करते है।

यह संस्थाएँ योरुप मे बहुत सफल प्रमाणित हुई हैं और इनके द्वारा जाति की अत्यंत सराहनीय सेवा हुई है।

(५) **शिशु-चिकित्सालय**—बच्चो की चिकित्सा के लिए विशेष अस्पताल होने चाहिएँ जहाँ केवल बाल-चिकित्सा-निपुण डाक्टर नियुक्त हो। शिशु-संरक्षण-केन्द्रों के साथ ही इन चिकित्सालयों को बनाया जा सकता है। इससे अस्पताल ही के डाक्टर संरक्षण-केन्द्रों का भी काम कर सकते हैं।

(६) जो स्त्रियां कारखानों में काम करके अपना जीवनोपार्जन करती है उनको बच्चो के पालन में बड़ी कठिनता होती है। दिन भर उनको बच्चे की देख-रेख करने के लिए समय नहीं मिलता। उनके बच्चे किसी पडोसी या सम्बन्धी के आश्रित रहते हैं। ऐसे बच्चों के लिए योरप में, जहाँ कारखाने और दफ़्रों में काम करनेवाली स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक है, 'डे-नर्सरी' बनाई गई है। यह खुले हुए स्थान होते है जहाँ एक खंड का एक मकान होता है। इन स्थानो मे एक मुख्य परिचारिका, जिसको मैट्रन कहते हैं, और कई अन्य परिचारिकाएँ नियुक्त होती है। जो स्त्रियाँ अपने बच्चो की देख-भाल नहीं कर सकतीं वे बच्चों को इन स्थानो में छोड़ जाती है जहाँ परिचारिकाएँ उनकी देख-भाल करती है। बच्चों के भोजन, वस्त्र, खेल, इत्यादि सब बातो का वहीं प्रबन्ध होता है। जो बालक अधिक आयु के होते हैं उनके पढ़ाने का भी प्रबंध होता है।

हमारे देश मे इस प्रकार का प्रबन्ध होना बहुत आवश्यक है। कितने व्यक्ति अपनी निर्धनता और अज्ञानता के कारण बच्चो का उचित पालन नहीं कर सकते। विशेषकर बड़े नगरो में इनकी बहुत आवश्यकता है।

(७) जैसा बालमृत्यु के कारणों में बताया जा चुका है, अशिक्षित दाइयों के कारण मातृ और बाल जीवन दोनों का नाश होता है। इस कारण सुशिक्षित दाइयों की नियुक्ति और अशिक्षित दाइयों का निषेध अत्यन्तावश्यक है। इसके लिए सरकार की ओर से नियम होना चाहिए

कि अशिक्षित दाइयाँ प्रसव न करा सकें। पश्चिमी देशों में इस प्रकार का सरकारी नियम है। किन्तु हमारे देश मे ऐसा कोई नियम नहीं है। इस कारण प्रत्येक जाति की स्त्री दाई का काम कर सकती है। प्रायः नीच जाति की स्त्रियाँ ही इस काम को करती है क्योंकि यह नीच कर्म समझा जाता है। इससे जाति और देश को जो हानि पहुँच रही है वह स्पष्ट है।

(८) **बाल-प्रदर्शिनी**—शिक्षा के साथ-साथ अन्य उपायों से भी जनता को शिशु-स्वास्थ्य की ओर उचित ध्यान देने के लिए उत्तेजित करना चाहिए। इसके लिए बाल-प्रदर्शिनी बहुत उपयोगी है। जिन बच्चों का उत्तम स्वास्थ्य हो उनको किसी प्रकार का पारितोषिक देने से जनता का उत्साह बढ़ता है। साथ में बाल-स्वास्थ्य का प्रचार भी हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार की प्रदर्शिनियाँ हमारे देश में स्थान-स्थान में होने लगी है, किन्तु वे अभी तक उतनी सर्वप्रिय नहीं हुई हैं जितनी होनी चाहिएँ।

(९) बाल-रक्षा-सम्बन्धी आयोजनों मे सबसे बड़ा प्रश्न बच्चों के भोजन का है। जिनको माता का दूध नहीं मिलता उन बच्चों को पद-पद पर भयंकर आपदाओं का सामना करना पड़ता है। जिस प्रकार से हमारे देश मे दूध रखा जाता है और बच्चों को दिया जाता है उसको देखते हुए यह आश्चर्य की बात है कि बच्चों की अधिक संख्या रोगग्रस्त नहीं होती। वास्तव में दूध को शुद्ध रखना अत्यन्त कठिन है। विशेषकर गर्मी और वर्षा ऋतु में तो असंभव ही सा है।

पश्चिमी देशों ने इस प्रश्न को भी हल किया है। बड़ी-बड़ी दुग्ध-शालाओं में भिन्न-भिन्न आयु के बच्चों के लिए शर्करा, जल इत्यादि की उचित मात्रा मिलाकर उपयुक्त दूध तैयार किया जाता है। इस दूध का विसंक्रामण करके उसको जल से उबालकर शुद्ध की हुई बोतलों मे भर दिया जाता है। इनके मुख पर रबड़ की इस प्रकार की डाट लगी रहती है कि उससे बच्चा दूध पी सकता है। उसको बोतल से हटाने की आवश्यकता नहीं होती। दूध का भरना, बोतलों का विसंक्रामण, डाट लगाना इत्यादि सब मेशीनों द्वारा होता है। इस प्रकार बच्चे को उसके आवश्यकतानुसार संगठन का पूर्णतया शुद्ध दूध मिल जाता है। इन दुग्धशालाओं को केवल इतना लिख

देना होता है कि बच्चा अमुक आयु का है। कर्मचारीगण स्वयं उचित प्रकार के दूध को घर पर पहुँचा देते हैं। इन दुग्धशालाओं में डाक्टर और रासायनज्ञ नियुक्त होते हैं जो समय-समय पर गौओं और दूध की परीक्षा करते रहते हैं। यदि कोई गौ रोगग्रस्त होती है तो उसको पृथक् कर दिया जाता है।

दूध का इस प्रकार का प्रबन्ध बालजीवन के लिए ईश्वरीय देन के समान है। बच्चा कितनी ही आपदाओं से बच जाता है। हमारे देश में इस प्रकार के प्रबन्ध की कितनी आवश्यकता है इसका अनुमान किया जा सकता है। जहाँ बाल-मृत्यु-संख्या इतनी भयानक हो, वहाँ जो कुछ भी किया जा सके कम है। सौ में निन्नानवे बच्चे उदर-सम्बन्धी रोगों से मरते हैं। जो दूसरे रोगों का ग्रास बनते हैं वह भी पाचन के विकारों के कारण पहिले से अस्वस्थ होते हैं। उत्तम दूध से उनके शरीर बलवान् और दृढ़ होते हैं और वह अन्य रोगों का भी सहज में निवारण कर सकते हैं।

(१०) निर्धनता के कारण हमारे देश की कितनी ही जनता को अपर्याप्त भोजन पर निर्वाह करना पड़ता है। गर्भकाल मे स्त्री को पौष्टिक उत्तम भोजन मिलना अत्यन्तावश्यक है। उत्तम भोजन न मिलने से न केवल बच्चे ही के किन्तु स्त्री के शरीर पर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी यह प्रभाव जीवन-पर्यन्त बना रहता है। इस कारण स्त्रियों को उत्तम और उपयुक्त भोजन मिलना अत्यन्त आवश्यक है। शिशु-संरक्षक केन्द्रों मे ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि समय-समय पर, सप्ताह में एक या दो बार, गर्भवती स्त्रियों को नाम मात्र मूल्य पर उपयुक्त भोजन दिया जावे। इससे उनको बहुत लाभ होगा। योरप के देशों में इस प्रकार का प्रबन्ध किया गया है और उससे बहुत सफलता हुई है।

देश और जाति के हित के लिए बाल-संरक्षण की एक पूरी आयोजना बनाकर उसके अनुसार कार्य्य करना चाहिए। इसमें व्यय अवश्य अधिक होगा, किन्तु प्रश्न के महत्त्व को देखते हुए यह व्यय अत्यन्त तुच्छ है। देश का सारा भविष्य जाति के बच्चों पर निर्भर करता है। उनके जीवन की रक्षा के लिए किसी भी वस्तु का मूल्य बहुत अधिक नहीं है।

पचीसवाँ परिच्छेद

ग्राम-स्वास्थ्य-सुधार

हमारा देश कृषि-प्रधान होने से अस्सी प्रतिशत मनुष्य ग्रामों में रहते हैं। प्रत्येक ग्राम में कुछ कच्चे मकान होते हैं जिनकी संख्या भिन्न-भिन्न ग्रामों मे भिन्न होती है। किसी-किसी ग्राम मे एक-दो पक्के मकान भी होते हैं। इन मकानों के बीच में संकीर्ण आने-जाने का मार्ग होता है जिसको कभी स्वच्छ नहीं किया जाता। मकानों को झाड़ने से जो कूड़ा निकलता है वह मकानों के पीछे फेंक दिया जाता है। इस कारण प्रत्येक मकान के पीछे कूड़े के ढेर पड़े रहते हैं जिन पर कुछ समय में घास वृक्ष इत्यादि उग आते है। यहीं पर गौ भैंस इत्यादि पशु भी बँधे रहते है। अतएव गन्दगी के कारण यहाँ मक्खी, मच्छर तथा अन्य कृमि उत्पन्न होकर रोग फैलाते रहते है।

ग्रामों में मल-त्याग का भी कोई विशेष प्रबन्ध नहीं होता। ग्राम-निवासी प्रायः खेतों में मल त्याग करते हैं जहां मल खाद का काम करता है। कुछ समय में मल शुष्क होकर भूमि में मिल जाता है और उसकी उपजाऊ शक्ति को बढ़ाता है। ग्रीष्म और शीत ऋतु मे तो उससे कोई विशेष हानि नहीं होती। सूर्य्य-प्रकाश से मल शुष्क होकर भूमि में मिल जाता है। किन्तु वर्षा ऋतु में मल सड़ने लगता है। वर्षा के आधिक्य से कभी-कभी मल जल के साथ बहकर तालाब या बावड़ी में पहुँच जाता है। ग्राम-निवासियों का स्वभाव होता है कि मल त्याग के पश्चात् स्वच्छता के लिए पोखर, तालाब, बावड़ी इत्यादि पर चले जाते हैं। वहीं वह कुल्ला दाँतून करते हैं। इस अभ्यास से रोगों के जीवाणु जल में पहुँचकर रोग फैला सकते हैं।

इन सब दोषों के होते हुए भी, जिनके लिए ग्राम-निवासी-गण उत्तर-दायी नहीं हैं, वह अपने मकानों को भीतर से स्वच्छ रखते हैं और सुख की

स्वच्छता की ओर विशेष ध्यान देते है। किन्तु शिक्षा के अभाव के कारण सामुदायिक स्वच्छता का उनको ज्ञान नहीं होता। इसी कारण जब कोई रोग फैलता है तो सबसे अधिक मृत्यु ग्रामो ही मे होती हैं। ग्रामीण बच्चो को नेत्र, नासिका और गले के अधिक रोग होने का भी यही कारण होता है।

ग्रामों में सामाजिक सुधारों के साथ-साथ स्वास्थ्य-सम्बन्धी सुधार होना भी अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु अन्य सुधारो की भाँति इसमें कठिनाइयाँ भी बहुत हैं। जहाँ इन सुधारों के आयोजन का उत्तरदायित्व सरकार और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों पर है वहाँ जनता के सहयोग के बिना सफलता होना असंभव सा है। अतएव दो बातो की आवश्यकता है :—(अ) स्वास्थ्य-शिक्षा का प्रचार और (क) स्वास्थ्य-सम्बन्धी आयोजनों को करने के लिए किसी संस्था की स्थापना।

अ—**स्वास्थ्य-शिक्षा का प्रचार**—जैसा कई बार संक्रामक रोगों के सम्बन्ध मे कहा जा चुका है, हमारे देश मे स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। यहाँ साधारण और बाल दोनों मृत्यु-संख्या अत्यन्त अधिक है; और उनका बहुत बड़ा कारण व्यक्तिगत अनभिज्ञता है। प्राचीन अन्ध-विश्वास भी इसमें पूर्ण सहयोग देता है। विशूचिका, मसूरिका, आंत्रिक ज्वर, मलेरिया इत्यादि ऐसे रोग हैं जो रक्षा के उपायों का ज्ञान होने से रोके जा सकते हैं। केवल उनका ज्ञान न होने के कारण प्रति वर्ष उनसे इतने अधिक व्यक्तियों की मृत्यु होती हैं। ऐसी दशा में ऐसी शिक्षा का प्रचार न करना तथा ऐसे साधनों का अनुपयोग, जिनसे जाति का निरन्तर क्षय रुके, पाप है। रोगों को रोकने के लिए केवल कुछ व्यक्तियों का शिक्षित तथा उद्योगरत होना पर्याप्त नहीं है। इस युद्ध में सारी जाति के भाग लेने की आवश्यकता है। इसकी सफलता सारी जाति के सहयोग पर निर्भर करती है। यह तभी हो सकता है जब साधारण शिक्षा के साथ-साथ स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा पूर्णतया फैल चुकी हो।

शिक्षा-प्रचार के दो अभिप्राय होने चाहिएँ। एक, प्रत्येक व्यक्ति को उसके व्यक्तिगत स्वास्थ्य को उत्तम दशा में रखना, जिससे उसका शारीरिक बल बढ़े

और रोग-निवारण-शक्ति उन्नत हो। दूसरे प्रत्येक व्यक्ति सामुदायिक योजनाओं के महत्त्व को समझकर पूर्ण सहयोग दे; सामाजिक स्वास्थ्य की महत्ता को समझे और कोई ऐसा काम न करे जिससे समाज को किसी प्रकार की क्षति पहुँचे।

स्वास्थ्य-शिक्षा का प्रचार करने के लिए उन सब साधनों का उपयोग करना चाहिए जिनका कई रोगों के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है। संक्षेपतया यह निम्नलिखित हैं :—

(१) स्कूल और पाठशालाओं की पाठ-विधि में स्वास्थ्य सम्बन्धी छोटी-छोटी पुस्तकें सम्मिलित होनी चाहिएँ। प्रारम्भिक कक्षाओं से लेकर स्कूल की उच्चतम श्रेणियों तक यह पुस्तकें क्रमानुसार पढ़ाई जावें। छोटी पुस्तकों में, जो केवल प्रारम्भिक कक्षाओं के लिए हो विषय के अत्यन्त साधारण नियम, रोचक रूप में, लिखे रहें। इन पुस्तकों का क्रम ऐसा हो कि उच्चतम कक्षा के विद्यार्थियों को विषय का पूरा ज्ञान हो जाये। इन पाठ्य पुस्तकों में विषय की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिए कि विद्यार्थी पुस्तकों से प्राप्त ज्ञान को अनभिज्ञ जनता में फैलाने में प्रवृत्त हों और उसको देश-सेवा समझकर अपना धर्म मानें।

(२) ग्रामों की पाठशालाओं और स्कूलों में जो अध्यापक नियुक्त हो वह स्वास्थ्य-विज्ञान में शिक्षित हो और समय पर बालकों को उदाहरण, कहानी, खेल, प्रदर्शिनी के रूप में स्वास्थ्य की शिक्षा देते रहें। इसके लिए कौशल की आवश्यकता है। प्रथम बालकों में रुचि उत्पन्न करना चाहिए जिससे उनको शिक्षा भार न मालूम हो।

(३) इन शिक्षकों का यह भी काम होना चाहिए कि वह समय-समय पर ग्रामवालों को एकत्र करके उनको स्वास्थ्य-नियम बतावें; उनकी महत्ता और लाभों का भली भाँति उपदेश दें। स्वस्थ जीवन से किस भाँति शारीरिक शक्ति बढ़ती है और उससे जीवनोपार्जन में उन्नति होती है, यह भी बताना चाहिए। इन उपदेशों में दिखाने के लिए चित्र, मानचित्र, नमूने इत्यादि भी प्रयोग करने चाहिएँ। उनसे दर्शकों की रुचि बढ़ती है।

(४) डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के स्वास्थ्याध्यक्ष तथा उसके अधीनस्थ कर्मचारी इंसपेक्टर इत्यादि समय-समय पर ग्रामों मे जाकर स्वास्थ्य-सम्बन्धी विषयों पर लेक्चर दें और साथ में मैजिक लालटेन के साथ तस्वीरें भी दिखावें। इन तस्वीरों से जनता पर बहुत प्रभाव होता है और वह लेक्चर सुनने के लिए भी आकर्षित होती है। लेक्चर देनेवाले को जहाँ तक हो सके ग्रामीणजनों को उन्हीं की भाषा में इस प्रकार समझाना चाहिए कि वह सहज में सब समझ लें। उनसे किसी गूढ़ विषय के समझने की आशा नहीं की जा सकती। इन लेक्चरों मे उनको रोगो की उत्पत्ति, उनके फैलने के कारण, लक्षण, रोग को रोकने के उपाय तथा उपायों का उपयोग न करने के परिणाम सब भली भाँति समझाने चाहिएँ। वैयक्तिक तथा सामाजिक स्वास्थ्य-वृत्त का भी महत्त्व बताना चाहिए।

(५) स्वास्थ्य-विभाग की ओर से स्वास्थ्य-सम्बन्धी छोटे-छोटे लेख सामान्य भाषा मे छपवाकर बँटवाने चाहिएँ। रोगों के फैलने के समय में विशेषकर ऐसा करना आवश्यक है। इसी विषय के छोटे-छोटे विज्ञापन छपवाकर यतस्ततः लगवा दिये जावें। समाचार-पत्रों में भी इस विषय के लेख निकाले जावें।

(६) सफ़री चिकित्सालयों के डाक्टरों से भी इस सम्बन्ध मे बहुत सहायता मिल सकती है। उन लोगो को जनता के सम्पर्क में आने का बहुत अवसर मिलता है।

(७) स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रदर्शिनी का ग्रामों में समय-समय पर आयोजन करना चाहिए। उसमें उपयोगी वस्तुएँ तथा मिट्टी के बने हुए स्वास्थ्य सम्बन्धी नमूने दिखाये जावें। बाल-प्रदर्शिनी भी इसी के साथ की जा सकती है। मैजिक लालटेन के साथ सम्भाषणों का भी प्रबन्ध कर देना उत्तम है। ग्रामनिवासियो के लिए यह एक बड़ा मेला हो जावेगा और वह बड़े चाव से भाषणो को सुनने आवेंगे।

क—ग्राम-सुधार का कार्य इतना बड़ा और इतने महत्त्व का है कि उसके लिए सरकार और जनता की ओर से एक भिन्न विभाग होना चाहिए। योरप, अमरीका आदि देशो में युवा तथा वृद्ध ग्रामवासियों की शिक्षा का

भी प्रबन्ध कर दिया गया है। बेतारवर्क़ी से इसमें विशेष सहायता ली गई है। उनके लिए विशेष प्रकार के स्कूल बनाये गये हैं। हमारे देश में इन सब सुधारो और उन्नति के आयोजनों की पश्चिमी देशों से भी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि हमारा देश कृषि-प्रधान होने से जनता की बहुत बड़ी संख्या ग्रामो ही में रहती है।

इस विभाग का कार्य ग्रामों मे स्वास्थ्य के साधनो की आयोजना और उनकी देख-रेख होना चाहिए। अभी तक यह काम डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के अधीन है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्वास्थ्याध्यक्ष का यह काम है कि वह ग्रामो की देख-रेख करे। सन् १८९२ के संयुक्त प्रान्त के Village Sanitation Act के अनुसार ज़िले के कलेक्टर और डिप्टी-डाइरेक्टर-आफ़-पब्लिक-हेल्थ को उन ग्रामो की, जिनमे कम से कम २००० व्यक्ति रहते हों, जल-वितरण का नियंत्रण तथा रोगो के फैलने पर उनको रोकने का प्रबन्ध करना चाहिए। किन्तु यह क़ानूनी और सरकारी योजनाएँ नहीं होने के बराबर हैं। जब कभी रोग के मरक फैलते है तो ज़िले का स्वास्थ्याध्यक्ष वहाँ आकर देख-भाल करता है। किन्तु जिस समय रोग नही रहता उस समय स्वच्छता आदि का कोई प्रबन्ध नहीं होता। वस्तुतः ग्रामो मे जल, भोजन, मलदूरीकरण इत्यादि की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि नगरों में। वहाँ पर भी शौच-स्थानों का निर्माण, मलदूरीकरण का प्रबन्ध, भोजन का नियंत्रण, कुँवें तथा अन्य जलाशयो की शुद्धि इत्यादि नगरो ही की भाँति करने चाहिएँ।

यह काम डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सन्तोषपूर्वक नहीं कर सकता। इस काम के लिए एक नवीन संस्था या विभाग की स्थापना करनी होगी। आठ या दस गाँवों को मिलाकर उनकी एक म्यूनिसिपैलिटी या पञ्चायत बनाई जा सकती है। इस पञ्चायत का कार्य होगा कि वह स्वास्थ्य-सम्बन्धी योजनाओं को करे। देख-रेख करने के लिए एक स्वास्थ्याध्यक्ष और उसके अधीन कुछ कर्मचारियों की नियुक्ति आवश्यक होगी। कुछ अन्य प्रबन्ध भी करने पड़ेंगे। इनमें व्यय अवश्य अधिक होगा, किन्तु जाति के हित के लिए यह व्यय करना सरकार का धर्म है।

ग्रामों में स्वास्थ्य-सुधार के वही सिद्धान्त है जो नगरों में। ग्राम-निर्माण, वासस्थान, जल-प्राप्ति, भोजन, मलदूरीकरण, इत्यादि का नगरो ही की भाँति प्रबन्ध करने की आवश्यकता है। इनका संक्षेप से नीचे उल्लेख किया जाता है। यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न स्थानों में वहाँ की परिस्थिति और आवश्यकताओं के अनुसार योजनाओ मे भिन्नता करनी पड़ेगी।

ग्राम-निर्माण—ग्राम-निर्माण में विशेष क्रम होना चाहिए। इसकी अनुपस्थिति से गाँव को स्वच्छ रखना असम्भव है। मकान क्रमानुसार एक पंक्ति में बनाये जायँ। उनके सामने की ओर पचीस या तीस फुट चौड़ी सड़क छुटी रहे। इसी प्रकार उनके पीछे की ओर भी सोलह से बीस फुट तक स्थान छोड़ देना आवश्यक है। मकानों के बीच मे दस या बारह फुट स्थान छोड़ देना चाहिए। इन मकानों को बनाने में उन सब नियमों का पालन करना उचित है जिनका पहिले वर्णन किया जा चुका है। मकान की नींव और उसकी स्थिति पर विशेष ध्यान दिया जाय। फ़र्श भूमि से कम से कम एक फुट ऊँचा हो। इन मकानों में कम से कम दो भाग होने चाहिएँ। वह भाग, जिसमे पशु रहें, मकान के रहने के भाग से पृथक् हो। सबसे उत्तम तो यह है कि पशुओं को रहने के मकानों में न रखकर खेतो पर रक्खा जावे।

मकान के रहने के भाग में व्यजन का पूर्ण प्रबन्ध हो। प्रत्येक कमरे में कम से कम एक खिड़की हो जो फ़र्श के क्षेत्रफल के बारहवें भाग से कम न हो। छत के पास निकास द्वार होने चाहिएँ। यदि पशुओं का निवास-स्थान भी रहने के भाग के पास ही हो तो वह पूर्णतया खुला होना चाहिए। एक ओर को ग्रीष्म ऋतु में धूप से पशुओं के बचने के लिए एक छप्परदार स्थान होना चाहिए।

ग्राम के दूसरे भाग में मकानों से कुछ दूरी पर भोज्य पदार्थों के विक्रय के लिए एक स्थान नियुक्त हो। इस स्थान को स्वच्छ रखने के लिए विशेष प्रबन्ध की आवश्यकता है। यहाँ पर जल का विशेष प्रबन्ध हो जिससे स्थान स्वच्छ रक्खा जा सके। ग्राम में खेल-कूद, दंगल, मेले तथा अन्य मनोरञ्जन के लिए भी स्थान नियुक्त होना चाहिए।

भी प्रबन्ध कर दिया गया है। बेतारवर्की से इसमें विशेष सहायता ली गई है। उनके लिए विशेष प्रकार के स्कूल बनाये गये हैं। हमारे देश में इन सब सुधारों और उन्नति के आयोजनों की पश्चिमी देशों से भी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि हमारा देश कृषि-प्रधान होने से जनता की बहुत बड़ी संख्या ग्रामों ही में रहती है।

इस विभाग का कार्य ग्रामों में स्वास्थ्य के साधनों की आयोजना और उनकी देख-रेख होना चाहिए। अभी तक यह काम डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के अधीन है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्वास्थ्याध्यक्ष का यह काम है कि वह ग्रामों की देख-रेख करे। सन् १८९२ के संयुक्त प्रान्त के Village Sanitation Act के अनुसार ज़िले के कलेक्टर और डिप्टी-डाइरेक्टर-आफ़-पब्लिक-हेल्थ को उन ग्रामों की, जिनमें कम से कम २००० व्यक्ति रहते हों, जल-वितरण का नियंत्रण तथा रोगों के फैलने पर उनको रोकने का प्रबन्ध करना चाहिए। किन्तु यह क़ानूनी और सरकारी योजनाएँ नहीं होने के बराबर हैं। जब कभी रोग के मरक फैलते हैं तो ज़िले का स्वास्थ्याध्यक्ष वहाँ आकर देख-भाल करता है। किन्तु जिस समय रोग नहीं रहता उस समय स्वच्छता आदि का कोई प्रबन्ध नहीं होता। वस्तुतः ग्रामों में जल, भोजन, मलदूरीकरण इत्यादि की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि नगरों में। वहाँ पर भी शौच-स्थानों का निर्माण, मलदूरीकरण का प्रबन्ध, भोजन का नियंत्रण, कुँवें तथा अन्य जलाशयों की शुद्धि इत्यादि नगरों ही की भाँति करने चाहिएँ।

यह काम डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सन्तोषपूर्वक नहीं कर सकता। इस काम के लिए एक नवीन संस्था या विभाग की स्थापना करनी होगी। आठ या दस गाँवों को मिलाकर उनकी एक म्यूनिसिपैलिटी या पञ्चायत बनाई जा सकती है। इस पञ्चायत का कार्य होगा कि वह स्वास्थ्य-सम्बन्धी योजनाओं को करे। देख-रेख करने के लिए एक स्वास्थ्याध्यक्ष और उसके अधीन कुछ कर्मचारियों की नियुक्ति आवश्यक होगी। कुछ अन्य प्रबन्ध भी करने पड़ेंगे। इनमें व्यय अवश्य अधिक होगा, किन्तु जाति के हित के लिए यह व्यय करना सरकार का धर्म है।

ग्रामो में स्वास्थ्य-सुधार के वही सिद्धान्त है जो नगरों मे। ग्राम-निर्माण, वासस्थान, जल-प्राप्ति, भोजन, मलदूरीकरण, इत्यादि का नगरो ही की भाँति प्रबन्ध करने की आवश्यकता है। इनका संक्षेप से नीचे उल्लेख किया जाता है। यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न स्थानो मे वहाँ की परिस्थिति और आवश्यकताओ के अनुसार योजनाओ मे भिन्नता करनी पड़ेगी।

ग्राम-निर्माण—ग्राम-निर्माण में विशेष क्रम होना चाहिए। इसकी अनुपस्थिति से गाँव को स्वच्छ रखना असम्भव है। मकान क्रमानुसार एक पंक्ति मे बनाये जायँ। उनके सामने की ओर पचीस या तीस फुट चौड़ी सड़क छुटी रहे। इसी प्रकार उनके पीछे की ओर भी सोलह से बीस फुट तक स्थान छोड़ देना आवश्यक है। मकानो के बीच में दस या बारह फुट स्थान छोड़ देना चाहिए। इन मकानों को बनाने मे उन सब नियमो का पालन करना उचित है जिनका पहिले वर्णन किया जा चुका है। मकान की नींव और उसकी स्थिति पर विशेष ध्यान दिया जाय। फ़र्श भूमि से कम से कम एक फुट ऊँचा हो। इन मकानों में कम से कम दो भाग होने चाहिएँ। वह भाग, जिसमें पशु रहे, मकान के रहने के भाग से पृथक् हो। सबसे उत्तम तो यह है कि पशुओ को रहने के मकानो मे न रखकर खेतो पर रक्खा जावे।

मकान के रहने के भाग में व्यजन का पूर्ण प्रबन्ध हो। प्रत्येक कमरे में कम से कम एक खिड़की हो जो फ़र्श के क्षेत्रफल के बारहवें भाग से कम न हो। छत के पास निकास द्वार होने चाहिएँ। यदि पशुओ का निवास-स्थान भी रहने के भाग के पास ही हो तो वह पूर्णतया खुला होना चाहिए। एक ओर को ग्रीष्म ऋतु में धूप से पशुओं के बचने के लिए एक छप्परदार स्थान होना चाहिए।

ग्राम के दूसरे भाग में मकानों से कुछ दूरी पर भोज्य पदार्थों के विक्रय के लिए एक स्थान नियुक्त हो। इस स्थान को स्वच्छ रखने के लिए विशेष प्रबन्ध की आवश्यकता है। यहाँ पर जल का विशेष प्रबन्ध हो जिससे स्थान स्वच्छ रक्खा जा सके। ग्राम में खेल-कूद, दंगल, मेले तथा अन्य मनोरञ्जन के लिए भी स्थान नियुक्त होना चाहिए।

जल-प्राप्ति—गाँव में पीने तथा अन्य कामों के लिए कुँवें, तालाब, नहर, नदी, स्रोत इत्यादि से जल लिया जाता है।

कुँवें के सम्बन्ध मे उन सब बातों का ध्यान रखना आवश्यक है जो पहिले बताई जा चुकी है। उथले कुँवें की अपेक्षा गहरे कुँवे उत्तम होते हैं। भीतर से यह पक्के होने चाहिएँ। यह ग्राम के एक ओर ऊँचे स्थान मे बनाये जावें। आवश्यकतानुसार कई कुँवे बनाये जा सकते हैं। इनके ऊपर प्लेटफ़ार्म ढलवाँ, ऊँचा और पक्का होना चाहिए जिसके चारों ओर एक मोरी हो। कुवें में जंज़ीर और बाल्टी लटका देना उत्तम है।

इन कुँवों की कम से कम छः महीने में एक बार अवश्य शुद्धि होनी चाहिए। कपड़े धोने, स्नान करने तथा पशुओ के स्नान की मनाही हो। पशुओं के जल पीने के लिए कुँवों के पास लम्बी हौज़ बनाई जा सकती हैं।

तालाब—गाँवो मे तालाबों को स्नान करने, पशुओ को जल पिलाने, वस्त्र धोने इत्यादि सब कामों के लिए प्रयोग किया जाता है। उसी का जल पीने के काम मे भी आता है। यह अत्यन्त निन्दनीय है। जिस तालाब से पीने का जल लिया जावे उसको उपर्युक्त रीति से शुद्ध और स्वच्छ रखना चाहिए। वहाँ पशुओं को नहलाने या स्वयं स्नान करने तथा वस्त्रों को धोने का पूर्ण निषेध हो। इन कामों के लिए दूसरा तालाब काम में लाया जावे। यदि एक ही तालाब हो तो पीने के जल के लिए एक उत्तम कुँवाँ बनाया जाय।

नहर, नदी, नाले—जहाँ तक हो सके नदी या नाले के जल का, बिना शुद्ध किये, प्रयोग न करना चाहिए। नदी, नालों का जल सदा संक्रमित होता है। किनारे के ग्राम या नगर के निवासी उनमें स्नान करते हैं, वस्त्र धोते हैं तथा पशुओं को नहलाते है जिससे जल दूषित हो जाता है।

किन्तु यदि जल का उपयोग करना ही पड़े तो गाँव के ऊपर की ओर नदी, नहर इत्यादि से जल लेना चाहिए। यहाँ पर स्नान करने तथा वस्त्रों को धोने या पशुओं के जल पीने की मनाही हो। नाव भी चलाने की आज्ञा न हो और यदि छोटी नदी या नहर हो तो गाड़ियों के नदी पार करने

की भी मनाही हो। इन सब बातों की देख-रेख के लिए एक चौकीदार की नियुक्ति होनी चाहिए। गाँव से नीचे की ओर नदी, नहर इत्यादि का स्नान करने, पशुओं को स्नान तथा जलपान कराने के लिए उपयोग किया जा सकता है। ऊपरी भाग के पास, जहाँ से पीने के लिए जल लिया जाता है, कोई शौच-स्थान न हों और न किनारे से ५० गज़ दूरी तक कोई रहने के मकान हो।

भोजन का नियन्त्रण—कम से कम बड़े ग्रामो में भोज्य पदार्थों की बिक्री के लिए निवास-स्थानो से कुछ दूरी पर बाज़ार होना चाहिए जिससे उन पदार्थों का निरीक्षण तथा नियन्त्रण किया जा सके। इस बात के देखने की अत्यन्त आवश्यकता है कि मिठाई तथा अन्य वस्तुएँ उत्तम बनी हुई हो। वह उचित प्रकार से रक्खी जावें जिससे मक्षिकाओं से सुरक्षित रहे। जिन बर्तनो में इनको रक्खा जावे वह भी स्वच्छ और शुद्ध हो। इन पदार्थों को चौबीस घण्टे से अधिक रखना उचित नहीं। उनके विकृत हो जाने से रोग फैल सकता है। दूकाने भी स्वच्छ हो और उनमे वायु प्रवेश का पूर्ण प्रबन्ध हो।

कच्चे तथा सड़े फलों को बेचने का भी निषेध होना चाहिए। विशूचिका आदि रोगो के दिनों मे इन बातो का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। जो शाक सड़ने लगें उनको फिकवा दिया जाय।

मलदूरीकरण—ग्रामों मे मलदूरीकरण तथा स्वच्छता का प्रबन्ध अत्यन्त असन्तोषजनक होता है। वहाँ न तो गलियों को झाड़ने का कोई साधन होता है और न मकानों के पीछे पड़े हुए कूड़े के हटाने का ही कोई प्रबन्ध होता है। प्रायः बालक मकानों के पीछे इतस्ततः शौच फिरते रहते हैं जिस पर मक्खियां भिनभिनाया करती हैं। इन सब दोषों को दूर करने के लिए मैलदूरीकरण के समुचित प्रबन्ध की आवश्यकता है। मल-त्याग के लिए गाँव से कुछ दूरी पर एक विशेष स्थान नियुक्त होना चाहिए। स्त्रियों के लिए पुरुषों से पृथक् स्थान हो। इन स्थानो के चारों ओर घनी झाड़ी लगा देनी चाहिए जिससे वह बाहर से दृष्टिगोचर न हो सकें। इनमे किसी प्रकार की खाई खोदी जा सकती है जिस पर टट्टियां लगाने से छोटे-छोटे शौच-स्थान

बन जावेंगे। प्रत्येक व्यक्ति जो इनमें मल त्याग करे वह मल के ऊपर मिट्टी डाल दे। जब इस प्रकार एक खाई भर जावे तो दूसरे स्थान मे खाई बना दी जावे और पहिले स्थान पर हल चलवाकर खेती कराई जावे। जो सम्पन्न व्यक्ति इन खाइयों के प्रयोग मे आपत्ति करें वह अपने मकान के एक भाग में पक्का शौच-स्थान बना सकते है। यह दिन मे दो बार मेहतरों द्वारा स्वच्छ कराया जावे जिसको स्वयं मकानवाले नियुक्त करें।

गलियो मे तथा मकानो के पीछे मल-त्याग करने का पूर्ण निषेध हो और वहाँ पर मकान का कूड़ा, मिट्टी, गोबर, लीद इत्यादि न फेंकी जावें। इन वस्तुओं को डालने के लिए विशेष स्थान होने चाहिएँ जो नगर से और जलाशय से दूर हों। इस कूड़े का समय-समय पर नाश करना अत्यन्त आवश्यक है। लीद तथा मल की खाद बनाकर कृषकों को बेची जा सकती है। कूड़े को जलाकर नष्ट कर दिया जाय।

ग्रामवासियों के स्वास्थ्य के लिए ग्राम के चारो ओर तथा उसके भीतर स्थित गढ़ों को भर दिया जाय जिससे भूमि समतल हो जावे। जो स्थान ऐसे हो जहाँ वर्षा का जल एकत्र हो जाता हो उनके जल-निकास के मार्ग को उत्तम बना देना चाहिए। यदि यह न हो सके तो उन स्थानों को भरवा देना ही उत्तम है। नगर के बाहर जो अस्वास्थ्यप्रद घना जङ्गल हो उसे भी कटवा देना आवश्यक है किन्तु सड़क के दोनों ओर उत्तम छायादार वृक्ष लगाये जावें। नीम तथा युक्लिप्टस के वृक्ष उत्तम होते हैं। ग्राम की सड़कों और गलियो को सदा उत्तम दशा में रखा जावे। उनके दोनों ओर नालियाँ हों जिससे सड़क पर गिरा हुआ जल बह जावे। इन नालियों का सम्बन्ध एक बड़े नाले से होना चाहिए जिसके द्वारा उनका जल गाँव से दूर चला जावे। प्रत्येक ग्राम में वहाँ की दशाओं को देखते हुए किसी प्रकार का जल-निकास का प्रबन्ध होना चाहिए।

चिकित्सालय—ग्रामों में चिकित्सा का प्रबन्ध बड़ा ही असन्तोषजनक है। बहुत से ग्रामों मे १० या १५ मील तक कोई चिकित्सालय नहीं होता। ऐसी दशा में ग्रामवासियों की बहुत बड़ी संख्या बिना किसी भी

प्रकार की चिकित्सा का लाभ उठाये रोगों का ग्रास बन जाती है। चिकित्सा के प्रबन्ध की उन्नति बहुत आवश्यक है। चिकित्सालयों की संख्या बढ़ाने की बहुत बड़ी आवश्यकता है जिससे प्रत्येक ग्रामवासी को आवश्यकता होने पर सहायता मिल सके। इनकी स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि अधिक से अधिक प्रत्येक गाँव के दो मील के भीतर एक चिकित्सालय स्थित हो जिसमें एक पूर्ण शिक्षित चिकित्सक नियुक्त हो।

संक्रामक रोगों का नियंत्रण—गाँव में किसी रोग के फैलने पर उसको रोकने के तुरन्त उपाय करने चाहिएँ! साधारणतया यह काम ज़िले के स्वास्थ्याध्यक्ष का है कि मरक की सूचना मिलने पर वह स्वयं उस स्थान पर जावे और रोग की पूरी जाँच करके आवश्यक उपायों की योजना करे। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट भी इसके लिए उत्तरदायी है। स्वास्थ्याध्यक्ष जिन उपायों को भी बतावे उनको करना उसका धर्म है, जैसे ग्राम की स्वच्छता की आयोजना करना, मकानों का विसंक्रामण, भोजन का नियन्त्रण इत्यादि। इन आयोजनों में ग्राम के पटवारी, चौकीदार, मुखिया इत्यादि से सहायता ली जा सकती है।

गाँवों मे विशूचिका रोग बहुत फैलता है। इस कारण इस रोग से एक भी व्यक्ति के ग्रस्त होते ही रोग को रोकने के उपाय करने चाहिएँ। एक या दो उत्तम कुँवों के अतिरिक्त सब कुँवो को बन्द कर देना चाहिए। उन कुँवों में, जो खुले रहें, पोटाश-परमैंगनेट डलवाया जावे। कुँवें पर एक कहार की नियुक्ति की जावे जो एक नई बाल्टी से खींचकर जल देता रहे। व्यक्तियों को कुँवें में स्वयं अपने बर्त्तन डालकर जल खींचने का निषेध हो।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

जलवायु

किसी स्थान के वायु-मण्डल तथा भौतिक दशाओं का स्वास्थ्य पर जो प्रभाव पड़ता है उसका 'जलवायु' के नाम से सम्बोधन किया जाता है। भिन्न-भिन्न स्थान और प्रकार की जलवायु से स्वास्थ्य पर पृथक्-पृथक् प्रभाव पड़ता है। स्थानिक जलवायु निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है :—

(१) भूमध्यरेखा से स्थान का अन्तर।

(२) स्थान की ऊँचाई।

(३) समुद्र से अन्तर।

(४) पर्वतों से अन्तर।

(५) वायु-प्रवाह।

(६) वर्षा।

इनके अतिरिक्त बहुत सी स्थानिक दशाओं के अनुसार भी जलवायु परिवर्तित होती है। स्थान के समीप घने जङ्गल की स्थिति, तराई, तालाब, झील, नहर, अधस्थल जल का निकास, मकानों की सघनता इत्यादि दशाओं का भी जलवायु पर प्रभाव पड़ता है। किन्तु अन्य सबों की अपेक्षा भूमध्य-रेखा की दूरी का अधिक प्रभाव होता है।

जलवायु के प्रकार—जलवायु के निम्नलिखित प्रकार का वर्णन किया जाता है।

(१) शीत जलवायु—इस प्रकार की जलवायु उत्तरी या दक्षिणी ध्रुवों और ५०° अक्षांश के बीच में पाई जाती है। यहाँ पर शीत बहुत पड़ता है और शीत ऋतु १० मास तक रहती है। ग्रीष्म ऋतु केवल कुछ सप्ताह के

लिए होती है। यहाँ के वर्ष भर तापक्रम का औसत ४०° और ५०° .फ़ेरेनहीट के बीच मे रहता है। ध्रुव के पास यह २५° .फ़े० से भी कम हो जाता है। वर्षा बहुत कम होती है, किन्तु हिम बहुत गिरती है। वृक्ष, फल इत्यादि यहाँ बहुत कम होते हैं। यहाँ के निवासी निर्धन होने के कारण जीवन की उचित सुविधाएँ नहीं प्राप्त कर सकते। इस कारण उनमें गलगण्ड, राजयक्ष्मा तथा स्कर्वी इत्यादि रोग पाये जाते है। किन्तु शीत से क्षुधा बढ़ती है और स्वास्थ्य उन्नत होता है। इस कारण यहाँ के निवासी प्रायः सुदृढ़, स्वस्थ और बलवान् होते हैं। कुछ विद्वानों के विचारानुसार यहाँ पर मृत्यु-संख्या संसार भर में सबसे कम है।

(२) **समशीतोष्ण जलवायु**—३५° और ५०° अक्षांश के बीच में इस प्रकार की जलवायु पाई जाती है। इस कारण मध्य और दक्षिणी योरप, एशिया का मध्य भाग जो भूमध्यसागर, कृष्ण सागर और जापान के बीच मे स्थित है, उत्तरी और दक्षिणी अमरीका तथा आस्ट्रेलिया का कुछ भाग, न्यूज़ीलैंड तथा अन्य बहुत से प्रदेशों की जलवायु समशीतोष्ण है। वास्तव में स्वास्थ्य की दृष्टि से यह सबसे उत्तम जलवायु है और संसार की सभ्य जातियाँ इन देशों में बसी हुई है। यहाँ पर चार ऋतुएँ होती हैं। यहाँ के निवासियों में सन्धिवात, डिफ्थीरिया, फुस्फुस तथा वृक्क के रोग अधिक पाये जाते हैं।

(३) **उष्ण जलवायु**—भूमध्य रेखा के दोनों ओर ३५° अक्षांश तक यह जलवायु फैली हुई है। पृथ्वी के इस भाग मे भारतवर्ष, चीन, पौलिनेशिया, आस्ट्रेलिया, (विक्टोरिया के अतिरिक्त) अफ्रीका, उत्तरी अमरीका का वह भाग जो केलिफ़ोर्निया के दक्षिण मे स्थित है और दक्षिणी अमरीका के उरूग्वे प्रान्त के उत्तर का भाग तथा वेस्ट इंडीज़ स्थित हैं। इस प्रान्त मे ५४° फ़े० से ११८° फ़े० तक तापक्रम पाया जाता है। किन्तु उसका औसत ८०° से ८४° फ़े० है। इन प्रान्तों मे ग्रीष्म और शीत ऋतु अति तीव्र होती है। यहाँ वर्षा भी अधिक होती है जिसका वार्षिक औसत ४० इंच है। दिन में तापक्रम में अधिक परिवर्तन नहीं होता, किन्तु वह रात्रि में बहुत कम हो जाता है। इन प्रदेशों में मलेरिया, आतप ज्वर, पीत ज्वर, विशूचिका,

मसूरिका, अतिसार, प्रवाहिका, कालाज़ार इत्यादि रोग विशेषतया पाये जाते है ।

(४) पार्वतीय जलवायु—तीन सहस्र फुट से अधिक उँचाई पर इस प्रकार की जलवायु पाई जाती है । वायु-मण्डल-दाब की न्यूनता, उसकी तरलता और शुद्धि इस प्रकार की जलवायु की विशेषता है । यहां पर तापक्रम मे अत्यन्त परिवर्तन होता रहता है । गर्मियों मे रात्रि मे तापक्रम बहुत कम हो जाता है । पर्वतो की वायु मे ओज़ोन की मात्रा अधिक होती है । और वायु-प्रवाह तीव्र होता है ।

पार्वतीय वायु राजयक्ष्मा के रोगियों के लिए विशेषतया हितकर है । किन्तु यहाँ का पूर्ण लाभ उठाने के लिए व्यायाम की आवश्यकता होती है । रोगियो को खुले स्थानो में रहना चाहिए । यहाँ की जलवायु का स्वास्थ्य पर जो प्रभाव होता है उसका पहिले वर्णन किया जा चुका है ।

(५) सामुद्रिक जलवायु—समुद्र के तटस्थ स्थानो, द्वीपों और समुद्र पर यह जलवायु पाई जाती है । यहा का तापक्रम प्रायः एक समान रहता है । वायु मे आर्द्रता अधिक होती है और वर्षा का औसत भी बहुत अधिक होता है । ओज़ोन की अधिकता तथा जीवाणु और धूल के कणों की अनुपस्थिति वायु की विशेषता है । यहाँ पर सन्धिवात अधिक पाया जाता है ।

(६) मरुस्थली जलवायु—इस प्रकार की जलवायु मरुस्थली प्रदेशों में पाई जाती है । रात्रि और दिवस के तापक्रम में अत्यन्त अन्तर होता है । यह बहुत कुछ उष्ण जलवायु के समान है, किन्तु वायु का तापक्रम अधिक होता है और वह शुष्क और शुद्ध भी अधिक होती है । ऐसी जलवायु रोगों के जीवाणुओं के लिए अनुकूल नहीं होती । ऐसे स्थानों में फुस्फुस के रोग कम पाये जाते हैं ।

जलवायु का स्वास्थ्य पर प्रभाव—यह प्रति दिन का अनुभव है कि भिन्न-भिन्न स्थानों की जलवायु का स्वास्थ्य पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है । यद्यपि शरीर अपनी असीम अनुकूलन की शक्ति द्वारा अपने को सब प्रकार की दशाओं के अनुकूल बना लेता है किन्तु जब परिस्थिति इस शक्ति की सीमा

से बाहर होती है तब स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है। अति उष्ण स्थानों के निवासियों को शीत प्रदेशों में जाने से निमोनिया, राजयक्ष्मा तथा अन्य फुस्फुस के रोगों की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी भाँति अति शीत देश के निवासियों का स्वास्थ्य उष्ण देशों में जाकर बिगड़ जाता है।

शीत देशों मे क्षुधा अधिक लगती है। पेशियों में परिश्रम करने की अधिक शक्ति आ जाती है परन्तु नाड़ी-मण्डल कुछ मन्द हो जाता है। यहाँ के निवासी प्रायः अधिक आयु तक जीवित रहते है। उष्ण देशों मे पाचन-क्रिया उत्तम नहीं होती। चर्म और यकृत् की क्रिया अधिक होती रहती है। यहाँ पाचन-सम्बन्धी विकार अधिक पाये जाते है। शीतोष्ण जलवायु सबसे उत्तम होती है। शरीर के किसी भी अङ्ग पर विशेष भार नहीं पड़ता। सब अङ्ग अपनी क्रिया उचित रीति से करते रहते हैं। इससे जीवन अधिक उपयोगी और दीर्घ होता है।

स्वास्थ्य पर तापक्रम, वायु की आर्द्रता और वायु-मण्डल की दाब का भी प्रभाव पड़ता है।

(१) तापक्रम का प्रभाव

शीत—साधारण शीत स्वास्थ्य को बढ़ानेवाला होता है, किन्तु अत्यन्त शीत से कभी-कभी बहुत हानि पहुँच जाती है। अधिक समय तक शीत में खुले रहने से चर्म की रक्त-नलिकाएँ संकुचित होती हैं और निर्जीवाङ्गत्व तक उत्पन्न हो जाता है। उससे शरीर शिथिल हो जाता है और मूर्च्छा तक उत्पन्न हो सकती है।

ताप—हलका ताप स्वास्थ्य को बढ़ानेवाला होता है। प्रातःकाल की सूर्य-किरणें, जब तक वह तीव्र नहीं होतीं, बहुत लाभदायक सिद्ध हुई हैं। किन्तु तीव्र हो जाने पर उनसे शरीर को, हानि पहुँचती है। अति ताप के कारण शरीर शिथिल हो जाता है, काम करने का उत्साह नहीं रहता। श्वास-प्रश्वास की संख्या घट जाती है। श्वास द्वारा निकलनेवाले जल और मूत्र में यूरिया की मात्रा भी कम हो जाती है। किन्तु चर्म से स्वेद

अधिक निकलता है। पाचन-क्रिया भी उत्तम नहीं होती, क्षुधा कम हो जाती है, जिससे शरीर बलहीन प्रतीत होने लगता है, हृदय भी दुर्बल हो जाता है और नाड़ी मन्द चलने लगती है। यकृत् मे विकार आ जाता है। अधिक तप्त स्थानों में बहुत समय तक रहने से शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की शक्तियाँ कम हो जाती है और आयु घट जाती है।

शरीर मे अपने को दशाओ के अनुकूल कर लेने की बहुत शक्ति होती है। इस कारण सामान्य परिवर्तनों का उस पर विशेष प्रभाव नहीं होता। किन्तु जब परिवर्तन इस शक्ति की सीमा से बाहर हो जाता है तो स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जो लोग इन परिवर्तनो के अभ्यस्त नहीं होते उनको प्रायः भारी हानि पहुँच जाती है। योरप अमरीका आदि मे तापक्रम के १०६° या १०४° फ़० तक पहुँचने से मृत्यु होने लगती हैं। सन् १८९६ में ९७° फ़० तापक्रम हो जाने से न्यूयार्क और शिकागो दोनों मे बहुत सी मृत्युएँ हुई थीं, यद्यपि यह तापक्रम हमारे देश के लिए साधारण है। ताप के अधिक होने पर शरीर चर्म द्वारा स्वेद की उत्पत्ति को बढ़ाकर अपने को ठंडा कर लेता है। किन्तु जब यह क्रिया पूर्ण रूप से नहीं हो पाती तब अति ताप से शरीर को बहुत हानि पहुँचती है और आतप ज्वर इत्यादि उत्पन्न हो जाते हैं। जब ताप के साथ वायु-मण्डल की आर्द्रता भी बढ़ जाती है और वायु-प्रवाह कम होता है, जैसा कि प्रायः वर्षा ऋतु मे होता है, तो उसका सहन करना और भी कठिन होता है और शरीर पर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

(२) वायु-मण्डल की आर्द्रता का स्वास्थ्य पर प्रभाव

वायु में सदा कुछ न कुछ जल की मात्रा रहती है। उसी के अनुसार उसको आर्द्र और शुष्क वायु कहा जाता है। ज्यो-ज्यों वायु का ताप बढ़ता है त्यो-त्यों उसकी आर्द्रता को ग्रहण करने की शक्ति भी बढ़ती जाती है। ३२° फ़० पर एक सी० सी० वायु में २ ग्रेन जल होता है। किन्तु ७०° पर उसमें यह मात्रा ८ ग्रेन हो जाती है। अतएव आर्द्र वायु का ताप बढ़ने से वह शुष्क हो जाती है।

यह पाया गया है कि स्वास्थ्य के लिए वायु-मण्डल ७० प्रतिशत संतृप्त होना चाहिए। यह गणना सदा सापेक्षिक होती है। महाशय पेटिनकौफ़र और व्हाइट के प्रयोगानुसार १५° सें० और ७५ प्रतिशत सापेक्षिक आर्द्रता पर २४ घण्टे मे फुस्फुस से २६६ ग्राम और चर्म से ५०० से १७०० ग्राम जल का वाष्पीभवन होता है। किन्तु आर्द्रता के बढ़ने से यह मात्रा कम हो जाती है जिससे बहुत असुविधा प्रतीत होने लगती है। वर्षाकाल में आर्द्रता के साथ तापक्रम का आधिक्य बेचैनी का विशेष कारण होता है। ऐसा समय जीवाणुओं की वृद्धि के लिए भी बहुत अनुकूल होता है जिससे रोग फैलते हैं।

(३) वायु-मण्डल की दाब

क—साधारणतया वायु-मण्डल की दाब ७६° मि० मी० पारा अथवा प्रत्येक वर्ग इंच पर १२ पौंड होती है। ज्यों-ज्यों पृथ्वी से ऊपर को जाते हैं त्यो-त्यों यह दाब कम और वायु पतली होती चली जाती है। इस कारण अधिक ऊँचाई पर पहुँचकर श्वास लेने मे कष्ट होने लगता है। वायुयानों में उड़नेवालों को भी बहुत ऊँचे पहुँचकर ऐसा ही होता है। हृदय की क्रिया बढ़ जाती है और नाड़ी भी तीव्र गति से चलने लगती है। श्वास जल्दी-जल्दी आता है। ऊँचाई के बहुत अधिक होने पर मुँह और नासिका से रक्त निकलने लगता है। पित्त और रक्त के वमन होते हैं। उदर मे तीव्र पीड़ा होती है। यहाँ तक कि मृत्यु हो सकती है।

इन सब लक्षणो का कारण वायु में आक्सिजन की न्यूनता होती है। वायु के अत्यन्त पतली होने से रक्त को पर्याप्त आक्सिजन नहीं मिलती। ६००० से ७००० फुट की ऊँचाई पर यह लक्षण प्रकट होने लगते हैं, किन्तु यदि धीरे-धीरे चढ़ा जाय तो इतनी असुविधा नहीं होती। शरीर में लाल कणो की उत्पत्ति बढ़ जाती है और अन्तिम स्थान के पहुँचने तक पर्याप्त लाल कण बन जाते है।

ख—दाब के अधिक होने से उपर्युक्त लक्षणों के विरुद्ध लक्षण उत्पन्न होते हैं। पुल इत्यादि बनाने में जल के नीचे पीपों में, जिनमें अति-दाब की वायु भरी

होती है, काम करनेवालों में और गोतेखोरों मे अति दाब के बुरे प्रभाव देखे जाते हैं। इसको 'केसन रोग' के नाम से पुकारा जाता है। पक्षाघात, उदर-शूल, वमन, सन्धि और पेशियो में शूल, श्वास-कष्ट इत्यादि इसके विशेष लक्षण हैं। जल से बाहर निकलने पर जब पीपे से वायु को तुरन्त ही निकाल दिया जाता है तब ऐसा होता है। दाब के अत्यन्त शीघ्रता से कम होने के कारण रक्त से कुछ गैसें—विशेषकर नाइट्रोजन—पृथक् होकर रक्तावरोध उत्पन्न कर देती हैं जिससे मृत्यु हो सकती है। किन्तु यदि पीपे से वायु धीरे-धीरे निकाली जाय तो ऐसा नहीं होगा।

अनुक्रमणिका

आ

इ

ई

उ

ओ

औ

क

झ

ट

ध

न

भ

ल

शब्दावली

अग्न्याशयरस	Gastric juice.
अङ्कुर कृमि	Ankylostoma Duodenale.
अण्डविधायक	Egg Depositor
अतिचैतन्य	Hyperaesthetic.
अतिदाब	High pressure.
अतितप्त भाप	Super-heated steam.
अतिसार	Diarrhoea.
अधःनिस्यन्दन	Downward filtration.
अधःस्थल जल	Sub-soil water.
अधोहन्विका	Mandible.
अनैन्द्रिक पदार्थ	Inorganic substances.
अन्तरङ्ग विभाग	Indoor Department.
अन्त्रियाँ	Intestines.
अन्नप्रणाली	Oesophagus.
अभ्रक	Mica
अभिष्यन्द	Ophthalmia.
अभिस्रवण	Distillation.
अमीबा	Amoeba.
अमैथुनी चक्र	Asexual cycle.
अमोनियम सल्फ़ाइड	Amononinm sulphide.

अमोनिया	Ammonia.
अम्ल आक्ज़ेलिक	Oxalic acid.
,, एसटिक	Acetic acid.
,, ओलिक	Oleic acid.
,, टार्टरिक	Tartaric acid.
,, पामटिक	Palmatic acid.
,, मैलिक	Malic acid.
,, वानस्पतिक	Organic acid.
,, सायट्रिक	Citric acid.
,, स्टीयरिक	Stearic acid.
अरसु ग्रन्थियाँ	Nodules.
अरारोट	Arrowroot.
अरुण ज्वर	Scarlet fever.
अलकतरा	Coal Tar.
अलकोहल	Alcohol.
अल्ब्यूमिन	Albumin.
अल्ट्रावायोलेट	Ultraviolet rays.
अवायवीय जीवाणु	Anaerobic organisms.
अवस्करन	Scavenging.
अवक्षेपक टङ्की	Settling tank.
अस्थायी कठोरता	Temporary hardness.
अस्थायी शौचस्थान	Temporary Latrines.
अस्थि-भंजक ज्वर	Breakbone fever.
आईज़ाल	Izal.
आक्सिजन	Oxygen.
आतप ज्वर	Heat stroke.
आन्त्र	Intestines.

आन्त्रिक ज्वर	Typhoid.
,, यक्ष्मा	Tabes Mesenterica.
आमाशय	Stomach.
आयोडीन	Iodine.
आर्द्र उष्णता	Wet heat.
आर्द्रता	Humidity.
आर्नेथोडोरस मोबाटा	Ornothodoros moubata.
आविल मार्जनी	Sinks.
इंजेक्शन	Injection.
इंडियन फैक्टरीज़ ऐक्ट	Indian Factories Act.
इन्फ्लुएंजा	Influenza
इन्विक्टा स्प्रेयर	Invicta sprayer.
इक्टरोइडीज़	Icteroides.
इक्षु-शर्करा	Cane sugar.
ईक्वीफेक्स यन्त्र	Equiex sprayer.
ईथर	Ether.
उदर-शूल	Abdominal pain.
उपदंश	Soft chancre.
उपपन्न शक्ति	Potential energy.
उपस्थल	Surface soil.
उर्विका	Femur.
ऊकाइनीट	Ookniete.
ऊसिस्ट	Oocyst.
एंगस-स्मिथ वार्निश	Angus-smith varnish.
एकदेशीय क्रिया	Local action.
एकमान	Ekknann.
एण्टीसाइफन	Anti-syphon.

एबीसीनियन ट्यूब वैल	Abyssinian tube well.
एमीबिक प्रवाहिका	Amoebic Dysentery.
एम्प्यूल	Ampule.
एल	Ale.
एल्डीहाइड	Aldehyde.
एल्ब्यूमिनाइड	Albuminoid.
एसिटो-आर्सिनाइट-आफ़-कौपर	Aeeto-arsenite of copper.
एसिड-पोटाशियम-टार्टरेट	Acid Potassium Tartarate.
एसिड फुक्सिन	Acid fuchsin.
,, सल्फ्यूरिक एरोमेटिक	Acid Sulphuric Aromatic.
एस्केरिस लम्ब्रीकाइडीज़	Ascaris Lumbricoides.
एस्फेल्ट	Asphalt.
ऐक्टिनोमाईकोसिस	Actinomycosis
ऐडीनायड	Adenoid.
ऐनीलीन ब्ल्यू	Anniline Blue.
ऐनोफ़िलीज़	Anopheles.
,, अम्ब्रोसस	Anopheles Umbrosus.
,, क्यूलिसीफेसीज़	Anopheles Culicifacies.
,, जेपोनेन्सिस	Anopheles Japonensis.
,, टर्खुडी	Anopheles Turkhudi.
,, थियोबाल्डी	Anopheles Theobaldi.
,, फ़्यूलिजिनोनसस	Anopheles Fuliginosus.
,, बारबिरोस्ट्री	Anopheles Barbirostri.
,, मैक्यूलीपेनिस	Anopheles Maculipenis.
,, लिस्टोनाई	Anopheles Listoni.
,, साइनेन्सिस	Anopheles Sinensis.
,, स्टिफेन्साई	Anopheles Stephensi.

ऐन्किलोस्टोमाड्यू डीनेल	Ankylostoma Duodenale.
ऐन्टेमीबा हिस्टोलिटिका	Antamoeba Hystolytica.
ऐन्टीटौक्सिन	Anti-toxin.
ऐन्थ्रेक्स	Anthrax.
ऐल्ब्यूमोज़	Albumose.
ऐल्जीरिया	Algeria.
ऐमीन विधि	Amine process.
ऐस्केरीस लम्ब्रीकाइडीज़	Ascaris Lumbricoides
ओज़ोन	Ozone.
ओवर-प्रूफ़-स्पिरिट	Overproof spirit.
ओस्सीन	Ossien.
औक्सीयूरिस वर्मीक्यूलेरिस	Oxyuris Vermicularis
कर्ण-पश्चिम-ग्रन्थि-शोथ	Parotitis.
कर्णफेर	Mumps.
कपाल	Skull.
क्यूनीन	Quinine.
क्यूलिसिडी	Culicidæ.
क्यूलैक्स	Culex.
क्रेटीन	Cretin.
क्ले	Clay.
क्ले-स्लेट	Clay-state.,
क्लैब्स-लौफ़लर	Clebs-loffler.
क्लैरेट	Claret.
क्लोरीन	Chlorine.
क्लोर-एमीन-टी	Chlor-amine-T.
क्लोरोफ़िल	Chlorophyll.
क्लोरोजिन	Chlorogen.

क्लोरोस	Chloros.
क्लेटन विसंक्रामक	Clayton disinfector
क्वैशा	Quaissa.
काउमिस	Coumiss.
कापोलिक ग्रन्थि	Parotid gland.
काफ़ी	Coffee.
कायपुटी का तैळ	Oil of Cajuput.
कार्बन	Carbon.
कार्बन-डाई-आक्साइड	Carbon-di-oxide.
कार्बन-डाई-सल्फ़ाइड	Carbon-di-sulphide.
कार्बन-मानो-आक्साइड	Carbon-mono-oxide.
कारबोलिक अम्ल	Carbolic acid.
कारबोलिक पाउडर	Carbolic powder.
कार्बोहाइड्रेट	Carbohydrate.
काब्यूरेटेड गन्धक	Carburetted sulphur
" हाइड्रोजन	Carburetted hydrogen.
कारन्टीन	Quarantine.
काळाज़ार	Kala-azar.
काली खाँसी	Whooping cough.
कास	Asthma.
कास्टिक सोडा	Caustic soda.
कास्टेलानी	Castallani.
क्रिज़ोल	Cresol.
क्रियमाण-मलावशेष-विधि	Activated sludge process.
क्रियोलीन	Creolin.
क्रियोसोळ	Cresol.
क्रिसेलिस	Cresalis.

क्रिस्टोफ़र	Crestopher.
क्विटो	Quito.
किण्वीकरण	Fermentation.
कुकुरखाँसी	Whooping cough.
कुष्ठ	Leprosy.
कुष्ठाश्रम	Leper asylums.
कूट	Trap.
,, की मुद्रा	Seal of Trap.
कूड़े का अन्तिम नाश	Ultimate disposal of rubbish.
,, का दहन	Incineration of rubbish.
कृष्णसागर	Black sea.
केफ़िया ऐरेबिका	Caffea Arabica.
केफ़ीन	Caffiene.
केफ़ीर	Kaffir
केनवुड	Kenwood.
केसीन	Casien.
कैंडी निस्यन्दक	Candy's filter.
कैंसर	Cancer.
कैलोरी	Calorie.
कैलम्बा	Calumba.
कैल्शियम	Calcium
,, कार्बोनेट	Calcium Carbonate.
,, क्लोराइड	Calcium Chloride.
,, सायनाइड	Calcium Cyanide.
,, हाइपोक्लोराइट	Calcium hypochlorite.
कोकाई	Cocci.

कोको	Cocoa.
कोमा बैसिलस	Coma Bacillus.
कोषाणु	Cell.
कोष्ठबद्धता	Constipation.
कौन्ड्रीन	Chondrin.
कौपर सल्फेट	Copper sulphate.
ख़मीर	Yeast.
ख़सरा	Measles.
खुजली	Scabies.
खुरण्ड	Scale.
गठिया	Gout.
गतिज शक्ति	Kinetic energy.
गन्धक	Sulphur.
गन्धकाम्ल	Sulphuric acid.
गन्धनाशक	Deoderant.
गलगण्ड	Scrofula.
गली-कूट	Gully-trap.
गात्र-स्तम्भन	Rigor mortrs.
गृह-परिवाह	House-drain.
गैसों का व्यापन	Diffusion of gases.
गौनोकोकस	Gonococcus.
ग्रसनिका	Pharynx.
ग्रानिट	Granite.
ग्रिजिन्स	Grijins.
ग्लाइकोजिन	Glycogen.
ग्लिसरिन	Glycerine.
ग्ल्यूटिन	Glutin.

ग्लैन्डर्स	Glanders.
ग्लौब्यूलिन	Globulin.
ग्लौसिना	Glossina.
घातक अणु-विद्रधि	Malignant pustule.
घुलनशीलता	Solubility.
चतुर्थक	Quartan.
चानाहायोपिडा	Chana-Hiopida.
चिनोसोल	Chinosol.
चिरकालिक क्षमता	Immunity of moderate duration.
चिरस्थायी क्षमता	Immunity of long duration.
चेस्ट-ऐक्सपेंडर	Chat expander.
जंघा-पिंड	Calf of leg.
जंघिका	Tibia and Fibula
ज्यूवैल का निस्यन्दक	Jewell filter.
जल की कठोरता	Hardness of water.
जलज चट्टान	Sedimentary rocks.
जलमुद्रा	Water-trap.
जलवायु	Climate.
जल-शौचपात्र	Water closet.
जल-संवहन-विधि	Water-carriage system.
जल संत्रास	Hydrophobia.
ज़ाइगोट	Zygote.
जिन	Gin.
जिलैटिन	Gelatin.
जीवनचक्र	Life-cycle.

जीवनीयगण	Vitamins.
जीवाणवीय निस्यन्दक	Biological Filters.
,, विधि	Biological process.
जीवाणु	Bacilli.
जीवाणुज प्रवाहिका	Bacillary dysentery.
जीवाणु-भक्षक	Bacteriophage.
जीवाणु-विष	Becterial-Toxins.
जीवाश्रयी	Parasites.
जुनीपर का तैल	Oil of juniper.
जैनर	Jennor.
जैन्शियन	Gentian.
टाईफ़ाइड	Typhoid.
टांसिल	Tonsils.
टिंकचर आयोडीन	Tincture Iodine.
टिक	Tick.
टिटेनस	Tetanus.
टी० एम० रिसेप्टेकिल	T. M. receptacle.
टीनिया ऐकिनोकस	Taenia ecchinococcus.
,, मीडियोकेनिलेटा	Taenia mediocanelata.
,, सेजिनाटा	Taenia saginata.
,, सोलियम	Taeuia solium.
ट्रिकना स्पायरेलिस	Trichinia Spiralis.
ट्रिपोनिमा कार्टराई	Treponema Carterii.
ट्रिपोनिमा डट्टोनाई	Treponema Duttoni.
,, रिकरेन्टिस	Treponema recurrentis.
,, पैलिडम	Treponema Pallidum.
ट्रिलाट का यन्त्र	Trillat's apparatus.

ट्रोफ़ोज़ाइट	Trophozoite.
टैनिन	Tannin.
टैबिन की नली	Tobin's Tube.
डस्टबिन	Dustbin.
डायस्टेज़	Diastase.
डिप्टरा	Diptera.
डिप्थीरिया	Diphtheria.
डिसिन्फ़ैक्टर	Disinfector.
डिस्टोमा हिपेटिकम	Distoma Hepaticum.
डे-नर्सरी	Day Nursery.
डैंगू	Dengue.
तरुण-वृक्क-शोथ	Acute Nephritis.
तापक्रम	Temperature.
थियोब्रोमा कोकोआ	Theobroma Cocoa.
थ्रेश करेन्ट-स्टीम-डिसिन्फ़ैक्टर	Thrash current steam disinfector.
थैले का विसंक्रामक	Sac disinfector.
दद्रु	Ringworm.
द्राक्ष-शर्करा	Grape Sugar.
दीर्घ निष्कासक मळ-पात्र	Long hopper closet.
दूध का संरक्षण	Preservation of milk.
दोहरी पटकेवाली खिड़की	Double sash windows.
दौर्बल्य	Convalescence.
द्रोणि.	Trough.
द्रोण्याकार शौचस्थान	Trough closet.
धनुर्वात	Tetanus.
धातृविद्या	Maternity.

धारा भाप	Current steam.
ध्रुव	Poles.
नाइट्रस वाष्प	Nitrous Fumes.
नाइट्राइट	Nitrite.
नाइट्रेट	Nitrate.
नाइट्रोजन	Nitrogen.
नाड़ी मण्डल	Nervous System.
,, शोथ	Neuritis.
निष्कासद्वार	Outlet.
निकेटर अमरीकेनस	Necator Americanus.
निकोटीन	Nicotine.
निद्रालुरोग	Sleeping sickness.
निमेटोड	Nematode.
निमोनिया	Pneumonia.
निरीक्षण कोष्ठ	Inspection chamber.
निष्क्रिय रोग-क्षमता	Passive immunity.
,, विक्षत्रता	Passive anaphylaxis.
निस्यन्दक	Filters.
,, शंकु	Cone of filtration.
न्यून दाब	Low pressure.
नेग्री पिंड	Negri bodies.
नेत्राभिष्यन्द	Ophthalmia.
नौटिंघम स्टोव	Nottnigham stove.
पटल-निष्कासक मलपात्र	Valve closet.
पर्क्लोराइड-आफ्-आयरन	Perchloride of Iron.
परमैंगनेट-आफ्-पोटाश	Permangnate of Potash
पराश्रयी	Parasite.

परिचारिका	Nurse.
परिवाह	Sewer.
पर्शियन पाउडर	Persian Powder.
प्लेग	Plague.
पश्चादिका	Occipitalis.
पक्षाघात	Paralysis.
पक्षावशिष्ट	Hilters.
पाउड्रेट खाद	Poudrette.
पाण्डु रोग	Anaemia.
पार्क्स	Parkes.
पायरिया	Pyorrrhoea.
पायरेथ्रम	Pyrethrum.
पारद-आयोडाइड	Mercuric Iodide.
,, एल्ब्यूमिनाइड	Mercuric albuminide.
,, सायनाइड	Mercuric cyanide.
पिटर्सन निस्यन्दक	Peterson Filters.
पित्ताशय	Gall bladder.
पिपरमेंट	Peppermint.
पिस्सू	Bed-bugs.
पीत ज्वर	Yellow fever.
पुनराक्रमक ज्वर	Relapsing Fever.
पूति-कुंड	Sceptic Tank.
पूयमेह	Gonococcus.
पूर्ववक्षिक भाग	Pro-thorax.
पृथक्करण	Isolation.
पृष्ठ	Back.
पेट्रोल	Petrol.

पेट्रोलियम	Petroleum.
पेडीक्यूलस केपिटिस	Pediculus capitis.
,, प्यूबिस	Pediculus Pubis.
,, वेस्टीमेन्टाई	Pediculus Vestimantis.
पेशी	Muscle.
पेस्चुरीकरण	Pesturisation.
पेस्टरीन	Pesterine.
पैरामीशियम	Paramæcium.
पैराटाइफ़ाइड ज्वर	Paratyphoid Fever.
,, —ए	Paratyphoid—A.
,, —बी	Paratyphoid—B.
पैराटाइफ़ोसस–ए	Paratyphosus—A.
,, –बी	Paratyphosus—B.
पैराफ़ार्म	Paraform.
पैरिसग्रीन	Paris green.
पैलैस्टाइन	Palastine.
पैल्पेलिस, ग्लोसिना	Palpalis, Glossina.
पैस्च्योर	Pasteur,
,, -चैम्बरलैंड निस्यन्दक	Pasteur-chamberland Filter.
पोटाश	Potash.
पोटाशियम	Potassium.
,, आयोडाइड	Potassium Iódide.
,, बाइक्रोमेट	Potassium Bichromate.
,, सायनाइड	Potassium Cyanide.
पोर्ट	Port.
पोर्टर	Porter.

पोर्टलैंड सीमेंट	Portland cement.
पोर्सलेन-डी-आमीन्टे-निस्यन्दक	Porcelain-de Amiante Filters.
प्यूपा	Pupa.
प्रणाल	Sewer.
प्रतिबन्धक कूट	Intercepting Tank.
प्रतिविष	Anti-toxin.
प्रतिश्याय	Influenza.
प्रतिषेध	Prevention.
प्रतिषेधक वैक्सीन	Preventive vaccine.
प्रथम सहाय	First aid.
प्रदर्शिनी	Exhibition.
प्रलाप	Delerium.
प्रवाहिका	Dysentery.
प्रपादिका	Talus
प्रवेश-द्वार	Inlets.
प्रसव	Confinement.
प्राकृतिक विसंक्रामक	Natural disinfectants.
प्रान्तीय नाड़ीशोथ	Peripheral neuritis.
प्रूफ़-स्पिरिट	Proof spirit.
प्रोडीजियोसस जीवाणु	Bacillus Prodigiosus.
प्रोटीन	Protien.
,, वास्तविक	True protiens.
प्रोग्लोटाइड	Proglotide.
प्लीहांक	Splenic index
प्लीहा	Spleen.
प्लेग	Plague.

प्लेग की मक्खी	Plague-flea.
,, के चूहे	Rat-flea.
प्लेज़्मोडियम	Plasmodium.
,, वाइवैक्स	Plasmodium vivax.
,, मैलेरी	Plasmodium Malariae.
,, फ़ैल्सीपैरम	Plasmodium Falciparum.
प्लेट	Plate.
फ़ंक	Funk.
फ़्लैक्सन	Flaxin.
फ़ाइफ़र	Pfiffer.
फ़ाइब्रिन	Fibrin.
फ़ाइलेरिडी	Filaridae.
फ़ाइलेरिया	Filaria.
,, औक्युलाई	Filaria Oculi.
,, डेमार्कुवाई	Filaria Demarqii.
,, पर्सटांस	Filaria Perstans.
,, बैंक्रोफ़टाई	Filaria Bancrofti.
,, मैडिनेन्सिस	Filaria Medinensis.
,, लोआ	Filaria Loa.
,, सैंग्यूनिस	Filaria Sanguinis.
,, ,, हौमिनिस नौक्टर्ना	Filaria Sanguinis Hominis Nocturna.
फ़ार्मोक्लोरल	Formochloral.
फ़ार्सी	Farcy.
फ़ार्मेलिन	Formalin.
फ़ार्मेल्डीहाइड	Formaldehyde.
फ़ासफ़ोरस	Phosphorus.

फ़ास्फ़ेट	Phosphate.
फ़िनौल	Phenol.
,, -कैम्फ़र	Phenol-camphor.
फिरंग-रोग	Syphilis.
फुस्फुस	Lungs.
फुस्फुसावरण	Pleura.
फुस्फुसीया धमनी	Pulmonary Artery.
फ़ैनिया कैनीक्यूलेरिस	Fania Cannicularis.
फ्यूसल तैल	Fusel oil.
फ़्यूलिजिनोसस, ऐनोफ़िलीज़	Fuliginosus, anopheles.
फ्रेंच-चाक	French-chalk.
फ़िलबोटेमस पेपेटेसाई	Phleoleotamus Papatasii.
फ़्लैजिला	Flagella.
बत्तीबल	Candle power.
बर्कफ़ील्ड निस्यन्दक	Berkfield filters,
बर्गंडी	Burgandy.
ब्रांडी	Brandy.
ब्रुडकैप्स्यूल	Brood-capsules.
ब्लीचिंग पाउडर	Bleaching powder.
वसाम्ल	Fatty acid.
बहिर्निष्कासक मलपात्र	Wash-out closet.
बहिरंग विभाग	Out-door department.
बारबोडोस	Barbodos.
बाल-मृत्यु	Infant mortality.
बीयर	Beer.
बुटारिक ईथर	Butyric ether.
बेरी-बेरी	Beri-Beri.

बैक्टीरियम न्यूमोसिंटस	Bacterium Pneumosintes.
बैडले	Badley.
बेली का शौच-स्थान	Balley's latrine seat.
बैसिलाई	Bacilli.
बैसिलस एन्टरिटाइडिस	Bacillus enteritidis.
,, एन्थ्रेसिस	Bacillus Anthracis.
,, कोलाई	Bacillus Cocci.
,, टाइफ़ोसस	Bacillus Typhosus.
,, ट्यूबरक्युलोसस	Bacillus Tuberculosus
,, डिसैंटरी शीगा	Bacillus Dysenteriæ-Shiga.
,, पैराटाईफाईड ए	Bacillus Paratyphoid-A.
,, ,, बी	Bacillus Paratyphoid-B
,, बुटायरिकस	Bacillus Butyricus.
,, लेप्री	Bacillus Lapræ.
,, सायनोसिस	Bacillus Cyanosus.
,, सिंज़ेन्थम	Bacillus Synxanthm.
बोरिक अम्ल	Boric acid.
बोवाइन ट्यूबर्क्यूलोसिस	Bovine Tuberculosis.
भग्न	Fracture,
भ्रूण	Ovum.
भूम्यन्तर्गत जल	Subsoil water.
,, वायु	Subsoil air.
भोजन-जन्य विष	Ptomaine poisoning.
भौतिक विसंक्रामक	Physical disinfectant.
मरक	Epidemic,
,, शोफ	Epidemic dropsy.

मरुमक्षिका	Sandfly.
मरुमक्षिका ज्वर	Sandfly Fever.
मलकच्चर	Sewage.
मलदूरीकरण	Disposal of sewage.
मलद्वार	Anus.
मळापहरण	Conservancy.
मसूरिका	Small pox.
मस्तिष्कीय ज्वर	Cerebro-spinal Fever.
महामारी	Plague.
मातृ-गृह	Maternity homes.
मातृ-मृत्यु	Maternal mortality.
,, संरक्षण	Maternal welfare
मायोसीन	Myosin.
मारमाइट	Marmite.
मार्जनी	Sinks.
माल्ट	Malt.
,, शर्करा	Malt Sugar.
मिलेनिन	Melanin..
मीथेन	Methane.
मीरोज़ाइट	Merozoite.
मुखपादरोग	Foot-mouth disease.
मुख्य नळ	Mains.
मुद्रा	Traps.
मूक संत्रास	Dumb rabies
मूकोन्माद	Silent delērium.
मृताश्रयी	Saprophytes.
मत्यूत्तर संकोच	Rigor mortis.